भारतीय साहित्य

मुंशी अभिनंदन

सम्पादक

डॉ॰ विश्वनाथ प्रसाद

क॰ मुं॰ हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय

आगरा

प्रकाशक
संचालक
क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान,
विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

इस अंक का, मूल्य, १५)

भारतीय साहित्य
वर्ष, ३, अंक १, २

मुद्रक :
एच० के० कपूर
आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस
आगरा।
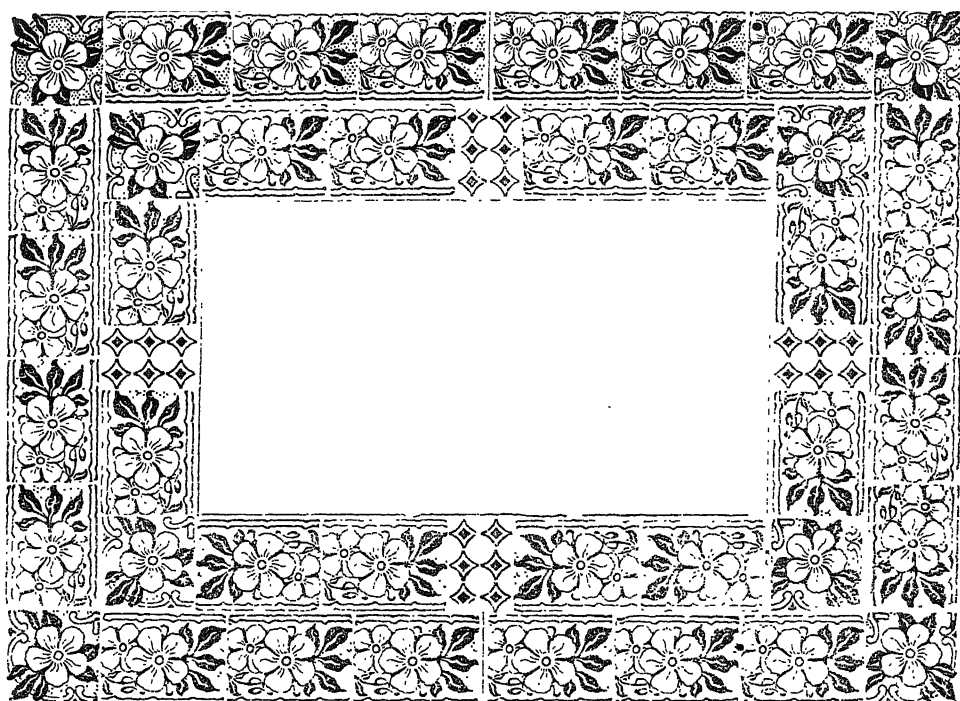
निवेदन

आज हमें कितनी प्रसन्नता है कि इस अभिनन्दन-ग्रन्थ के रूप में हमें अपने हृदय की श्रद्धा और स्नेह की भावनाओं को अपने यथार्थ अभिनन्दनीय की सेवा में समर्पित करने का सुयोग मिला है। 'भारतीय साहित्य' के द्वारा यह अभिनन्दन-पूजा उस विभूति को चढ़ाई जा रही है, जिसने अपनी भारत और भारती की कल्याणकारिणी मेधा से एक ओर तो एक उच्च शैक्षणिक और शोधपरक संस्था के रूप में आगरा विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा और मर्यादा के लिए, और दूसरी ओर राष्ट्र के विच्छिन्न सूत्रों को राष्ट्रभाषा और भाषा-तत्त्व के सारस्वत ऐक्य के सूत्र में ग्रथित करने के लिए, इस विद्यापीठ की समग्र कल्पना उद्भावित की; और अपने राज्यपाल-काल में आगरा विश्वविद्यालय को उसे क्रियान्वित करने में प्रवृत्त किया, जिससे माँ सरस्वती की पावन गोद में भारत के विविध भाषा-भाषी विद्वान् और विद्यार्थी राजनीति से ऊपर उठकर विश्वविद्यालय के शुद्ध आधिविद्य स्तर पर अध्ययन, मनन और अनुसन्धान से भाषा और साहित्य की विविध जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त कर सकें। भारत के नव-निर्माण की मनीषिता का प्रवर्त्तक बने आगरा विश्वविद्यालय का यह संगमतीर्थ—हिन्दी विद्यापीठ। ऐसी दिव्य, उपयोगी और सामयिक कल्पना, कि उत्तर भारत में यह संस्था भाषा-विज्ञान, ध्वनि-विज्ञान के साथ-साथ सुदूर दक्षिण, पश्चिम तथा पूर्व की भाषाओं की भी शिक्षा का केन्द्र बने, केवल वही मनस्वी कर सकता था, जो भारतीय वाङमय की समस्याओं से पूर्णतः परिचित हो। मुन्शीजी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति-पद से इसी अखिल भारतीय भावना की घोषणा की थी। भारतीय संविधान में हिन्दी को स्थान दिलाने के प्रयत्न में भी भारत की भाषा-समस्या के समाधान के विषय में आपने गम्भीर विचार किया था। अपनी उस विराट् भावना को मूर्त्त रूप देने के लिए आप देश में एक सर्वाग्र केन्द्र स्थापित कर देना चाहते थे। उसी का परिकर परिणाम है, यह हिन्दी विद्यापीठ, यह सर्वभाषा-सरस्वती का मन्दिर—हमारा विद्यापीठ।

आज जब हमारी ही तरह अन्य विश्वविद्यालयों में भी, मराठी, बँगला, गुजराती, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालय आदि भाषाओं तथा भाषा-विज्ञान के पढ़ाए जाने की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा है, तब इस संस्था की उपादेयता स्वतः सिद्ध है। विद्यापीठ के कार्यकलाप का एक प्रमुख अंग है, 'भारतीय साहित्य' का प्रकाशन। यह शोध-पत्र अपने ढंग से साहित्य की सेवा कर रहा है। इसने अपने जीवन के दो वर्ष पूरे कर लिये हैं और इस प्रकार लगभग एक सहस्र पृष्ठों की सामग्री साहित्य-जगत् को अर्पित कर चुका है। इसी 'साहित्य' के द्वारा तत्कालीन कुलपति का अभिनन्दन करने का निश्चय किया गया था, और हमें यह कहते हुए बड़ा सन्तोष हो रहा है कि वह संकल्प आज पूर्ण हो रहा

है। वस्तुतः अपने श्रेष्ठ और प्रेष्ठ कुलपति तथा अपने देश के वरेण्य साहित्यकार, मुन्शीजी की सेवा में इस अभिनन्दन ग्रन्थ को भेंट करके विद्यापीठ स्वयं गौरवान्वित हो रहा है।

मुंशीजी उन इने-गिने युग-प्रवर्तक महापुरुषों में हैं, जो अपनी बहुमुखी प्रतिभा की किरणों से अपने देश-काल को तो आलोकित करते ही हैं—साथ ही, सुदूर देशान्तर के जन-समाज तथा भावी पीढ़ी के मार्ग में भी कुछ नई ज्योति जगा जाते हैं। अपने सतत् कर्मठ व्यक्तित्व और तेजपूर्ण नेतृत्व के द्वारा देश के निर्माण में उन्होंने जो योग दिया है तथा वाणी के वैभव और लेखनी की प्रखर शक्ति से उन्होंने जिस अमर साहित्य की सृष्टि की है, उसका ठीक-ठीक मूल्यांकन तो आगे का युग ही कर सकेगा। इस अभिनन्दन ग्रन्थ में तो उनके व्यापक और विराट् व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों की एक हलकी-सी झाँकी भी आप प्राप्त कर सकें, तो हम अपने अनुष्ठान को सफल मानेंगे।

इस आयोजन में हमें हिन्दी तथा हिन्दीतर क्षेत्र के भी गण्यमान साहित्यकारों एवं विचारकों का महत्त्वपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। अपने देश के सर्वोच्च पद पर आसीन, सच्चे अर्थ में समस्त जन-गण-मन के अधिनायक हमारे पूज्य राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद जी ने अपनी शुभाशंसा भेज कर हमारे इस प्रयास को जो गरिमा प्रदान की है, उसके लिए हम उनके विशेष रूप से कृतज्ञ हैं। इसके अतिरिक्त जिन मान्य महानुभावों ने अपने मंगलमय सन्देश एवं शुभाकाँक्षाएँ भेजी हैं तथा जिन मनीषियों ने कृपापूर्वक अपनी रचनाएँ भेजकर इस ग्रन्थ को सुशोभित किया है, विद्यापीठ उन सबका आभारी है। हमारे प्रांगण में वे आलोक की किरणों के समान आई हैं।

कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी
तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा

विश्वनाथ प्रसाद
संचालक और सम्पादक

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।

१८ अक्तूबर, १९५७।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी उन उद्भट विद्वानों और कर्मठ जननायकों में से हैं जिनका कार्यक्षेत्र सदा ही व्यापक रहा है। सफल और उच्च कोटि के वकील होते हुए उन्होंने जिस प्रकार अनेकों प्रामाणिक ग्रन्थ रचे और सार्वजनिक, समाज-सुधार और शिक्षा-सम्बन्धी क्षेत्रों में भाग लिया और आज भी ले रहे हैं, इस से लोगों को आश्चर्य होना स्वाभाविक है। श्री मुन्शी आस्थावान और दृढ़-संकल्प पुरुष हैं। जिस काम को भी उन्होंने उठाया उसे अन्त तक निभाने का पूरा प्रयास किया है। उदाहरणार्थ भारतीय विद्या भवन के आयोजन को ही लीजिए। चन्द वर्षों में उसके द्वारा---- संस्कृत के अध्ययन अध्यापन, सुन्दर ग्रन्थों के निर्माण और प्रकाशन, कलाओं के उत्थान और विकास, ऐतिहासिक खोज, इत्यादि विषयों को जो प्रोत्साहन मिला है वह स्मरणीय रहेगा और उसका सारा श्रेय श्री मुन्शी के उत्साह और प्रयास को है।

इसलिए मैं समझता हूं यह उचित ही है कि आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी विद्यापीठ श्री मुन्शी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करे। मैं इस सुझाव का अनुमोदन करता हूं और आशा करता हूं कि यह प्रयास सफल होगा और श्री मुन्शी के जीवन से हमारे नव युवकों को प्रेरणा मिलेगी।

अनुक्रमणिका

खण्ड १

अभिनन्दन और वन्दन

संस्मरण

खण्ड २

व्यक्तित्व तथा कृतित्व

खण्ड ३

रचनामृत

खण्ड ४

श्रद्धांजलि

खण्ड ५

प्रणमन और प्रकीर्णक

चित्र-सूची

खण्ड १

अभिनन्दन

और

वन्दन

श्रद्धेय राष्ट्र-कवि श्री मैथिली शरण जी गुप्त ने अपनी मंगल-कामना के साथ जो अनुरागमय पत्र भेजा था, उसे यहाँ उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

श्री कन्हैया लाल जी मुंशी के प्रति मेरे मन में बहुत सम्मान है। राजनीति के क्षेत्र में तो लोगों की लोक-प्रियता घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, वे—हमारे बड़े साहित्यकार हैं। संस्कृति के क्षेत्र में उन्होंने बहुत कार्य किया है। एक बार उन्हीं को लक्ष्य करके मैंने कुछ पंक्तियाँ लिखी थीं। उन्हें आपकी सेवा में भेजता हूँ। मैं हृदय से उनका अभिनंदन करता हूँ।

श्रीमती मुंशी का भी मैं आभारी हूँ। मेरे अनुरोध पर उन्होंने संसद् में एकाधिक बार हिन्दी में भाषण दिये हैं।

× × × ×

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

कथाकार के प्रति

बैठा विविध-विषय-निष्णात,
आज कहानी ही होने दो, लो, यह हुक्का तात,
बुनो कलापट कथासूत्र से कलित कल्पना कात!

भंग करे सौ सुर चापों को रंगों की बरसात,
बजती रहे तुम्हारी वाणी वीणा सी विख्यात!

बने आपबीती सी आहा. परबीती भी बात,
जन में वन में देवभवन में अमर सुधा अवदात!

स्वपुरुष उसके लिए प्रकृति के झेले सौ उत्पात.
झुला जाय झकझोर हृदय को घात और प्रतिघात!

कटे उधर कृतियों के संकट, इधर हमारी रात,
चौंक उठें हम देख स्वप्न सा पाकर नया प्रभात!

श्री वा० व्य० गिरि

श्री० वा० व्य० गिरि

कुलपति,
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा ।

मुझे यह जान करके हर्ष हुआ है कि आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ शीघ्र ही भारतीय साहित्य का मुंशी अभिनंदन अंक प्रकाशित कर रहा है ।

श्री मुंशी ने हमारे राष्ट्रीय साहित्य के प्रोत्साहन तथा प्रचार में विशिष्ट योगदान किया है; अतएव उनकी साहित्य-सेवा को देखते हुए इस अभिनंदन ग्रन्थ का प्रकाशन उचित ही है । मुझे विश्वास है कि इसमें बहुत ही उच्च स्तर के लेख होंगे और यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए अत्यधिक लाभप्रद होगा ।

मूल

I am very happy to learn that the Agra University Institute of Hindi Studies and Linguistics is shortly bringing out the Munshi Commemoration volume of the Bharatiya Sahitya.

Sri Munshi has made notable contribution towards the propagation and encouragement of our national literature. This is a fitting recognition of the services he has rendered. I am sure the commemoration volume will contain articles of very high standard and be of great use to all the scholars.

श्री कालका प्रसाद भटनागर

श्री कालकाप्रसाद भटनागर

उपकुलपति
आगरा विश्वविद्यालय,
आगरा ।

आप आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति ही नहीं रहे हैं, अपितु एक मित्र, एक विचारक और एक पथ-प्रदर्शक भी रहे हैं, जिनसे सदैव हमने परामर्श और सहायता की अपेक्षा की है । मैं आशा करता हूँ कि विद्यापीठ के अध्यापकों और छात्रों की पीढ़ी उत्तरोत्तर आपके श्रेष्ठ उदाहरण से प्रेरणा ग्रहण करेगी और यह देश उनके श्रम से अत्यन्त लाभान्वित होगा ।

श्रीमती लीलावती मुंशी

श्रीमती लीलावती मुंशी

भारतीय विद्याभवन
चौपाटी पथ
बम्बई—७ ।

मुझे आपका २७ मई का पत्र ४ जून को लखनऊ में मिला था। चूँकि मैं पिछले सप्ताह बहुत व्यस्त थी, इसलिए शीघ्र उत्तर न दे सकी ।

किसी पत्नी के लिए अपने पति के अभिनन्दन-अंक में कुछ लिखना कठिन-सा है । मैं इतना ही कह सकती हूँ कि वे सर्वोत्तम पति और सर्वश्रेष्ठ मित्र हैं ।

पं० गोविन्दवल्लभ पंत

गृहमंत्री, भारत-सरकार ।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय द्वारा श्री कन्हैयालाल माणिकलाल जी मुंशी को उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के प्रति एक श्रद्धांजलि भेंट करने का आयोजन किया गया है। श्री मुंशी जी जैसे देश-सेवक, कुशल तथा प्रतिभाशाली पुरुष इस सम्मान के परम अधिकारी हैं।

डा० सम्पूर्णानन्द

◈

मुख्य मंत्री,
उत्तर प्रदेश।

यह संतोष और प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी विद्यापीठ ने अपने मुखपत्र "भारतीय साहित्य" का मुंशी अभिनन्दन अंक निकालने का निश्चय किया है। श्री मुंशी अपनी तीक्ष्ण बुद्धि और नीतिकुशलता के लिये प्रख्यात हैं। गुजराती भाषा के चोटी के लेखकों में उनका अग्रगण्य स्थान है और हिन्दी उनको अपने प्रबल और अविकम्प्य समर्थक के रूप में जानती है। आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी विद्यापीठ इस प्रदेश को श्री मुंशी की स्थायी देन है और प्रस्तावित अभिनन्दन ग्रंथ उसका अपने जनक के प्रति स्नेहाञ्जलि-प्रदान है। इस काम में उसको हिन्दी जगत् का कृतज्ञतापूर्ण सहयोग मिलना चाहिये। श्री मुंशी सर्वथा अभिनन्दन के पात्र हैं।
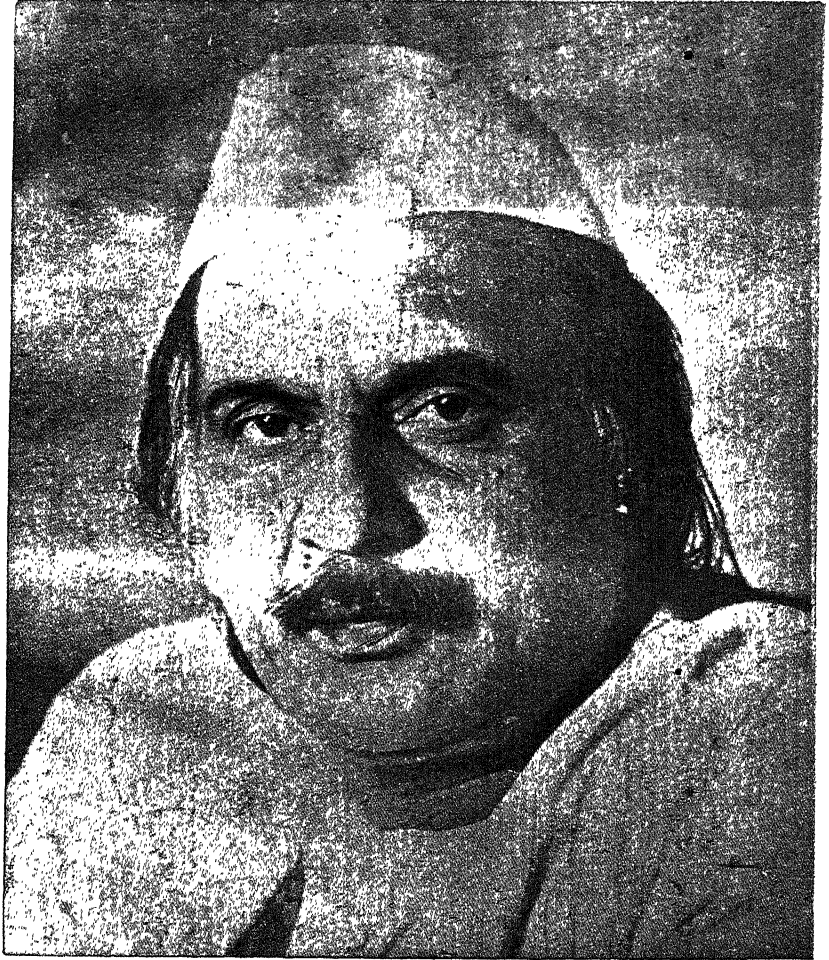
श्री सम्पूर्णानन्द

श्री कमलापति त्रिपाठी

पं० कमलापति त्रिपाठी

मंत्री, गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग,
उत्तर प्रदेश।

मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी विद्यापीठ "भारतीय साहित्य" का मुंशी अभिनन्दन अंक प्रकाशित कर रहा है। हमारे भूतपूर्व राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का इस विद्यापीठ से कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था और इसकी स्थापना में उन्होंने कितना योगदान दिया यह किसी से छिपा नहीं है। मुंशी जी वास्तव में जन्मना-साहित्यकार हैं। परिस्थितिवश उनके युग के अन्य अनेक व्यक्ति जिस प्रकार अपनी प्रतिभा द्वारा निर्दिष्ट क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक क्षेत्र में आने के लिए विवश हुए थे, उसी प्रकार यद्यपि मुंशी जी ने भी अपने जीवन का प्रमुख अंश राजनीति में लगाया, किन्तु उनके अन्दर की साहित्यिक प्रेरणा असाधारण रूप से उद्‌बुद्ध है। अपने अत्यधिक व्यस्त सार्वजनिक जीवन में भी समय निकाल कर गुजराती वाङ्मय की मुंशी जी ने जो सेवा की है, भारतीय साहित्य के इतिहास में उसका अंकन प्रमुख रूप से होगा, इसमें सन्देह नहीं है। इधर उनकी रचनाएँ देश की अन्य भाषाओं, विशेष रूप से हिन्दी के पाठकों को भी उपलब्ध हुई हैं और भारतीयता से ओतप्रोत इस श्रेष्ठ कथाकार के व्यक्तित्व का प्रभाव भारतव्यापी हुआ है। मैं आशा करता हूँ कि यह अभिनन्दन अंक मुंशी जी के व्यक्तित्व के सभी अंगों पर समुचित प्रकाश डालेगा और मुंशी साहित्य से परिचित होने में पाठकों को इससे सहायता मिलेगी। आपका प्रयत्न सराहनीय है।

श्री बी० रामकृष्णराव

राज्यपाल,

केरल ।

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ मेरे सम्मानित मित्र श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, भूतपूर्व राज्यपाल उत्तर प्रदश को एक अभिनन्दन-अंक भेंट कर रहा है। प्रतिभाशाली और सफल वकील तथा प्रशासक मुंशी जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में उनके महत्त्वपूर्ण स्थान तथा इतिहास और राजनीति के उनके विशद ज्ञान ने उन्हें विद्या के क्षेत्रों में भी अत्यन्त आदर का अधिकारी बना दिया है। वह गुजराती और अँग्रेजी दोनों के समर्थ लेखक हैं, और हिन्दी तथा संस्कृत से तथा समग्र रूप में हमारी भारतीय संस्कृति से उन्हें विशेष प्रेम है। एक प्रकार से वह स्वयं पूर्वी और पश्चिमी संस्कृति के सभी सुन्दर तत्त्वों के समन्वय की प्रतिमूर्ति हैं। देश में संस्कृत के अध्ययन को पुनर्जीवित करने की दिशा में उन्होंने जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है, वह उनकी राष्ट्रसेवा के स्मृति-चिह्न के रूप में देखा जाएगा। पिछली कुछ दशाब्दियों में उन्होंने राजनैतिक और प्रशासकीय क्षेत्र में जो अत्यन्त मूल्यवान भाग लिया है, उसका तो महत्त्व है ही। हिन्दी के विशिष्ट विकास के लिए उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय को चुना और इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उन्नति के लिए वह राज्यपाल और कुलपति दोनों रूपों में उत्तरदायी रहे हैं। भारतीय विद्या-भवन दूसरी उपलब्धि है, जो पूर्णत: उनकी और उनके समान ही उत्साही उनकी धर्मपत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी की व्यक्तिगत और विशेष अभिरुचि का प्रतिफल है। आगरा विश्व-विद्यालय हिन्दी विद्यापीठ मुंशी जी का अभिनन्दन कर रहा है उनके इस प्रयत्न का स्वागत करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हो रही है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह उन्हें दीर्घायु करे, वह स्वस्थ रहें और उनके जीवन के आगामी वर्ष साहित्य तथा राजनीति के लिए और भी उपयोगी हों।

श्री श्रीप्रकाश

राज्यपाल
बम्बई।

आपने श्री मुंशीजी के संबंध में विशेष अंक निकालने का प्रबंध किया, एतदर्थ आपको बधाई है। आशा है कि इस कार्य में आपको पूर्णतया सफलता मिलेगी। आपने मुझे स्मरण किया, यह आपकी कृपा है। मैं अनुगृहीत हूँ।

:: :: :: ::

श्री यशवंतराव चव्हाण

मुख्य मंत्री
बम्बई।

यह हर्ष की बात है कि आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के कार्य का गौरव करने के लिये एक श्रद्धांजलि भेंट करने का आयोजन कर रहा है। केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उन्होंने पदार्पण कर अपनी प्रतिभा का गहरा परिचय दिखाया है। बम्बई का भारतीय विद्याभवन मुंशीजी के परिश्रम का प्रतीक है।

जिनके व्यक्तित्व का परिचय भारत के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिये राष्ट्र-भाषा एक अच्छा माध्यम है।

विद्यापीठ के इस कार्य की मैं सराहना करता हूँ और हार्दिक शुभकामना करता हूँ कि इस कार्य में आपको अच्छी सफलता प्राप्त हो।

श्री सी० वी० महाजन

◈

सदस्य

संघीय लोक सेवा आयोग, देहली

आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी विद्यापीठ विश्वविद्यालय के सीधे नियन्त्रण में स्थापित प्रथम शिक्षण तथा अनुशीलन विभाग था। जब यह बात विचाराधीन थी कि विश्वविद्यालय में किन विषयों की शिक्षा के विभाग खोले जाँय तब डा० के० एम० मुंशी ने जो उस समय विश्वविद्यालय के कुलपति थे, सुझाव दिया कि इस योजना में हिन्दी अध्ययन को सर्वाधिक प्राथमिकता दी जाय। विद्यापीठ की स्थापना में मुझको उनको साथ काम करने का सौभाग्य मिला था और उनकी उत्कंठा, उनका उत्साह एवं उनकी कल्पना निरन्तर प्रेरणा के स्रोत रहे। डॉ० मुंशी का विश्वविद्यालयों से तथा अन्य विद्वत् संस्थाओं से संसर्ग रहा है और वह एक शिक्षा-शास्त्री, प्रशासक और लब्ध-प्रतिष्ठ राजनीतिज्ञ हैं। यह बहुत ही उपयुक्त है कि विद्यापीठ उनके नाम से चले और वह उनकी अगणित सेवाओं के उपलक्ष में जो उन्होंने इस विश्वविद्यालय के लिए सामान्यत: तथा विद्यापीठ के लिए विशेषत: की हैं, एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रस्तुत करे। मुझे विश्वास है कि वर्तमान संचालक के निर्देशन में विद्यापीठ उन सभी की आशाओं की पूर्ति करेगा जो आरम्भ से उससे संबंधित रहे हैं और वह हिन्दी के विकास के लिए एक प्रमुख राष्ट्रीय केन्द्र बन जावेगा। *

---

*The Institute of Hindi Studies of Agra University was the first Department of teaching and research to be established under the direct control of the University. When the subjects in which the University should have teaching departments were under consideration, Dr. K. M. Munshi, who was then the Chanceller of the University, proposed that Hindi Studies should be given top priority in the scheme. I had the privilege of being associated with him in the establishment of the Institute, and his keenness enthusiasm and vision were a source of unfailing inspiration. Dr. Munshi has long association with Universities and other learned bodies, and is an educationist, administrator and statesman of repute. It is most fitting that the Institute should bear his name, and that it should bring out a Volume to commemorate his many services to the University in general and to the Institute in particular. I am confident that under its present Director the Institute will justify hopes of all who were connected with its beginnings and become one of the national centres for the advancement of Hindi.

(C. V. Mahajan)

श्री रंजन

उपकुलपति,
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग।

महामहिम राज्यपाल श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी उन महान् प्रतिभाशाली विभूतियों में हैं जिन पर सम्पूर्ण देश को गर्व है। आपकी परिष्कृत रुचि, संस्कृति-निष्ठा, देश-भक्ति और शासन-नीति-निपुणता एवं विद्या-प्रेम सचमुच अनुकरणीय है। आपका व्यक्तित्व प्राचीन भारत के राजर्षियों की स्मृति दिलाता है। बंबई के सर्वोच्च न्यायालय और पराधीन भारत के संघर्षपूर्ण जीवन में भाग लेते हुए आपने जो कार्य किया वह आज भी असंख्य व्यक्तियों के लिए प्रकाश-स्तंभ की भाँति बना हुआ है। उसके साथ-साथ आपने गुजराती साहित्य को जो वैभवपूर्ण पद प्रदान किया है, वह उस साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य है। अमर भारतीय साधना, उसकी हीरक-ज्योति-मण्डित आध्यात्मिकता, उसके उदार सार्वभौम जीवन-संदेश आदि के प्रति आपको अगाध प्रेम है और वही प्रेम आपकी रचनाओं में अपने निखरे हुए रूप में मुखरित हो उठा है। भारतीय विद्या-भवन, कुलपति के पत्र, भारतीय इतिहास का संपादन, गीता-प्रचार, आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ, वनमहोत्सव आदि आपके भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। महामहिम राज्यपाल श्री मुंशी भारत के जीर्णशीर्ण जीवन में नवचेतना और स्फूर्ति का संचार करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। अतीत के उज्ज्वल प्रकाश में भारत के स्वर्णिम विहान की अवतारणा करना ही आपके जीवन की उत्कट आकांक्षा है। उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल के रूप में आपने यहाँ के सामाजिक, कलात्मक, साहित्यिक, राजनीतिक, शिक्षा-संबंधी और प्रशासकीय जीवन पर अपने गतिशील व्यक्तित्व की अमिट छाप छोड़ दी है। आपकी प्रेरणा से यहाँ के जीवन में चारों ओर क्रियाशीलता और एक विशिष्ट वैभवशाली परंपरा का जन्म हुआ है जो बहुत दिनों तक हम सबके लिए अमूल्य निधि बनी रहेगी। आपकी प्रतिभा से जिस आलोक का प्रादुर्भाव हुआ है उससे देश के सांस्कृतिक जीवन को त्राण मिला है और उसका भावी कल्याण-मार्ग प्रशस्त हुआ है।

भारतीय राष्ट्र के ऐसे ओजस्वी और प्रेरणाप्रद प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धांजलि भेंट करने का आपने जो आयोजन किया है उसमें मेरा पूर्ण सहयोग है। मैं अपनी हार्दिक मंगल-कामनाएँ भेजता हूँ, और अपनी तथा प्रयाग विश्वविद्यालय की ओर से श्री मुंशी का सहर्ष अभिनन्दन करता हूँ।

राजा श्री राधिकारमण प्रसाद सिंह

गुज़रे ज़माने में गुजरात ने हिन्दुस्तान और सारी दुनिया को गाँधी की नायाब नेमत सौंपी—इसकी तो बात ही क्या, मगर उस कोहनूर के दायें-बायें कुछ और भी ऐसे नूर आए जिनकी तजल्ली हमें तसल्ली नहीं, एक कीमती रौनक भी देती रही है निरन्तर। क्या धर्म, क्या राजनीति और क्या साहित्य—हमारी ज़िन्दगी के मैदान का कोई भी ऐसा कोना नहीं जिसका सूनापन इनकी सदा से किसी ओट सरक न गया हो। नरसी मेहता की 'वैष्णव-जन तो तेने कहिए' की वाणी आज भी जाने कितने भूले-भटके राहगीरों को असली राह का पता पुकार-पुकार कर बता रही है और कितने निराश-मायूस थके-माँदे बेहाल प्राणी पलक मारते अपनी मंजिल की बरकत पा निहाल हो गए—किसे पता नहीं? और हम क्यों न कहें—हमारे श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी भी गुजरात के वैसे ही अनमोल मोतियों में एक हैं जिनकी पूरी परख सीपी चुननेवालों की आँखों पर भले न खुले, मगर जौहरी की निगाहों पर तो उसके जलवे का जादू ज़माने से जम चुका है। और तभी तो हमारे जवाहर ने उन्हें अपने उत्तर-प्रदेश के राज्यपाल का गुरु-गम्भीर पद सौंपकर उस पद की मर्यादा को भी मर्यादा दी। और, यह एक ही व्यक्ति एक पूरी संस्था की आलमगीरी अपने चारों ओर समेटे राजनीति के गम्भीर गर्जन और साहित्य के सरस सर्जन दोनों के गेंद दोनों हाथों से बारी-बारी और लगातार इस तेज़ी और खूबी से उछाल रहा है कि देखनेवाले दंग हैं कि

> "य' क्या खूब, वह सामने आ रहे,
> रोब भी जम रहा, रस भी बरसा रहे।"

मगर आप इस जादूगर कलाकार को निकट से देखें तो आप पाएँगे, उसके चेहरे की सतह पर रोब की रेखा घड़ी दो-घड़ी भले ही झाँक जाए, उसके दिल की तह की गहराई में रस की फुहार एक पल को भी पट नहीं पड़ती। तभी तो वह चोटी के राज-नेताओं से लेकर चौपाल के फटेहालों तक और घर की माताओं-बहनों से लेकर आँगन में खेलते-खुलते नौनिहालों तक—सबका प्यारा-दुलारा कन्हैयालाल है।

श्री वेणीशंकर झा

कुलपति
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
काशी ।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि श्रीमान् क० मा० मुंशी जी के लिये अभिनन्दन ग्रन्थ बनाने का प्रस्ताव किया गया है । उन्होंने देश की कई प्रकार से अद्वितीय सेवा की हैं । मैं आपके प्रयत्न की निर्विघ्नता चाहता हूँ ।

श्री विद्या बहिन नीलकंठ

भादरा,
अहमदाबाद ।

मुंशी जी के लिये आपने अभिनन्दन ग्रंथ की रचना की है यह ज्ञात हुआ, यह बड़े हर्ष और आनन्द की घटना है । यह ग्रंथ के निर्माण में आपको सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हो यह मेरी शुभ कामना है ।

श्री बालकृष्ण शर्मा

७।८६, तिलक नगर,
कानपुर ।

मुंशी अभिनन्दन सम्बन्धी आपकी योजना स्तुत्य है । मैं क्या लिखूँ ? मैं कन्हैयालाल जी की कृतियों का गहन विद्यार्थी नहीं हूँ । हाँ, यह मैं जानता हूँ कि वे मेधावी, प्रतिभावान-विद्वान और मौलिक स्रष्टा हैं । उनके द्वारा सिरजे गये अनेक पात्र गुजराती साहित्य में वैसे ही स्थान पा गए हैं जैसे डेविड कॉपर फ़ील्ड आदि अंग्रेजी साहित्य में ।

मुंशी जी बहुमुखी प्रतिभा के पुरुष हैं । आज के भारत के अत्यधिक सफल व्यक्तियों में उनकी गणना है । विधान, राजनीति, आलोचना, साहित्य-सर्जना, प्रसाशन, सब ओर उनकी पैठ है । वे प्रसिद्ध संस्था-निर्माता तथा शिक्षा-शास्त्री हैं। अनेक सांस्कृतिक साहित्यिक कृतियाँ उनका यशोगान कर रही हैं ।

ऐसे जन के सम्बन्ध में लिखूँ क्या ?
मैं उनको अपने विनीत प्रणाम निवेदित करता हूँ ।

डा० विनयमोहन शर्मा

६४८।१ राइट टाउन,
जबलपुर ।

विद्यापीठ श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने का जो आयोजन कर रहा है वह सर्वथा अभिनन्दनीय है । मुंशी जी का गुजराती साहित्य में एक स्मरणीय स्थान है । उन्होंने ऐतिहासिक और पौराणिक उपन्यासों का एक नया तंत्र ही स्थापित कर गुजराती साहित्य को गौरवान्वित किया है । हिन्दी के प्रति भी उनकी ममता है । हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना इसका प्रमाण है । सम्मेलन का तो अध्यक्ष पद तक उनके द्वारा सुशोभित हो चुका है । मैं आपके प्रयत्न की हार्दिक सफलता चाहता हूँ ।

श्री देवीप्रसन्न पट्टनायक

विश्वभारती,
शान्ति निकेतन ।

राजनीतिज्ञ और साहित्यकार श्री मुंशी के अभिनन्दन में आप एक अंक प्रकाशित कर रहे हैं, इस प्रयास के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ ।

प्रो० जी० एच० भट्ट

डाइरेक्टर

ओरियंटल इंस्टीट्यूट एम० एस० विश्वविद्यालय

बड़ौदा ।

मुंशी जी (जो सौभाग्यवश अब ७० वर्ष के हैं) का जन्म भड़ौच (प्राचीन भारत का पवित्र भृगु-कच्छ) गुजरात ३० दिसम्बर १८८७ को हुआ था। वह एक असाधारण और प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति हैं तथा बहुत-सी बातों में अद्वितीय हैं। उनका घटनापूर्ण जीवन-वृत्त हमारे देश के आधुनिक युवकों के लिए प्रेरणा-स्रोत रहा है। विद्वान् और पत्रकार के रूप में, वकील और राजनीतिज्ञ के रूप में नेता और मानवता से सेवक के रूप में उनकी देन अत्यधिक महत्वपूर्ण है और उससे उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति मिली है। महर्षि अरविन्द और महात्मा गांधी के साथ निकट सम्पर्क के कारण तथा जर्मन दार्शनिक नीत्शे के प्रति प्रशंसात्मक दृष्टिकोण के कारण वह आदर्शवाद और परिणामवाद के सुन्दर मिश्रण बन गये हैं। उनके आरम्भिक जीवन का स्वप्न, जो सत्य सिद्ध हुआ है, उन्हें भविष्यद्रष्टा के रूप में प्रस्तुत करता है। निश्चय ही उनका व्यक्तित्व जीवन्त है।

मुंशी जी अपने सर्जन से ही मुंशी जी हैं। मुंशी जी ने पचास से अधिक कृतियों से गुजराती साहित्य को समृद्ध किया है जिनमें उपन्यास, नाटक और निबन्ध सम्मिलित हैं। इन कृतियों को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई है। उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और ओजस्वी शैली ने संसार को सजीव चित्र दिये हैं। गुजरात के इतिहास पर आधारित उनकी कृतियाँ गुजरात की गरिमा को प्रकाश में लाई हैं। गीता पर उनकी व्याख्या उस महान स्वामी की शिक्षाओं का सौन्दर्य खोलकर रख देती है। भारतीय संस्कृति में उन्हें अभिरुचि है, बम्बई और दिल्ली में भारतीय विद्या-भवन की स्थापना इसका परिणाम है। उक्त संस्था निश्चित रूप से उनकी रचनात्मक प्रतिभा का कीर्त्तिस्तंभ है।

मुंशी जी व्यक्ति के रूप में अधिक मनोहर और आकर्षक हैं। उनकी विनोदात्मक प्रवृत्ति तथा स्नेही हृदय ने समाज के सभी वर्गों के बहुत-से व्यक्तियों को आकृष्ट किया है। उनके मित्रों और प्रशंसकों का वृत्त बहुत विशाल है: इस विषय में वे सौभाग्य-शाली हैं।

मैं इस शुभ अवसर पर मुंशी जी को बधाई देता हूँ और सर्वशक्तिमान परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि वह उन पर तथा उनकी सुसंस्कृत जीवन-सहचरी पर कृपा बनाये रक्खे ताकि यह युगल विविध साहित्यिक गतिविधियों तथा समाजसेवाओं से युक्त अपने सम्पूर्ण जीवन का उपभोग कर सके।

श्री ल० भ० श्रीकान्त

बहुत दिनों पहले की बात है जब मैं शायद मैट्रिक की परीक्षा पास कर कालेज में प्रवेश कर रहा था, 'गुजराती' नामक एक प्रसिद्ध साप्ताहिक-पत्र में 'घनश्याम' उपनाम से क्रमशः 'वैरनी वसूलात' कथा को मैं बड़े प्रेम और दिलचस्पी के साथ पढ़ता था। मुझे पता न था कि वह कलम जिसमें इतनी शक्ति है, श्रीयुत कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की थी जिन्होंने अपने जीवन का आरम्भ बम्बई की एक छोटी सी 'चाल' के दो कमरों में किया था। होम रूल लीग के जमाने में हाई-कोर्ट में वकालत करते हुए छुट्टियों के दिनों में गुजरात के शहरों में जाकर स्वराज्य की भावना को जगाने का जो काम युवक नेता करते थे उनमें एक मुंशी जी भी थे। बम्बई की अदालतों में 'प्रसिद्ध एडवोकेट' के नाम से मुंशी जी ने बड़ी ख्याति प्राप्त की थी और वकालत की इस आमदनी से उनके जीवन का उल्लास का रंग और भी बढ़ रहा था। गुजराती साहित्य में इनके लिखे हुए उपन्यास व कहानियाँ अभी भी जनता बड़े प्रेम से पढ़ती है। गुजरात के ऐतिहासिक व्यक्तियों को इन्होंने अपने उपन्यास में ऐसा सजीव बनाया है कि गुजराती पढ़ने वाले इन्हें कभी नहीं भूल सकते। राजनीति में भी इन्होंने अपनी प्रतिभा की चमक उतनी ही दिखलाई है।

लीलावती बहिन जैसी संस्कारी और साहित्य-प्रेमी अर्द्धांगिनी मिलने से सोने में सुहागा हो गया। गुजरात की अस्मिता का जो पान इन्होंने गुजरात को कराया उसे वह भूल नहीं सकता।

भारतीय-विद्या-भवन ऐसी संस्थाओं का जन्म तथा विकास उनके विद्याव्यासंग व संस्कृति-प्रेम का द्योतक है।

डॉक्टर जीवराज मेहता

सचिवालय,
बम्बई।

श्री कन्हैयालाल मुंशी के प्रतिभाशाली एवं मनीषी व्यक्तित्व के प्रति जो श्रद्धांजलि अर्पित कर रही है वह सर्वदा उचित और प्रशंसनीय है। राजनीति तथा साहित्यिक क्षेत्रों की प्रतिभा के अलावा भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में श्री मुंशी का योग, चिरस्मरणीय और स्थायी रहेगा। बम्बई और दिल्ली के भारतीय विद्याभवन, संस्कृत तथा प्राचीन भारत के वैभव एवं संस्कृति के प्रतीक हैं जो भारत की अमूल्य थाती है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम के जरिये ऐसी प्रतिभा का प्रचार होना समयानुकूल ही नहीं प्रत्युत आवश्यक भी है। मैं आपके इस प्रयास की हृदय से सफलता चाहता हूँ।

संस्मरण

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी :

जैसा मैंने उनको देखा और समझा

उच्च प्रशासनिक कार्य और साहित्य-सेवा में कोई मौलिक विरोध नहीं, इस तथ्य को यदि सजीव रूप में हम देखना चाहते हैं तो श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के सबल और कलामय व्यक्तित्व में देख सकते हैं। वकालत और राजनैतिक कार्यकर्ता से लगाकर प्रान्तीय और केन्द्रीय मंत्री, राजदूत और राज्यपाल की विभिन्न स्थितियों में राष्ट्रीय और वैयक्तिक स्वाभिमान की रक्षा करते हुए उन स्थानों पर उन्होंने अपनी शिष्टता, शालीनता और शैक्षणिक एवं व्यावहारिक योग्यता की छाप छोड़ी।

कवीन्द्र रवीन्द्र की भाँति मुंशी जी ने सादगी में शान का उदाहरण उपस्थित किया है। शान भी कोरी लिफाफिया शान नहीं वरन् ठोस पाण्डित्य और व्यावहारिक योग्यता की टकसाली छाप लिए हुए। उनका पाण्डित्य बहुमुखी है जिसमें विधि-विधान के ज्ञान के साथ इतिहास के अनुशीलन को मुख्यता मिली है।

पाण्डित्व के साथ उनमें एक अपूर्व सृजनात्मक प्रतिभा है जो उपन्यास के क्षेत्र में विशेष रूप से विकसित और प्रस्फुटित हुई है। उनके उपन्यास उनके वैदिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक ज्ञान के परिचायक हैं। अँग्रेजी और गुजराती में उनकी समान रूप से अवाधित गति है। संस्कृत साहित्य के भी वे अच्छे ज्ञाता हैं। हिन्दी के वे वैधानिक श्रद्धा के साथ हितचिन्तक हैं। आगरा विश्वविद्यालय की हिन्दी इन्स्टीट्यूट उनकी इस हित-चिन्तकता का ज्वलन्त उदाहरण है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के वे सभापति रह चुके हैं। मुंशी जी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरव के अनुकूल उदार और सम्पन्न देखना चाहते हैं। उसको वे एकाकिनी न रख कर अपनी भगिनियों के सहज सम्पर्क में फलता-फूलता देखना चाहते हैं।

मुंशी महोदय अंग्रेजी-शिक्षा-दीक्षा में निष्णांत होते हुए भी भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक हैं। उनकी वेश-भूषा, आपाद- मस्तक भारतीय है और वह उनके पद और भव्य आनुपातिक आकृति-प्रकृति के अनुकूल है। वे स्वभाव से मृदुल हैं किन्तु आवश्यकता

पड़ने पर कठोर होना भी जानते हैं। उनका रहन-सहन उच्च-स्तरीय है और वह उनके पद के गौरव को बढ़ाती है। यद्यपि मुंशी जी प्रान्तीयता के संकुचित बन्धनों से परे हैं तथापि उनको गुजराती कलाप्रियता का नैसर्गिक उत्तराधिकार भरपूर मात्रा में प्राप्त हुआ है। जातिवाद के विरोधी होते हुए भी उनको महर्षि भृगु की सन्तान होने का वंशगत गर्व है। पाश्चात्य सभ्यता की चतुर्मुखी भौतिक उन्नति के प्रशंसक होते हुए भी उन पर योगीराज अरविन्द की आध्यात्मिकता का गहरा प्रभाव है। वे भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति का सन्तुलन चाहते हैं। वे शिक्षा को एकांगी नहीं रखना चाहते वरन् उसको व्यापक, उदार और सर्वांगसम्पन्न देखने के इच्छुक हैं। उनके कुलपति के पत्र उनके उदार आदर्शों के परिचायक हैं। उन्होंने धर्म, अर्थ और काम का व्यापक और अविरोध भाव से अनुशीलन किया है। मुंशीजी जीवन-सागर के हासोल्लास में भाग लेने के पक्षपाती होते हुए भी उसके सोद्देश्य बनाने और उसके गाम्भीर्य पर बल देने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वे निरन्तर उच्च कोटि की साहित्य सेवा करते रहकर चिरकाल तक स्वस्थ और सम्पन्न जीवन व्यतीत करें और विद्यार्थी-समाज का पथ-प्रदर्शन करते हुए भारतमाता की सेवा करते रहें, ऐसी मेरी शुभकामना है। मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

डॉ० गुलाबराय

मैं मुन्शीजी से मिला

मैं मुन्शी जी से मिलना चाहता था और वह मुझसे। पर मिलें कैसे? वह थे उत्तर प्रदेश के गवर्नर (यानी राज्यपाल) और मैं एक साधारण व्यक्ति। मिलने में उधर पद-मर्यादा की बाधा, इधर स्वभाव का संकोच। भाग्य से एक सज्जन माध्यम के लिए मिल गये। और मैं सन् १९५२ के सितम्बर में एक दिन लखनऊ स्थित राज्यभवन में उनके पास जा पहुँचा।

मिलने में थोड़ी देर थी। एक कमरे में बैठा रहा। कमरे में कई चित्र थे उनमें से बड़े और मुख्य थे:—महात्मा गांधी, डा० राजेन्द्र प्रसाद, सरदार पटेल और श्री राजगोपालाचार्य के। कमरा सजीला था। अँग्रेजों से राज्य-भवन प्राप्त किये पाँच ही वर्ष तो हुए थे। साज-सज्जा का क्या कोई नया सामान भी आया है? मैं इस निरख-परख में लगा हुआ था कि भीतर से बुलावा आ गया। सोचा किसी बड़े ठाठ-बाठ वाले पुरुष से मिलना है। मुन्शी जी के चित्र तो देखे थे, मिला कभी नहीं था।

पहुँचते ही देखा मुन्शी जी केवल एक उत्तरीय पहिने हैं जिसके ऊपर से उनका सफेद मोटा जनेऊ झाँक रहा था। ठाठबाठ नाम को भी नहीं। मुझे लगा राज्यपाल से नहीं मिल रहा हूँ, लेखक मुन्शी से मिल रहा हूँ।

शिष्टाचार के उपरान्त बातचीत शुरू हो गई।

"मैंने आपका लक्ष्मीबाई उपन्यास पढ़ा है। अच्छा लगा"—उन्होंने कहा।

मैंने हार्दिक धन्यवाद दिया। फिर उनके साहित्य के सम्बन्ध में चर्चा चली। मैंने उनकी कई पुस्तकें पढ़ी थीं जी मुझे रुची भी थीं।

"आजकल क्या लिखने की सोच रहे हैं?" मैंने पूछा।

"क्या बतलाऊँ, जबसे राजनीति के चक्कर में पड़ा उस दिशा में कुछ नहीं कर पाता", उन्होंने उत्तर दिया।

"कुलपति के पत्र?"

"बस, उससे अधिक कुछ और लिख पाने का अवकाश ही नहीं मिल पाता।"

"उन पत्रों में भी स्थायी साहित्य की बहुत सी सामग्री रहती है"—और मैंने एक पत्र का हवाला दिया जो उन्होंने श्री अरविन्द आश्रम की यात्रा करने के उपरान्त प्रकाशित किया था। वह पत्र मुझे बहुत अच्छा लगा था, मैंने उसकी सराहना की।

श्री अरविन्द के सम्बन्ध में बातचीत चल पड़ी। श्री अरविन्द से मुन्शी जी ने पढ़ा है जब वह बड़ौदा कालेज के प्रिंसिपल थे। मुन्शी जी के मन में श्री अरविन्द के प्रति बड़ी श्रद्धा रही है। उनके दर्शन मैंने कभी नहीं कर पाये। परन्तु श्रद्धा मेरी भी उनके प्रति बहुत रही है। पुरातन के अनेक सत्य, शिव और सुन्दर अंगों पर बातचीत होती रही। मुन्शीजी को किसी ने आकर याद दिलाई—"आपको स्नान करना है।"

"थोड़ी देर बाद"—उन्होंने कह कर टाल दिया और एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर बोले—"मानव जन्म से ही पापलिप्त नहीं होता, जन्म तो उसका देवत्व के साथ होता है फिर वातावरण, परिस्थिति और बड़े होने पर गलत-सलत दर्शन उसे कुछ-का-कुछ यहाँ तक कि शैतान बना देते हैं।"

यह मनोविज्ञान का विषय था जिसके विविध पहलुओं पर विचारों का आदान-प्रदान होता रहा।

काफी देर तक बैठक रही, फिर मैं चला आया। इसके बाद कई बार कभी कहीं, कभी कहीं मुंशी जी से भेंट हुई और हम दोनों के परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ होते चले गये। आयु में मुन्शी जी मुझ से बड़े हैं। मैं उन्हें बड़े भाई के सम्बोधन से पत्र लिखता हूँ और वह मुझे 'छोटे भाई' कहते हैं।

कभी-कभी हम दोनों "भाइयों" में मतभेद भी हुआ है, पर उससे हमारे पारस्परिक सम्बन्ध को कभी कोई चोट नहीं पहुँची।

श्री बृन्दावनलाल वर्मा

× × ×

स्मरण-माधुरी

बम्बई में स्थापित 'साहित्य-संसद' के सचित्र मुखपत्र 'गुजरात' मासिक का पहला अंक विक्रमीय संवत् १९७८, अप्रैल सन् १९२२ ई०, में प्रकाशित हुआ था। उक्त संस्था के उपमंत्री और पत्रिका के उपसंपादक के नाते उनकी विशेष इच्छानुसार उनसे मेरा निकटतम संबंध स्थापित होने का पहला प्रसंग रहा। इन साढ़े तीन दशकों में हमारे इस संबंध ने कई परिवर्तन देखे, कई हरे और सूखे अनुभव भी देखे—यह एक सत्य है किन्तु मुझे जैसे आज भी अपने 'हितैषी श्री कनुभाई' के प्रति पूर्ण मानदृष्टि है और उसी प्रकार में मान लेता हूँ कि उनके स्नेहमय हृदय में मेरे लिये केवल सद्भाव ही नहीं वरन् कृपामय प्रेम भी प्रचुर मात्रा में है।

श्री मुंशी से मेरा प्रथम परिचय कालेज में सन् १९१९-२० में मेरे अनन्य मित्र स्व० बटुभाई उमर पाडिया द्वारा हुआ था। उस परिचय का प्रसंग मेरे व्यक्तिगत जीवन में तथा साहित्यिक जीवन में भी स्मृतिरूप प्रसंगों में से एक था जो उतना ही महत्त्वपूर्ण भी था। उसका वर्णन जैसा मैंने अन्यत्र किया है, यहाँ भी अंकित करना उचित और आवश्यक मानता हूँ।

सन् १९२२ जनवरी माह के दूसरे सप्ताह में बाबुलवाथ रोड पर वजीर बिल्डिंग की दूसरे मंजिल के दीवानखाने में तीन व्यक्ति बैठे हुए थे। प्रवेश करते ही दाहिनी तरफ दो बड़ी कुर्सियों पर लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व ग्रेज्युएट होकर दो युवक तथा बायीं ओर एक बड़े सोफे पर पैंतीस वर्ष के, प्राचीन परंपरा में ढले सफल एडवोकेट बैठे दिखते थे। यह महानुभाव लगभग पांच-सात वर्ष से प्रतिभाशाली साहित्यकार के रूप में भी यश प्राप्त कर चुके थे। इन तीनों के बातचीत का विषय एक नवीन मासिक पत्र प्रकाशित करना और नई भावनाओं के कल्पनाशील लेखकों की संस्था स्थापित करना था।

उस समय के यशस्वी साहित्यकार महारथी[1] के पास और इन दोनों संभावित (साहित्यकारों) रथियों के पास मुख्य प्रश्न था—एक ऐसे व्यक्ति की खोज करना जो संस्था का कार्य नियमित रूप से करे और मासिक के संपादकीय विभाग की व्यवस्था तथा शासन-सूत्र सुन्दर ढंग से संभाल सके। उक्त स्थान के लिए एक सम सामयिक मासिक पत्र के संपादक का नाम आया जिसे अस्वीकार कर दिया गया। दूसरा नाम

---

१. पाठकों से इतनी प्रार्थना है कि प्रसंग में महारथी श्री मुंशी हैं, प्रथम रथी मेरे मित्र श्री बटुभाई, और दूसरा रथी तथा 'स्वान-विहारी युवक' स्वयं मैं हूँ।

एक कन्या-पाठशाला के शिक्षक का आया किन्तु उसकी भी वही स्थिति हुई। 'हाँ—हाँ, उसे मैंने देख लिया। यह उत्तर देने वाले उन मुरब्बी ने फिर कहा "ऐसे कांकड़े महात्मा को हम क्या करें?" वह शिक्षक अभी नई फैशन की रेशमी कफनी पहनते, सुन्दर छटावली उपवस्त्र और युग की नवीनता के साथ कदम भरते हुए खुले सिर के सुन्दर चमकीले पट्टीदार बालों द्वारा विश्व को मोहने के लिये तत्पर बने प्रतीत होते थे। इसीलिए उनको उपर्युक्त उपाधि मिली थी। उपाधि प्रदान करने वाले महारथी ने आगे कहा। "I want a semi-drudge, semi-literary man".

इतना कहकर वे सोफे पर की गद्दी पर आराम से दोनों पांव सोफे पर रख कर अर्द्धासन लगाकर बैठ गये। चमकती हुई छोटी आँखों को स्थिर और अधिक छोटी बनाते हुए दूसरे स्वप्न विहारी युवक की ओर देखकर उन्होंने पूछा :—"तुम्हारी नीयत क्या है?" मैं तो खुशी से आ जाऊँ किन्तु आप ही देखें इसमें कुछ अधिक पारिश्रमिक मिलने की संभावना तो है नहीं। किन्तु उसकी भी कोई चिन्ता नहीं, यदि मुझे घर का खर्च चलाने भर को मिल जाय तो मैं······।"

मुरब्बी—"यह तो ऐसा लगता है। पत्नी आये, फिर बच्चों का आगमन हो और यह जिन्दगी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाय त्यों त्यों संपूर्ण आदर्शवाद समाप्त होता जाय—यह समस्या भी ध्यान में रखने योग्य है।"

उस तेजस्वी युवक ने 'आप भी कनुभाई······' कह कर श्री मुंशी पर हल्की सी चोट की और कहा :—"नाहक इनको क्यों भड़काते हैं! विजयराम दूसरे नवयुवकों जैसे कमजोर नहीं हैं······।"

इसी प्रकार की कुछ अन्य बातों के पश्चात् उस दिन यह निश्चित हुआ कि मैं 'हिन्दुस्तान' पत्र की सवासौ रुपये की नौकरी छोड़कर सिर्फ सौ रुपये मासिक वेतन पर 'गुजरात' का उपसंपादक बनूँ। 'हिन्दुस्तान' में एक मास की नोटिस देकर मैंने अपन इस मित्र द्वारा दिलवाये गये इस पद को सहर्ष स्वीकार किया।

उस दिन से लेकर पूरे २५ माह तक मैं अपने गुरु-मित्र और मार्ग-दर्शक कनुभाई मुंशी का अनुगामी रहा और उस समय मेरी उम्र सिर्फ २५ या २६ वर्ष की थी। उस समय तक मैं मेरे मित्र बटुभाई ने और थोड़ा-बहुत गुजराती साहित्य का अवलोकन किया था किन्तु उससे भी अधिक रस हम दोनों और मुंशी-दंपति को ऑस्कर वाइल्ड, इब्सन तथा बर्नार्ड शा की कृतियों में मिलता था। ड्यूमा, विक्टर ह्यूगो, अनातोले फ्रांस तथा गॉल्सवर्दी—जैसे साहित्य-स्वामियों में हमें रुचि थी। हम युवकों का जो आदर्श था, वही श्री मुंशी का भी था कि गुजराती में उत्तम पाश्चात्य प्रेरणा से प्रेरित फिर भी कुछ भिन्नता लिये, रंगदर्शी सर्जक साहित्य तथा अर्वाचीन पद्धति का सर्जनात्मक विवेचन भी लिखा जाय। हमने अपनी किशोरावस्था में 'पृथ्वीवल्लभ' 'गुजरातनो नाथ' जैसी सरस कृतियों से साहित्य में प्रणालिका-भंग और जीवन में उल्लास के जो पाठ सीखे थे, वे इन पाठों को सिखाने वाले के दैनिक सम्पर्क अधिक परिपक्व बने और मेरे जीवन-निर्माण में सहायक हुए। जो भी थोड़ी-बहुत साहित्य सेवा मैं कर सका हूँ, वह श्री मुंशी के सहवास से संभव हो सकी है।

पत्रकारिता की बहुत सी समस्याएँ और उलझनें तो मुझे 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' तथा 'चेतन' में (जिसमें श्री वटुभाई ने मुझे अपने साथ रक्खा था) विदित हो चुकी थीं। इस कार्य-क्षेत्र की जो विशेष शिक्षा मुझे मिली, उसमें अनेक बार श्री मुंशी का अनुभवी तथा भावपूर्ण मार्गदर्शन अवश्य ही प्राप्त हुआ था। इन अनुभवों का उपयोग 'कौमुदी' और 'मानसी' के संचालन के समय पूर्णरूप से हुआ। सम्पादक के रूप में सन् १६२४ ई० से आजतक मुझे श्री नरसिंहराव तथा श्री बलवंतराय ठाकोर प्रभृति जिन अनेक विद्वानों तथा नये लेखकों का सहयोग मिला उनमें से बहुतों के साथ मेरे परिचय और घनिष्ठता का श्रेय साहित्य संसद को ही है।

मेरे जीवन और साहित्य-सेवा पर श्री मुंशी का ऋण है, इसके साथ-साथ उनकी दी हुई या दिलवाई हुई अनेकबार की प्रचुर आर्थिक सहायता का भी ऋण विशेष है।

वे दिन थे मेरी युवावस्था के और आज के दिन हैं जब जगन्नियंता की असीम अनुकंपा से श्री मुंशी ७०वें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं और ६१ वर्ष की आयु का मैं—भारतीय संस्कृति के अनोखे अनन्य उपासक तथा उद्‌बोधक को खोडियार मंदिर के समान एक पवित्र धर्म-स्थान से पूज्य भाव से ये अक्षत-अर्घ्य-पुष्प अर्पित करते हुए यत्किंचित् ऋण मुक्त होता हूँ।

श्री विजयराम क० वैद्य
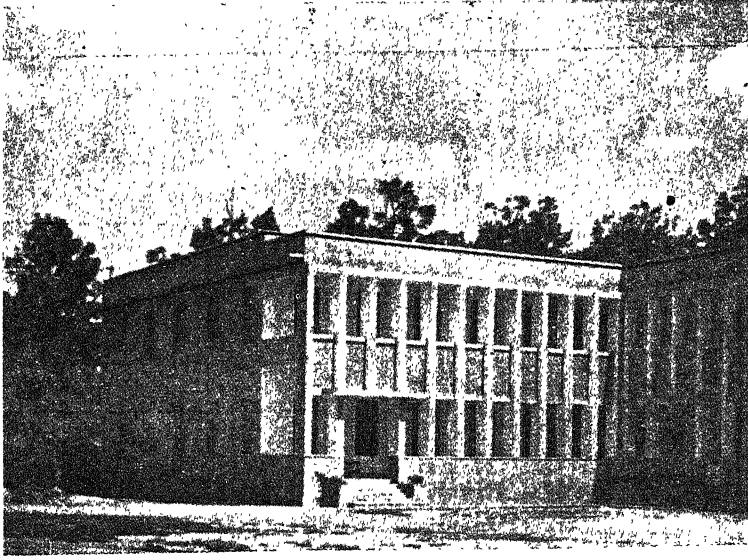
विश्वविद्यालयेनेदं विद्यापीठं विनिर्मितम् ।
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।।
साकारा भावना येयं भवदीया भारतीसमा ।
एकनीडीकृते लोके ज्ञानालोकन्तनोतु सा ।।

इस भवन के रूप में भगवती भारती के समान आपकी जो मंगलमयी भावना मूर्तिमती खड़ी है, वह हमारे सारे देश में—जो विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के सम्मिलित अध्ययन और संगम के द्वारा यहाँ सबके लिए एक नीड़ के रूप में परिणत हो गया है, ऐसे हमारे सारे देश में आपके इस विद्याभवन की वह भावना ज्ञान की अभिनव ज्योति का विकास करती रहे और समस्त प्रान्तीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा रूप को सबल और समृद्ध करती रहे ।

—विश्वनाथ प्रसाद
संचालक

खंड २

व्यक्तित्व

तथा

कृतित्व

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी

बी० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्०, एल-एल० डी०

[संक्षिप्त जीवन-परिचय]

नाम—मुन्शी, कन्हैयालाल माणिकलाल

जन्म-स्थान—भड़ौंच-गुजरात (बम्बई प्रदेश, भारत)

जन्म-तिथि—दिसम्बर ३०, १८८७ ई०

शिक्षा एवं कार्य—

१९०१, मैट्रिक; १९०२ बड़ौदा कालेज में प्रवेश; १९०४, तत्कालीन प्रोफेसर (बड़ौदा कालेज) श्री अरविन्द घोष से प्रभावित हुए; भड़ौंच में ही एक निःशुल्क पुस्तकालय की स्थापना की; १९०६, 'ईलीयट मेमोरियल पुरस्कार' (बड़ौदा कालेज) के साथ बी० ए० डिग्री प्राप्त की; १९१०, एल-एल० बी० परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बम्बई हाईकोर्ट की अपील-अदालत में वकालत प्रारम्भ की।

१९११, गुर्जर सभा के मन्त्री हुए; 'स्टूडेण्ट्स ब्रॅदरहुड मोतीवाला' पुरस्कार आपने अपनी कृति 'थ्योरी एण्ड प्रैक्टिस अॅव सोशल सर्विस' पर प्राप्त किया; १९१२, मासिक पत्रिका 'भार्गव' प्रारम्भ की।

१९१३, बम्बई हाईकोर्ट की प्रारम्भिक अदालत में वकालत प्रारम्भ की और भूलाभाई देसाई जी के नेतृत्व में अवर कानूनी सलाहकार (Devil) के रूप में नियुक्त हुए। १९१५, 'हॉम रूल लीग' की सदस्यता ग्रहण की और 'यंग इंडिया' के संयुक्त संपादक हुए। १९१७ में इंडियन नेशनल कांग्रेस की विषय समिति के सदस्य हुए; १९१९, बम्बई होम रूल लीग के मन्त्री; १९२२, साहित्य संसद् की स्थापना की; १९२३, यूरोप भ्रमण किया; १९२४, पंचगनी हिन्दू एजुकेशन सोसायटी के सभापति निर्वाचित हुए, सर हरकिशनदास नरोत्तमदास अस्पताल के सभापति निर्वाचित हुए।

१९२६, श्रीमती लीलावती सेठ से विवाह; बम्बई विश्वविद्यालय के फेलो निर्वाचित हुए, बम्बई विश्वविद्यालय की सिंडीकेट में लिये गये, गुजराती साहित्य परिषद् के उपसभापति निर्वाचित हुए, गुजरात विश्वविद्यालय सोसायटी प्रारम्भ की, बड़ौदा विश्वविद्यालय कमीशन के सदस्य नियुक्त हुए; १९२७, बम्बई विश्वविद्यालय के गुजराती बोर्ड अॅव स्टडीज के चेयरमैन निर्वाचित हुए, बम्बई लेजिस्लेटिव कौंसिल (विधान परिषद्) के लिए निर्वाचित

हुए; १९२८, बारडोली सत्याग्रह आन्दोलन के समय बम्बई विधान परिषद् से त्याग पत्र दे दिया, लेकिन पुनः निर्वाचित कर लिये गये। बारडोली जाँच समिति के अध्यक्ष हुए; १९२९, बाई काबीबाई ट्रस्ट के ट्रस्टी नियुक्त हुए, बम्बई विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तरीय अध्ययन (स्टडीज़) के बोर्ड व अकेडेमिक कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए।

१९३०, काँग्रेस में प्रवेश किया और नमक सत्याग्रह आन्दोलन के मध्य सत्याग्रह करने के फलस्वरूप ६ माह का साधारण कारावास प्राप्त हुआ, बम्बई सिटी एम्बुलेन्स कोर की स्थापना की और उसके सभापति भी निर्वाचित हुए; कार्य-समिति के अस्थायी रीति से स्थानापन्न सदस्य मनोनीत हुए; १९३१ बम्बई प्रदेश काँग्रेस कमेटी तथा अखिल भारतीय काँग्रेस कमेटी के सदस्य निर्वाचित हुए; १९३२, दो वर्ष का कठोर कारावास दिया गया और बीजापुर जेल में रक्खे गये; १९३४ काँग्रेस संसदीय बोर्ड के मन्त्री नियुक्त किए गये।

१९३६, 'हंस लिमिटेड' की स्थापना की जिसके द्वारा 'हंस' हिन्दी पत्रिका का प्रकाशन हुआ और आप प्रेमचन्द के साथ संयुक्त सम्पादक हुए; बम्बई जीवन बीमा कं० लि० के डाइरेक्टरों के बोर्ड के चैयरमैन निर्वाचित हुए।

१९३७, बम्बई विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए, बम्बई की प्रथम लोकप्रिय सरकार में आप गृह-मन्त्री नियुक्त हुए; गुजराती साहित्य परिषद् के सभापति निर्वाचित हुए।

१९३८, बाल सहायता समिति के उप सभापति तथा 'पश्चिमी-भारत के बालकों की 'संरक्षण-समिति' के सभापति हुए। सरदार वल्लभभाई पटेल के साथ आनन्द में 'कृषि-विद्यापीठ' की स्थापना की और उसके उप सभापति नियुक्त हुए; बम्बई में 'काँजी खेत्सी बालिका छात्रावास' की स्थापना की; बम्बई विश्वविद्यालय में 'ठक्कर विसनजी माधव जी' अनुसन्धान भाषण क्रम में "गुजरात में प्रारम्भिक आर्य" विषय पर भाषण दिया. भारतीय विद्या भवन की स्थापना की और उसके सभापति नियुक्त हुए।

१९३९, बम्बई सरकार के गृहमन्त्रित्व से त्यागपत्र दे दिया। १९४०, व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार कर लिये गये। १९४१, काँग्रेस से त्यागपत्र देकर अखण्ड हिन्दुस्तान आन्दोलन चलाया; १९४४, भारतीय इतिहास समिति की स्थापना की; बड़ौदा विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष नियुक्त हुए तथा अहमदाबाद के गुजरात विश्वविद्यालय के संबंध में रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त कमीशन के अध्यक्ष नियुक्त हुए।

१९४६, बम्बई में मेघजी मथुरादास आर्टस कालेज तथा नरोनदास मनोहरदास विज्ञान विद्यापीठ की स्थापना की। अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए; भारत की विधान निर्मात्री सभा के सदस्य निर्वाचित हुए तथा उसकी अन्य समितियों के सदस्य भी रहे।

१९४७, हैदराबाद में भारत सरकार की ओर से 'एजेण्ट जनरल' नियुक्त हुए।

१९४८, भारतीय विधान के प्रारूप के लिए विशेषज्ञ समिति के सदस्य निर्वाचित हुए।

१९५०, यूरोप और अमेरिका का भ्रमण किया, 'खाद्य तथा कृषि' मन्त्री नियुक्त हुए। १९५१, संस्कृत विश्व परिषद् की स्थापना की और उसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए और आज तक उस पद पर आप सुशोभित हैं। कृषि-विद्यापीठ आनन्द के चैयरमैन निर्वाचित हुए।

१९५२, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त हुए तथा आगरा, इलाहाबाद, लखनऊ, गोरखपुर, रुड़की, बनारस संस्कृत विश्वविद्यालयों के पदेन कुलपति बने।

हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा १९४६ में डी० लिट्०, सागर विश्वविद्यालय द्वारा १९४९ में डी० लिट्० और उसमानिया विश्वविद्यालय द्वारा १९५४ में एल-एल० डी० की सम्मानित उपाधियाँ प्रदान की गईं।

१९५६, चारुतर शिक्षा-समिति के तथा उसके कला, विज्ञान, वाणिज्य तथा इंजीनियरिंग कालेजों के अध्यक्ष निर्वाचित हुए और सरदार पटेल विश्वविद्यालय के फेलो निर्वाचित हुए। भारतीय विद्या-भवन के अध्यक्ष हैं, तथा इसके देहली व कानपुर केन्द्रों के अध्यक्ष तथा इलाहाबाद केन्द्र के संरक्षक हैं।

प्रकाशन

१	मारी कमला	(गुजराती)		कहानी-संग्रह	१९१२
२	वेरनी वसूलात	(गुजराती)	सामाजिक	उपन्यास	१९१९
३	कोनो वाँक	(गुजराती)	सामाजिक	उपन्यास	१९१५
४	पाटणनी प्रभुता	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९१६
५	गुजरातनो नाथ	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९१७
६	पृथ्वीवल्लभ	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९२०-२१
७	राजाधिराज	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९२२
८	वावा शेठनुं स्वातन्त्र्य	(गुजराती)	सामाजिक	नाटक	१९२१
९	पुरन्दर पराजय	(गुजराती)	पौराणिक	नाटक	१९२२
१०	भगवान कौटिल्य	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९२३
११	अविभक्त आत्मा	(गुजराती)	पौराणिक	नाटक	१९२३
१२	स्वप्न-द्रष्टा	(गुजराती)	सामाजिक	उपन्यास	१९२४
१३	बे खराब जन	(गुजराती)	सामाजिक	नाटक	१९२४
१४	तर्पण	(गुजराती)	पौराणिक	नाटक	१९२४
१५	केटलाक लेखो	(गुजराती)	विविध		१९२६
१६	आज्ञांकित	(गुजराती)	सामाजिक	नाटक	१९२७
१७	काकानी शशी	(गुजराती)	सामाजिक	नाटक	१९२८

१८	पुत्र समोवड़ी	(गुजराती)	पौराणिक	नाटक	१९२९
१९	ध्रुवस्वामिनी देवी	(गुजराती)	ऐतिहासिक	नाटक	१९२९
२०	स्नेह-संभ्रम	(गुजराती)	सामाजिक	नाटक	१९३१
२१	शिशु अने सखी	(गुजराती)	गद्यकाव्य		१९३२
२२	लोपामुद्रा भाग १	(गुजराती)	वैदिक	उपन्यास	१९३३
२३	थोडांक रस-दर्शनो	(गुजराती)	साहित्यिक अध्ययन		१९३३
२४	आदिवचनो भाग १	(गुजराती)		भाषण	१९३३
२५	नरसैयो: भक्त हरिनो	(गुजराती)		जीवन चरित्र	१९३३
२६	लोपामुद्रा भाग २ और ३	(गुजराती)	वैदिक	नाटक	१९३३
२७	लोपामुद्रा भाग ४	(गुजराती)	वैदिक	नाटक	१९३४
२८	गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर	(अँग्रेजी)	साहित्य का इतिहास		१९३५
२९	डा० मधुरिका	(गुजराती)	सामाजिक नाटक और	सीनीरियो	१९३६
३०	कुल वधू	(हिन्दी)		सीनीरियो	१९३६
३१	नर्मद	(गुजराती)		जीवन चरित्र	१९३९
३२	द अर्ली आर्यन्स इन गुजरात	(अँग्रेजी)	विश्वविद्यालयन्भाषण (१९४१ में प्रकाशित)		१९३८
३३	गुजरानी अस्मिता	(गुजराती)		विविध निबन्ध	१९३९
३४	जय सोमनाथ	(गुजराती)	ऐतिहासिक	उपन्यास	१९४०
३५	आई फ़ॉलो द महात्मा	(अँग्रेजी)			१९४०
३६	आदि वचनो भाग २	(गुजराती)		भाषण	१९४१
३७	अखंड हिन्दुस्तान	(अँग्रेजी)			१९४२
३८	द ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर-देश भाग १	(अँग्रेजी)		इतिहास	१९४३
३९	इम्पीरियल गुर्जर्स	(अँग्रेजी)		इतिहास	१९४४
४०	द इण्डियन डेडलॉक	(अँग्रेजी)			१९४५
४१	लोमहर्षिणी	(गुजराती)	वैदिक	उपन्यास	१९४५
४२	द रुइन दैट ब्रिटेन रौट	(अँग्रेजी)			१९४६
४३	द क्रियेटिव आर्ट अँव् लाइफ	(अँग्रेजी)			१९४६
४४	द चेंजिग शेप अँव् इंडियन पॉलिटिक्स	(अँग्रेजी)			१९४६
४५	भगवान परशुराम	(गुजराती)	वैदिक	उपन्यास	१९४६
४६	अडधे रस्ते	(गुजराती)		आत्मकथा भाग १	१९४३

४७	मारी बीन जवाबदार कहानी	(गुजराती)	आत्मकथा	१९४३
४८	सीधा चढाण भाग १	(गुजराती)	आत्मकथा भाग २	१९४२
४९	सीधां चढाव भाग २	(गुजराती)	आत्मकथा	१९४३
५०	भगवद्गीता एण्ड मोडर्न लाइफ	(अँग्रेजी)		१९४५-४७
५१	गांधी—द मास्टर	(अँग्रेजी)		१९४८
५२	लिंग्युस्टिक प्रोविन्सेज़ एण्ड फ़्यूचर ऑव् बम्बई	(अँग्रेजी)		१९४८
५३	सोमनाथ–द श्राइन एटर्नल	(अँग्रेजी)		१९५१
५४	स्पार्क्स फ्रोम द एन्विल	(अँग्रेजी)		१९५१
५५	गॉस्पल ऑव् द डर्टी हैण्ड्ज़	(अँग्रेजी)	भूमि-सुधार पर भाषण व व्याख्यान	१९५२
५६	स्वप्नसिद्धिनी शोधमां	(गुजराती)	आत्मकथा भाग ३	१९५३
५७	वाहरे मैं वाह	(गुजराती)	भाव नाट्य	१९५३
५८	आवर ग्रेटेस्ट नीड एण्ड अदर एड्रेसेज़	(अँग्रेजी)		१९५३
५९	टू बदरीनाथ	(अँग्रेजी)		१९५३
६०	जानूस डेथ एण्ड कुलपतीज़ लेटर्ज़-प्रथम सीरीज	(अँग्रेजी)		१९५४
६१	सिटी ऑव् पैराडाइज़ एण्ड अदर कुलपती लेटर्ज़ द्वितीय सीरीज़	(अँग्रेजी)		१९५४
६२	ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जरदेश			१९५४
६३	स्पार्कस फ्रोम द गवर्नर्ज़ एन्विल	(भाषण व लेख)		१९५६
६४	द वुल्फ़ बॉय एण्ड अदर कुलपतीज़ लेटर्ज़ तृतीय सीरीज़	(अँग्रेजी)		१९५६
६५	भग्न पादुका	(गुजराती)	ऐतिहासिक उपन्यास	१९५६
६६	तपस्विनी भाग १ व २	(गुजराती)	प्रेस में— उपन्यास	१९५७
६७	द एण्ड ऑव एन ऐरा— हैदराबाद मेमोरीज़ १९४८ संस्मरण	(अँग्रेजी)	प्रेस में	१९५७
६८	द सागा ऑव् इंडियन स्कल्पचर	(अँग्रेजी)	मूर्तिकलाकार सर्वेक्षण (प्रेस में)	१९५७

उपनाम— घनश्याम व्यास
स्थायी पता— भारतीय विद्या भवन चौपाटी रोड बम्बई ७
भाषा तथा भाषाएँ
जिनमें पुस्तकें लिखी गईं—गुजराती और अँग्रेज़ी अनेक पुस्तकें भारतीय भाषाओं में अनुवादित ।

प्रो० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

श्री मुंशी—एक व्यक्तित्व-विश्लेषण

लार्ड कर्ज़न का चरित्र-चित्रण करते हुए सर विन्सटन चर्चिल ने लिखा है; 'Every thing interested him, and he adorned nearly all he touched.' अर्थात् उन्हें हर चीज में दिलचस्पी थी, और जिस चीज को उन्होंनें छुआ उसे अलंकृत कर दिया। "चर्चिल की यह उक्ति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी के सम्बन्ध में पूर्णतः चरितार्थ होती है। भारत में इस समय प्रथम श्रेणी के जो विख्यात पुरुष हैं उनमें दो-एक को छोड़ कर और कोई भी मुंशी की दीप्त प्रतिभा एवं मनीषा की समता नहीं कर सकता। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, विधि, राजनीति, शिक्षा, संस्कृति सब में उनकी अभिरुचि है, और अभिरुचि ही नहीं है बल्कि प्रत्येक क्षेत्र में वे निष्णात हैं। वे एक स्वयं प्रसिद्ध पुरुष हैं और अपनी उज्ज्वल प्रभा से स्वतः देदीप्यमान् हो रहे हैं। एक ओर जहाँ उन्होंने अतीत भारत के ज्ञान-सागर में अवगाहन करके उसमें से रत्नों का आहरण किया है वहाँ दूसरी ओर उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी एक साधक के रूप में बड़ी निष्ठा के साथ अध्ययन-अनुशीलन किया है। भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के वे एक अत्यन्त शक्तिशाली पुरस्कर्त्ता एवं पुरोधा हैं। जीवन के विभिन्न कर्मपथों एवं साहित्य-कला के विभिन्न क्षेत्रों में उनका जो अजस्र दान है वह इतना महिमाशाली है कि उनकी ओर बरबस हमारा ध्यान चला जाता है और उनका सांगोपांग अध्ययन करने की इच्छा हमारे मन में उत्पन्न होती है। उनका व्यक्तित्व उनकी गुण गरिमा के कारण इतना महिमोज्ज्वल बन गया है कि चाहे जिस वातावरण में वे हों उसमें अपने व्यक्तित्व के जादू स्पर्श से उत्साह एवं उद्दीपन का संचार कर देते हैं और अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को अपनी कर्मशक्ति एवं प्राणवत्ता से अनुप्राणित कर देते हैं। प्रखर पाण्डित्य का भार वे अपने कंधों पर ढोये हुए नहीं चलते बल्कि एक ऐसे सुकोमल पुष्प की तरह उसे वहन किये रहते हैं जो अपने सौरभ से हमारे मन-प्राण को प्रफुल्लित कर देता है। संस्कृति की एक परिभाषा जीवन के पुष्प मुकुल के रूप में की गई है। इस परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृति रूपी सुमन श्री मुंशी के जीवन में परिपूर्ण भाव से प्रस्फुटित होकर उनके व्यक्तित्व में

मूर्त हो उठा है। उनका जीवन अत्यन्त कर्मव्यस्त रहा है और अपने इस जीवन में उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में जो सिद्धियाँ प्राप्त की हैं वे हमें विस्मयाभिभूत कर देती हैं। श्री राजगोपालाचारी ने लिखा है : "उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में विपुल सरकारी कार्य, विभिन्न स्थानों का भ्रमण और सार्वजनिक सभाओं में भाषण करने के अतिरिक्त श्री मुंशी को जब मैं अनवरत रूप में लिखते और पत्रिका का संपादन करते हुए देखता हूँ तो मुझे इस बात पर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि उन्हें समय किस प्रकार मिलता है और उनमें यह कर्मशक्ति कहाँ से आती है।"

श्री मुंशी का जीवन कर्मशक्ति का एक ऐसा अक्षय स्रोत रहा है कि उससे विभिन्न धाराएँ विनिःसृत होकर हमारे राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों को संजीवित एवं सरसित करती आ रही हैं, किन्तु वह स्रोत कभी अयिष्णु नहीं हुआ। उसमें प्राणों की उच्छलता आज भी बनी हुई है। उनकी कर्म प्रचेष्टाएँ विविध रूपों में प्रसारित होकर उनके व्यक्तित्व का प्रोज्वल परिचय दे रही हैं। जिस काम को वे अपने हाथ में लेते हैं उसे इस प्रकार सुविवेचित एवं सुश्रृङिखं रूप में करते हैं कि सफलता उनके सामने हाथ जोड़े खड़ी रहती है। एक सुन्दर विचार एक भाव मन में उठा और उसको लेकर वे आगे बढ़ते हैं इस आत्मविश्वास के साथ कि वह चरितार्थ होकर ही रहेगा। वे इस बात की चिन्ता नहीं करते कि उस विचार के कार्यान्वियन में अर्थ का जो प्रयोजन होगा वह कहाँ से आयेगा और उसके लिए कर्मी कहाँ मिलेंगे। जहाँ साधारण मनुष्य उनकी योजना के कार्यान्वियन के सम्बन्ध में सन्देह एवं संशय की भावना से द्विधाग्रस्त बन जाते हैं वहाँ श्री मुंशी अपने जीवन के गतिवेग एवं दूसरों को प्ररोचित करके काम में ले जाने की कला से असाध्य साधन कर दिखाते हैं। इसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त उनके द्वारा संस्थापित बम्बई का "भारतीय विद्या भवन है" जो भारतीय संस्कृति एवं ज्ञान साधना के पीठ स्थल के रूप में आज भारत व्यापी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है और जो शिक्षा के प्रति उनकी अभिरुचि एवं आग्रह पूर्ण उत्साह की सजीव प्रतिमा है।

भारतीय विद्या-भवन के सम्बन्ध में वे स्वयं लिखते हैं कि एक विचार, एक कल्पना (आइडिया) मन में उठी और वह कल्पना यह थी कि भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित एवं नवीन तत्वों के साथ उसे समन्वित करने के लिए—ताकि आधुनिक दशाओं के साथ उसका मेल हो सके—यह आवश्यक है कि हमारे शिक्षित जन उसका सब पहलुओं से अध्ययन करें। किन्तु इसके पूर्व तीन शर्तें यह हैं कि इस लोक की चिन्ता न करके परलोक की चिन्ता करना, यह जो अतीत काल का अभिशाप है उसके स्थल पर जीवन में आनन्दबोध की प्रतिष्ठा करना, दूसरी सर्जनात्मक प्राणवत्ता को दमित करने वाली जो परंपरागत प्रथाएँ हैं उनको विनष्ट करना, और अन्तिम आर्य संस्कृति के जो मूलगत मूल्य हैं और जिनके कारण हमारी संस्कृति को युग-युगान्तर से अनुप्रेरणा मिलती आ रही है उन्हें वर्त्तमान पीढ़ी के लिए नूतन रूप में ग्रहण करना।

बाद में चलकर उपर्युक्त विचार मुखर हो उठा, एक ऐसे आन्दोलन के रूप में जिसका उद्देश्य धर्म का पुनस्संस्थापन था—वह धर्म जिसका सारांश सदा से सत्यं,

शिवं, सुन्दरम् रहा है। भवन की प्रतिष्ठा पर श्री मुंशी ने अपने भाषण में उसके उद्देश्य की व्याख्या इस रूप में की थी : "भवन एक ऐसा संस्थान होगा जिसके द्वारा ऐसे सक्रिय केन्द्रों का संगठन किया जायगा जहाँ प्राचीन आर्य विद्या का अध्ययन और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर भारतीय संस्कृति का अवलम्बन किया जायगा।" इस प्रकार बीस वर्ष पूर्व जिस संस्था का बीजारोपण हुआ था वह आज एक विशाल महीरुह के के रूप में शिक्षा, संस्कृति, साहित्य एवं कला के क्षेत्रों में पुष्पित एवं फलित हो रहा है और उसकी शाखाएँ-प्रशाखाएँ क्रमशः विभिन्न स्थानों में प्रसारित हो रही हैं। श्री मुंशी भारतीय विद्या भवन के केवल प्रतिष्ठाता ही नहीं उसकी आत्मा हैं और उन्होंने मन-प्राण से इस संस्थान का पोषण एवं संवर्द्धन किया है। जिस प्रकार स्वयं वे भारतीय संस्कृति में जो कुछ शुभ उदार एवं महत् है उसके प्रतिरूप हैं उसी प्रकार भारतीय विद्या भवन भी एक ऐसा आलोक केन्द्र है जहाँ से भारतीय शिक्षा एवं संस्कृति की कोमल किरणें विकीर्ण होकर दूर-दूर तक अपनी प्रोज्ज्वल प्रभा से जन-मानस को प्रोद्भासित कर रही हैं।

एक वकील के रूप में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने कर्म-जीवन में प्रवेश किया और कुछ वर्षों के अंदर ही अपनी कानूनी योग्यता और प्रतिभा की बदौलत वे प्रथम श्रेणी के वकीलों में परिगणित होने लगे। उसी समय इनकी ख्याति बंबई प्रदेश की सीमा का अतिक्रमण करके अन्यान्य प्रदेशों तक फैल चुकी थी। इसके बाद जब वे राजनीति के क्षेत्र में आये तो यहाँ भी अपनी विधायिनी प्रतिभा के बल पर शीघ्र ही चमक उठे। बारडोली सत्याग्रह आन्दोलन के अवसर पर महात्मा गाँधी और सरदार पटेल के घनिष्ठ सम्पर्क में आप आये और इसके बाद से बम्बई उच्च न्यायालय के प्रथितयशा ख्यातिमान वकील श्री मुंशी गाँधी जी के सत्याग्रह मंत्र में दीक्षित होकर स्वातंत्र्य-संग्राम के एक सेनानी बन गये। इसके उपरान्त एक से एक बढ़ कर सम्मान पद एवं प्रतिष्ठा आपको जीवन में प्राप्त होती गई और प्रत्येक क्षेत्र में आप अपने व्यक्तित्व एवं मौलिकता की अमिट छाप छोड़ते गये। बंबई सरकार के गृहमंत्री के रूप में, भारतीय संविधान समिति के एक विशेषज्ञ के रूप में, हैदराबाद राज्य में भारत के महाभिकर्त्ता के रूप में, केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के खाद्य-मंत्री के रूप में और सब से अंत में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के रूप में श्री मुंशी ने अपनी प्रशासनिक योग्यता, अपनी मौलिक सूझ तथा सबसे बढ़ कर अपनी तेजस्विता का जो परिचय दिया है वह चिरस्मरणीय बन कर उनके जीवन की महिमा मण्डित बनाये रखेगी। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वे अपने सतेज एवं कर्मबहुल व्यक्तित्व का पदचिह्न छोड़ते हुए आज यश, मान एवं प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर अपनी जीवन ज्योति से भास्कर बने हुए हैं।

किन्तु ऊपर श्री मुंशी के विराट व्यक्तित्व का जो परिचय दिया गया है वह उनका यथार्थ परिचय नहीं है। राजनीतिक क्षेत्र में जो मान-प्रतिष्ठा एवं प्रसिद्धि प्राप्त होती है उसका चाकचिक आतिशबाजी के सौन्दर्य की तरह क्षणस्थायी सिद्ध होता है। राजनीति बड़ी चंचल वस्तु होती है। इसलिए कोरी राजनीति के बल पर कोई बड़ा से बड़ा राज-

नीतिज्ञ भी अपने पीछे ऐसे पदांक नहीं छोड़ जाता जो उसे चिरकाल तक अमरत्व प्रदान करते रहें। किन्तु जहाँ राजनीति के साथ संस्कृति का सुन्दर समन्वय होता है और मानवता के सस्पश से वह कल्याणजनक बन जाती है वहाँ राजनीतिक पुरुष के मानवोचित गुण, उसके सांस्कृतिक जीवन के सुमन-सौरभ चिरकाल तक अम्लान रह कर अपनी अमर महिमा का परिचय प्रदान करते रहते हैं। श्री मुंशी इस कोटि के ही वरेण्य राजनीतिक पुरुष हैं। एक राजनीतिक की अपेक्षा वे एक बहुत बड़े साहित्यिक हैं। साहित्य एवं संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा उनके जीवन के साथ इस प्रकार ओतप्रोत है कि हम साहित्य एवं संस्कृति से पृथक् करके उनके व्यक्तित्व की कल्पना ही नहीं कर सकते। और यह असन्दिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि साहित्य के क्षेत्र में उनके जो अवदान हैं वे उनके यशः शरीर को मृत्यु की कालिमा से कभी कलंकित नहीं होने देंगें।

श्री मुंशी मूलतः एक साहित्यकार हैं। एक कलाकार की निसर्गजात प्रतिभा उन में है। उनके व्यक्तित्व के निर्माण में कला एवं सौन्दर्य्य का अपूर्व समन्वय हुआ है। अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा लेकर उन्होंने एक कवि के ज्योतिर्मय नेत्रों से भारत के गौरवोज्ज्वल अतीत को देखा है। वैदिक युग से लेकर पौराणिक काल तक के इतिहास पर उनकी तीक्ष्ण-दृष्टि प्रसारित हुई है और उसके गंभीर गह्वर में प्रविष्ट होकर उन्होंने अपने साहित्य के लिए पात्र एवं उपादान संग्रह किये हैं। उनकी पुस्तकों की संख्या ६० से अधिक है और अपनी इन पुस्तकों द्वारा उन्होंने गुजराती साहित्य को बहुलांश में समृद्ध बनाया है। गुजराती साहित्य का ऐसा कोई अंग नहीं जिसमें रचना कर के वे यशस्वी न हुए हों। उपन्यास, नाटक, जीवन-चरित, समालोचना, निबंध, इतिहास, राजनीति आदि विषयों पर उनकी लिखी हुई पुस्तकों का गुजराती साहित्य में उच्च स्थान है। अपनी इन कृतियों के कारण आज वे गुजराती साहित्य के सृष्टाओं में शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। केवल गुजराती में ही नहीं अँगरेजी भाषा में भी उनकी कई पुस्तकें हैं जिनमें सर्वाधिक मूल्यवान "Gujrat and its Literature" 'गुजरात और उसका साहित्य' है। इस पुस्तक की भूमिका महात्मा गांधी ने लिखी है। उसकी अन्यान्य अँगरेजी पुस्तकों में "The Creative Art of Life", "I Follow the Mahatma", "The Glory that was Gurjaradesa" तथा "Bhagvad Gita And Modern life" विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

किन्तु गुजरात से बाहर हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्रों में साहित्यकार मुंशी को लोग उनके उपन्यासों के कारण जितना जानते हैं उतना उनकी अन्यान्य कृतियों के कारण नहीं। उनके प्रायः समस्त प्रसिद्ध उपन्यास हिन्दी में अनुवादित हो चुके हैं और हिन्दी के पाठकों में उनकी लोकप्रियता भी काफी है। "पाटन का प्रभुत्व" "गुजरात के नाथ", "परशुराम", 'राजाधिराज', 'पृथ्वीवल्लभ', 'जय सोमनाथ', 'लोपा मुद्रा' आदि उनके ऐतिहासिक उपन्यासों से हिन्दी के उपन्यास प्रेमी पाठक अवश्य ही परिचित हैं। अपने इन उपन्यासों में उन्होंने पौराणिक एवं एतिहासिक पात्रों की कल्पना के सहारे इतना सजीव बना दिया है कि वे पाठकों के मानस पटल पर चिरकाल के लिए अपनी छाप छोड़ जाते हैं। १९३० में जब

मुंशी जी नासिक जेल में बंदी थे उन्होंने अपने बाल्यकाल के संस्मरणों को 'शिशु अण साखी' में लिपिबद्ध किया था। यह पुस्तक एक असाधारण शैली में लिखी गई है जिसमें लेखक ने अपने मानसिक विकास अपने हर्ष-विषाद तथा लीलावती मुंशी के साथ अपने रोमांचकर विवाह का विवरण कवित्वपूर्ण भाषा में दिया है। अपने अन्तरंग जीवन की प्रकाश छाया का चित्रण उन्होंने बड़ी स्पष्टता के साथ बिना किसी कुंठा के किया है। अपने प्रारम्भिक जीवन में वे अपनी माता से बहुत प्रभावित हुए थे जिसके गंभीर चिह्न उनके साहित्य पर भी अंकित हैं। अपनी माता के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है : मेरी माता मुझे वशिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम आदि पौराणिक वीरों की कथाएँ सुनाया करती थी। जब में छः वर्ष का था अपने हाथ में हाकी का डंडा लेकर उसे फरसे की तरह घुमाया करता और मन ही मन इस बात की कल्पना करता कि मैं परशुराम की तरह वीर हूँ। उसी प्रकार वशिष्ठ और विश्वामित्र बनने की कल्पना भी मेरे मन में उठा करती थी और मैं सोचा करता था कि इन ऋषियों की तरह मेरा भी एक आश्रम होता। "बाल्यकाल के इस प्रभाव के कारण ही उन्होंने कतिपय पौराणिक चरित्रों को लेकर अपने उपन्यासों की रचना की है। एक ओर जहाँ उन्होंने बाल्यकाल में पौराणिक आख्यानों एवं रामायण, महाभारत की कहानियों से प्रेरणा ग्रहण की थी वहाँ दूसरी ओर अँगरेजी शिक्षा प्राप्त करने पर जब उनका परिचय अलेकजेण्डर डूमा, बिक्टरह्यूगो, स्काट और लीटन के उपन्यासों से हुआ तब स्वभावतः उनकी कहानियों ने उनके अन्तस में पुलक सिहरन का संचार किया। विदेशी उपन्यासों की एक विशेषता जिसने मुंशी और उनके समकालीन लेखकों को मुग्ध किया था वह थी उनकी कहानी कहने की क्षमता। भारतीय आख्यायिकाएँ प्रचुर परिमाण में अवश्य थीं किन्तु उनमें अधिकांश का कथा-भाग बहुत लंबा और चक्करदार होता था और अलंकारमयी भाषा तथा नैतिक उपदेशों से वह बोझीला होता था। प्राचीन कथा-कहानियाँ अब विस्वाद प्रतीत होने लगी थीं, वे अब बासी हो चुकी थीं और आधुनिक जीवन की वास्तविकताओं और समस्याओं के साथ उनका बहुत कम सम्बन्ध रह गया था। और सबसे बढ़कर यह कि मनुष्य में उद्यम और रोमान्स के लिए जो स्वाभाविक प्रेरणा होती है उसके लिए उनमें कोई स्थान नहीं था। रूढ़ नैतिकता अथवा प्रेम-चर्चा के कठोर साँचों में जीवन ढला हुआ होता था। अतएव एक भावी उपन्यासकार के रूप में श्री मुंशी पर यूरोपियन उपन्यासों की उज्ज्वलता का प्रबल प्रभाव पड़ा और यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत होगा कि अपने उपन्यासों में कथानक का सरल सजीव एवं कटे-छंटे रूप में वर्णन करने में उन्हें जो उल्लेखनीय सफलता मिली है इसके लिए वे श्रेष्ठ पाश्चात्य उपन्यासकारों के ऋणी हैं। उनके उपन्यासों में कथा कहने का ढंग बड़ा ही आकर्षक होता है। उनकी शैली सरल, सशक्त एवं प्राणों में स्पन्दन उत्पन्न करने वाली होती है। उसमें अलंकृत शब्दों की न तो बहुलता होती है और न वागाडम्बर होता है। पाश्चात्य उपन्यासों से अनेकांश में प्रभावित होने पर भी उपन्यासकार मुंशी अपने पात्रों को विदेशी पात्रों के आदर्श के अनुरूप चित्रित नहीं करते। अपनी कल्पना द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण अभिनव चरित्रों की सृष्टि की है। उनके पात्र एक ऐसे मनुष्य की कल्पना से प्रसूत हुए हैं जिसका सम्पूर्ण जीवन दो विभिन्न सभ्यताओं की एक-केन्द्राभिमुखी धाराओं

द्वारा गठित तो हुआ है किन्तु जिसकी जड़ें अपने देश की परंपरागत प्रथाओं की धरती पर दृढ़ता के साथ जमी हुई हैं ।

श्री मुंशी ने अपने जीवन में जो विचित्र अनुभव प्राप्त किये हैं उनका प्रतिफलन उनके उपन्यास के कितने ही पात्रों के जीवन में हुआ है । उनके पात्र परिस्थिति के घात-प्रतिघातों के बीच पड़ कर भी न तो अभिभूत होते हैं और न हताश । वे अपने जीवन के किसी भी क्षेत्र में उठने वाली आँधियों का सामना सहज भाव से करते हुए आगे बढ़ते हैं । मुंशी अपने जीवन में रूढ़ियों के उपासक कभी नहीं रहे । भारतीय समाज की एक बहुत बड़ी त्रुटि जिसका उन्होंने अपने जीवन में अनुभव किया है वह है एक ओर जहाँ वह सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान करने का बाह्य प्रदर्शन करता है वहाँ दूसरी ओर सिद्धान्त से सम्पूर्ण विपरीत किये जाने वाले आचरणों को वह अनन्त काल से सहन करता आ रहा है । उनकी रचनाओं में पग-पग पर हमें विद्रोह की भावना मिलती है । यह विद्रोह तब होता है जबकि एक व्यक्ति के मांसल जीवन और सामाजिक आचार-विचार एवं रूढ़िगत नैतिकता में संघर्ष उत्पन्न होता है । मुंशी के पात्र उष्ण-रक्त भरे, सतेज और वासनामय हैं । वे जीवन-रस का परिपूर्ण रूप से आस्वादन करना चाहते हैं । उनमें वासना के साथ-साथ स्वस्थ प्रेम भी है । इसलिए वे उन सामाजिक नीति नियमों के विरुद्ध संघर्ष करते हैं जो सब को पीस कर एक ही धरातल पर ले आना चाहते हैं और जिनमें व्यक्ति के प्रत्येक भावावेग को या तो अवदमित कर दिया जाता है अथवा समाज उसके विरुद्ध रोषपूर्ण दृष्टि से देखता है । इस प्रकार की एकरूपता ने हमारे सामाजिक जीवन को पंगु बना दिया है और उसे जीवनरस से वंचित कर दिया है । इसका प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ा जिसके फलस्वरूप वह वास्तविक जीवन से विच्छिन्न होकर या तो अर्थहीन शब्दों का इन्द्रजाल बन गया अथवा अध्यात्म का आश्रय ग्रहण करके सर्वथा दूषित ।

मुंशी जी साहित्य के क्षेत्र में सौन्दर्य के उपासक है । उन्हीं के शब्दों में "जो प्रभावोत्पादक और सुन्दर है वही साहित्य की उपाधि से विभूषित किया जा सकता है ।" उनके विचार से साहित्यकार सर्वतंत्र स्वतंत्र होता है । वह किसी के आदेश या फरमाइश पर साहित्य की रचना नहीं करता । अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि मैं स्वान्तः सुखाय रचना करता हूँ । मैं उसी सौन्दर्य का सृजन करूँगा जो मेरी कल्पना से उत्पन्न हुआ है । अपने कितने ही पात्रों के साथ अपने जीवन को एकात्मक करके वे आनन्द एवं उल्लास का अनुभव करते हैं । यही कारण है कि अपने सर्जनात्मक क्रिया-कलाप द्वारा उन्होंनें जीवन का सच्चे अर्थ में उपभोग किया है । उनका अबतक का जीवन सब प्रकार से समृद्ध एवं उल्लासपूर्ण रहा है । उनका जीवन सचमुच धन्य एवं कृतार्थ है ।

प्रो० मंजुलाल मजमुंदार

डा० श्री कनु मुन्शी

'दृष्टि स्तृणीकृत जगत्रयसच्चसारा'[1]—तीनों जगत मानो किसी हिसाब ही में न हों ऐसी पैनी और सामना बर्दाश्त करने के लिए हमेशा तैयार ही हो ऐसी दृष्टि श्री कनुभाई के प्रोफाइल (अर्ध चित्र) फोटोग्राफ में स्पष्ट प्रकट होती है।

उस दृष्टि में भार्गव परशुराम के वंशज होने का स्वाभिमान एक रूप से जागृत-सा दिखाई पड़ता है, और "टीले के मुंशियों" के पूर्वज-स्तोत्र में इस दृष्टि के मूल स्पष्ट दिखाई देते हैं। आगे जाते हुए उनका, ब्राह्मण जाति का और मुंशी-कुल में उत्पन्न होने का गर्व सारे गुजरात के लिए गुजराती-भाषी प्रजा के लिए व्यापक बनता है।

क्रमिक रूप से धीरे-धीरे निरर्थक एवं संकुचित व्यक्तिगत संस्कृति का अभिधान प्रान्तीय या क्षेत्रीय संस्कृति की अस्मिता का स्वरूप धारण करता है। उससे सारे देश के प्रेम में इस प्रकार का प्रान्तिकता वाला स्वदेश-प्रेम निगुर्ण में सगुणरूप गिने जाने योग्य बनता है। या यों कहिये कि जो व्यक्ति सांस्कृतिक दृष्टि से प्रान्तिक अस्मिता का पुरस्कर्ता है वही राष्ट्रीय दृष्टि से 'अखंड हिन्दुस्तान' के आदर्शों को फैलाता है।

'अडधे रस्ते' (पृ० ४) में वे स्वयं ही लिखते हैं कि 'टीले-वासियों का मिजाज़ कुछ और ही माना जाता' यहाँ 'मिजाज़' शब्द स्वाभिमान और उसके तीव्र स्वरूप को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। सचमुच तो अपनी जाति के लिए, अपने वचन के लिए, अपने बर्ताव के लिए और अपनी टेक के लिए बहुत ही जागृत रहने की प्रेरणा पाने वाले आदर्शवादी मुंशी-वंशज नये आंदोलनों को एकदम ही ग्रहण कर लेते हैं।

परन्तु अपने ही आत्मविश्वास, आत्मभान और देश की निराधार दशा के कारण अपनी कल्पना के आदर्श सपने किस प्रकार टूट कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं उस युग का रसिक आलेखन उन्होंने 'स्वप्नद्रष्टा' में किया है। 'दर्शन' जब पढ़ता था तब का वह केवल स्वप्न-द्रष्टा था, उसकी भावना के बीजों के अंकुरित होने का वह समय था।'

---

१. भवभूति के उत्तररामचरित में लवकुश के लिये प्रयुक्त विशेषण।

उसके बाद संवत् १९८२ (सन् १९२७) के बारडोली सत्याग्रह की विजय के मिस उन्हें एक अद्भुत वीररसोचित प्रसंग प्राप्त हुआ। मिट्टी के बने मनुष्य में से फौलादी मनुष्य के रूप में उसका 'मूल्य परिवर्तन' देखने का मौका उन्हें प्राप्त हुआ। गुजरातियों की राज्य के साथ लड़के की आदत सदियों से नष्ट-सी हो गई थी। वह आदत गुजरातियों में फिर से जाग्रत हुई। उस प्रसंग का श्री कनुभाई ने बहुत ही बढ़िया वर्णन किया है।

उनके जीवन का सूक्ष्म रूप से अभ्यास करने वाला अवश्य ही देख सकेगा कि गुजरात से सम्बन्धित सोलंकी युग की कीर्तिगाथा के समान ऐतिहासिक उपन्यासों में से गुजरात देश की अस्पष्ट गाथा को पढ़ने का उनका मनोरथ देश की बदली हुई राजनीति में मूर्त स्वरूप को प्राप्त हुआ है। गुर्जरों के महाराज्य की अस्पष्ट गाथा के ऊपर से जाज्वल्यमान इतिहास ग्रन्थ की रचना करने का उनका संकल्प और सिद्धि भी उनके इसी अस्मिता-प्रेम का फल है।

भार्गववंश-भूषण मुंशी वैदिक ऋषि की पुरानी किन्तु मनोरम कल्पना को हँसी में नहीं उड़ाते। मुंशी जी अपने पूर्वजों को-पितृों को जो याद करते हैं वह उनके योग्य वंशज रहने के लिए तथा अनेक उचित कार्यों के द्वारा उनका 'तर्पण' करने के लिए राम जामदग्नेय के लिए और भार्गवों का वर्चस्व जो 'महाभारत' काव्य के सौतिके संस्करण में दिखाई पड़ता है उससे, उनकी दृष्टि समुल्लसित बनती है।

मुंशीजी परम्परागत 'ब्राह्मण ब्रुव' ब्राह्मणता के विरोधी होंगे, परन्तु तेजस्वी, सुन्दर, कलात्मक और ज्योतिमय तथा संस्कारी ब्राह्मणत्व के तो वे प्रशंसक एवं पुरस्कर्ता हैं।

'सुवर्ण युगनां सर्जन' में मुंशी जी ने गुप्तकालीन युग को कल्पना के रंगों से सजीव करने का जितना प्रयत्न किया है उतना ही भविष्यकाल में ऐसे भव्य समय का आह्वान करने का मनोरथ उन्होंने रक्खा है ऐसा मानना अनुचित नहीं।

इस दृष्टि से मुंशी जी कवि हैं। 'कवि' शब्द के मूल अर्थ के अनुसार-क्रान्तदर्शी ऋषि जैसे—लम्बी तथा गहरी बेधक दृष्टि डालने वाले और कल्पना के पंखों से ऐसी लोकोत्तर सृष्टि के सपनों के रचने वाले और उसके योग्य मानव-सृष्टि के सर्जन की भावना को रखने वाले भी हैं।

मुंशी जी की कल्पना शक्ति, उनकी 'नवनवोन्मेषशालिनी' प्रतिभा उनको कवि-पद का अधिकारी बनाती है। शेक्स्पीअर ने कवि के बारे में कहा है कि—

> "A Poets eye in a fine frenzy rolling
> Looks from Heaven to Earth,
> From Earth to Heaven,
> And gives to airy nothing,
> A local habitation and a name."

—ऐसी कवि-दृष्टि मुंशी जी रखते हैं।

उनकी कल्पना ने सोलंकी-युग के अनेक पात्रों को पुनर्जीवित किया है, कुछ नये पात्रों का सर्जन किया है और कुछ के पुराने अस्थि-पिंजरों में प्राण डाले हैं। विश्वम्भरदास

देसाई की कल्पना को जगा देने वाली कहानी कहते हुए वे सच ही कहते हैं कि अपने भड़ोंची काक और मंजरी के वीर वंशज को 'गुजरात का बानी' मैं फौरन ही पहचान लेता हूँ। ('अडधे रस्ते', पृ० २१)

दंडनायक और महामात्य की प्रेरक सृष्टि का सर्जक आज राजकीय क्षेत्र में 'राज्यपाल' है और विद्या के क्षेत्र में 'कुलपति' हैं।[1]

मुंशी जी का कला-सर्जन केवल ऐतिहासिक क्षेत्र ही में नहीं बल्कि 'जीवनी' लिखने में भी वही कल्पना की चमक और सारे प्रसंग को नाट्यात्मक बनाने की उनके चित्ततन्त्र की स्थिति को व्यक्त करता है। 'नरसैंयो भक्त हरिनो' देखिये या कवि प्रेमानन्द, गुरुजी की अनुपम स्थिति में प्रसंग का ध्यान रखते हुए पहले-पहल कैसे चमक उठे (देखिये 'प्रेमानन्द जयन्ती व्याख्यान माला')—वह चित्र देखिये—वह उतना ही बुलन्द और वाचक के हृदय पर प्रभाव डालने वाला है।

मुंशी जी यानी अपने जीवन की रूपरेखा के अनुसार प्रसंग-प्रसंग पर यथोचित भूमिका करने वाले सिद्ध नट : अभिनेता : विधि निर्मित यान्त्रिक पुतले जैसे नहीं। परन्तु कई वार जीवन नाटक के कुछ अंकों में तो प्रत्यक्ष सूत्रधार ही वे स्वयं हैं। श्री कनु मुंशी कृष्ण नामधारी 'कन्हैयालाल' केवल नट ही नहीं किन्तु 'नटवर' भी हैं।[2]

---

१. अब नहीं हैं।

२. 'श्री मुन्शी षष्ठी पूर्ति ग्रन्थ' जो गुजराती में प्रकट होने वाला था उसमें दिया हुआ लेख (अभीतक अप्रकाशित)

प्रो० नटवरलाल अम्बालाल व्यास

कर्मयोगी मुंशीजी

'दुर्लभं भारते जन्म' कह कर हमारे कवियों ने भारतवर्ष के गौरव को अत्यंत ही बढ़ा दिया है। भारतवर्ष में कभी भी कवियों की या महामना आत्माओं की न्यूनता नहीं रही। वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध और महावीर जैसे महान् दिव्यात्माओं से पुनीतपावन भूमि भारतवर्ष की ही है। गुजरात भी अपनी ओर से देशदीपकों और जगदीपकों को उत्पन्न करने में पीछे नहीं रहा। महात्मा गांधीजी तो आज केवल गुजरात या भारतवर्ष के ही नहीं, अपितु निखिल मानवजाति के हो चुके हैं। सेवाव्रत धारी ठक्कर बापा और दृढ़निश्चयी सरदार पटेल को आज भारत में कौन नहीं जानता? इसी तरह आज मोरारजी देसाई, कन्हैयालाल मुंशी, रविशंकर महाराज, उछरंगराय ढेबर एवं अन्यान्य महान् व्यक्ति केवल गुजरात को ही नहीं, पर समग्र भारत को अपनी सेवा दे रहे हैं। विलक्षण और विचक्षण, ख्यातनामा बैरिस्टर लोकप्रिय साहित्यकार, गांधीजी के विशिष्ट अनुयायी एवं निपुण शासक श्री कन्हैयालाल मुंशी के जीवन का हम विहंगावलोकन करेंगे।

श्री कन्हैयालाल मुंशी का जन्म भड़ोच में संवत् १९४४ के पौष मास की पूर्णिमा के दिन दोपहर को बारह बजे हुआ था। उस दिन ई० सं० १८८७ के दिसंबर की ३० तारीख थी। मुंशी के टीले पर स्थित 'छोटे घर' में उनका जन्म हुआ था। मुंशी का टीला विशालमार्ग के निकट ही है और आज भी वह भड़ोच में मुंशीस्ट्रीट के नाम से प्रसिद्ध है। ग्रीकों की दृष्टि से 'प्रार्थेनोन' या रोमनों की दृष्टि से जो महत्त्व 'पेलेटीनेट हिल' का था, वही महत्त्व उस जमाने में भार्गववंश के ब्राह्मणों की दृष्टि से मुँशी के टीले का था। टीले के सामने भार्गव ब्राह्मणों का प्रधान केन्द्र भृगुभास्करेश्वर का मन्दिर है। इसी जगह गणपति पूजन करने के उपरान्त उन्होंने अनेक कार्यों का शुभारंभ किया था। हनुमान को तेल और लाल स्याही से 'श्रीराम' लिखे हुए कागज़ चढ़ाकर परीक्षा में उत्तीर्ण होने का भी उन्होंने प्रयत्न किया था। मुंशीजी मानते थे कि मयूर-मयूरी सामने के छप्पर पर बैठ कर उन्हें विद्यार्जन करने का सरस्वती देवी का संदेश सुनाया करते थे।

उनके पिता का नाम माणिक्यलाल मुंशी और माता का नाम तापीबहन मुंशी था। उनकी जातिवाले सब भृगुऋषि की सन्तान हैं ऐसा माना जाता है; इसीलिए वे

भार्गव नाम से विख्यात हैं। जमदग्नि, परशुराम तथा अन्याय भार्गव श्रेष्ठों के प्रति मुंशी-जी का आज भी अत्यंत आदर है और अपने ग्रंथों में उनके प्रभावशाली चरित्रों का तेजस्वी शब्दों में आलेखन किया है। गुजराती ब्राह्मणों में भार्गव ब्राह्मण विशेष उन्नतिशील थे। बहुत से भार्गव ब्राह्मण अफसर थे, कुछ व्यापार करते थे पर बहुत कम ऐसे थे जो सारे गुजरात में अपनी विद्वता से कीर्तिमन्त थे। वे अपने को होशियार, गर्विष्ठ, और अभिमानी मानते थे। राजनीति या कुटिल नीति में भी वे प्रवीण माने जाते थे। मुंशी के पूर्वजों की अवटंक (sir name) पहले व्यास था और उनके पूर्वज भी ब्राह्मणोचित पेशा ही करते थे। सर्वप्रथम उनकी माता की सातवीं पीढ़ी के प्रपितामह नन्दलाल ने अपने फारसी काव्यों से दिल्ली के बादशाह महमदशाह को प्रसन्न करके मुंशीगीरी प्राप्त की थी। उनके पिताजी माणिक्यलाल मुंशी पुस्तक पढ़ने के बहुत शौकीन थे। अपने पिताजी के पास से मुंशी को कई सर्वोत्तम ग्रंथ प्राप्त हुए थे। उनके पिताजी रेवन्यू विभाग में तहसीलदार थे और डेप्युटी कलेटक्र के पद तक पहुँचे थे। उनके पिताजी अत्यंत सरल स्वभाव के धीरगंभीर सज्जन थे। उनकी माताजी तापीबहन मुंशी भी साहित्यसेवी थीं और कई काव्य उन्होंने लिखे हैं। गुजरात की कवयित्रियों में तापी बहन का अपना निजी स्थान है। इस तरह मुंशी को साहित्य के अंकुर और संस्कार सुयोग्य जनक-जननी से ही मिले, जिन्हें पाकर उन्होंने अपनी प्रतिभा, मेधा और उद्योग से और भी उत्कृष्ट बनाया।

गांधीजी की तरह मुंशी भी बाल्यकाल में शायद ही खेले होंगे। खेलना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। अपनी आत्मकथा में वे अपने को 'Funny little boy' कहते हैं। उनके पिताजी की इच्छा उन्हें सिविलियन बनाने की थी, अतः वे उन्हें 'Reading without Tears' नामक पुस्तक से अँग्रेजी पढ़ाते। बहुत छोटी आयु में ही कन्हैयालाल ने ड्यूमा की 'Three Musketeers' एवं अन्यान्य कथाएँ पढ़ना शुरू कर दिया। उनके साहित्य पर ड्यूमा का प्रभाव है यह वे स्वयं कहते हैं और ड्यूमा को एक नवनवो-न्मेषशालिनी प्रतिभासंपन्न साहित्य के रूप में स्वीकार करते हैं।

सन् १९०२ में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् वे बड़ौदा कॉलेज में भर्ती हुए। वहाँ वे अरविन्द घोष, जगजीवन व० शाह तथा अन्यान्य सुप्रसिद्ध अध्यापकों से ज्ञानराशि संपादन करने लगे। प्रो० शाह के प्रिय शिष्य प्राणलाल किरपाराम देसाई थे जो 'पी० के०' नाम से प्रसिद्ध थे। मुंशी पी० के० के शिष्य थे। १९०२ ई० में बड़ौदा कॉलेज में अँग्रेजी में सर्वश्रेष्ठ वक्ता 'पी० के०' थे जो चर्चासभा के मंत्री भी थे। 'पी० के०' की प्रेरणा से एक बार मुँशी 'शिवाजी' पर बोलने के लिए खड़े हुए पर उन्हें सफलता न मिली। तत्पश्चात् मुंशी ने 'चेम्बर्स' के 'वाक्पाटव' का अभ्यास शुरू किया और उसमें दिए हुए पेट्रिक, हेन्नी, चेथाम, शेरीडन, बर्क तथा अन्यान्य महापुरुषों के प्रवचन रट लिए। बाद में वे अपने बालमित्र दलपतराम को ये व्याख्यान हावभाव पूर्वक सुनाते। अहमदाबाद में सुरेन्द्रनाथ का अँग्रेजी प्रवचन सुनकर वे अत्यंत ही प्रभावित हुए। और उन्होंने वक्तृ-त्वकला में पटुतम होने की व्यवस्थित योजना बनाई। 'बेलिस् लेटर्स' में डेमोस्थेनीस और

सिसेरो के प्रकरणों का अभ्यास किया। सुरेन्द्रनाथ एवं तत्कालीन अन्यान्य प्रसिद्ध नेताओं के प्रवचन वे रट लेते और बाद में पुनः पुनः अभिनय के साथ प्रवचन देने का अभ्यास करते-करते वे अँग्रेजी में उत्तम वक्ता हो गए। १९०६ ई० में बड़ौदा कालेज में यह सर्वस्वीकृत हो गया कि मुंशी एक अच्छे वक्ता हैं। कॉलेज-जीवन-काल में ही उनके पिता के स्वर्गवास से उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। मुंशी को कोई कष्ट न हो यह देखने के लिये जीजीमा (उनकी माताजी) निरंतर सतर्क थी। कॉलेज में पढ़ने के साथ-साथ वे साहित्य और देशसेवा के प्रति अत्यंत आकर्षित हुए थे। हिन्दी राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में भाग लेने का अवसर वे नहीं जाने देते थे।

१९०४ ई० में उनकी शादी अतिलक्ष्मी से हुई। वह अनपढ़ थी। इसलिए मुंशी को पसंद नहीं थी। उनको तो साहित्य-संगीत-कला में निपुण पत्नी की आवश्यकता थी। 'गृहणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्ये ललिते कलाविधौ'—यह उनका आदर्श था। तापी-बहन के अतिलक्ष्मी को सुधारने के अनेक प्रयत्न के बाद भी अतिलक्ष्मी में विशेष अन्तर नहीं हुआ और मुंशी अपनी पत्नी से असंतुष्ट ही रहने लगे।

मुंशी अरविन्द घोष के संपर्क में भी आये थे। उनसे राष्ट्रीयता के बारे में बातचीत भी की थी। उनके उपदेश से वे पंतजलि योगसूत्र और विवेकानंद के ग्रंथों की ओर आकृष्ट हुए। सन् १९०६ में वे बी० ए० में द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। अँग्रेजी में ६० प्रतिशत प्राप्तांक होने से 'इलियट पारितोषिक' मिला। तदनन्तर कानून के अध्ययन के लिए जून १९०७ में वे बम्बई आये और बम्बई-निवासी हो गये। इन्हीं दिनों में वे अँग्रेजी में लेख लिखते थे जो 'Hindustan Review' 'Indian Ladies Magazine 'और 'East and West' में प्रकाशित होते थे। भाषण देने में निपुणता प्राप्त करने का उनका अभ्यास भी एकान्त कमरे में चल ही रहा था। धीरे-धीरे वे बंबई में भी एक निपुण वक्ता की हैसियत से प्रसिद्ध होने लगे। उनका चन्द्रशंकर पंडया, कान्तिलाल पंडया, विभाकर, कान्त एवं अन्य साहित्यिकों से परिचय हुआ। १९१२ ई० में उन्होंने 'गुर्जर सभा' का पुनर्निर्माण किया और इसके संयुक्त मंत्री भी बने। १९१३ ई० मे उस जमाने में बहुत कठिन और अनेक प्रयत्नों के बाद ही उत्तीर्ण की जा सकने वाली एडवोकेट की परीक्षा में वे प्रथम प्रयत्न में ही द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और तदन्तर हाईकोर्ट में वकालत करने लगे। अपने पेशे में उन्होंने भूलाभाई देसाई से बहुत सीखा। आरंभ में अनेक कष्ट और बाधाओं का सामना करते-करते कई साल बाद वे सुप्रसिद्ध बैरिस्टर हो गये और आर्थिक समृद्धि भी उन्होंने प्राप्त की। इसी बीच वे गीता, योगसूत्र और योगाभ्यास के प्रति भी आकृष्ट हुए थे।

बैरिस्टर मुंशी के साथ साथ ही साहित्यिक मुंशी भी अपनी कीर्तिगाथा बढ़ा रहे थे। १९१२ ई० में उनकी सर्वप्रथम कहानी 'मारी कमला' 'स्त्री बोध' में प्रकाशित हुई। इसे पढ़कर चन्द्रशंकर, नरसिंहराव और अन्य साहित्यिकों ने मुंशी की बहुत ही प्रशंसा की १९१४ ई० में उन्होंने 'वेरनी वसुलात' उपन्यास लिखा जिसके 'जगत' और 'रमा' पात्र अत्यंत

प्रसिद्धि पा चुके हैं । १९१५ ई० में 'कोनो वांक' और 'पाटणनी प्रभुता' और १९१६ ई में 'गुजरात नो नाथ' लिखा । 'पाटणनी प्रभुता' और 'गुजरात नो नाथ' के भव्य अतीत के अत्यंत मनोहर एवं आकर्षक चित्र प्रस्तुत करते हैं । १९२९ ई० में उन्होंने 'पृथिवी वल्लभ' लिखा । 'पृथिवी वल्लभ' के 'मुंज' के विलास और 'मृणाल' के संयम का आलेखन मुंशी की दो तरह की पर अन्योन्य के विरुद्ध चलने वाली दृष्टि का परिचायक है ।

इन्हीं दिनों में वे सामाजिक व राजकीय आन्दोलनों में भी उत्साह से काम करते थे । गुजरात में 'राष्ट्रीय अस्मिता' (Self Consciousness) जागृत करने के लिए वे बहुत प्रयत्नशील रहे । इस महान कार्य के लिए वे अनेक प्रवचन देते और लेख भी लिखते । काँग्रेस और इन्डीयन होमरूल लीग में वे अग्रिम कार्यकर्त्ता थे । बम्बई की होमरूल लीग के तो वे कार्यवाहक सदस्य भी थे और मुहम्मदअली जिन्नाह, जयकर, भूलाभाई और हॉर्निमेन उनके साथी थे ।

सन् १९१५ ई० में सर्वप्रथम वे गाँधी जी से मिले थे । १९१८ ई० में ब्रिटिश सरकार ने रालेट समिति का प्रतिवेदन प्रकाशित किया । शंकरलाल बेन्कर का निर्णय था कि 'आल इंडिया होमरूल लीग' का सभापतित्व गांधी जी को दिया जाय । गांधी जी के सभापतित्व में उपर्युक्त संस्था की प्रथम सभा वैकुंठ देसाई की ऑफिस में मिली जिसमें बहिष्कार (बॉयकाट) का समर्थन मुंशी और तेरसी ने किया । बहिष्कार में हिंसा होने से गांधी जी इसके विरोधी थे । १९२० में गुजरात राजकीय मंडल ने गांधी जी की प्रेरणा से विधान-सभा का बहिष्कार किया पर मुंशी के विचार इससे विपरीत थे । १०८-१९०९ से आतंकवादी नहीं रहे थे ।

सन् १९१५ में मुंशी सूरत की गुजराती साहित्य परिषद् में गये और वहाँ मनहर मेहता से उनका परिचय हुआ । १९२२ में गुजरात के प्रसिद्ध साहित्यिक नरसिंहराव दिवेटिया के आशीर्वाद के साथ उन्होंने 'साहित्य प्रकाशक कंपनी' व 'साहित्य संसद की स्थापना की । उस काल में 'गुजरात' मासिक अत्यंत आकर्षक ढंग से निकाला जाता था जिसका श्रेय उसके सुयोग्य संपादक मुंशी को ही था ।

सन् १९२२ में वे लीलावती से परिचित हुए जिन्होंने उस समय 'गुजरात' में लिखना आरंभ किया था । धीरे-धीरे यह परिचय बढ़ता ही गया । बाल्यावस्था से जिस' देवी' का वे चिंतन कर रहे थे वही मनुष्यरूपेण 'लीलावती' बनकर आई हो ऐसा उन्हें प्रतीत हुआ । अतिलक्ष्मी की सम्मति और सहानुभूति से यह मित्रता दिन प्रतिदिन बढ़ती ही गई । मुंशी, अतिलक्ष्मी और लीलावती २ मार्च १९२३ ई० को यूरोप यात्रा के लिए निकले और ६ जून १९२३ को वापस आये । विदेश में अतिलक्ष्मी को भय होने लगा कि यदि मेरे स्वामी लीलावती से संपर्क बढ़ाते जायेंगें तो मेरी बड़ी ही दुर्दशा होगी । यह जानने पर मुंशी को भी बहुत दुःख हुआ । युरोप से आकर शांतिमय गृहस्थ जीवन जीने की मुंशी की आशा भस्मीभूत हो गई । अतिलक्ष्मी कभी भी शिकायत नहीं करती

थी; फिर भी उन्हें प्रसन्न करने के मुंशी के प्रयत्न निष्फल ही होते रहे। मुंशी का लीलावती के साथ पत्र व्यवहार चल ही रहा था। फिर भी मुंशी का चित्त डोलायमान ही रहता था, कभी अतिलक्ष्मी की निष्काम पतिभक्ति की ओर आकृष्ट होते तो कभी लीलावती के प्रतिभा संपन्न व्यक्तित्व की ओर। अतिलक्ष्मी का स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगा। फरवरी १६२४ में पुत्र जन्म देने के पश्चात् अतिलक्ष्मी का अवसान हो गया। उनको श्रद्धांजलि अर्पण करते हुए मुंशी जी अपनी आत्मकथा में लिखते हैं: "मेरे जीवन को गढ़ने वाली.........तीन आर्याओं में से एक चली गई। तीनों में यह थी, उदात्त और सरलता की सत्व। वह जीवित रही—केवल मेरे लिए। गई—श्वास-श्वास से मेरा नाम रटती हुई। मरते हुए मुझे प्राणदान दे गई।" इन्हीं दिनों में उनकी साहित्यिक व सामाजिक प्रवृत्ति तो चलती ही रही। 'गुजरात की अस्मिता' का संदेश गुजरात को देते हुए उनके अन्दर आत्मश्रद्धा प्रकट हुई। राजनीतिक जीवन के वे अब दर्शक मात्र ही रह गये थे। सन् १६२४ अप्रैल में उन्होंने खिलाफत का विरोध किया। 'गुजरात' का कार्य वे आगे बढ़ाते चले। वे गुजरात की अस्मिता और अविभक्त आत्मा की सिद्धियों की खोज में निमग्न थे। इन्हीं दिनों में लीलावती और मुंशी के बीच पत्र-व्यवहार बढ़ता गया और साथ में रहने के अनेक प्रसंग भी उपस्थित होने लगे। मुंशी चारों ओर पैसे बिखेरते थे, अनेक बार ठगे जाते थे। अपने पैसे की ओर लापरवाही, अपने को खरचीला दिखलाने वाला स्वभाव और किसी से 'नहीं' न कहने की कायरता और कुलक्षण मुंशी में थे। लीलावती से उन्होंने व्यवस्था और स्वच्छता सीखी। जहाँ वे चार खर्च करते वहाँ लीलावती एक खर्च करतीं और खरीदी हुई वस्तु में बड़ी खूबी ला सकती थीं। मुंशी जी लिखते हैं:—"इस समय भी वे जो कुछ बचा सके हैं इस का यश लीलावती को ही है। अब भी यदि कोई कुछ पैसे माँगने आता है, तो मैं, इस भय से कि कहीं कोई मूर्खतापूर्ण कार्य न हो जाय, लीला को आगे कर देता और खुद दूर खिसक जाता हूँ। लीलावती और उनके वृद्ध पति के बीच संबंध बहुत बिगड़ गया था। लीलावती को परेशान करने में उनके पति लालभाई ने आकाश पाताल एक किये। लीलावती को केवल मुंशी की सहायता और सहानुभूति प्राप्त थी। यह स्वीकार करते हुए लीलावती ने १४-११-२५ के दिन लिखा: "मेरे समान भाग्यवान स्त्री गुजरात में और कोई नहीं पैदा हुई; और सारे जगत में भी बहुत कम होंगी। मुझे ऐसा एक नर मिला है, जो रात और दिन केवल मेरा ही विचार करता है। मेरे लिए उसने जीवन सुखा डाला है। उसने एक क्षण भी और किसी बात का विचार नहीं किया। किसी जन्म में भी उसके योग्य बन सकूँगी?"

५ जनवरी १६२६ को वे बम्बई युनिवर्सिटी के सिनेट में चुन गये। सर चीमनलाल और भूलाभाई बहुत प्रसन्न हुए। तुरन्त ही उन्होंने और खुशाल शाह ने गुजरात युनिवर्सिटी और गुजरात संघ के विषय में बातचीत की। ११ जनवरी १६२६ को लीलावती के पति लालभाई का हृदय गति रुकने से अवसान हुआ। लीलावती की पुत्री के रक्षण के लिए एवं 'अविभक्त आत्मा' के मिलन के लिए मुंशी ने अनेक विरोधों के बावजूद लीलावती के साथ पुनर्लग्न करने का निश्चय किया। मुंशी ने जीजीमाँ से (अपनी माता से) विवाह की बात की और उन्होंने प्रसन्नता से स्वीकृति दे दी। विवाह के बारे

में मुंशी के लिखने पर लीलावती ने १६–१–२६ के दिन जवाब दिया—"हम सुखी होने वाले हैं। हम अद्भुत प्रवृत्तिमय जीवन व्यतीत करेंगे। दस वर्ष में गुजरात का रंग बदल सकेंगे। नये युग के ज्योतिर्धर बनेंगे।" बम्बई में शादी के पूर्व एवं पश्चात् मुंशी दंपनी को बहुत कुछ सुनना पड़ा और सहन करना पड़ा। फिर भी वे अपने कर्तव्यपथ पर निश्चल ही रहे। कई सुशिक्षित व्यक्तियों का विरोध सहन करते हुए भी वे गुजराती साहित्य परिषद् का सुचारु ढंग से संचालन कर रहे थे। गुजरात और गुजराती भाषा के विकास में इसका स्थान आज भी अनन्य है।

सन् १९३० में गांधी जी ने सारे भारतवर्ष में सत्याग्रह आरम्भ किया। मुंशी जी भी बहुत धन प्रदान करने वाले अपने व्यवसाय और विधान-सभा के पद का त्याग करके इसमें काम करने लगे। उनके बारे में गुजरात के छोटे सरदार चन्दुलाल देसाई ने महात्मा गांधीजी को दिनांक १९–४–३० को लिखा था :—

"उन की शक्ति और काम करने की निपुणता अद्भुत है। और यदि चांचल्य दूर हो जाय तब तो वे महारथी भी बन सकते हैं। यह इस कार्य में आ जायँ तो सरदार वल्लभ भाई जैसे हो सकते हैं और हमारा कार्य अत्यंत गतिमान होगा।" ये शब्द बिल्कुल सत्य चरितार्थ हुए हैं।

सन् १९३१ में बम्बई प्रदेश कांग्रेस समिति और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के सदस्य चुने गये। अपना यह कार्य वे अत्यंत उत्साह एवं रस से करते थे। सन् १९३२ में उनको दो साल की जेल की कड़ी सजा मिली और बीजापुर जेल में वे रखे गये। वहाँ साहित्य का परिशीलन करने का और अन्य अग्रणियों से साहित्य एवं राजनीति पर परामर्श करने का महान् सुअवसर उन्हें मिला। धीरे-धीरे उनकी प्रगति होती गई और १९३४ में कांग्रेस पार्लीमेण्टरी बॉर्ड के मंत्रीपद पर नियुक्त हुए। उसी वर्ष में गुजरात और गुजराती साहित्य का परिचय देने वाला ग्रंथ 'Gujarat and its Literature' उन्होंने लिखा। 'हंस' मासिक के प्रकाशन में भी वे अग्रणी थे जिसे प्रेमचन्द्र जी और अन्य प्रसिद्ध साहित्यिकों का समर्थन और सहयोग प्राप्त था।

सन् १९३७ में वे बंबई विधान सभा में चुने गये और बम्बई राज्य के प्रथम कांग्रेसी मंत्री-मंडल में वे गृहमंत्री बने। उनका यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। जब कभी भी जातीय वैमनस्य या अन्य तरह के दंगे होते तो तुरंत ही वे उन्हें कुशलता से शान्त कर देते थे। इसी वर्ष में वे गुजराती साहित्य परिषद के सभापति चुने गये। सन १९३८ में उन्होंने सरदार पटेल के साथ आणंद (गुजरात) में कृषिगोविद्याभवन को स्थापित किया और वे इसी संस्था के उपाध्यक्ष बनाये गये। सन १९३८ में ही उन्होंने 'Early Aryans in Gujarat' विषय पर बंबई युनिवर्सिटी में ठक्कर वीसनजी माधवजी भाषण दिये। भारतीय विद्याभवन जैसी प्रसिद्ध संस्था की स्थापना भी इसी साल की। वे ही इस संस्था के अध्यक्ष चुने गये। आज अध्ययन, अध्यापन, अनुसंधान, पुस्तक प्रकाशन एवं अनेकविध कार्यों से यह महान संस्था केवल भारत का ही नहीं, परन्तु

विदेशों का भी ध्यान आकृष्ट कर रही है। सन् १९३९ में उन्होंने बम्बई राज्य के गृहमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया। १९४० ई० के व्यक्तिगत सत्याग्रह में भी वे बन्दी बने थे। धीरे-धीरे महात्मा गांधी और उनके बीच मतभेद होता जा रहा था। काँग्रेस पाकिस्तान का समर्थन कर रही थी और ये अखंड भारत के समर्थक थे। अतः १९४१ ई० में कांग्रेस से त्यागपत्र देकर अखंड भारत के आन्दोलन का श्री गणेश किया। कांग्रेस से अलग होने पर भी गांधीजी के प्रति वे सदैव पूज्यभाव ही रखते थे। पति ने कांग्रेस से संबंध तोड़ दिया तब भी लीलावती बहन काँग्रेस में ही थीं और कांग्रेस के आदेशों पर ही चलती थीं। राजनीति में अत्यंत प्रवृत्तिशील होते हुए भी उन्हें कभी भी साहित्य, इतिहास एवं कला का विस्मरण नहीं होता था। १९४८ ई० में उन्होंने भारतीय इतिहास समिति की स्थापना की।

बंबई में शिक्षण देने वाली कई शिक्षण संस्थाओं के होते हुए भी शिक्षण-समस्या बहुत कठिन हो गई थी। विद्यार्थियों को कालेज में प्रवेश पाने में कई कठिनाइयाँ थीं। अत: १९४६ ई० में बंबई में मेघजी मथुरादास आर्टर्स कालेज एन्ड नारणदास मनोरदास इन्स्टीट्यूट ऑफ़ सायन्स की स्थापना की। उदयपुर अधिवेशन के हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के वे सभापति भी चुने गये थे। इसी वर्ष में वे कोन्स्टीट्युअन्ट असेम्बली ऑफ इन्डिया और इसकी कई समितिओं के भी सदस्य चुने गये। १९४७ में हैदरबाद में वे भारत सरकार के एजन्ट-जनरल पद पर नियुक्त हुए। देश और हैदराबाद की आंतरिक परिस्थितियों को देखते हुए यह कार्य सविशेष कुनेह और पटुता का था। मुंशी ने अपनी कार्य-प्रतिभा वहाँ भी दिखलायी और प्राणों का भय होने पर भी अपने कार्य पर डटे रहे। १९४८ ई० में भारत का संविधान बनाने वाली समिति में वे चुने गये। इस कार्य में उनका योग विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कानून और संविधान में मुंशी जैसे निपुण व्यक्ति भारत में नगण्य ही हैं। १९५० ई० में यूरोप और अमरीका का विदेश भ्रमण किया। १९५० ई० में ही केन्द्र सरकार के खाद्य और कृषि विभाग के मंत्री बने। देश की अन्न समस्या संतोषजनक न होने से यह कार्य काफी कठिन रहा, फिर भी मुंशी ने 'अधिक अन्न उपजाओ' 'वन महोत्सव' आदि योजनाओं से और अपनी दक्षता से महत्वपूर्ण कार्य किया। 'कार्येषु मंत्री' लीलावती बहन भी पति के कार्य में सहयोग देती आ रही थीं और उन्होंने अखिल भारतवर्ष में 'अन्नपूर्णा' का आरंभ किया। १९५१ में संस्कृत विश्व-परिषद की स्थापना की। संस्कृत के प्रचार, प्रसार एवं अन्यान्य महत्वपूर्ण कार्यों में यह संस्था अपना विशिष्ट योग दे रही है। संस्था के प्रारंभ से आज तक अध्यक्ष रह कर वे उसका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। १९५१ में ही वे कृषिगोविद्याभवन, आणंद के अध्यक्ष चुने गये।

बाल्यकाल में किसी ज्योतिषी ने मुंशी के हस्त की रेखाएँ देखकर कहा था: "कभी न कभी तुम राजा बनोगे" मुंशी ने जब यह सुना था तब उस पर बहुत आश्चर्य हुआ। पर जब वे भारत के विशाल एवं समृद्ध प्रदेश उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के पद पर १९५२ सए् में नियुक्त हुए तब ज्योतिषी की आर्षवाणी सिद्ध प्रतीत हुई। इस पद

पर रहते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने किये। राज्यपाल की हैसियत से उत्तर प्रदेश के आगरा, प्रयाग, लखनऊ, गोरखपुर, रुड़की और बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय के कुलपति बने और शिक्षा एवं विश्वविद्यालय के कार्यों में अत्यंत रस लेने लगे।

बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ने १९४६ में और सागर युनिवर्सिटी ने १९४९ में उन्हें डी० लिट० की उपाधि दी। १९५४ में उस्मानिया युनिवर्सिटी ने एल-एल० डी० की उपाधि दी। १९५६ में वे चारुतर एज्युकेशन सोसायटी के अध्यक्ष चुने गये। इस संस्था के सभी कालेज सरदार पटेल युनिवर्सिटी, आणंद से संबद्ध हैं। मुंशीजी इस युनिवर्सिटी के फैलो भी हैं। कई वर्षों से भारतीय विद्याभवन, बंबई और इसके केन्द्रों के अध्यक्ष हैं।

जून १९५७ में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के पद से उन्होंने अवकाश प्राप्त किया और बंबई जाकर भारतीय विद्याभवन, संस्कृत विश्वपरिषद, गुजराती साहित्य परिषद एवं अन्यान्य संस्थाओं को अपना अमूल्य समय व मार्ग दर्शन दे रहे हैं। मुंशीजी को बाल्यकाल से ही योग पर दृढ़ विश्वास था। वे अरविन्द या रामतीर्थ जैसे महायोगी न बन सके, पर गीता के "नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हि अकर्मण:" आदेशानुसार वे निरन्तर कर्त्तव्यशील रहे। दृढ़ परिश्रम, सतत अध्ययन, अपनी तेजस्वी मेधा और निरंतर उपयोगी कार्यों में डटे रहने से ही वे इतने प्रसिद्ध और महान् हो सके हैं। साहित्य और राजनीति का ऐसा कांचनमणि योग अत्यंत दुर्लभ है। मुंशीजी पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की अत्यंत कृपा है।

मुंशीजी का जीवन सचमुच एक कर्मयोगी जैसा है।

श्री वी० आर० त्रिवेदी

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

गुजरात के जीवित लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों में सर्वाधिक सजीव एवं आकर्षक व्यक्तित्व श्री मुंशी का है। उनका जीवन और छात्रावस्था दोनों विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण रहे है। पूर्व परिपक्व बुद्धिवाले बालक के रूप में उन्होंने अपनी वय से आगे की पुस्तकें पढ़ीं। कालेज के विद्यार्थी के रूप में वह श्री अरविन्द (जो उन दिनों बड़ौदा कॉलेज में प्रोफेसर थे) के प्रभाव में आये और सदा राजनीति तथा साहित्य के नायक का स्वप्न देखते रहे। आज वह वस्तुतः इस बात से सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं कि दोनों क्षेत्रों में महती सफलता मिली है। यद्यपि साहित्य में उनकी सम्भाव्य उपलब्धियों के विषयों में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती—वह अब भी रोचक उपन्यास और विस्तृत इतिहास भड़कीली शैली में लिख सकते हैं—फिर भी जहाँ तक राजनीति का सम्बन्ध है, निकट भविष्य में उन्हें भारत के उपराष्ट्रपति पद पर देखने की सकारण आशा की जा सकती है।

श्री मुंशी के व्यक्ति की जादुई प्रभविष्णुता ने अपने विविध स्वरूपों में हमारे लिए उसे साधारण प्रतिमानों से समझ पाना कठिन कर दिया है। उसके उलझे हुए ताने-बाने में बहुत कुछ स्पष्ट रूप से परस्पर-विरोधी है। वह कर्मरत नायक के प्रेमी हैं किन्तु श्री अरविन्द को अपना 'गुरु' स्वीकार करते हैं; जीवन की सुस्वादुता का रस लेते हैं किन्तु सान्त्वना उन्हें गीता, योगसूत्र और गांधी जी की शिक्षाओं में मिलती है। वे सामाजिक पुनरुद्धारक हैं और केवल विचारों से ही नहीं। किन्तु प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में उत्सुकतापूर्वक रुचि लेते हैं। किन्तु यथार्थ में उनकी ये प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं। वह परम्परागत पद्धतियों से एक कलाकार के रूप में—एक कल्पना शील व्यक्ति के रूप में प्रेम करते हैं, उनकी वर्त्तमान उपयोगिता में विश्वास नहीं करते। उनकी कल्पना उन्हें ऐसी स्थितियों और पात्रों की ओर ले जाती हैं जिन्हें वे उदात्त हास्य के लिए जन्म देते हैं किन्तु उनसे हमें श्री मुंशी की उद्योगपरायणता और गंभीरता समझने में सहायता नहीं मिलेगी। वह कहते हैं:—"कुछ मध्यकालीन

आदर्शवादियों द्वारा प्रतिष्ठित साहित्यिक मान्यता के नियमों को स्वीकार न करते हुए, मेरे लिए सम्भव नहीं हो सका कि मैं किसी स्थिति के चुनाव पर तब तक कोई बन्धन रक्खूँ जब तक उसकी कलात्मक सम्भावनाएँ हैं। निर्दोष मुक्त हास्य अथवा दुष्टतापूर्ण व्यंग्य, चाहे वह किसी सामान्य वस्तु का त्याग करके हो, जीवन की इतनी अधिक मूल्यवान वस्तु है कि उसे साहित्य में भी न खोना चाहिए।" ऐसा प्रतीत होता है—वे सोचते हैं कि जीवन का आनन्द पुरुषार्थ का विरोधी नहीं है और न वीरत्वपूर्ण पुरुषार्थ ही आत्म-दर्शन या मोक्ष का विलोम है। किन्तु मुंशी को उन उच्छृंखल पात्रों और परिस्थितियों के मानदंड से न समझना चाहिए, जिनका सृजन उन्होंने किया है हमें चाहिए कि हम उन्हें उन महान कार्यों के प्रकाश में समझने की चेष्टा करें, जो उन्होंने किये हैं। उन्होंने गुजराती साहित्य-परिषद, भारतीय विद्या-भवन और संस्कृत-परिषद जैसी संस्थाओं की स्थापना की है। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत के अध्ययन पर जोर देकर उन्होंने भारतीय जीवन की नींव सुदृढ़ की है। अपने गौरवपूर्ण उपन्यासों और गम्भीर नाटकों में उन्होंने जीवन के स्थायी मूल्यों पर विश्वास प्रकट किया है। यद्यपि उनके पात्र अनावश्यक रूप से आदर्शवादी नहीं हैं, फिर भी उन्होंने मातृ-भूमि के प्रति असीम प्रेम प्रकट किया है, प्राचीन और अर्वाचीन महान विभूतियों के उदात्त गुणों के प्रति दृढ़ विश्वास दिखाया है और नारी के प्रेरक तथा सान्त्वनाप्रद प्रभाव के प्रति आशा व्यक्त की है।

श्री दलपतराम नंदराम शुक्ल

श्री कन्हैयालाल मुंशी

[श्री कन्हैयालाल मुंशी तथा दलपतराम शुक्ल दोनों अभिन्न मित्र हैं। दोनों मित्रों के द्वारा लिखे गये एक दूसरे के प्रति विचार हम पृथक्-पृथक् दे रहे हैं। सं०]

सन् १८९८ में हमारी मुंशी की गली में नये लोग आये। मुंशी की हवेली की चौपाल पर मियाँ महमूद अकेले बैठे-बैठे अल्लाह का नाम लिया करते थे। इसके स्थान पर पुलिस के सिपाहियों का, क्लर्कों का एवं जान-पहिचान वालों का आना जाना शुरू हुआ, क्योंकि मुंशी की हवेली के मालिक श्री माणिक्यलाल मुंशी की भड़ौच के डिस्ट्रिक्ट डेप्युटी कलेक्टर के स्थान पर बदली हुई थी।

फलत: हमारे बाल-मंडल में भी एक व्यक्ति और आया और कनुभाई इसमें धीरे-धीरे सम्मिलित हुए। मोती तथा कनु ये दोनों ही मुंशी थे। इसके स्थान पर "धनुकबुनो जोड़ो अने मोती माथे बोड़ो" यह नया वाक्य हममें प्रचलित हुआ और मुंशी कुमार दो से तीन हुए। उस समय में अंग्रेजी की चौथी कक्षा में और कनुभाई मुझसे उम्र में दो तीन साल छोटे होते हुए भी पांचवीं कक्षा में भर्ती हुए और कनुभाई तथा मैं हाई स्कूल में साथ-साथ जाने लगे। इस तरह हमारा परिचय बढ़ा। लड़कपन से ही उनका आकर्षण अत्यंत अद्भुत था। जो कोई उनके परिचय में आता उसे उनकी ओर आकर्षित होने के अलावा अन्य उपाय ही नहीं था। मैं तो उनकी गली में ही रहता था और उनकी ही जाति का था, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं था कि मैं उनकी ओर आकर्षित होऊँ।

शनिवार और रविवार के दिन शाम को हम एक साथ घूमने के लिए जाने लगे। शुरू में भृगु ऋषि के मन्दिर तक, इसके बाद नर्मदा जी के पुल तक और अन्त में तो झाड़ेश्वर गाँव तक हम घूमने लगे। जाड़े में तड़के उठकर भी हम घूमने जाते थे। उस जमाने में किसी काम के बिना खुली हवा में केवल व्यायाम के लिए घूमना हमारी जैसी उम्र वाले लड़कों के लिए नादानी समझी जाती थी। एक दिन हम सुबह घूमकर लौटे तो हमारे एक वाचाल पड़ोसी दातून करते-करते बोल उठे कि जल्दी उठकर भटकना

हमारे जैसे उच्च वर्ण के लड़कों को शोभा नहीं देता। जल्दी उठना तो दातून वालों का काम है।

गुल्ली डंडा, सात ताली, गंजी का इत्यादि खेलों में हम दोनों में से किसी को आकर्षण था ही नहीं। साथ में बैठना, घूमना, बातें करना और सुनना यही हमारा मुख्य व्यवसाय था। कनुभाई का आरंभ का मुख्य विषय था 'धंधू काके गांधी मास्तर की होशियारी की बातें।' कनुभाई को उनके पिता जी ने, सर वॉलटर स्कॉट के उपन्यास ला दिये थे। केवल फिफ्थ स्टैंडर्ड में होते हुए भी कनुभाई ने ये सब उपन्यास पढ़ लिये थे और वे उन उपन्यासों की कहानियाँ रसप्रदायक शैली में हमें सुनाते। उस समय स्कूल के अभ्यास के अलावा और कुछ पढ़ना सामान्यत: निरर्थक और समय का अपव्यय समझा जाता था और मेरा इतरवाचन तो बिलकुल नगण्य था। कनुभाई के यहाँ टाइम्स ऑव इंडिया आता था। उसे भी वे नियमित रूप से पढ़ते थे और तत्कालीन प्रसंगों तथा अन्यान्य बातें कनुभाई हमें सुनाते थे। अँग्रेजी पाँचवीं कक्षा का लड़का इस तरह पढ़ सके, यह हमें तो अपनी बुद्धि के अनुसार बिल्कुल अगम्य और अशक्य जैसा लगता था। एक बार मैंने कनुभाई से पूछा,—"तुम इस तरह कैसे पढ़कर समझ सकते हो।" उन्होंने जवाब दिया—"यह तो बिलकुल आसान है। एक बार पढ़ जाएँगे और जैसा समझ सकेंगे समझेंगे। ज्यादा न समझ सकेंगे तब फिर से पढ़ेंगे।"

इसके अलावा प्रसिद्ध वक्ताओं के व्याख्यानों की एक पुस्तक कनुभाई के पास थी। उनमें से कोई व्याख्यान कनुभाई ने रट लिए थे और नर्मदा तीर की एकान्त पहाड़ियों में हम जाते और वहाँ कनुभाई उन भाषणों को सम्पूर्ण अभिनय के साथ अपने मुँह से बोलने का अभ्यास करते। व्याख्यान कहाँ तक सुना जा सकता है यह जानने के लिए मैं धीरे-धीरे आगे जाता और कहाँ तक व्याख्यान सुनाई पड़ता है इसकी माप हम निकालते। बर्क के "The age of Chivalry is gone that of Sophisters, Calculators and economists has succeeded" इस प्रसिद्ध व्याख्यान की पुनरावृत्ति करते हुए कनुभाई की ध्वनि अब भी मेरे कानों में गूँज जाती है।

समय की प्रगति के साथ हमारे अभ्यास में भी प्रगति होती चली। कनुभाई आगे की कक्षा में जाते, तब उनकी उस कक्षा की पुस्तकों का उत्तराधिकारी मैं बनता। पाठ्य पुस्तकें प्रति वर्ष बदलने की धुन उस समय स्कूल के संचालकों में नहीं थी, इसलिए गरीब लड़कों का पाठ्य पुस्तकों का खर्च बच जाता था। कनुभाई सन् १९०१ में मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करके बड़ौदा कालेज में भर्ती हुए और हमारी मैत्री में थोड़ा विघ्न आया। फिर भी वे छुट्टियों में भड़ोच आते तब साथ में घूमने फिरने का और बातें करने का हमारा व्यवसाय फिर से और दुगुने उत्साह से शुरू होता। और गरमी में नर्मदा तीर की पहाड़ियों में जाकर व्याख्यान करने का व्यवसाय शुरू होता। बड़ौदा कालेज के जीवन प्राणलाल देसाई, आचार्य पंडया थे—प्राणलाल मुंशी इत्यादि उनके नये मित्रों का उनकी बातों से अपरोक्ष परिचय मुझे होने लगा। तदुपरांत व्याख्यान दुहराने में

अँग्रेजी वक्ताओं की जगह पर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, अरविन्द घोष इत्यादि हमारे देश के वक्ताओं को स्थान मिलने लगा। केवल एक साल के कालेज जीवन से उनके ज्ञान की इतनी महान प्रगति देखकर मैं तो दंग रह जाता और ऐसा ही जीवन बिताने का मुझे भी अवसर मिले, ऐसी आकांक्षा मैं करने लगा। कालेज के स्वतंत्र जीवन में कनुभाई का अध्ययन भी बहुत बढ़ चुका था और इसकी वजह से ज्ञान एवं बुद्धि के प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता गया। उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ भी बहुत ही बढ़ने लगीं। उस समय भी मुझे थोड़ा बहुत ख्याल हो ही गया था कि यह वामन जी किसी समय अवश्य विराट स्वरूप धारण करेगा। आज वे दिन अपनी उस कल्पना को मूर्त हुई देखकर मैं फूला न समाऊँ, यह मेरे जैसे उनके पुराने मित्र के लिए बिलकुल स्वाभाविक है।

सन् १९०२ में मैं भड़ौच हाई स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ और मेरे पिताजी उलझन में थे कि अब क्या करना चाहिए। पिताजी को केवल पौने दस रुपये की सरकारी पेन्शन मिलती थी। भड़ौच में याज्ञिकी करके लगभग दस रुपये वह और लाते। इसके अलावा बड़े भाई प्रेस में कंपोजीटर का काम करके नौ रुपये तनख्वाह में लाते थे। इतने से ही घर के सात आदमियों का उदर-पोषण करना होता था। इसलिए मेरी कालेज की पढ़ाई का बोझ उठाना मेरे पिताजी के लिए तो बिलकुल अशक्य था। मेरे एक बड़े भाई बड़ौदा में रह कर ज्योतिष का अभ्यास करते थे और साथ ही थोड़ा-थोड़ा ज्योतिष से धंधा भी करते थे। इसके अतिरिक्त कनुभाई बड़ौदा कालेज में रहकर अभ्यास करते थे, इसी से बड़ौदा जाने का आकर्षण स्वाभाविक रीति से हुआ।

अन्त में हमारी उलझन का हल श्री माणिक्यलाल मुंशी ने बताया। मेरे पिताजी को बुलाकर उन्होंने कहा, "शुक्ल जी, मैं मानूँगा कि एक के स्थान पर मेरे दो लड़के कालेज में पढ़ते हैं। इसलिए आप उसे बड़ौदा कालेज में भेज दें।" इस अप्रत्याशित उदारता से मैं भी समझ गया कि यह सब कनुभाई की मैत्री का ही प्रभाव है।

"मैं जाता हूँ रेल में और नसीब जाता है तार में" "खूबसूरत बला" के नाटक के मियाँ खैर सल्लाह खान की यह उक्ति मेरे लिए ही सच्ची हुई। एक ही सत्र की फीस श्री माणिक्यलाल मुंशी से ले सका क्योंकि उनकी अकाल मृत्यु हो गयी। तो भी बड़े भाई के धैर्य से बड़ौदा कालेज में एक साल की पढ़ाई येन केन प्रकारेण समाप्त करके प्रीवियस में उत्तीर्ण होकर इधर उधर भटकता फिरा और आगे अभ्यास के लिए बंबई आया। मेरी और कनुभाई की मैत्री अखंड रहने के लिए बनी थी। अतः कनुभाई भी बड़ौदा कालेज से बी० ए० पास कर के कानून का अभ्यास करने के लिए बाद में बंबई आ पहुँचे। हम दोनों ने दुःख के दिन साथ में ही व्यतीत किये। कनुभाई अपने मामा के यहाँ पिप्पलवाड़ी में रहते और मैं शुरू में पाँच रुपये में लॉज में खाकर भारत-जीवन प्रेस में सोता था और बाद में लॉज के चार पाँच मित्रों के साथ साझे में अनंत ऋषि की बाड़ी में चार रुपये किराये के कमरे में रहने लगा।

समय बीतता गया साथ ही कोई सार्वजनिक कार्य करने की तीव्र इच्छा कनुभाई के मन में होने लगी और इसके लिए सर्वप्रथम हमारी दृष्टि अपनी मार्ग व जाति पर पड़ी।

प्रकाशित किया था। मैं मानता हूँ कि संक्षिप्त कहानी लिखने में यह उनका प्रथम प्रयास था।'[1]

सन् १९१३ के मार्च में कनुभाई एडवोकेट की परीक्षा में प्रथम प्रयत्न में उत्तीर्ण हुए और अनेक मानपत्र पाये। मैं भी उसी वर्ष जनवरी से एडवोकेट व्यवसाय के पोषक और पूर्ति करने वाले सालिसिटर के व्यवसाय में प्रवेश कर चुका था और मैसर्स मेहता और दलपतराम की सोलीसीटर की फ़र्म में मैनेजिंग क्लर्क की जगह पर नियुक्त हो गया था। एक दो साल में हमारे दलपतराम सेठ के साथ कनुभाई का परिचय हुआ और हमारे आफ़िस का बहुत सा काम कनुभाई को मिलने लगा। तीन साल के बाद अपने सेठों से मेरा जी ऊब गया और वहाँ से मैं अलग हुआ। डेढ़ साल के बाद कनुभाई मुझे फिर उसी आफिस में समझाकर ले आये और मैं वहीं फिर से सदा के लिए स्थिर हो गया और अंत में उसी आफिस में रहकर सोलीसीटर की उपाधि प्राप्त कर सका।

व्यवसाय के लिए जब मुझे छोटी बड़ी उलझन होती तब किसी भी शर्म के विना मैं कनुभाई के पास दौड़ जाता और उनके पास से मुझे सुन्दर मार्ग दर्शन मिलता और "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" के अनुसार हमारी मैत्री एक दूसरे के लिए लाभदायक होती।

सन् १९१८ के महायुद्ध के अंत में मेरे एक मुवक्किल ने एक बड़ी जायदाद लेने के लिए ३५,००० रुपये पेशगी देकर सौदा किया था। पर जायदाद का भाव अकस्मात बिगड़ जाने से बाकी रकम देकर जायदाद का कब्जा लेने का मेरे मुवक्किल में सामर्थ्य न था। और पेशगी में दिए हुए ३५००० रुपये छोड़कर भी इस सौदे से अलग हो जाने के लिए वह तत्पर था। जायदाद का टाईटल पहली नजर में बहुत सादा लगा, इसलिए टाईटल को नापसंद करके सौदे में से अलग हो जाने का कोई भी उपाय सूझा नहीं। कनुभाई को ये सब कागज दिखाये तो उन्होंने एक मुद्दा-पोइन्ट ढूँढ़ निकला और उनकी सलाह के अनुसार हमने उस टाईटल को नापसंद किया। झगड़ा अदालत में गया और हम हार गये। पर कनुभाई के अनुरोध से हमने अपील की। अंत में अपील-कोर्ट ने हमारा निवेदन मंजर किया और ३५,००० रुपये तथा दोनों अदालतों का खर्च हमें दिलवाया। यह केस सोलीसीटरों को टाईटल जाँचने में सदा के लिए मार्गदर्शक हो गया।

समय के प्रवाह के साथ कनुभाई ने कानून, साहित्य, राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में एवं अनेक प्रवृत्तियों में पदार्पण किया और जो कोई कार्य वह हाथ में लेते उसमें सम्पूर्ण यश प्राप्त करने लगते। उनके मित्र, कार्यकर्त्ताओं एवं सहायकों की संख्या तेजी से बढ़ने लगी। मैंने भी अपने कार्य क्षेत्र में कुछ प्रगति की। पर कनुभाई दौड़े और मैं केवल चींटी के वेग से आगे बढ़ा; इसलिए हम दोनों में बहुत अंतर हो गया और अनेकविध व्यवसायों के कार्यभारों से समय बचा कर पहले की भाँति मेरे साथ बैठकर गप्पों लड़ाने के प्रसंग कम

---

१. इसके पहले 'मेरी कमला' कहानी कनुभाई ने १९११ में लिखी थी जो सुन्दरी सुबोध' में प्रकाशित हुई थी। संपादक श्री फॉब्स गुजराती सभा त्रैमासिक

होने लगे। तो भी हमारे हृदयों की एकता बिलकुल कम नहीं हुई है। नये मित्रों के साथ नये विषयों की चर्चा चलती हो और मैं जा पहुँचूँ तो मेरे साथ में आने वालों की प्रथम दृष्टि में यों ही प्रतीत होगा कि हमारी मैत्री समाप्त हो चुकी है। फिर भी में आया हूँ ऐसा ख़्याल आते ही बहुत कुछ प्रयत्न करके भी समय निकाल कर हम पहले के अनुसार संतोष-पूर्वक बातें कर सकते हैं। तो भी उनकी उपयोगी प्रवृत्तियों में से यथासम्भव कम समय लेता हूँ। तदनुसार मैं हर समय संयम रखने की कोशिश करता हूँ और उनका प्रत्येक कार्य मेरी सहायता के बिना भी अच्छी तरह बन रहा है, यह देखकर संतुष्ट होता हूँ।

मोटर रास्ते में रुक जाय और मोटर का मालिक नीचे उतर कर मोटर को धक्का देने लगे तो ड्राइवर और निकट के सभी लोगों को मोटर को धक्का देने में सहायता करनी ही पड़ती है। उसी तरह कनुभाई कोई भी कार्य शुरू करें तो "तुम यह थोड़ा सा काम करो' कहने के बजाय 'चलो हम यह काम करें' ऐसा कहकर निकट के सभी लोगों में उत्साह लाकर अच्छी तरह कार्यारंभ करते और इसके बाद उस कार्य की जिम्मेदारी दूसरों को सौंप कर धीरे-धीरे उस कार्य से दूर जाने का एवं दूर से ही उस कार्य के संचालन करते रहने की कला उन्होंने बहुत अच्छी सिद्ध की है। उनकी सर्वतोमुखी विजय की सच्ची कुंजी उनकी यह कला है।

कनुभाई अवधानी हैं। दशावधानी, शतावधानी, इतना ही नहीं पर अनेकावधानी हैं। अनेक कार्य एक साथ ही कर सकते हैं। बिजली का एक स्विच बंद करके अंधकार करके दूसरा स्विच खोलकर उजाला करने में हमें जितना समय लगता है उतने ही समय में एक कार्य में उनका मस्तिष्क तन्मय हो, उसमें से अन्य कार्य में उतनी ही एकाग्रता से तन्मय हो सकता है। किसी उपन्यास का सुन्दरतम प्रकरण एकाग्रता से लिखते हों, और हम उनके परिवार के सदस्यों के साथ गप्पें लड़ाते हों और विनोद करते हों, तो भी उनकी एकाग्रता में बिलकुल बाधा नहीं आती। इतना ही नहीं परन्तु हमारी सब बातें साथ-साथ वे भी सुनते रहते हैं और मन होने पर थोड़े समय के लिए अपने तत्कालीन गंभीर विषय को छोड़कर उतने समय के लिए हमारी बातों में सरसता से और बिना संकोच से भाग ले सकते हैं और तुरन्त ही अपना गंभीर विषय फिर से शुरू कर सकते हैं।

कनुभाई का मस्तिष्क बोरीबन्दर का स्टेशन है। दो-दो मिनट के बाद अनेक मेल ट्रेनें छूटती हैं; फिर भी कोई मेल ट्रेन दूसरी से बिना टकराये अपनी-अपनी पटरी पर तेजी से चल कर उचित समय पर निश्चित स्टेशन को पहुँच जाती हैं, उसी तरह कनुभाई के मस्तिष्क से अनेक प्रवृत्तियाँ उपजती हैं और वे सब प्रवृत्तियाँ एक दूसरी को बिना बाधा पहुँचाये ही अपने-अपने मार्ग पर शीघ्रता से चल कर सिद्धि प्राप्त करती हैं।

कनुभाई सुधारक होते हुए भी आर्य-संस्कृति के अभिमानी हैं। बाल्यकाल में उनकी आर्य संस्कृति संध्या, वैश्यदेव, पुरुषसूक्त से पाठ इत्यादि में पर्याप्त थी और अब भगवद्गीता

पातंजल योग दर्शन इत्यादि के पठन एवं उनके सिद्धांतों को व्यवहार में लाने के प्रयास में और आर्य संस्कृति के उद्धार के लिए भारतीय विद्या-भवन की स्थापना में निष्पन्न हुई है।

श्री कनुभाई हँस सकते हैं और हँसा सकते हैं। विषय चाहे कैसा भी शुष्क हो, पर आनन्द उत्पन्न कर सकते हैं। हमारे एक मित्र में अभिमान था कि वह अच्छी बीन बजा सकता है और एक बार बहुत ही अच्छी बीन बजानेवाले के जलसे में हमने उसे आमंत्रण दिया। उस्ताद के बीन बजाने के कौशल्य से हमारा वह मित्र मंत्रमुग्ध हो गया और बीन बजाने की विनती करने पर "मैं तो अपने ही साज पर अच्छा बजा सकता हूँ" ऐसा उत्तर देकर बजाने से इंकार करने लगे। कनुभाई ने जवाब दिया कि अच्छी बीन बजाने वाला लकड़ी पर भी गज चला कर मधुर स्वर निकाल सकता है।

कनुभाई मानसिक व्याधिओं के भी चिकित्सक हैं। दो-तीन साल पहले मुझे अकारण ही बहुत मानसिक अशान्ति रहती थी। कनुभाई से माथेरान में मिला और हम इधर-उधर की बातें करने लगे। उन्होंने मेरे रोग की चिकित्सा की और उपाय बताया---भगवद्गीता का परायण करो। मैंने भी उनके निवास-स्थान से वापस जाते हुए रास्ते में ही २५वें अध्याय का पाठ शुरू किया। उसका फल बहुत ही चमत्कारिक मिला और बाद में गीता जी के कई अध्याय कंठाग्र करके मलाड से बम्बई आते-जाते गाड़ी में जो एक घंटा मिलता उसमें गाड़ी के किसी कोने में बैठ कर कई अध्यायों का पारायण करने का मैंने अभ्यास किया। इससे मेरी मानसिक अस्वस्थता दूर हुई। थोड़े समय के बाद "सोशल वेलफेयर में" मैं स्वाध्याय और पारायण के विषय पर कनुभाई का विद्धतापूर्ण लेख पढ़ा जिससे मुझे अनुभव हुआ कि उनकी यह सलाह ऊटपटांग नहीं, शास्त्रीय थी।

कनुभाई क्या नहीं हैं यह समस्या है—वे सर्वज्ञ हैं—उनका नाम सर्वज्ञ भाई रखा जाय तो वह अवश्य उचित है।

डॉ० क० म० मुंशी

डी० एस०

जनवरी, १९५५ में जब मैं बम्बई गया, तब मैं डी० एस० से भेंट करने के लिए मलाद स्थित प्राकृतिक चिकित्सालय में गया जहाँ वे सख्त बीमार थे। पिछली बार, तीन वर्ष पहले मैं उनसे मिला था। उस बार उनसे विदा लेते समय मैंने सोचा था कि उनसे यह आखिरी मुलाकात है, क्योंकि वे बहुत बीमार थे। १९५४ में भी मैं बम्बई गया था, परन्तु उस बार कुछ इतनी जल्दी में था कि उनसे भेंट करने का अवकाश नहीं निकाल सका। इसलिए इस वर्ष मैं संयोग पर न निर्भर करके उनसे मिल ही लेना चाहता था, क्योंकि कौन जाने, जब अगली बार मैं बम्बई आऊँ तो मुझे शायद यही सुनने को मिले कि मेरे प्रिय बाल-सखाओं में से बचा हुआ यह अंतिम व्यक्ति भी चल बसा।

डी० एस० को मैंने देखा; उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया था। उनकी लम्बी नाक बनावटी-सी जान पड़ती थी, उनकी अत्यधिक बड़ी आँखें अस्वाभाविक रूप से फटी-फटी सी लगती थीं; उनका उन्नत ललाट अवास्तविक-सा जान पड़ता था। वह प्रसन्नतापूर्वक अपने अन्त की प्रतीक्षा कर रहे थे—उनको जीवन से कोई शिकायत न थी।

अठावन वर्ष पहले की बात है। एक दिन मेरे पिता डी० एस० को लेकर मेरे पास आये। डी० एस० मुझसे पाँच वर्ष बड़ा था, किन्तु वह चौथी कक्षा में ही था जब कि मैं उत्तीर्ण होकर पाँचवीं कक्षा में आ चुका था। अब मेरी पुरानी पाठ्य-पुस्तकें उसको दी जाने वाली थीं।

डी० एस० के पिता एक ग्राम-पाठशाला में अध्यापक रह चुके थे, और उन्हीं दिनों नौकरी से उन्होंने अवकाश प्राप्त किया था। उन्हें पाँच रुपये मासिक पेंशन के रूप में मिलते थे। जिन दिनों की यह बात है, वह मुंशी-भवन में आकर रहने लगे थे। उन्हें हमारे परिवार का नया पुरोहित (शुक्ल) नियुक्त किया गया था। उनका काम था मेरे

---

१. अपने परम मित्र के प्रति मुंशी जी के भावों का यहाँ दिग्दर्शन मात्र है।

चाचा जी को नित्य संध्या समय 'महाभारत' पढ़कर सुनाना। इस कार्य के लिए उन्हें तीन रुपये मासिक वृत्ति मिलती थी। वह हमारे कुल-देवता का पूजा-पाठ भी कर दिया करते थे, जिसके लिए उन्हें एक-आध रुपया अधिक मिल जाता था। इस तुच्छ-सी आय पर पुरोहित जी के परिवार का भरणपोषण निर्भर था। परिवार भी कोई छोटा न था, पुरोहित जो और उनकी पत्नी के अतिरिक्त उनके दो लड़कियाँ और तीन लड़के थे जिनमें से डी० एस० सबसे छोटा था।

इस परिवार की गरीबी का क्या कहना, परन्तु फिर भी वह प्रसन्नतापूर्वक जीवन-यापन करता था। इस परिवार का हर व्यक्ति दिन-भर प्रसन्नता से चहकता रहता था। शाम के भोजन के बाद सारा परिवार एकत्र होकर दिन की घटनाओं पर गपशप करता। उनकी अदम्य हँसी का ठहाका सड़कों पर प्रतिध्वनित होता था। सम्मानित मुंशी-परिवार के लोग उनकी इस प्रसन्नचित्तता को देखकर अश्चर्यचकित थे, क्योंकि उनकी समझ में यह न आता था कि किस प्रकार कोई परिवार अपने जीवन के प्रति दिन को ऐसी हँसी-खुशी से भरापूरा रख सकता है। परन्तु, उस परिवार के पास एक चीज थी जो हमारे पास न थी; वह चीज थी––परस्पर का तीव्र स्नेह और छोटी-छोटी चीजों में भी विनोद की सामग्री ढूंढ़ निकालने की उसकी क्षमता; साथ ही ईर्ष्या-द्वेष तथा असन्तोष का नितान्त अभाव।

मैंने डी० एस० को अपनी पुरानी पाठ्यपुस्तकें, अधलिखे नोट और प्रयोगावशिष्ट पेंसिलों के छोटे-छोटे टुकड़े दे दिये। अगले दिन से हम दोनों साथ-साथ स्कूल जाने-आने लगे।

उस बाल्यावस्था में भी डी० एस० जादूगर से कम न था। एक सप्ताह के भीतर ही मेरी जीर्णशीर्ण पाठ्य-पुस्तकों की जिल्द बँध चुकी थी और पेंसिलों के टुकड़ों को काट-छाँट कर उपयोग के योग्य बना लिया गया था; मेरी अधूरी नोटबुक में जो सादे कागज़ थे, उनको अलग से सीकर डी० एस० के लिखने के लिए एक नयी नोटबुक बन चुकी थी।

परन्तु, उस जादूगर ने यहीं तक बस न किया। सुबह-शाम वह मेरे पास आया करता था, और जब हम लोग आपस में गपशप करते होते थे, तब वह मेरी मेज को साफ़ करता और मेरी चारों ओर बेतरतीब बिखरी पुस्तकों को सजाकर यथास्थान रख देता। शीघ्र ही, मेरी अपनी पाठ्य-पुस्तकों पर भी बादामी रंग का गत्ता सुशोभित होने लगा, और मेरी पेंसिलें भी सावधानी से बनी दिखने लगीं। वास्तव में डी० एस० के कुशल हाथों का स्पर्श पाकर मेरी मेज आश्चर्यजनक रूप से स्वच्छ रहने लगी। मेरी आदत उसने खराब कर डाली। वह इतनी स्वेच्छा से मेरा काम कर दिया करता और सो भी बिना किसी नाज़-नखरे के, कि अपनी चीजों को स्वयं व्यवस्थित रूप से रखने की कला सीखने का मुझे कोई अवसर ही नहीं मिल पाता था।

प्रति वर्ष मैं और डी० एस० अपनी-अपनी कक्षाओं में उत्तीर्ण होते चले गये, परन्तु एक वर्ष का अन्तर मेरे और उसके बीच सदा बना रहा। हर साल उसको मेरी पाठ्य-पुस्तकों, नोटबुकों और पेंसिलों का उत्तराधिकार प्राप्त होता था। मेरे और

उसके बीच केवल यह अन्तर था कि वह अपनी कक्षा में प्रथम रहता था और मैं अपनी कक्षा के फ़िसड्डी छात्रों में से एक।

डी० एस० को कई वैदिक मंत्र याद थे और उसको कर्म-काण्ड का भी कुछ ज्ञान था। उसने इनके विषय में मुझे भी थोड़ा बताया था। जब मेरा यज्ञोपवीत संस्कार हो गया, तब हम कभी-कभी साथ बैठकर अपनी संध्या क्रिया करते थे। मैं जल्दी-जल्दी अपनी क्रियाएँ समाप्त कर लेता था और बहुधा यह जानने के लिये उसकी ओर देखने लगता था कि उसने अपनी क्रियाएँ समाप्त कीं या नहीं। परन्तु वह एक-एक चीज को विधिवत् करता था; जब वह जप करता होता था तब शरीर पर मक्खी का रेंगना भी उसको आँखें खोलने पर विवश नहीं कर सकता था।

मुझे उपन्यास पढ़ने का बड़ा शौक़ था। जब मैं चौथी कक्षा में उत्तीर्ण हो चुका, तब पिता जी ने मुझे चवन्नी वाले संस्करण के स्काट और ड्यूमाज के कुछ उपन्यास भेंट किये। मैं उन उपन्यासों की भाषा को ठीक-ठीक नहीं समझता था, और न उनकी कहानियों का पूरा मर्म ही मैं हृदयंगम कर सकता था, परन्तु उनको पढ़ने की अनवरत चेष्टा मैंने जारी रखी और उनको कुछ कुछ समझने लगा। जब डी० एस० और मैं स्कूल से लौट कर आते तब मैं उसको उपन्यासों के कथानकों का वर्णन उससे यह कहकर करता था कि ये स्कॉट और ड्यूमाज की लिखी कहानियाँ हैं। वास्तव में वे ऐसी कुछ न थीं। मैं उन उपन्यसों का सरसरी दृष्टि से पढ़कर जो कुछ समझ पाता, उसी में अपनी ओर से थोड़ा नमक-मिर्च मिलाकर डी० एस० को सुना दिया करता था। डी० एस० धैर्यपूर्वक मेरी बातों को सुनता रहता था; मुझे बातें करने में मजा आता था और उसे चुपचाप सुनते रहने में।

मैंने मैट्रिक पास किया और बड़ौदा कॉलेज में नाम लिखा लिया। उसके अगले वर्ष डी० एस० ने भी मैट्रिक की परीक्षा पास की और अपनी कक्षा में वह सर्वप्रथम रहा। उसने भी बड़ौदा कॉलेज में ही नाम लिखाया। पिता जी उसकी सहायता कर दिया करते थे। परन्तु दुर्भाग्यवश, दो वर्ष बाद ही पिता जी का स्वर्गवास हो गया। हम लोगों के पास इतना साधन न था कि डी० एस० का व्यय भी सँभाल सकते, इसलिए वह कॉलेज छोड़कर बम्बई चला गया, जहाँ वह कोई उपाधि (डिग्री) पाने की चेष्टा में लग गया।

× × × ×

जिन वर्षों में हम लोग साथ-साथ रहे, उनमें हमें एक चीज में बड़ा आनन्द आया, और वह थी शरद ऋतु में प्रातःकाल टहलने की हमारी आदत।

हम प्रातः साढ़े चार बजे अपने बिस्तर से उठ जाते थे और जाड़े से काँपते हुए, भड़ौंच की अँधेरी, सूनसान सड़कों पर, जिन पर नगरपालिका की पानी-गाड़ियाँ कुछ ही पहले पानी छिड़क गयी होती थीं, चहल क़दमी करते थे। नर्मदा के शीतल जल को स्पर्श करके आती हुई हवा हममें कँपकँपी उत्पन्न कर देती थी और हमारे नासापु

ताजे छिड़काव के कारण उठी मिट्टी की सोंधी सुगन्ध से भर उठते थे। पौ फटने के पूर्व गृहणियाँ चक्की पीसते समय जो मधुर गीत गाती थीं, उनकी स्वरलहरी चक्की चलने की ध्वनि के साथ मिलकर हमारे कानों को तृप्त करती थी।

शहर के बाहर आकर हम लोग उस छोटे से पुल के नीचे से गुज़रते थे जिसके ऊपर से रेल की पटरी जाती थी। फिर हम खेतों में निकल जाते जहाँ कमर तक ऊँची-ऊँची फ़सल खड़ी होती थी। मैदानों में चरते हुए पशु हमारी ओर सशंक दृष्टि से देखते थे।

इस प्रकार घूमते-फिरते हम नर्मदा की तटवर्ती छोटी पहाड़ियों तक पहुँच जाते थे। उन पहाड़ियों का अन्वेषण हम लोगों ने ही किया था, इसलिए उनको हम अपनी सम्पत्ति-सी मानकर उनके स्वामी की तरह उनमें रुचि रखते थे। आज भी मैं सोचता हूँ कि यदि मैं किसी दिन प्रात:काल वहाँ जा निकलूँ, तो पुन: एक बालक की तरह अनुभव करूँगा।

दूर क्षितिज पर, राजपीपला पहाड़ियों के पीछे से सूर्य उगता था। हवा में कुछ गरमाहट आ जाती थी जिससे जाड़ा सह्य हो जाता था। हम एक पहाड़ी की चोटी पर बैठे जाते थे और सुबह की ताज़ी हवा में साँस लेते हुए प्राकृतिक दृश्य का आनन्द लेते थे। नर्मदा के बहते जल पर पड़कर सूर्य की किरणें जब चमचमा उठती थीं तब मैं उनको देखता रह जाता था। इस सारे समय में डी० एस० से कुछ न कुछ बोलता ही रहता था, और वह था कि मेरी बातें सुनता जाता था। मैं अपनी भावनाओं और कल्पनाओं को उसके सामने उँडेलता था और उन कहानियों के विषय में उसे बताता था जिन्हें उन दिनों मैं पढ़ता होता था।

मैं स्कॉट, ड्यूमाज, लिटन, श्रीमती हेनरी वुड और मेरी कोरेली द्वारा लिखित उपन्यासों को, जो मुझे प्रिय थे, बार-बार पढ़ता था, और हर बार मैं पहले की अपेक्षा कुछ अधिक अच्छी तरह उनको समझ पाता था। परन्तु जब-जब मैं नये सिरे से उनको पढ़ता था, तब-तब मैं उनके कथानक का वर्णन डी० एस० के सम्मुख करता था। उदाहरण के लिए, 'दि थिरी मस्केटियर्स' का जो कथानक मैंने १९०२ ई० में उसे बताया था, १९०४ ई० में मेरे द्वारा उसी पुस्तक का वर्णित कथानक कुछ भिन्न होता था। डी० एस० कभी उपन्यास नहीं पढ़ता था, उनके विषय में ज्ञातव्य बातें मैं ही उसे बतला दिया करता था। परन्तु, क्या वह मेरे वर्णन की इस भिन्नता को समझ पाता था? संभवत: वह समझता था, परन्तु उसने मुझे कभी नहीं टोका कि मैं यह क्या बे-पर की उड़ा रहा हूँ।

× × × ×

१९०७ में मैं कानून के अध्ययन के लिए बम्बई आया। जून की एक भीगी सुबह को तड़के डी० एस० मुझे चार्नी रोड स्टेशन पर लेने आया। उसने मेरा ट्रंक सम्हाला, मैं अपना विस्तर ले चला। और जब हम बम्बई की सड़कों पर से गुजरे, जिनमें चहल-पहल होने लगी थी, तो मुझे लगा कि मेरे जीवन का एक नया अध्याय आरंभ हुआ है।

सड़क के दोनों ओर बड़ी-बड़ी इमारतें खामोश दैत्यों की भाँति खड़ीं थीं। मैंने भयपूर्वक उनकी ओर देखा। उनके पीछे रहस्यपूर्ण जीवन था। मुझे लगा कि इनमें मेरा भविष्य और मेरी आशाएँ निहित हैं।

मैं अपनी माता का एकलौता पुत्र था। कुछ सप्ताह तक मेरे मामा ने एक गन्दी और बदबूदार पीपलवाड़ी चाल में स्थित अपने दो कमरों वाले मकान में मुझे पूरा आराम देने की चेष्टा की। मेरे मामा के पास उनकी स्त्री, उनकी एक सन्तान के अतिरिक्त उनके दो भाई और चार पेइंग ग्येस्ट रहते थे। और बड़ी सड़क पर पहुँचने के लिए हमें कीचड़ और पानी पार करना पड़ता था कभी-कभी एक पत्थर से दूसरे पर कूदते हुए जाना पड़ता था।

डी० एस० ने विल्सन कॉलेज के अपने मित्रों से मेरा परिचय करा दिया, जो मेरे भी मित्र हो गये। वह एक चलता-फिरता गज़ेटियर था। हम लोगों को शायद ही कोई ऐसा मिला हो जिसे वह भली-भाँति न जानता हो। इसका रहस्य था–बिना किसी भेदभाव के सबकी सहायता करने की उसकी प्रवृत्ति। यदि किसी को कोई काम कराना होता तो उसे केवल कहने भर की देर होती और डी० एस० उसे कर देता। सम्पर्क में आये हुए प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अपने इस अनिवार्य गुण के कारण अधिक वय के बहुत से मित्रों में वह एक शक्ति बन गया था ऐसी शक्ति जो केवल ऊपर से ही नहीं अपितु भीतर से भी शासन करती है।

मेरी सार-सँभाल का पूरा जिम्मा उसने लिया। टयूशन करके वह किसी प्रकार अपना काम चलाता था और विल्सन कालेज में अपनी पढ़ाई की व्यवस्था करता था।

मैं अपने साथ केवल २० रुपये लाया था और मेरे सामने पर्याप्त धन प्राप्त करने की पहली समस्या थी जिससे मैं बम्बई में रह सकूँ। इसके लिए डी० एस० और मैंने मिलकर एक योजना बनायी। कालेज भर में मैं इंग्लिश में प्रथम रहा था, इस पर मुझे १०५) का इलियट पुरस्कार मिला था, जो पुस्तकों के रूप में दिया जाने को था। डी० एस० अपने एक परिचित प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेता की दूकान पर मुझे ले गया और थोड़ी बातचीत के बाद हम लोगों में सौदा तय हो गया, परिणामस्वरूप उन्होंने मेरे कालेज को १०५) का बिल भेजा, जिसकी पुस्तकें मुझे भेजी जाने को थीं। जब रुपये आ गये तो पुस्तक-विक्रेता ने मुझे ५) की पुस्तकें और १००) नकद देने की कृपा की। इस राशि के साथ मैंने कार्य आरम्भ किया।

डी० एस० अनन्तवाढ़ी की एक गली में स्थित ८ फीट लम्बे और ६ फीट चौड़े एक छोटे-से कमरे में तीन मित्रों सहित रहता था। मासिक किराया ५) था। मैं उसमें पाँचवाँ साझीदार बना और अपने हिस्से का किराया देने लगा।

डी० एस० ने मुझे कालबादेवी पर स्थित एक सस्ते भोजनालय से परिचित कराया, जिसे तब 'ईटिंग हाउस' कहते थे। वहाँ वह ५) या ६) प्रतिमाह पर भोजन करता था। मैं भी भोजनालय में सम्मिलित हो गया। किन्तु मेरा स्वास्थ्य नाजुक था। घी-दूध के बिना मेरा काम नहीं चल सकता था। डी० एस० स्वयं भी थोड़ी सी विलासिता के लिए तत्पर था। इसलिए हमने थोड़ा-सा घी खरीदा और उसे दो शीशियों में रक्खा, जिन्हें खाने के समय हम अपनी जेब में रख कर ले जाते थे और अपनी रोटियों पर उसकी कुछ बूँदें चुपड़ लिया करते थे।

दूध की समस्या गम्भीर थी। मैं डी० एस० की भाँति एक पैसे की चाय पर नहीं रह सकता था, जिसे सभी चाय की दूकानों पर 'सिंगिल' कहा जाता था। इसलिए, भोजनालय जाते समय रास्ते में मैं एक 'भैया' की दूकान पर सुबह-शाम एक आने के दूध से अपना शक्ति-वर्धन कर लेता था। इस तरह जीवन बीतने लगा।

निर्दोष जालसाजी से प्राप्त मेरे १००) शीघ्र ही समाप्त हो गये, और हम लोग धनवान होने के लिए विस्तृत योजनाएँ बनाने लगे। एक दिन शाम को डी० एस० मुझे एक धनवान महोदय के पास ले गया, जिनको वह जानता था। और जिनके पुत्र के लिए एक सुयोग्य शिक्षक (ट्यूटर) की अत्यन्त आवश्यकता थी। वह शेख स्ट्रीट की चौथी या पाँचवीं मंजिल में रहते थे। उत्साह के असाधारण प्रवाह में डी० एस० ने मुझे स्वर्गीय डिप्टी कलेक्टर माणिकलाल के पुत्र के रूप में परिचित कराया। अत्यन्त भयपूर्वक मैंने जाना कि वह धनी व्यक्ति मेरे ही जिले के थे और पिताजी को भलीभाँति जानते थे। उन्होंने बड़ी मधुरता के साथ कहा कि कई वर्ष पूर्व रायबहादुर ने उन पर कोई कृपा की थी। फिर वह तन्मय होकर पिताजी के सद्‌गुणों की प्रशंसा करने लगे और उदास चेहरे से उन्होंने पिता जी के असामयिक देहान्त पर दुःख व्यक्त किया। मैं असहाय हो गया। जो व्यक्ति मुझे अपने घर पधारे राजकुमार के रूप में समझ रहा था, उससे नौकरी की याचना मैं कैसे कर सकता था? हम खाली हाथ भग्न-हृदय लौट आये। शैक्षिक स्वरूप में बच्चों को दुलरा-फुसलाकर धनोपार्जन करने का यह मेरा पहला और अन्तिम प्रयत्न था।

किन्तु डी एस० के उपाय अनन्त थे। कुछ दिन बाद वह मुझे 'इन्दुप्रकाश'–कार्यालय के कम्पोजिंग रूम में ले गया। वह वहाँ किसी से परिचित था और मेरी सीधी नियुक्ति प्रूफ-रीडर के रूप में हो गयी जो उस पत्र के लिए असाधारण बात थी। मैं कानून की कक्षा से अपने कमरे के लिए हर शाम साढ़े तीन मील का लम्बा रास्ता तय करता था; मार्ग में ही 'इन्दु–प्रकाश'–कार्यालय जाकर गेलियाँ एकत्र कर लेता था। भोजनालय से लौटकर मैं डी० एस० की सहायता से प्रूफ संशोधिन करता था। उसे प्रूफरीडिंग का भी ज्ञान था। १० बजे रात को हम समाचारपत्र के कार्यालय में फिर जाते थे, प्रूफ वापस करते थे और दैनिक वेतन ले लेते थे जो लगभग छह या आठ आने आता था। मैं समझता हूँ कि मुझे एक या दो आना प्रति गेली की दर से वेतन मिलता था; मुझे ठीक स्मरण नहीं है।

मेरी आकांक्षा थी कि मैं ऊँचे पैमाने पर पढ़ूँ और लिखूँ। इसलिए जिस दूसरी समस्या का सामना हमें करना था वह थी कि पढ़ने लिखने का यह कार्य विस्तृत

पैमाने पर कैसे किया जाए। पीटिट लाइब्रेरी में काम करने वाले एक वृद्ध पारसी सज्जन को डी० एस० जानता था। उनके पास वह मुझे ले गया। इन वृद्ध सज्जन ने मुझ पर कृपा की और एक षड़यंत्र किया। मेरे लिए एक छोटी-सी मेज दे दी गई। 'इशू-स्लिपों। की एक फाइल की व्यवस्था उन्होंने की, जो मेरे सामने पड़ी रहती थी। यदि कोई कभी मुझसे पूछता कि मैं वहाँ क्यों हूँ तो मैं उन वृद्ध सज्जन की ओर संकेत कर देता। वह इस बात का प्रमाण दे देते कि मैं उनके लिए कुछ अवैतनिक कार्य कर रहा हूँ।

जब तक मैं बम्बई में रहा, मेरे अधिकतर दिन उसी लाइब्रेरी में बीते। तीन वर्षों तक मैं ५ या ६ घंटे पीटिट लाइब्रेरी में बिताता। पास के एक कार्यालय में डी० एस० नौकर था, समय-समय पर वह दिन में मेरे पास आता था और हम लोग दो 'सिंगिल' पीकर तरोताजा हो जाते थे। पीटिट लाइब्रेरी में ही मैंने पहले 'द कॉन्क्वेस्ट ऑव् सोमनाथ' नामक एक निबन्ध लिखा, जो १९०९ या १९१० में अपने समय की अत्यन्त प्रसिद्ध पत्रिका 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' में प्रकाशित हुआ।

('मेरा बचपन का अन्तिम मित्र' से)

× × × ×

कुछ वर्ष बाद एक बड़ी मनोरंजक घटना घटी। मुझे एक पंच के सामने यह प्रमाणित करना था कि मैंने जो थोड़ा-बहुत धन कमाया है, वह मेरी अपनी अर्जित सम्पत्ति है, पैतृक उत्तराधिकार में प्राप्त नहीं। मैंने डी० एस० से पूछा कि क्या वह मेरी ओर से गवाही दे देंगे। और लीजिए, वह तो जैसे इसी की तैयारी किये बैठे थे! उन्होंने अपनी पुरानी दैनन्दिनियों को ढूंढ़ना आरम्भ किया और उनमें मेरे नाम का खाता देखा—'कनुभाई' के नाम पर उसमें प्रतिवर्ष का हिसाब लिखा था। उस हिसाब के अंत में जहाँ कुल जोड़ लगा था, वहाँ देखा गया तो डी० एस० के आठ या नौ रुपये अभी तक मुझ पर बकाया थे! चतुर कर्जदार की तरह मैं अपना कर्ज चुकाना भूल गया था और डी० एस० अचतुर साहूकार की तरह कर्ज को चुकता करने की माँग करना भूल गये थे!

कुछ भी हो जाय, पर डी० एस० की प्रफुल्लता में अन्तर नहीं आता था। चाहे गरीबी हो, संघर्ष हों, निराशाएँ हों, या चाहे उनकी देखरेख में रक्खे गये असाध्य बालकों का सुधार हो—वह हर चीज को इस तरह देखते थे मानो वह कोई साधारण सी चीज हो। दूसरी ओर, मैं चंचल, महत्वाकांक्षी, प्रसन्न या अप्रसन्न और अत्यन्त भावनाशील था। इन दो विरोधी स्वभावों को लेकर भी हम दोनों बम्बई की सडकों पर साथ-साथ चहल कदमी करते थे। और इस पैदल-भ्रमण का ही परिणाम था कि मैं बम्बई के अधिकांश मोहल्लों से परिचित हो सका।

जब डी० एस० मुझे पहली बार नेपियन सी रोड की ओर ले गये, तब मैं उसके दोनों ओर खड़े प्रसादों को देखकर ईर्ष्या और क्रोध से इतना जल-भुन गया कि मैंने

निश्चय किया कि फिर उस ओर को मुंह नहीं करूँगा। मुझे उनसे और उनकी शान-शौकत से क्या लेना-देना था ?

उन दिनों हमारे सबसे आनन्ददायक क्षण तब होते थे, जब हम लोग अपने ब्यालू से निपट जाते थे। सप्ताह में कई दिन हम लोग विल्सन कॉलेज के छात्रावास में जाते थे और वहाँ मैं अपने मित्रों के साथ नाना प्रकार के गीत गाया करता था। निस्संदेह, डी० एस० ने गाने में हमारा कभी साथ न दिया; हाँ, वह ताली बजाकर हमारा साथ अवश्य देते थे। इसके बाद हम लोग चौपाटी की रेती पर चले जाते थे और वहाँ आधी रात बीते तक बैठे रहते थे, और वहीं कभी कभी एक आना की गन्ने की गड़ेरियाँ लेकर चूसा करते थे।

× × × ×

जीवन में परिवर्तन आया, मैंने कानून की परीक्षाएँ पास कीं और सन् १९१३ में बम्बई हाईकोर्ट की दावा-अदालत (ओरीजिनल साइड आव बार) में मैंने वकालत करने के लिए अपना नाम दर्ज कराया। मुझे अपने पेशे में सफलता मिलने लगी और फलस्वरूप लक्ष्मी की कृपा भी मुझ पर होती गयी। परन्तु, अब भी डी० एस० और मैं पहले की ही तरह थे। मैं उनसे पूर्ववत् अपनी सफलताओं और असफलताओं के बारे में बातें करता, और वह जैसे भी बन पड़े, मेरी सहायता करते थे, मुझे जिस किसी चीज की जरूरत होती, खरीद देते थे—उन्होंने मुझसे कभी कुछ न चाहा, सदा मुझे दिया ही दिया। इस बीच वह भी अपने प्रगति पथ पर धीरे-धीरे, पर निश्चित गति से बढ़ रहे थे। उन्होंने एल-एल० बी० की परीक्षा पास की, ट्यूशन के रुपयों में से कुछ बचाकर अपनी सनद उन्होंने ले ली और एक सालीसिटर के कुर्क बन गये। सदा की भाँति इस पेशे में भी जिस चीज ने उन्हें लोगों का स्नेहभाजन बनाया, वह थी उनकी सटीकता, हर कार्य को पूर्णतया करने की उनकी प्रवृत्ति, उनका अच्छा स्वभाव और उनकी सेवापरायणता। जिन सॉलीसिटर साहब के यहाँ वे क्लर्क थे, उन्होंने उनके कार्य से संतुष्ट होकर पहले तो उन्हें मैनेजिंग क्लर्क बनाया फिर बिना एक रुपया शुल्क लिये ही, दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने के लिए उन्हें प्रेरित किया।

डी० एस० ने एल्-एल्० बी० और सॉलीसिटर की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं, परन्तु एक बारगी ही नहीं, वरन् धीरे-धीरे और धैर्यपूर्वक एक के बाद दूसरे विषय में प्रतिवर्ष परीक्षा देते हुए। और यह सब उन्होंने तय किया जब दिन-भर उन्हें रोजी के लिए क्लर्की करनी पड़ती थी।

जिस सालीसिटर के यहाँ उन्होंने नौकरी कर रखी थी, उसका स्नेह इन पर पितृवत् हो गया था। जब इन्होंने सालीसिटर की परीक्षा पास कर ली, तब उसने इनकी साख की चिन्ता किये बिना इन्हें अपने व्यवसाय में साझीदार बना लिया। मैं आशा करता हूँ कि दुनिया में और भी भले सालीसिटर होंगे, जो योग्य और साधनहीन होनहार युवकों के लिए ऐसी ही सहृदयता दिखा सकते हैं।

इन वर्षों के दौरान डी० एस० के माता-पिता और भाइयों की मृत्यु हो चुकी थी और उनकी बहनों का भी विवाह हो गया था। वह अकेले रह गये थे, किन्तु उन्होंने एक अनाथालय से, जिसके वह कभी व्यवस्थापक रह चुके थे, एक अनाथ बालक को अपने संरक्षण में ले लिया, उसे पाल-पोसकर बड़ा किया, शिक्षा-दीक्षा दिलायी और उसका विवाह करके उसे रोजगार से भी लगा दिया। मुझे याद नहीं कि ऐसे कितने लड़कों की उन्होंने सहायता की होगी।

कई वर्षों तक हमारी जाति में से किसी ने यह सोचा तक नहीं कि डी० एस० का भी विवाह किया जा सकता है। वह कभी-कभी मुझसे इस विषय में बात किया करते थे कि भाग्य किस प्रकार उनको विवाहित जीवन का सुख नहीं लेने दे रहा, और इस विषय की चर्चा करते समय उनका मन कड़ुवाहट से भर उठता था।

फिर भी, वे ऐसे बातें करते थे, मानो उन्हें किसी से कोई शिकायत नहीं है और न इसके लिए समाज या किसी व्यक्ति-विशेष पर क्रोध है; यद्यपि यह सच था कि जीवन का यह एकाकीपन उनके लिए बहुत भारी पड़ रहा था। एक बार एक पत्रिका में जिसका संपादक मैं ही था, उनकी एक कहानी प्रकाशित हुई। कहानी क्या थी, मानो उनकी आत्म-स्वीकृति थी। उस कहानी में यह चित्रित था कि एक अविवाहित व्यक्ति लोगों के शासन में रहते-रहते और उनका हुकुम वजाते-वजाते परेशान हो जाता है और अंततः वह विवाह करने का निर्णय करता है; ऐसा करने के लिए वह कारण यह देता है कि संसार में कोई एक व्यक्ति तो हो जिस पर वह भी अपना अधिकार जता सके और वह व्यक्ति पत्नी ही हो सकती है।

जब डी० एस० मैनेजिंग क्लर्क (व्यवस्थालिपिक) का कार्य कर रहे थे, तब उनका विवाह हुआ। वह बहुत प्रसन्न हुए। परंतु जैसा कि उनका स्वभाव था, उन्होंने उसको ईश्वर का एक वरदान समझा और उसकी सार-सँभार में कोई कसर न उठा रखी एवं उसे सुखी बनाया। वह अपनी कहानी की बात को भुला ही बैठे। वह नहीं, बल्कि उनकी पत्नी ने अधिकार जताया और वह इसको सर्वथा स्वाभाविक मानकर प्रसन्न रहे।

सालीसिटर के रूप में भी उनका कार्य बड़ा निपुणतापूर्ण, सटीक और सेवाभावना से युक्त था। वह जैसे हो सके, दूसरों का उपकार करने में नाहीं नहीं करते थे। एक बार यदि कोई मवक्किल उनके पास आ जाता, तो उनके सद्व्यवहार के कारण वह सदा के लिए उनका हो रहता था। उन्होंने मलाद में एक मकान खरीद लिया और उसके चारों ओर सुन्दर वाटिका लगायी।

× × × ×

उनका जीवन संतोषमय और सुखी था, परंतु बुढ़ापे और बीमारी से उनका यह सुख नहीं देखा गया।

ऐसी ही दशा में जब मैं उनसे चिकित्सालय में मिला, तब उनकी आँखों में वही पुरानी स्नेहिल आभा चमक उठी। वह मेरे लिए दो तन एक प्राण के रूप में थे और

उनके बिना मेरा काम नहीं चलता था। मैं उनकी ऐसी संपत्ति था जिस पर उन्हें गर्व था; मैं उनसे स्पष्टतः भिन्न था, परन्तु मैं एक प्रकार से उनका पूरक था; मुझे पाकर वे अपने जीवन की अपूर्णता को, अपने अस्तित्व के एकांगीपन को पूर्ण, भरा-पूरा मानते थे।

हम लोग उनके स्वास्थ्य के विषय में बातचीत करते रहे, यद्यपि वे केवल बुदबुदाकर ही बोल पाते थे। और जब हम इस प्रकार बातें कर रहे थे, तब मेरे मन में हमारी प्रथम भेंट की तस्वीर उभर आयी—वह भेंट थी दो बालकों के बीच, जिनमें से एक था मुस्कराता हुआ, विनीत और लम्बे कद का; तथा दूसरा था लज्जालु, भीरु, ठिगने क़द का और उद्धत। मैंने अपने दोनों की जीवन-यात्रा के विषय में सोचा, कैसे वर्ष प्रतिवर्ष, हाथ में हाथ दिये हम लोग इस यात्रा में आगे बढ़ते रहे; एक अपनी सामर्थ्य-भर देता ही रहा और दूसरा उस दिये हुए को ग्रहण करता रहा। यह अठावन वर्षों से अविच्छिन्न गति से चली आती हुई सह-यात्रा, जिसमें कभी एक झटका न लगा, कभी कोई ग़लतफ़हमी न हुई—अब अपनी समाप्ति पर आ रही थी!

जब हम लोग विदा होने लगे, तब डी० एस० ने मुस्करा कर कहा था—"कनुभाई, मैंने सदा धीरे-धीरे काम किया है; परीक्षाएँ भी धीरे-धीरे ही पास कीं, और पत्नी पाने में भी मेरी गति धीमी रही; और अब अपने जीवन का अंत लाने में भी मैं धीमा ही हूँ।"

बड़ी कठिनाई से मैं अपने आँसुओं को रोक सका। और इस प्रकार हम दोनों ने विदा ली।

डॉ० अमृत पंड्या

श्री कन्हैयालाल मुंशी और गुजरात

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी को शायद गुजरात का प्रेमचन्द कहा जा सके। परन्तु सच पूछा जाय तो वे प्रेमचंद्र से कुछ अधिक रहे हैं। प्रेमचन्द्र ने अपनी कृतियों द्वारा सामाजिक जीवन का सजीव चित्र प्रस्तुत किया। इस चित्र का सामाजिक गतिविधियों पर क्या प्रभाव पड़ा यह कहना शायद मुश्किल है मुंशी ने अपने अधिकांश उपन्यास, कहानियाँ और नाटक एक ध्येय की सिद्धि के लिए लिखे हैं। वह ध्येय था—गुजरात की शिक्षित जनता के समक्ष उसके गौरवमय अतीत को पुनर्जीवित कर उसमें आत्मभान जागृत करना। इस आत्मभान के लिए उन्होंने 'अस्मिता' शब्द अपनाया।

'गुजरात की अस्मिता' को अपनी कृतियों द्वारा जागृत करने में श्री मुंशी सफल हुए हैं जिसको उनके जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि माना जाता है।

गुजरात के विषय में पश्चिम भारत के बाहर कुछ ऐसी मान्यता प्रचलित-सी थी कि गांधी जी के आविर्भाव के पूर्व गुजरात राजनीति से शून्य रहा है। यह बात सही नहीं है। गुजरात का प्राचीन नाम गुर्जर देश था और वहाँ के निवासी 'गुर्जर' कहलाते थे। हर्ष के बाद भारत का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य, जिसको भारत का अंतिम हिन्दू साम्राज्य कहा जा सकता है, गुजरात में स्थापित हुआ था। उस समय 'अणहिल्लपुरपत्तन' उत्तर गुजरात में आधुनिक 'पाटण' नहीं बस पाया था और 'श्रीमाल' 'भिन्नमाल' गुजरात की राजधानी थी। वहाँ जो राजवंश स्थापित हुआ वह इतिहास में 'गुर्जर प्रतिहार' वंश के नाम से प्रसिद्ध है। इस वंश का राज्य गुजरात से प्रारम्भ होकर पूर्व की ओर इतना विस्तृत हुआ कि नवीं शताब्दी के प्रारम्भ काल में इस वंश के राजा नागभट्ट-द्वितीय को अपनी राजधानी श्रीमाल से हटा कर कन्नौज में स्थापित करनी पड़ी थी। गुर्जर-प्रतिहार-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर १०वीं शताब्दी के लगभग जो सात राजपूत राज्य अस्तित्व में आए उनमें उत्तर गुजरात का चालुक्य सोलंकी, राज्य बड़ा शक्तिशाली हुआ। गुर्जर-प्रतिहारों के श्रीमाल छोड़ने के परिणामस्वरूप यह नगर पतनोन्मुख हुआ और इससे कुछ दूर दक्षिण में आठवीं शताब्दी

में 'अणहिल्लपुर पत्तन' 'पाटण' नामक नगर बसा जो गुजरात की नई राजधानी बना। उपर्युक्त सोलंकी वंश भी यहीं राज्य करता था। मूलराज (ईसवी ९४२-९९७) के पश्चात् सिद्धराज और कुमारपाल ऐसे प्रतापी राजा हुए कि दक्षिण में कोकण से लेकर उत्तर में मालवा और राजस्थान के राजवंश उनके अधीन रहा करते थे। पश्चिम में सिंध तक इनका प्रभाव था। चालुक्यों का १२९७ ई० में पतन हुआ और गुजरात में मुस्लिम राज्य का आरम्भ हुआ। यह राज्य शीघ्र ही दिल्ली से पृथक् हो गया। गुजरात की इस स्वतंत्र मुस्लिम सल्तनत ने भी चालुक्यों की भाँति 'कोकण', 'मालवा' और 'राजस्थान' को अपने अधीन रक्खा।

पश्चिम जगत के साथ भारत का जिस सागर तट द्वारा संबंध रहता आया है, वह गुजरात के अन्तर्गत होने से गुजरात के अधिकांश सैनिक-शक्ति समुद्र के रक्षण में व्यय होती रही है। यही कारण है कि गुजरात की शक्ति दिल्ली की ओर बढ़ने की अपेक्षा देशान्तरों की ओर बढ़ी तथा स्थल सेना की अपेक्षा नौ सेना गुजरात को अधिक रखनी पड़ी। श्रीकष्ण ने द्वारिका से 'असीरिया' (प्राचीन ईराक का एक भाग) पर आक्रमण यिका था। लालसागर के द्वार पर जो 'सोकोत्रा' शंखोद्धार, जो गुजराती में संकोतर कहलाता है और द्वारका के निकट एक द्वीप है जो बेट द्वारका भी कहा जाता है और पेरिम इस नाम का द्वीप यानी पीरमबेट जो अँग्रेजी में पेरिम कहलाता है नामक दो द्वीप हैं, उनके नाम गुजरात के दो द्वीपों के नाम पर चौलुक्यों के पूर्वकालीन चापोत्कटों (चावड़ा) ने रखे थे। इन द्वीपों पर अरब सागर की रक्षा के लिये चापोत्कटों की नौ सेना रहती थी। ईरान में पैकुली-लेख के अनुसार वहाँ के राजा वरहवान तृतीय को तृतीय शतक में सौराष्ट्र के एक राजा मित्रसेन ने युद्ध में सहायता की थी। महावंश के अनुसार गुजरात के एक राजकुमार विजय ने भरूकच्छ (भरूच) से काफला ले जाकर श्री लंका में सबसे प्रथम आर्य उपनिवेश की स्थापना की थी। जावा और कम्बोडिया के प्रथम हिन्दू उपनिवेश भूविजय सविलाचल नामक गुजरात के एक राजा ने बसाये थे।

भारत के सांस्कृतिक विकास में भी गुजरात का काफी योग रहा है। गीता के गायक श्रीकृष्ण द्वारका के राजा थे। शैवधर्म जब पतनोन्मुख हुआ तब ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग मध्य गुजरात के एक नगर कायावरोहण (कारवण जो बड़ौदा के निकट है) में लकुलीश हुए जिन्होंने लकुलीश-पाशुपत मत चला कर शैवधर्म की पुनः प्रतिष्ठा की। भरूच के एक राजा ने सन्यास लेकर चक्रधर नाम धारण किया था। इन चक्रधर स्वामी ने ही इतिहास में सबसे पहली बार महाराष्ट्र की जनता को उन्नत और जागृत बनाया था। स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार हिन्दू समाज की सेवा की यह बात सर्वविदित है।

अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा इतिहास का यह उलाहाना देकर श्री मुंशी ने गुजरात की अस्मिता को पुनर्जागृत किया। काल-बल से भारत के करीब छहसौ देशी राज्यों में से तीन सौ से अधिक के रूप में गुजरात की जनता छिन्न-भिन्न हो गई थी और ऊपर से मराठाशाही का भार पड़ने से वह अपनी अस्मिता को भूल गई थी। इस

अस्मिता को उभारने का कार्य कवि नर्मद, कवि बहेरामजी महेरवान जी मलबारी करनदास मूल जी प्रभृति ने गत शताब्दी में आरम्भ किया और मुंशी ने वर्तमान शताब्दी में उसको पूरा किया ।

प्रजा-समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता के पिता श्री रणजीतराम वावाभाई मेहता ने १९०५ ई० में गुजराती साहित्य-परिषद् की स्थापना की थी । इस संस्था को आगे जाकर श्री मुंशी ने अपनाया और उसके सहारे-सहारे वे आगे बढ़े । १९१६ ई० के करीब गुजराती साप्ताहिक 'वीसमी सदी' के सम्पादक श्री हाजी महमद अल्लारखिया सवजी की प्रेरणा से श्री मुंशी ने 'पाटण की प्रभुता' उपन्यास लिखकर मध्यकालीन गुजरात की गौरव-गाथा को प्रस्तुत किया। इस विषय पर १९१९ ई० में 'गुजरातनो नाथ' और बाद में 'जय सोमनाथ' इत्यादि ; अंग्रेज़ी में ('Gujrat and its Literature' 'Glory that was Gurjardesh') इत्यादि पुस्तकें इन्होंने लिखीं और 'गुजरात' नामक मासिक पत्र निकाला । इसके अतिरिक्त सामाजिक और अन्य विषयों तथा आत्मकथा पर उन्होंने यथेष्ट साहित्य लिखा है । इनकी धर्मपत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी, जो स्वयं एक अच्छी साहित्य-कार हैं, श्री मुंशी को उनके प्रत्येक कार्य में प्रेरणा और योग देती रही हैं ।

श्री मुंशी केवल स्वप्नद्रष्टा ही नहीं रहे, गुजरात की अस्मिता को जागृत करने के लिए उन्होंने राजनैतिक क्षेत्र में भी प्रवेश किया । सन् १९३७ में बम्बई प्रांत में रचे गये प्रथम मंत्रि-मंडल में श्री मुंशी गृहमंत्री थे ।

महागुजरात की सृष्टि के अतिरिक्त बम्बई शहर पर गुजरात के अधिकार के श्री मुंशी प्रारंभ से ही अगुआ रहे हैं । १९४८ ई० में महागुजरात की रचनासंबंधी प्रथम 'महागुजरात परिषद्' की बैठक बम्बई में हुई उसके श्री मुंशी सभापति थे । बम्बई शहर को पृथक् राज्य के रूप में रक्खे जाने की प्रवृत्ति के भी श्री मुंशी नेता रहे हैं । प्रांतिक पुर्नविभाजन के लिए १९४७ ई० में श्री दर की अध्यक्षता में जो सरकारी कमेटी नियुक्त हुई थी उसके समक्ष श्री मुंशी ने महागुजरात और बम्बई का मामला प्रस्तुत किया था ।

इसके पश्चात् श्री मुंशी गुजरात और बम्बई छोड़कर उत्तर भारत गये । केन्द्रीय सरकार के मंत्री हुए और बाद में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल पद पर उनकी नियुक्ति हुई । बीच में वे विदेश-पर्यटन भी कर आये ।

उपर्युक्त घटनाओं के परिणामस्वरूप हो या बढ़ती हुई अवस्था के कारण हो या और कोई वजह हो, परंतु गुजरात की जनता श्री मुंशी के उत्तर भारत वास के पश्चात् उनके विचारों में कुछ परिवर्तन अनुभव करने लगी । इस परिवर्तन का प्रथम परिचय उस समय हुआ जब श्री मुंशी ने विदेश-पर्यटन से वापस आकर गुजरात का भ्रमण किया । इस समय मातृभाषा, प्रादेशिक भाषा या किसी भी भारतीय भाषा की अपेक्षा अँग्रेजी सीखने और बोलने को विशेष महत्त्व देने के आग्रह के लिए उन्होंने अँग्रेजी में कई व्याख्यान दिये । यह बात कुछ ऐसी थी जो न तो उनके पिछले विचारों से मेल खाती थी और न स्वतंत्र भारत की भाषानीति के ही अनुकूल थी । यह प्रथम अवसर था जब श्री मुंशी के विचारों के प्रति गुजरात की जनता ने आश्चर्य व्यक्त किया ।

सन् १९५२ में इन पंक्तियों के लेखक के मंत्रित्व में गुजरात में एक 'महागुजरात परिषद्' की बैठक बुलाने की विशाल आयोजना हुई थी। श्री मुंशी उस समय उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे। सदा की भाँति श्री मुंशी को परिषद् का निमंत्रण-पत्र भेजा गया। इसके उत्तर में उन्होंने गुजरात की जनता को जो संदेश भेजा वह सनसनीखेज था। श्री मुंशी ने अपने संदेश में महागुजरात की रचना के प्रति विरोध प्रदर्शित किया। परिणामस्वरूप गुजरात के अधिकांश हलकों में श्री मुंशी के प्रति एक प्रकार का विरोधी वातावरण निर्मित हो गया। पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर खूब वाद-विवाद हुआ। यदि ये बातें श्री मुंशी के अतिरिक्त किसी और ने की होती तो इतनी हलचल न होती। काका साहब, एन० व्ही० गाडगिल तथा गुजरात के बाहर के अन्य कई नेताओं ने भी श्री मुंशी के महागुजरात विषय के इस वक्तव्य की निंदा की। जिस गुजराती साहित्य-परिषद् के सर्वेसर्वा अब तक श्री मुंशी रहे थे उसीने शीघ्र ही नवसारी में अधिवेशन करके श्री मुंशी की इच्छा के विरुद्ध महागुजरात की रचना का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास किया। इतना ही नहीं परंतु जब परिषद् का अगला अधिवेशन श्री मुंशी के सभापतित्व में नडियाद में सन् १९५५ में हुआ तब गुजरात के अधिकांश साहित्यकारों ने परिषद् संबंधी श्री मुंशी की नेतागीरी के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला विरोध प्रदर्शित किया और श्री मुंशी के हाथ से परिषद् को हस्तगत किया। परन्तु परिषद् श्री मुंशी के बिना ये लोग चला सकेंगे इस विषय में गुजरात की जनता को संदेह है। मुंशी और परिषद् ये दोनों गुजरात में अभिन्न अंग समझे जाते हैं।

इन सब बातों के बावजूद गुजरात अपने मुंशी को प्यार करता है। वह उनको छोड़ नहीं सकता। गुजरात की सांस्कृतिक उन्नति के लिए श्री मुंशी ने जो श्रम किया है उनका महत्त्व ऐतिहासिक है और गुजरात उसका कायल है। श्री मुंशी ने गुजरात की जो सेवा की है उसका वास्तविक मूल्यांकन हम तभी कर सकते हैं जब हम श्री मुंशी के जीवन की राजनैतिक घटनाओं को अपनी दृष्टि से निकाल दें।

यह तस्वीर का एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू बताता है कि श्री मुंशी ऐसे व्यक्ति हैं जो गुजरती हुई छोटी-छोटी घटनाओं से विचलित नहीं होते। वे शान्तिपूर्वक अपना काम किये जाते हैं और जो कुछ भी वे करते हैं उसमें सफलता प्राप्त करके ही छोड़ते हैं। उनकी इस सफलता में उनके व्यक्तित्व, ज्ञान और सज्जनता का बहुत बड़ा भाग रहता है। श्री मुंशी के स्वभाव की एक अनुकरणीय विशेषता यह है कि वे सदैव हंसते रहते हैं। विपरीत परिस्थियों को अपने मनमौजी स्वभाव, नम्रता और सज्जनता से जीतने की कला हमको श्री मुंशी से सीखनी चाहिए।

इन पंक्तियों के लेखक का श्री मुंशी के साथ विशेष परिचय न होते हुए भी उनके साथ भेंट के जो दो-चार प्रसंग उपस्थित हुए हैं, वे मुंशी की तीव्र ज्ञानपिपासा उनकी सज्जनता और नम्रता के द्योतक हैं।

लगभग बारह वर्ष पहले की बात है। मैं उस समय सरकारी पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष राय बहादुर के० एन० दीक्षित के नीचे नर्मदा उपत्यका में पुरातत्वान्वेषण का

कार्य कर रहा था। उस समय गुजरात रिसर्च सोसायटी की त्रैमासिक मुख-पत्रिका में 'मेरा गुजरात और असीरिया' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें हरिवंश तथा अन्य पुराणों के आधार पर मैंने यह प्रतिपादित किया था कि असुर लोग उत्तरी ईराक के प्राचीन असीरियन लोग थे, बाणासुर असीरिया की राजधानी निनेवा का राजा था उसकी पुत्री उषा के लिये द्वारका से श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का चित्रलेखा द्वारा हरण हुआ था और इस पर श्रीकृष्ण ने असीरिया पर आक्रमण कर बाणासुर को परास्त किया था। मेरे इस लेख की ओर श्री दीक्षित का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने मुझे लिखा कि ऐसी हास्यास्पद बातें मैं अपने लेखों में लिखूँगा इसकी उन्हें कभी आशा नहीं थी। इस घटना के कुछ दिन पश्चात् पुरातत्त्व विभाग के ही एक उच्च अधिकारी श्री दीक्षित के आदरपात्र डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का पत्र मुझ को मेरे उपर्युक्त लेख की प्रशंसा में मिला। श्री अग्रवाल जी से इसी पत्र द्वारा मेरा परिचय स्थापित हुआ। यह पत्र मैंने श्री दीक्षित को भेजा और उन्होंने मुझको इस मामले में धमकाने के लिए खेद प्रदर्शित किया। इसी समय एक प्रशंसात्मक पत्र मुझे श्री मुंशी की ओर से इस लेख के विषय में मिला और इस प्रकार उनसे मेरे परिचय का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् श्री मुंशी ने अपने अनेक व्याख्यानों और लेखों में मेरे इस निबंध का उल्लेख किया है।

सन् १९४६ में बम्बई में जब इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस का अधिवेशन था तब गवर्नर की चाय पार्टी के बाद श्री मुंशी का सोमनाथ के इतिहास पर व्याख्यान होने वाला था। उस समय गुजरात में एक आम धारणा थी कि गुजरात के इतिहास के विषय में यदि कोई नई बात मालूम हुई हो तो वह मेरे प्रयत्न का परिणाम होगा। श्री मुंशी ने चायपार्टी में मेरी खोज की। पता लगने पर वे स्वयं मेरे पास आये ताकि सोमनाथ के विषय में कोई नई बात हो तो वे उसको जान लें। मैंने जो कुछ नई बात बताई उसका उन्होंने आभार-प्रदर्शन के साथ व्याख्यान में उल्लेख किया।

दिसम्बर १९५६ में आगरा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस का अधिवेशन था। श्री मुंशी वल्लभविद्यानगर की शिक्षा-संस्थाओं के अध्यक्ष हैं, इस नाते वल्लभविद्यानगर की ओर से उन्होंने इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस को उसके अगले अधिवेशन के लिए आमंत्रण दिया। इस सिलसिले में वल्लभविद्यानगर से कौन प्रतिनिधि आया है, यह उन्हें जानना था। पूछने पर उनको पता लगा कि वह प्रतिनिधित्व करने मैं आया हूँ। दूसरे दिन चाय-पार्टी में वे मेरा पता लगाकर स्वयं मेरे पास आये और बातें की।

यह सज्जनता और नम्रता श्री मुंशी के चरित्र का एक मूल्यवान आभूषण है। गुजरात में श्री मुंशी वह स्थान प्राप्त कर सके हैं कि गुजरात के सांस्कृतिक इतिहास के वर्तमान युग को 'मुंशीयुग' कहा जायगा, इस में संशय नहीं।

श्री चन्द्रकान्त

श्रीमान् मुंशी जी की सामाजिक सेवा

परतन्त्र भारत को स्वतन्त्र कराने में भारत के सहस्रों वीरों ने बलिदान किया है । अपनी-अपनी शक्ति, बुद्धि, साहस एवं भावना के अनुसार कुछ आदर्शवादियों ने ब्रिटिशसत्ता के विरुद्ध प्रत्यक्ष संग्राम किया और वे नाना प्रकार की यातनाओं के पात्र बने । कुछ शान्ति के उपासकों ने सत्याग्रह आदि उपायों द्वारा जन-मानस में क्रान्ति की भावना उत्पन्न की । पददलित भारतीय जनता की शिक्षा एवं आर्थिक उन्नति के लिये कुछ नेताओं ने अनेक शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण किया । शिक्षा-संस्थाओं के निर्माण करने वालों में महामना मदनमोहन मालवीय, श्रीमान् शिवप्रसाद गुप्त, जमुनालाल बजाज, राजा सर अण्णमलै चेट्टी, अलगप्प चेट्टी एवं बिड़ला ब्रदर्स हैं । इन सभी दानियों और देश सेवकों ने अपने अपने लक्ष्य, आदर्श एवं भावना के अनुसार शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की और इससे भारत की स्थायी सेवा हुई । इन महानुभावों द्वारा संस्थापित ये संस्थाएँ यावत् सूर्यचन्द्रमसौ स्थायी रूप में रहकर भारतीय जनता को समुन्नति के मार्ग में नित्य-निरन्तर अग्रसर करती रहेंगी ।

शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कर भारत की सेवा करने वालों में उत्तर प्रदेश के महामहिम राज्यपाल श्रीमान् कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का चिरस्मरणीय एवं गौरवपूर्ण स्थान रहेगा । मुंशी जी ने शिक्षा के क्षेत्र में अपने क्रान्तिकारी प्रयोगों के परीक्षणार्थ भारतीय-विद्याभवन की स्थापना की है । मुंशी जी कोरे राजनीतिज्ञ न होकर मानव जीवन के लिए उपयोगी समस्त ज्ञानराशि से विशद परिचय रखने वाले विशिष्ट प्रतिभा के व्यक्ति हैं । उनकी सेवा का प्रकार औरों से भिन्न एवं व्यापक क्षेत्र वाला है । वे अपनी विलक्षण बुद्धि से भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति के उपाय सोचते हैं । इसी आदर्श को लेकर ण उनकी जीवनचर्या एवं क्रिया-कलाप हैं । उनके आत्म चरित विषयक प्राप्त सामग्री के विश्लेष द्वारा उनके जीवन का अध्ययन किया जाय तो मुंशी जी की सेवा मानव-जीवन या समाज के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करती मिलेगी । धर्म, दर्शन, भाषा, साहित्य, राजनीति एवं राज्य शासन, विधान एवं विज्ञान, कला और संगीत, नृत्य और अभिनय भारत की पुरातन

भाषा संस्कृत एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी की उन्नति एवं विकास, मातृभाषा गुजराती की महनीय सेवा आर्य संस्कृति के प्रचार के द्वारा विश्व-संस्कृति का निर्माण अनेकों क्षेत्र हैं जहाँ मुंशी जी श्रद्धा और गौरव के साथ चिरकाल तक स्मरण किये जायेंगे। नैसर्गिक प्रतिभा और सतत परिश्रम इन दो उत्कृष्ट गुणों के कारण उनकी प्रतिभा ने उन्हें एक सफल राजनीतिज्ञ, विधान-पण्डित, पत्रकार, उतकृष्ट कोटि का उपन्यासकार एवं कहानी कार, उच्च कोटि का शासक, एवं देश का सच्चा सेवक और मार्ग-निर्देशक नेता बनाया है। आप की रुचि विभिन्न भाषाओं एवं साहित्य में है अतः आप अनेक भाषाओं के साहित्य से अत्याधिक परिचय रखते हैं और सहृदयता से साहित्य की समस्याओं को समझने का प्रयास करते हैं। गुजराती साहित्य-लोक में तो आप सफल सृजन-सम्राट समझे जाते हैं। गुजराती भाषा में रचित आपकी कृतियों की सूची देखने से आपकी लेखन क्षमता का परिचय होता है। आपके जीवन एवं सामाजिक सेवाओं से सम्बन्ध रखने वाली दो संस्थाएँ—१. भारतीय विद्या-भवन तथा २. संस्कृत विश्व परिषद है। इन दो संस्थाओं के माध्यम से मुंशी जी ने भारतीय जन समुदाय एवं विश्व संस्कृति की जो सेवा की है वह प्रशंसनीय एवं भारतीय जनता द्वारा अनुकरणीय है।

मुंशी जी की समग्र समाज सेवा से परिचय प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त दोनों संस्थाओं का परिचय पाना ही पर्याप्त होगा। अतः प्रथमतः मुंशी जी के जीवन से अटूट सम्बन्ध रखने वाले भारतीय विद्या-भवन के कार्य और विस्तार पर ही विचार किया जाता है।

सर्व प्रथम सन् १९२३ में भारतीय विद्या-भवन की स्थापना का विचार मुंशी जी तथा उनके मित्रों के मस्तिष्क में आया। असहयोग आन्दोलन से पूर्व ब्रिटिशराज्य सत्ता को दृढ़ करने के लिए भारतीय क्लर्कों को तैयार करने के कुछ कारखाने शिक्षा संस्थाओं के नाम से चलते रहे। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत कुछ मनीषियों को यह सूझा कि जनता में सम्यक् दृष्टि उत्पन्न करने के लिये देशी शिक्षण संस्थाओं का स्थापित होना अत्यावश्यक है। इसी विचार की परिणाम है :—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तथा काशी विद्यापीठ आदि संस्थाएँ। स्वदेशी भावना से ओतप्रोत होकर बम्बई में १९२३ में भारतीय विद्या-भवन की स्थापना का विचार सुदृढ़ हुआ। मुंशी जी के सतत सत्प्रयास से लगाये गये भारतीय विद्याभवन का पौधा विशाल कल्पवृक्ष होकर संप्रति मनोवांछित फल दे रहा है। इस विशाल विद्यावृक्ष में अनेक सम्पन्न शाखाएँ हैं।

भारतीय विद्या-भवन के अन्तर्गत ज्ञानराशि के अनेक विभाग और उपविभाग हैं। भारतीय संस्कृति को पुनरुज्जीवित करने वाला संस्कृत महाविद्यालय भारतीय विद्या भवन का मुख्य अंग है। इस विद्यालय में संस्कृत के सभी विषयों—व्याकरण, वेद, दर्शन, साहित्य, ज्योतिष एवं पुराण आदि के अध्यापन की व्यवस्था है। इस विद्यालय की मुख्य विशेषता अनुसंधान की सुचारु व्यवस्था है। मुंशी जी संस्कृत भाषा के अनन्य भक्त एवं कर्मठ सेवक हैं। वे सच्चे रूप में संस्कृत भाषा और पुरातन वैदिक वाङमय का अध्ययन,

अध्यापन एवं अन्वेषण चाहते हैं। वे पुरातन भारतीय संस्कृति के सच्चे सेवक एवं अग्रदूत हैं। भारत की सर्वाङ्गीण उन्नति, विश्व-मैत्री एवं शान्ति के लिये भारतीय ऋषियों की वाणी—उपनिषद् तथा गीता का सर्वत्र प्रचार करना चाहते हैं। विभिन्न कार्यों में व्यस्त रह कर भी मुंशी जी गीता दर्शन की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या में लगे रहते हैं।

विद्या-भवन में भारतीय भाषाओं, दर्शन, संस्कृति साहित्य और पुरातत्व के अध्यापन तथा अनुसंधान के साथ-साथ पाश्चात्य भाषाओं, साहित्य, दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के विभाग स्थापित हैं। यहाँ एम० ए०, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० आदि कक्षाओं में भारत के सभी प्रान्तों के लगभग ३००० छात्र पढ़ते हैं। मुंशी जी का दृष्टिकोण सदा उदार एवं तुलनात्मक है। वे पाश्चात्य भाषा और साहित्य में उपलब्ध अच्छाइयों को सहर्ष स्वीकार करने को सदा तैयार रहते हैं। उनकी यह स्पष्ट घोषणा है कि भारत की चतुर्मुखी उन्नति के लिये पाश्चात्य भाषा साहित्य एवं विज्ञान का अध्ययन भारतीयों के लिए सर्वथा अपेक्षित है।

मुंशी जी के विद्या प्रेमी एवं ज्ञान मार्ग के अनुयायी होने के कारण विद्या-भवन से पुस्तकालय में लगभग ५०००० ग्रन्थों का संग्रह है। भवन का हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रहालय भी महत्त्वपूर्ण है। विद्या-भवन के अन्तर्गत संगीत शिक्षा पीठ, नर्तन शिक्षापीठ, कला-केन्द्र, इतिहास विभाग, प्रशिक्षण कालेज और प्रकाशन मन्दिर आदि विभाग हैं। भवन के प्रकाशन-मन्दिर में प्रकाशन के क्षेत्र में अद्भुत काम किया है। स्वल्प मूल्य में पाठकों तक उपयोगी पुस्तकें पहुँचाने का मुंशी जी का यह प्रयास स्तुत्य एवं अनुकरणीय है। इस प्रकाशन-मन्दिर द्वारा भारतीय संस्कृति के प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित कर सारे विश्व में संस्कृति के स्वरूप को समझाना उनका लक्ष्य है। अभी तक इस संस्था से ५० के लगभग उच्च कोटि के ग्रन्थ अँग्रेजी भाषा में प्रकाशित होकर सारे विश्व में फैले हुए हैं। पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र में भवन का प्रकाशन-मन्दिर अपने ढंग की श्रेष्ठ संस्था है। भारत तथा विदेश के प्रमुख मनीषियों के ग्रन्थ यहाँ प्रकाशित हुए और हो रहे हैं। इस समय तक सर्व श्री राजाजी, पणिक्कर, श्रीप्रकाश, दिवाकर, लूई फिशर, चन्द्रशेखर अय्यर, दिलीपकुमार राय और राधाकुमुद मुखर्जी आदि महानुभावों के ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। अंग्रेजी में प्रकाशिक महाभारत तथा इण्डियन हेरिटेन्स नामक दो विशालकाय ग्रन्थ भवन की ओर से प्रकाशित होकर अत्याधिक संख्या में बिके हैं। अभी तक अंग्रेजी भाषा में ही पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं हैं। मुंशी जी के प्रयत्न से अब हिन्दी में भी पुस्तकें प्रकाशित होने की व्यवस्था हो गई है।

मुंशी जी बहुमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं। आधुनिक भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, वैधानिक, सामाजिक, तथा राजनीतिक इतिहास में उनका अपना विशिष्ट स्थान है। गुजराती साहित्य में तो वे सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार तथा कहानीकार समझे जाते हैं, वे सफल पत्रकार भी हैं। उनकी पत्रकार-कला का सजीव उदाहरण उनकी पाक्षिक भवन-पत्रिका है। इसमें भारतीय संस्कृति के उच्च कोटि के लेख प्रकाशित होते हैं।

थोड़े ही दिनों में अँग्रेजी में प्रकाशित यह पाक्षिक पत्रिका सर्वप्रिय होगई है जो २७००० प्रतियाँ प्रति पक्ष प्रकाशित करती है। १६५६ से यह पाक्षिक पत्रिका हिन्दी में भी प्रकाशित होने लगी है। इस पत्र में मुंशी जी के जीवन से सम्बंधित घटनाओं का अनुभवपूर्ण वर्णन रहता है जो पाठकों के लिए सदा आकर्षक है। इसमें प्रकाशित लेख भारतीय संस्कृति की दृष्टि से बहुत ही मूल्यवान हैं।

विभिन्न विषयों में प्रगाढ़ रुचि रखते हुए मुंशी जी इतिहास से विशेष प्रेम रखते हैं। इस समय भारत के विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में जो इतिहास पढ़ाये जाते हैं वे परतन्त्र भारत में लिखे गये ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों के पढ़ने से पारस्परिक वैमनस्य एवं वर्गवाद की भावना जनमानस में उत्पन्न होती है। इससे भारत की एकता खतरे में पड़ जाती है। मुंशी जी ने अत्यंत दूरदर्शिता से ७० उच्च कोटि के विद्वानों के सहयोग से दस भागों में भारत का इतिहास लिखाने का स्तुत्य प्रयास किया है। अब तक ६ भाग प्रकाशित हो गये हैं। इतिहास के क्षेत्र में मुंशी जी की यह सेवा अमर रहेगी। भवन से प्रकाशित इतिहास की माँग न केवल भारतवर्ष में अपितु विदेशों में भी है। विश्व के सभी विश्वविद्यालय एवं पुस्तकालय भवन से प्रकाशित इस इतिहास के ग्राहक हैं।

ब्रिटिश राज्य काल में भारत की दशा शोचनीय थी। अँग्रेजों का लक्ष्य भारत को दास बना कर येन केन प्रकारेण शासन करना मात्र था। इस देश की सांस्कृतिक एवं कलात्मक समुन्निति तथा विकास की ओर उनका ध्यान नहीं गया। भारतीय संस्कृति, संगीत, अभिनय, नृत्य एवं वाद्य उपकरणों के विकास का मार्ग बन्द था। मुंशी जी स्वयं कला प्रेमी एवं सहृदय व्यक्ति हैं। उनका ध्यान इस ओर भी गया है। उनकी मृदुल भावना का साक्षात्कार भवन के अन्तर्गत कला और संगीत संस्थाओं से होता है। विद्या-भवन के अन्तर्गत, कलाकेन्द्र, संगीत शिक्षण पीठ, नर्तन शिक्षापीठ, आदि सौन्दर्य एवं कला की विकास संस्थाएँ सुचारु रूप से चल रही हैं। संगीत एवं कला मानव जीवन के उपयोगी अंग हैं। संस्कृत साहित्य में तो इनके ज्ञान के बिना मनुष्य पुच्छविषाणहीन पशु समझा गया है। कला के क्षेत्र में भी मुंशी जी की सेवा भूरि-भूरि प्रशंसा के योग्य है। विद्याभवन में नाटक, संगीत, नर्त्तन आदि की शिक्षा दी जाती है और छात्र-छात्राओं में कला के विषय में उन्नत स्तर की रुचि उत्पन्न की जाती है। बम्बई के निवासियों के लिये भवन का सांस्कृतिक कार्यक्रम अतीव मनोरंजक एवं रुचि-परिष्कारक माना जाता है।

मुंशी जी संसार भर में अमर भारती-संस्कृत भाषा का प्रचार करने के हृदय से इच्छुक हैं। इसी उन्नत लक्ष्य को लेकर मुंशी जी के भगीरथ प्रयत्न से संस्कृत विश्व परिषद् की स्थापना हुई। परिषद की शाखाएँ भारत के सभी प्रमुख नगरों में संस्कृत भाषा प्रचार का कार्य कर रही है। विद्या-भवन स्वयं भी संस्कृत भाषा के प्रचार में व्यस्त है। संस्कृत भाषा का ज्ञान सर्व सामान्य का प्राप्त कराने के लिए भवन ने प्रशंसनीय प्रयास किया है। संस्कृत भाषा के जिज्ञासुओं को भाषा का ज्ञान कराने के लिए सरल एवं उत्तम

पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशित करने का भार भी भवन ने अपने ऊपर लिया है। समस्त भारतवर्ष में भवन संस्कृत भाषा की प्रारम्भिक परीक्षाएँ चलाता है। इस समय समस्त भारत में भवन के परीक्षा-केन्द्र लगभग ३०० हैं। इन केन्द्रों में संस्कृत भाषा एवं भगवद्-गीता पढ़ाने की व्यवस्था है। मुंशी जी ने अपनी सामाजिक सेवाओं को विस्तृत करने के लिये विद्या-भवन के केन्द्र, दिल्ली, कानपुर और इलाहाबाद में बनाये हैं। उनकी योजना के अनुसार इन स्थानों में भारतीय संस्कृति के प्राचारार्थ भवन निर्मित होंगे। व्याख्यानशाला तथा समृद्ध पुस्तकालय यहाँ भवन के मुख्य अंग होंगे।

श्रीमान् मुंशी जी के सत्प्रयास से स्थापित संस्थाओं में संस्कृत विश्व परिषद् भी एक मुख्य संस्था है। यह संस्था १९५१ में स्थापित हुई। इस संस्था के सभापति महा-माननीय राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद जी हैं। इस समय संस्कृत विश्व परिषद् की २२५ शाखाएँ समस्त भारत में कार्य कर रही हैं। संस्कृत विश्व परिषद का एक केन्द्र अमेरिका में है जिसकी ४० शाखाएँ हैं। इसी प्रकार जापान एवं श्रीलंका में भी संस्कृत विश्व परिषद पूर्ण उत्साह के साथ कार्य कर रही है।

श्रीमान् मुंशी जी के सतत प्रयास एवं प्रेरणा से कुरुक्षेत्र में संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने का निर्णय हुआ। संस्कृत विश्व परिषद के पाँच वार्षिक अधिवेशन हुए हैं जिनमें समस्त संस्कृत भाषा प्रेमी, प्रचारक एवं विद्वानों के महत्त्वपूर्ण सम्मेलन हुए। पिछले कुरुक्षेत्र के अधिवेशन में राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद जी ने संस्कृत विश्व परिषद् एंव मुंशी जी के कर्मठ जीवन की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उन्होंने अपना हार्दिक उद्गार इस प्रकार प्रकट किया है—"कुरुक्षेत्र में संस्कृत विश्वविद्यालय स्थापित करने का श्रेय संस्कृत विश्व परिषद् को है। परिषद की प्रेरणा के कारण ही भारत सरकार ने संस्कृत भाषा की उन्नति एवं प्रचार सम्बन्धी रचनात्मक कार्य पर विचार करने के लिए प्रमुख विद्वानों का एक आयोग नियुक्त किया है।"

मुंशी जी ने हिन्दी की भी सेवा पर्याप्त मात्रा में की है। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर हिन्दी भाषी जनता में उन्हें हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का सभापति भी बनाया इन्हीं के अथक् प्रयत्न से आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक आदर्श हिन्दी अनुसंधान-पीठ स्थापित हुआ। यहाँ समस्त भारतीय भाषाओं और साहित्य के अनुसंधान का कार्य किया जा रहा है। समस्त भारत में भाषा-विज्ञान तथा तुलनात्मक अध्ययन के लिये उच्च स्तर की यही एकमात्र संस्था है।

मुंशी जी स्वतन्त्र विचार के व्यक्ति हैं। ब्रह्म वाक्य जनार्दन वाले अंधानुकरण से ये बहुत दूर हैं। इनका निर्भीक व्यक्तित्व सदा आदेश रहा है। ये जो कुछ करते हैं सोच विचार कर करते हैं और अपने निर्णय पर दृढ़ रहते हैं। मुंशी जी ने अपने आत्म-चरित में स्वयं भी इस प्रकार कहा है—मेरा एक भी आचरण ऐसा नहीं था जिसका मुझे पश्चाताप हुआ हो या आज होता हो, जिससे मुझे लजाना पड़े। ग्रीक कवि ऐस्काइलिस ने प्रोमथिपस से जो शब्द कहलाये थे वे आज मैं कहता हूँ। जो किया, वह मैंने किया,

स्वेच्छा से सत्कार पूर्वक स्वधर्म को सिर चढ़ाकर, इस कृत्य को अस्वीकार मैं कभी नहीं करूँगा, कभी नहीं[1] ।"

उनका व्यक्तित्व अखण्ड भारत आन्दोलन के समय चमक उठा था । भारत माता का अंग विच्छेद वे नहीं चाहते थे । अतः वे बद्ध-परिकर होकर समस्त भारत में भ्रमण कर अखण्ड भारत आन्दोलन चलाते रहे । आर्य समाज के हैदराबाद सत्याग्रह आन्दोलन से भी आप पूर्ण सहानुभूति रखते थे और समय-समय पर आर्यसमाज के कर्णधारों को सत्परामर्श दिया करते थे ।

इस प्रकार मुंशी जी की सामाजिक सेवा भाषा, साहित्य, कला, संगीत, समाज, राजनीति, विधान, शासन, पत्रकार कला एवं शिक्षा आदि जीवन के सभी अंगों से सम्बन्ध रखती है । आप गुजराती, हिन्दी एवं अँग्रेजी के सिद्धहस्त लेखक हैं । प्रतिभावान एवं एवं अध्ययनशील होने के कारण आपका ज्ञान और अनुभव विस्तृत है । आपके आदर्श में संस्कृत कवि की यह भावना पाई जाती है—

अयं निजः परवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

आप का सम्बन्ध सनातनधर्मी, आर्य समाजी, जैन, बौद्ध, फारसी, ईसाई, मुसलमान और शैव—वैष्णवों से समान रूप से है । आप के औदार्य का परिचय हमें भारतीय विद्या-भवन के अध्यापकों, व्यवस्थापकों, एवं छात्रों के संमिश्रण से ज्ञात होता है । विद्या-भवन के अध्यापक वर्ग में, सभी धर्मों और विश्वासों के व्यक्ति पूर्ण सहयोग और सौहार्द के साथ कार्य कर रहे हैं । बंबई प्रान्त में होने पर भी भवन अखिल भारतीय संस्था है । भारत के सभी प्रान्तों के छात्र यहाँ शिक्षा पा रहे हैं । ५० लगभग पाश्चात्य छात्र भी भवन में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं । मुंशी जी की सेवा बहुमुखी एवं व्यापक है, इसका ज्ञान उनके भारतीय विद्या भवन एवं संस्कृत विश्व परिषद के कार्यों से होता है ।

---

१. Willingly willingly I did it, Never will I deny the deed.

डा० विश्वनाथप्रसाद

मुंशी जी और हिन्दी

"विद्या की कोई भी संस्था वास्तविक अर्थ में भारतीय नहीं कही जा सकती जब तक कि उसमें हिन्दी के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध नहीं हो।"[1] यह किसी बहके हुए तथाकथित 'हिन्दीवाले' का उद्गार नहीं, वरन् एक हिन्दीतर भाषाभाषी, अपने युग के एक गण्यमान विद्वान्, साहित्यकार, कलाकार और अग्रणी नेता के गंभीर विचार, अनुभवजन्य चिन्तन और दृढ़ विश्वास की घोषणा है। मुंशी जी बहुत सोच-विचारकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हिन्दी ही हमारे समस्त देश की एकमात्र स्वाभाविक राष्ट्रभाषा है, वैसे ही जैसे अँगरेजी इंगलैंड की और फ्रेंच फ्रांस की। हिन्दी वास्तविक अर्थ में शीघ्र ही समस्त देश की वाणी 'भारती' का रूप ले, जिसे सभी भारतीय सीखें, बोलें, लिखें, जिसमें समस्त भारत साहित्य का सृजन करे। "यदि भारत जीवित, स्वतंत्र और सशक्त बने तो उसे इस 'भारती' द्वारा ही आत्मसिद्धि होगी। इस भाषा का सृजन भारतीयों का ध्येय होना चाहिए।"[2] और इस ध्येय को मुंशी जी ने अपने मन में एक इच्छामात्र के रूप में ही ग्रहण नहीं किया है, वरन् इसे कार्यान्वित करने के लिए वे वर्षों से अथक प्रयत्न करते रहे हैं।

साहित्य-स्रष्टा के रूप में मुंशी जी का वही स्थान है, जो बंकिमचन्द्र, रवीन्द्र और शरत् आदि का है। यदि मुंशी जी हिन्दी में स्वत: कुछ भी नहीं लिखते, कुछ भी नहीं बोलते तो भी हिन्दी पर उनका अनल्प ऋण होता, क्योंकि उन्होंने जिस साहित्य का सृजन किया है वह मूलत: चाहे गुजराती में लिखा गया हो चाहे अँगरेजी में, है वह सभी अर्थों में सार्वदेशीय। और उनके तो प्राय: सभी ग्रन्थों के हिन्दी में अनुवाद भी हो चुके हैं,[3] जिनसे हिन्दी के असंख्य पाठकों को आनंद और उत्साह की तथा अगणित लेखकों को नवीन

---

१. Sparks from a Governor's Anvil, जिल्द—१, पृ० ८०।

२. सन् १९४६ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से भाषण।

३. द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला के प्राय: सभी नाटकों के अनुवाद जैसे पं० रूपनारायण पाण्डेय ने प्रस्तुत किये थे, वैसे ही मुंशी जी के प्राय: सभी ग्रन्थों के सुन्दर अनुवाद हिन्दी में डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' ने किये हैं।

विचारों, भावों और प्रेरणाओं की उपलब्धि हुई है। उन्हें हिन्दी में पढ़ते समय ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि वे मूलतः हिन्दी में नहीं लिखे गए हों। वस्तुतः ये कृतियाँ समस्त भारतीय वाङमय की अमोल निधियाँ हैं।

परन्तु यही नहीं, मुंशी जी तो हिन्दी में स्वतः धाराप्रवाह भाषण करते और लिखते भी हैं।[४] ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से मैंने उनके हिन्दी में दिये गये कुछ भाषणों का टेपरेकार्डों के आधार पर विश्लेषण किया था। उनमें मुझे स्वाभाविक बलाघातों तथा स्वराघातों के विन्यास, वाक्य-खंडों के संघटन तथा ध्वनियों के आरोह-अवरोह की ऐसी मधुर योजना मिली जैसी हिन्दी के विरले भाषणों में मिलती है। हिन्दी के भाषण-साहित्य के सुरक्षण और संग्रहण का कोई क्रम होता तो मैं समझता हूँ कि उसमें मुंशी जी के हिन्दी भाषणों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता।[५]

मुंशी जी को सर्वप्रथम महात्माजी ने हिन्दी की ओर खींचा था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में वे उन्हें अपने साथ ले आये थे। महात्मा जी की हिन्दी की प्रगतिकारिणी अमूल्य देनों में चाहें तो मुंशी जी को भी गिन लें। महात्मा जी की प्रेरणा और निर्देश से मुंशी जी ने प्रेमचंद जी के साथ बंबई से वह सर्वांगसुंदर मासिक पत्र 'हंस' चलाया था, जिसका प्रधान उद्देश्य था हिंदी को अखिल भारतीय अन्तःप्रान्तीय रूप देना। उसमें प्रत्येक प्रादेशिक भाषा का साहित्य हिन्दी और नागरी अक्षरों में प्रकाशित करने का आयोजन था। आज भी उनके द्वारा संचालित 'भारतीय विद्या-भवन' की पाक्षिक पत्रिका 'भारती' के द्वारा हिन्दी में समस्त भारतीय जीवन, साहित्य और संस्कृति की संदेशवाहिनी क्षमता का ही विकास हो रहा है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन से मुंशी जी का लगभग पच्चीस-तीस वर्षों से संबंध रहा है। हिन्दी के विकास और प्रचार के महान् कार्य में वे चिरकाल से लगे हुए हैं। हिन्दी के प्रति उनकी महत्त्वपूर्ण सेवाओं से प्रभावित होकर ही हिन्दीभाषी जनता ने उन्हें १९४६ ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के ३३वें अधिवेशन के, जो उदयपुर में हुआ था, सभापति-पद पर प्रतिष्ठित किया था और इस प्रकार उनके प्रति अपना अविरल आदर व्यक्त किया था। इस अवसर पर हिन्दी के इतिहास और स्थिति के विषय में उन्होंने जो

४. "श्रीनगर से मद्रास तक मैं राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर अपनी टूटी-फूटी हिन्दी बोला हूँ और सबको अपने विचार समझा सका हूँ।" हि० सा० स० के उदयपुर अधिवेशन का भाषण।

५. प्रासंगिक रूप में यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना उपयुक्त है कि मुंशी जी अँगरेजी के बड़े कुशल वक्ता हैं। पटने में एक चित्रकला-प्रदर्शनी के अवसर पर उनका उद्घाटन-भाषण सुनकर मेरे पूज्य पिता श्रीयुत त्रिवेणीप्रसाद जी ने बताया था कि वर्षों बाद उन्हें अँगरेजी में ऐसा सुन्दर भाषण सुनने को मिला था। उन्हें स्व० सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, ऐनिबेसेंट, पं० मदनमोहन मालवीय, डा० सच्चिदानन्द सिन्हा और सरोजिनी नायडू के भाषण सुनने के अनेक अवसर मिले थे। उन सबकी अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। वैसे ही मुंशी जी की वक्तृत्व-कला की भी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण उन्हें उसी कोटि में गिना जाना चाहिए।

अध्यक्षीय भाषण दिया था वह बहुत ही उच्चकोटि का तथा अद्वितीय है। मुंशी जी के और उनकी अमूल्य सेवाओं के प्रति अपने अनुराग और श्रद्धा को व्यक्त करने के लिए ही हिन्दी-प्रेमियों ने उनकी साठवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष्य में उन्हें 'मुंशी अभिनन्दन ग्रन्थ' भेंट किया था, जिसके संयोजना-पत्र पर स्वयं हमारे पूज्य राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने हस्ताक्षर किये थे। यह ग्रन्थ श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री बलवन्त भट्ट और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी के सम्पादन में १९५० ई० में प्रकाशित हुआ था।

सन् १९५३ ई० में हिन्दी की प्रतिष्ठित संस्था भारतीय हिन्दी परिषद् के खुले अधिवेशन के सभापति-पद से भाषण करते हुए मुंशी जी ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा था—

"हिन्दी ही हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिशाली और प्रधान माध्यम है। यह किसी प्रदेश या क्षेत्र की भाषा नहीं, बल्कि समस्त भारत की 'भारती' के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए।"

इस विचार को उन्होंने वर्षों से अपने हृदय में पाला है। विदित है कि वे अपने देश के और युग के प्रमुख विचारकों में से हैं। हिन्दी के विषय में वे वर्षों से बराबर सोचते-विचारते रहे हैं। बहुत सोच-समझकर वे कुछ निश्चित परिणामों पर पहुँचे हैं और उन्हीं को क्रियमाण करने के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहे हैं। इस सम्बन्ध में जब वे अपने निर्णयों और सिद्धान्तों को तर्कसम्मत युक्तियों के साथ प्रस्तुत करने लगते हैं तो उनसे सहमत न होने वाले कभी-कभी क्षुब्ध-से हो उठते हैं। मुंशी जी के विचारों में जैसा बल है, वैसी ही शक्ति उनकी भाषा में भी है। एक कुशल वकील की प्रखर योग्यता का प्रयोग करते हुए वे जब अपने पक्ष की जोरदार ढंग से पुष्टि करने लगते हैं तो विचारान्तर वालों में स्वभावतः एक झिझक-सी, एक तिलमिलाहट-सी पैदा हो जाती है और कभी-कभी तो कुछ अनावश्यक गलतफहमी भी। पर उनके सदाशय को समझ लेने पर यह गलतफहमी आप ही आप दूर भी हो जाती है।

भारतीय संविधान में हिन्दी को जो स्थान मिला, उसमें मुंशी जी का कितना बड़ा हाथ था, यह शायद बहुत कम लोगों को मालूम होगा। यों तो संविधान के प्रायः सभी अंशों के निर्माण में मुंशी जी ने प्रमुख भाग लिया था और उनके कानूनी ज्ञान तथा राष्ट्रीय भावना ने उसके रूप-विकास में प्रभावशाली योग दिया था, परन्तु अध्याय—१७ जिसके अन्तर्गत राजभाषा तथा संघ की भाषा का निर्णय किया गया है तथा अनुसूची—७ और ८ के निर्माण में तो उनकी देन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। संयोग ऐसा हुआ कि उस समय कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारमैया अस्वस्थ हो गये और उनके स्थान पर संविधान सभा में कांग्रेस पार्टी के अध्यक्ष के रूप में काम करने के लिए मुंशी जी ही नियुक्त किये गये। संविधान सभा के सदस्यों के बीच संघ की भाषा के संबंध में बहुत अधिक मतभेद था। एक वर्ग ऐसा था जो हिन्दी को तत्क्षण राजभाषा और राजभाषा ही नहीं, सीधे उच्च न्यायालयों की भी भाषा बना देने का समर्थक था। इसके विपरीत हिन्दीतर भाषाभाषी दाक्षिणात्य सदस्यों का एक दूसरा वर्ग था जो अँगरेजी को ठीक उसी आसन पर प्रतिष्ठित रखना चाहता था जो उसे स्वतंत्रता के पहले प्राप्त

था। वे हिन्दी को केवल द्वितीय भाषा के रूप में अध्ययन किये जाने के लिए स्वीकार करना चाहते थे; पीछे धीरे-धीरे विकास की अवस्थाओं को पार करती हुई जब वह कभी समर्थ होती तो किसी अनिश्चित काल में उसे राजभाषा के रूप में स्वीकार किया जाता। एक तीसरा वर्ग वह था जिसका विचार था कि हिन्दी कुछ अंशों में जब इस योग्य हो जाय कि जो काम अब तक अँगरेजी के माध्यम से होते थे उन्हें वह सम्पन्न कर सके तभी अँगरेजी को हटाकर हिन्दी को अपनाया जाय। इन विभिन्न विचारों को लेकर पार्टी की जो बैठकें हुआ करती थीं उनमें गरमागरम बहसें छिड़ जाया करती थीं तथा मत-मतान्तरों के आँधी और तूफान खड़े हो जाते थे। ऐसे अवसरों पर हिन्दी के समर्थकों तथा विरोधियों के बीच ऐक्य-भंग न होने देने के लिए मुंशी जी को अपने पूर्ण बुद्धि-बल और चातुर्य का प्रयोग करके सद्भाव और समझौता बनाये रखना पड़ता था। एक ओर मुंशी जी के हिन्दी-प्रेम का चिरकालिक आदर्श था और दूसरी ओर अँगरेजी को तत्काल हटा देने के मार्ग में कठोर वास्तविकता की कठिनाइयाँ थीं। अन्ततोगत्वा मुंशी जी तथा उनके कुछ मित्रों ने समझौते का एक सूत्र निकाला, जिसके अनुसार संविधान सभा ने संविधान के १७वें भाग की धाराओं के अनुसार देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को संघ की राजभाषा के रूप में स्वीकार किया तथा राजकीय प्रयोजनों के लिए अँगरेजी के स्थान में उसके प्रयोग के निमित्त १५ वर्षों की अवधि निर्धारित की। इस निर्णय में अपने एक व्यक्तिगत बातचीत के क्रम में मुंशी जी ने मुझे यह बताया था कि किस प्रकार अत्यन्त कौशल से अनुनय-विनय, मान-मनुहार आदि का प्रयोग करके वे स्व० श्यामाप्रसाद मुखर्जी तथा श्री गोपालस्वामी अयंगर को अपने पक्ष में मिला सके थे। संविधान-सभा ने जब उनके सम्मत समझौते को स्वीकार किया तो उस समय उसे मुंशी-गोपालस्वामी सूत्र के नाम से ही अभिहित किया गया था।

संविधान में इस बात का भी ध्यान रक्खा गया है कि हिन्दी केवल शासन की ही नहीं वरन् शनैः शनैः विकास प्राप्त करके उच्चतम और उच्च न्यायालयों की भी भाषा हो सके (भाग—१७, अध्याय—३)। इन अभिप्रायों की सिद्धि के लिए हिन्दी के विकास के सम्बन्ध में अनुच्छेद ३५१ में यह निदेश दिया गया है—"हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि करना, उसका विकास करना ताकि वह भारत की सामाजिक संस्कृति के सब तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम हो सके, तथा उसकी आत्मीयता में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्थानी और अष्टम अनुसूची में उल्लिखित अन्य भारतीय भाषाओं के रूप, शैली और पदावलि को आत्मसात् करते हुए तथा जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भंडार के लिए मुख्यतः संस्कृत से तथा गौणतः वैसी उल्लिखित भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करना संघ का कर्त्तव्य होगा।"

इस अनुच्छेद में उन दो मूलभूत तथ्यों पर जोर दिया गया है, जिनकी ओर वर्षों से मुंशी जी हमारा ध्यान आकृष्ट करते रहे हैं। एक तो यह कि हिन्दी का विकास अखिल भारतीय स्तर पर, समस्त भारत की भारती के रूप में होना चाहिए और दूसरा यह कि इस विकास-प्रक्रिया में हिन्दी के स्वाभाविक रूप—हिन्दीपन पर किसी प्रकार का आघात न पहुँचे।

सन् १९४६ में ही उदयपुर के सम्मेलन-भाषण में मुंशी जी ने कहा था कि "राष्ट्रभाषा हिन्दी एकमात्र संयुक्त प्रान्त की स्वभाषा नहीं है, राजस्थान की भी है।......हिन्दी को यदि राष्ट्रभाषा होना है तो राष्ट्र की अन्य भाषाओं की शक्ति और सौन्दर्य इसमें लाना चाहिए।" कई मंचों से वे इस बात की बार-बार आवृत्ति करते रहे हैं कि "हमारी राष्ट्रभाषा का बाना हिन्दी ही हो सकती है; उसमें ताना प्रान्तीय भाषाओं का होगा और दोनों की एक सूत्रता संस्कृत द्वारा रक्षित होगी। स्वतंत्र भारत के जीवन और संस्कृति के निर्माण करने तथा उसे पुष्ट करने के लिए वह वस्त्र तो हमें बुनना ही पड़ेगा। लेकिन यह वस्त्र एक विद्वन्मंडली या एक भाषा संप्रदाय के प्रयत्नों द्वारा नहीं बुना जा सकता। उसके बुनने वाले तो बाने और ताने का एक साथ उपयोग करने वाले ही होंगे। जैसे-जैसे हम हिन्दी का उपयोग करते जायँगे, वैसे-वैसे उसमें संस्कृत की मर्मस्पर्शिता, गुजराती की सरलता और चुटीलापन, बँगला का माधुर्य और तमिल की प्रौढ़ता आती जायगी।"[६]

हिन्दी को अपनी अभिव्यंजना-शक्ति के विकास के लिए संस्कृत तथा अपनी सभी प्रादेशिक भगिनी भाषाओं से नये-नये शब्दों, मुहावरों और शैली की प्रणालियों को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करना पड़ेगा। 'स्वाभाविक रूप से' का अर्थ यह है कि जैसे-जैसे विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं को बोलने वाली जनता हिन्दी का व्यवहार करने लगेगी और जसे-जैसे उनकी संस्कृति और साहित्य से हिन्दी का सम्पर्क बढ़ता जायगा, वैसे-वसे हिन्दी उनकी अभिव्यक्ति के साधनों को भी आत्मसात् करती जायगी। भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार यह विकास की सहज प्रक्रिया है। जबर्दस्ती की कृत्रिम ठूँस-ठाँस से गढ़ी हुई भाषा किसी जीवित और विशाल जनसमाज की भावनाओं का सक्षम माध्यम कदापि नहीं हो सकती।

हिन्दी का प्रचार और व्यवहार देश के सभी भागों में और जन-समाज के सभी वर्गों में होना चाहिए, होगा और होता जा रहा है। हमारे बहुविध राष्ट्रीय प्रयोजनों की सिद्धि के लिए विभिन्न भाषा-क्षेत्रों के जन-साधारण की बोलचाल में ज्यों-ज्यों उसका व्यवहार बढ़ता जायगा त्यों-त्यों उसमें स्थानीय शब्दावली आदि के आवश्यक मिश्रण से जनपदीय या क्षेत्रीय बहुरूपता का विकास होता जायगा। यह एक स्वाभाविक बात है। बंगाल की हिन्दी का रूप वही नहीं होगा जो पंजाब की हिन्दी का होगा। इसी प्रकार पंजाब की हिन्दी बंबई और मद्रास की हिन्दी से भिन्न होगी। जैसे स्काटलैंट, वेल्स, आयर्लैंड, अमेरिका और दक्षिणी इंगलैंड की अँगरेजी के रूपों में भेद है, वैसे ही लोक-व्यवहार की हिन्दी में भी भेद होंगे। ये भेद और स्पष्ट करने हों तो भारत और आस्ट्रेलिया की अँगरेजी का उदाहरण दिया जा सकता है। मुंशी जी के अनुसार जैसे अपभ्रंश के सत्ताईस रूप थे, वैसे ही शुरू में हिन्दी के भी सत्ताईस रूप हो सकते हैं। परन्तु वे डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के समान इस पक्ष में नहीं हैं कि हिन्दी के किसी विकृत बाजारू रूप को ही लेकर उसी का जबर्दस्ती प्रचलन कर दिया जाय। हिन्दी के इन बाजारू

---

६. गुजराती साहित्य-परिषद्-सम्मेलन, १९ वाँ० अधिवेशन, १९५५ ई० का अध्यक्षीय भाषण।

या गँवारू रूपों में कोई एक निश्चित समान व्यवस्था तो होगी नहीं। पंजाब की 'ने'—बहुल हिन्दी बंगाल की 'ने' रहित हिन्दी से सर्वथा भिन्न होगी। ऐसी दशा में किसी एक देशीय बाजारू रूप को लेकर सब पर कृत्रिम रूप से उसे मढ़ डालने की कल्पना नितान्त अव्यावहारिक और अवैज्ञानिक है। मुंशी जी का तो मन्तव्य यह है कि हिन्दी के उपर्युक्त लोक-प्रचलित अपरिहार्य व्यावहारिक रूप-भेदों के बावजूद भी हमें उसके उस व्यापक व्यवस्थित रूप-विकास की ओर ही सजग ध्यान केन्द्रित करना होगा जो हमारे उच्च वैज्ञानिक, कलात्मक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक विचारों और भावनाओं का वाहन बन सके। इस रूप में हिन्दी में वही शब्दावली, मुहावरे आदि टिक सकेंगे जो देश के अधिकांश भागों की जनता के लिए ग्राह्य हों।

मुंशी जी द्वारा ऐसा प्रस्ताव कभी नहीं प्रस्तुत किया गया, जिससे हिन्दी के दो भिन्न रूपों की कल्पना का भ्रम हो सके—एक रूप तो वह जो हिन्दी-क्षेत्रों की हिन्दी हो और अन्य रूप वह या वे जो हिन्दीतर क्षेत्रों की हिन्दी या हिन्दियाँ बने या बनें। १९५३ ई० में पूना विश्वविद्यालय ने विभिन्न विश्वविद्यालयों के विद्वानों को निमंत्रित करके एक कान्फरेंस की आयोजना की थी। उस समय ऐसा लगता था मानो यह मतिभ्रम हमारे कई आदरणीय बन्धुओं के मन में व्याप्त हो। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों की हिन्दी एक हो और हिन्दीतरभाषी क्षेत्रों की हिन्दी उससे भिन्न हो—इस भ्रान्त धारणा को मुंशी जी हिन्दी के विकास के लिए सब से अधिक घातक समझते हैं। वस्तुतः समस्त देश की केवल एक ही हिन्दी हो सकती है और उसका सहज समान, व्यापक रूप ही अपनाया जा सकता है। इतरेतर प्रदेशों के अनुसार भिन्नता के लक्षणों को प्रोत्साहन देना हिन्दी के लिए खतरनाक है, क्योंकि यदि प्रत्येक प्रदेश अपनी-अपनी पृथक् हिन्दी का विकास करने लगे तो एक नहीं अनेक भाषाएँ, अधिक हिन्दियाँ बन जायँगी और हम कहीं के न रह जायँगे। इसी प्रकार यदि हिन्दी क्षेत्रों में यह भावना जाग्रत हुई कि उनके द्वारा व्यवहृत हिन्दी ही आदर्श और शुद्ध हिन्दी है जिसका अन्य प्रदेश सदा अनुसरण करते रहें तो यह भी एक भाषायी एकाकीपन का रोग बन जायगा जिसे अनुदार लोग प्रायः अन्य भारतीय भाषाओं पर हिन्दी का साम्राज्यवाद कह सकते हैं। यह तरीका भी हिन्दी के मूल्य और व्यापकता के लिए उतना ही खतरनाक सिद्ध हो सकता है। हमारे राजकीय, वैज्ञानिक या शैक्षणिक क्षेत्रों में बरती जाने वाली हिन्दी का राष्ट्रीय रूप कदापि ऐसा नहीं हो सकता कि वह हिन्दी-क्षेत्रों में व्यवहृत हिन्दी से भिन्न हो। देशव्यापी हिन्दी का यह विकसित रूप हिन्दी-क्षेत्रों की शिष्ट जन-मंडली की जो हिन्दी है उससे अभिन्न होगा। हमारे संविधान के ३५१वें अनुच्छेद में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि हिन्दी में हिन्दीतर भाषाओं की शब्दावलियों, अभिव्यक्ति की शैलियों और रूपों को वहीं तक आत्मसात् करने का प्रयत्न किया जायगा जहाँ तक कि उनके द्वारा हिन्दी की आत्मीयता (genius)—उसके स्वाभाविक स्वतंत्र रूप—उसके हिन्दीपन—पर किसी प्रकार का आघात न पहुँचने पावे।

अतएव हिन्दी की समृद्धि और सामर्थ्य के विकास में मनोनुकूल सफलता तभी मिल पाएगी जब हिन्दी-क्षेत्रों के विद्वान् और साहित्यकार, जो हिन्दी को जीवित भाषा के

रूप में अनायास व्यवहृत करते हैं, इस दिशा में तत्पर हो जावें। इसका उत्तरदायित्व प्रधान रूप से उन्हीं पर निर्भर है। इस बात की ओर हिन्दी-क्षेत्र के विद्वानों का ध्यान मुंशी जी बराबर आकृष्ट करते रहे हैं।

यह कार्य केवल हिन्दी के प्रचारात्मक उद्योगों से सिद्ध होने वाला नहीं है। प्रचार और विज्ञापन में बहुत गहराई नहीं होती, इस बात को हमें समझ लेना चाहिए। आज भाषा के प्रचार से अधिक हमें उसके विकास की ओर ध्यान देना है। इसके लिए सतत साधना, गम्भीर स्वाध्याय, अध्ययन-अध्यापन, अनुशीलन-अनुसंधान और साहित्य-निर्माण की ही विशेष आवश्यकता है। मुंशी जी इसी पक्ष पर बल दिया करते हैं।

हिन्दी के विकास के साधनों का विचार करते समय मुंशी जी तीन-चार बातों को प्रमुख स्थान देते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि हिन्दी का संबंध संस्कृत से घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहे। मुंशी जी की दृष्टि में हिन्दी राष्ट्रभाषा इसलिए नहीं बनी है कि यह भारतीय भाषाओं में सर्वोत्तम है और न इसलिए कि यह बहुसंख्यक लोगों द्वारा बोली जाती है। इसका वास्तविक कारण तो यह है कि हिन्दी संस्कृत से प्रभावित है। संस्कृत के ऐसे बने-बनाये शब्दों की, जो सभी भारतीय भाषाओं में एक-से व्यवहृत हैं और बोधगम्य हैं, लघुतम समान मात्रा हिन्दी में ही पाई जाती है।[७] अतः संस्कृत के के संबंध-सूत्र के द्वारा ही हिन्दीतर प्रदेशों के लोगों के लिए हिन्दी को सुगम और सुबोध बनाया जा सकता है। संस्कृत से ही शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करके हिन्दी समृद्ध बन सकती है। "यदि हिन्दी संस्कृतमय न बने तो वह भारत के प्राण व्यक्त न कर सकेगी, भारत की सरसता को शब्ददेह न दे सकेगी, शिष्ट साहित्य का साधन न बन सकेगी और न हमारे प्रान्तीय साहित्य का समन्वय कर भारतीय साहित्य तथा जीवन की नव संघटना ही कर सकेगी।"[८] इसीलिए हमारे संविधान में भी स्पष्ट बताया गया है कि संस्कृत के स्रोत का सहारा लेकर ही हिन्दी राष्ट्रभाषा बन सकती है।

दूसरी बात जिसे मुंशी जी हिन्दी के विकास के लिए आवश्यक समझते हैं, वह है हिन्दी का अँगरेजी से सम्पर्क। अँगरेजी एक तरह से संसार की अधिक से अधिक वैभवशालिनी और शक्तिपूर्ण भाषा है। यह तो मानना ही पड़ेगा कि आज भी भारतीय विद्वत्ता, कानूनी ज्ञान, उच्चस्तरीय प्रशासनिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क का माध्यम अँगरेजी ही बनी हुई है। उससे सहसा हिन्दी का सम्बन्ध विच्छिन्न कर देने की बात सोचना हिन्दी के विकास के लिए अत्यन्त क्षतिकारक होगा। पिछले सौ वर्षों से अँगरेजी के संसर्ग से हिन्दी भाषा और साहित्य ने जो लाभ उठाया है, उस प्रक्रिया को अभी आगे भी जारी रखना आवश्यक है जिससे हिन्दी समस्त राष्ट्रीय जीवन-विचारों का माध्यम बनने के लिए और भी शक्ति अर्जित कर सके। क्षोभवश यदि अँगरेजी से सारा सम्बन्ध तोड़ कर हिन्दी की विद्वत्ता का विकास किया जायगा तो उसमें अलंकृत और साहित्यिक शोभा का सँभार कितना ही बढ़ जाय पर वह वर्त्तमान युग की विविध आवश्यकताओं के अनुकूल निर्दिष्ट और लचीले ढंग की नहीं बन सकती।

---

७. भारतीय हिन्दी परिषद् के पटना अधिवेशन का भाषण।

८. हिन्दी साहित्य सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन का भाषण।

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि केवल कुछ अँगरेजी शब्दों का हिन्दी में अनुवाद कर देने से हिन्दी की आवश्यकता की पूर्ति हो जायगी। परन्तु यह तना आसान काम नहीं है। केन्द्रीय सरकार स्वयं अँगरेजी की पारिभाषिक शब्दावली के पर्याय हिन्दी में तैयार करा रही है। अत: इस सम्बन्ध में जो भी कार्य हो वह उसी के जरिये होना चाहिए। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि केवल कोषों में स्थान पा लेने से ही शब्दों में जीवन नहीं भरा जा सकता। शब्दों में प्राण का संचार तो तब होता है जब उनका व्यवहार किया जाय। इसलिए यह भी आवश्यक है कि ऐसे शब्दों का समस्त देश में समान रूप से व्यवहार हो। अन्यथा इस दिशा में हमारे प्रयास वैसे ही निरर्थक होंगे जैसे उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद के प्रयास निष्फल हो गये। उक्त विश्वविद्यालय में प्रचुर द्रव्य और तीस वर्षों का प्रयास लगाकर अँगरेजी से अनुवाद का एक विशाल आयोजन खड़ा किया गया था, जिसके फलस्वरूप अँगरेजी से अनुवाद करके अरबी के आधार पर ६०,००० नये शब्द गढ़े गये थे। पर उन कृत्रिम शब्दों से न तो उर्दू भाषा का कुछ विकास हुआ और न कोई अन्य प्रयोजन ही सिद्ध हुआ।

यह ठीक है कि अच्छे अनुवादों की भी हमें आवश्यकता है। किसी भी भाषा में श्रेष्ठ ग्रन्थों के अनुवाद उसे सम्पन्नता प्रदान करते हैं। परन्तु केवल अनुवादों से ही हमारा कार्य सिद्ध नहीं होता। हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन के लिए यह आवश्यक है कि उसके साहित्यकार, अध्यापक और विचारक अगले कुछ वर्षों तक आधुनिक विचार, भाषा और अभिव्यक्ति का ज्ञान स्वयं प्राप्त करने के उद्देश्य से अँगरेजी भाषा से अपना सम्पर्क बढ़ाएँ और उसकी प्रेरणा के स्रोतों को निश्चय ही अपनाए रहें। इसके अतिरिक्त हमें अन्य विदेशी भाषाओं से भी स्वच्छन्द सहायता लेनी चाहिए, जिससे हिन्दी आधुनिक जीवन के सभी प्रयोजनों की उपयुक्त विविधता, सामर्थ्य तथा समृद्धि का पर्याप्त अर्जन कर सके। इस संग्राहिका-शक्ति से हिन्दी की क्षमता बढ़ेगी और वह हमारे समस्त नवीन विचारों और सौन्दर्य-भावनाओं को व्यक्त कर सकेगी।

इसके अतिरिक्त मुंशी जी हिन्दी के विकास के लिए भारतीय भाषाओं और साहित्य का ज्ञान भी नितान्त अपेक्षित समझते हैं। तभी यह संभव होगा कि हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया जा सके और उनके पारस्परिक संबंधों को समझा जा सके। तभी यह ज्ञात हो सकेगा कि कौन से शब्द रूप, मुहावरे तथा कहावतें समस्त भारत में समान रूप से प्रचलित हैं और किनमें कौन से ऐसे सबल तत्त्व हैं, जिन्हें व्यवस्थित ढंग से अपनाया जा सकता है। हिन्दी और हिन्दीतर भाषाओं में जो समानान्तर आन्दोलन चले हैं उन्हें समझे बिना न तो हम भारतीय संस्कृति की परम्परा को हृदयंगम कर सकते हैं और न उन देशव्यापी भावनाओं का कुछ अन्दाज ही पा सकते हैं, जिनसे हमारा साहित्यिक कलेवर सदा अनुप्राणित होता रहा है। हिन्दी की शक्ति और समृद्धि की दृष्टि से उन समान प्रवृत्तियों की परख होनी चाहिए जो उसके अपने प्राचीन साहित्य में एवं उसकी

अन्यान्य भगिनी भाषाओं तथा उनके साहित्यों में पाई जाती हैं। साथ ही हिन्दी लोक-साहित्य की सहज सुषमाओं तथा बोलचाल की भाषा के सजीव शब्दों और उनकी ताजगी से वंचित न होने पावे, इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के विकास के लिए यह आवश्यक है कि हमारे विश्वविद्यालयों में भाषाविज्ञान के उच्च अध्ययन-अध्यापन की ओर समुचित ध्यान दिया जाय। हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं के सम्बन्ध-तत्वों का वैज्ञानिक ढंग से अनुसंधान होना चाहिए। इसी प्रकार तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन और अनुशीलन से हमें आधुनिक तथा प्राचीन भारतीय वाङ्मय की उन परम्पराओं को पकड़ना होगा, जिनसे हम अपने साहित्य के भावी विकास के मार्ग को आलोकित कर सकें।

मुंशी जी की यह निश्चित धारणा है कि प्राथमिक तथा माध्यमिक स्तरों में तो शिक्षा का माध्यम मातृभाषा तथा प्रादेशिक भाषाएँ हो सकती हैं, पर विश्व-विद्यालयों की उच्चस्तरीय शिक्षा का माध्यम अंगरेजी के स्थान में केवल हिन्दी ही होनी चाहिए, अन्य कोई प्रादेशिक भाषा नहीं। जिस भाषा को संघ की राजभाषा का पद दिया गया है वही भाषा समस्त देश में उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में भी व्यवहृत होनी चाहिए। ऐसा होगा तभी वह प्रभावशाली राजभाषा बन सकेगी, अन्यथा नहीं। हिन्दी को छोड़कर विभिन्न भाषा-क्षेत्रों में विभिन्न प्रादेशिक तथा जनपदीय भाषाओं को यदि उच्चतर शिक्षा का माध्यम बनाया गया तो इसका परिणाम यह होगा कि न तो एक स्थान के विद्यार्थी दूसरे स्थान में जाकर उच्च शिक्षा का लाभ उठा सकेंगे और न एक स्थान के सफल विद्वान् शिक्षक की विशेषज्ञता और अनुभव का लाभ इतर भाषाभाषी स्थानों को उपलब्ध हो सकेगा और इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में एक प्रकार की संकीर्ण सीमाओं की अनुल्लंघनीय दीवारें खड़ी हो जायँगी। इसका बड़ा भयंकर नतीजा होगा। प्रादेशिक भाषाओं का मोह हमारे सामने जातिवाद, वर्गवाद आदि के समान ही भाषावाद (जिसे मुंशी जी अँगरेजी में linguism कहते हैं) का एक नया भूत लाकर खड़ा कर देगा। किसी से छिपा नहीं है कि इस भूत के उत्कट उत्पातों के दृष्टान्त किस प्रकार हमारे सामने प्रकट हो रहे हैं।

अँगरेजी के स्थान में हिन्दी को उच्चतर शिक्षा का माध्यम बनाने के विरोध में प्रायः यह कहा जाता है कि अँगरेजी एक अन्तर्राष्ट्रीय और समृद्ध भाषा है। हिन्दी में वैसा विस्तार नहीं, वैसी सामर्थ्य नहीं, ज्ञान के आधार नहीं, ग्रन्थ नहीं कि वह कभी अँगरेजी का स्थान ले सके। इसके समाधान में मुंशी जी का कहना है कि ठीक है, हिन्दी में अभी ऐसी क्षमता नहीं कि वह तुरन्त अँगरेजी का स्थान ले सके; परन्तु समुचित प्रयत्न करके उसमें ऐसी शक्ति और प्रकाशन के साधनों का विकास किया जा सकता है कि वह कुछ समय में अँगरेजी की बहुत कुछ समकक्षता प्राप्त कर ले। इसके लिए कुछ वर्षों तक, संभव है एक पीढ़ी तक भी हमें रुकना पड़े और तब तक अँगरेजी के माध्यम से ही काम चलाना पड़े तो इसमें बाधा नहीं माननी चाहिए। अँगरेजी को सहसा दूर कर देने में यह भूल है कि उसके स्थान में विश्वविद्यालयों

की शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रादेशिक भाषाओं को ही प्रश्रय दिया जाने लगेगा। इससे न केवल हमारा ज्ञान कुंठित और दुर्बल हो जायगा, बल्कि हिन्दी और अहिन्दी भाषी राज्यों में एक गहरी खाई बन जायगी। "स्वयं हिन्दी के विकास में बाधा पड़ेगी और राष्ट्रभाषा के रूप में उसकी अन्तिम स्वीकृति में विलंब हो जायगा।" नये भाषावाद की जघन्य दुर्भावनाओं से राष्ट्रीयता का हनन होगा।

मुंशी जी के इन विचारों से हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं के समर्थकों और प्रेमियों के सामने कुछ अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न उठ खड़े होते हैं। मुंशी जी से यह बात छिपी नहीं है। वे स्वयं व्यक्तिगत बातचीत के सिलसिले में एक बार बता रहे थे कि किस प्रकार एक ओर हिन्दी के हिमायती उनसे नाराज़ हैं और दूसरी ओर उनके अपने ही प्रदेश के गुजराती भाषा के कई अनुरागी भी असंतुष्ट हो गए हैं। वे इधर से भी कोपभाजन हुए और उधर से भी। जिस समय मुंशी जी यह बता रहे थे उस समय ऐसा लगता था मानो उनकी वाणी में कबीर की इस मार्मिक उक्ति की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ रही हो :—"साँच कहत जग मारन धावै, झूठे जग पतियाई।" हिन्दी के पक्ष से मुंशी जी के विरोध में यह कहा जाता है कि जब तक उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी का प्रयोग होगा ही नहीं, तब तक उसकी सामर्थ्य का विकास कैसे होगा। बिना पानी में उतरे तैरना आवेगा कैसे ? तैरना आ जाने के बाद पानी में उतरने की बात जैसे निरर्थक है, वैसे ही हिन्दी का विकास हो जाने के पश्चात् माध्यम के रूप में उसके प्रयोग की भी बात है। अँगरेज़ी के स्थान पर हिन्दी का प्रयोग तो अविलंब प्रारंभ कर देना चाहिए। फिर तो आवश्यकता की प्रेरणा, परिस्थिति का तकाजा हमें स्वयं उसके विकास की समस्याओं को हल करने के लिए उत्तेजित करेगा। इस उम्मीद में बैठे रहने से कि जब हिन्दी में अँगरेज़ी की-सी योग्यता और समृद्धि का विकास हो जायगा तभी उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में उसका प्रयोग होगा, इस समस्या का समाधान कभी हो ही नहीं सकता। यदि हम इस आशा में बैठे रहते कि जब हमारे देशवासियों को प्रशासनिक योग्यता और जनतन्त्र-प्रणाली का पूरा अनुभव हो जायगा तभी अँगरेजों से कहा जायगा कि 'भारत छोड़ो !', तब तो मिल पाती हमें स्वतंत्रता ! इसी प्रकार अपनी भाषागत स्वाधीनता के लिए भी हमें अँगरेज़ी का मोह छोड़कर हिन्दी को अविलम्ब अपनाना चाहिए। "अँगरेजी बनी रही तो अँगरेजियत भी कायम रहेगी, तब अँगरेजों के जाने का ही क्या अर्थ रहा !" ये राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन के शब्द हैं जो उन्होंने हाल में हिन्दी-दिवस पर आयोजित एक समरोह में व्यक्त किये थे।

दूसरी ओर प्रादेशिक भाषाओं के पक्ष का कहना है कि यदि अँगरेजों के चल जाने के बाद और स्वतन्त्रता मिल जाने पर भी अँगरेजी का ही राज्य बना रहा अथवा अँगरेजी के साम्राज्य के स्थान में बस अब हिन्दी के साम्राज्य की स्थापना हो गई तो इससे देश के विभिन्न भागों की जनता का कौनसा हित होता है। जब तक उच्च ज्ञान का माध्यम प्रादेशिक भाषाएँ नहीं बनतीं तब तक जनता की दृष्टि से शिक्षा का प्रसार और विकास कैसे संभव है ? विश्वविद्यालयों के ज्ञान को यदि अधिक-से-अधिक जनवर्ग

में वितरित करना है तो माध्यम के रूप में भिन्न-भिन्न राज्यों में उन-उन क्षेत्रों की भाषाओं का ही व्यवहार होना चाहिए। इस पक्ष के समर्थकों में स्वतः हिन्दी के भी अनेक हितैषी हैं। उनका कहना है कि अँगरेजी तो एक विदेशी भाषा थी, जिसे विदेशी शासकों ने सारे देश की जनता पर उसकी सुविधा-असुविधा का ख्याल किये बिना केवल अपनी सुविधा की गरज से जबर्दस्ती लाद दिया था। पर हिन्दी अपने स्वाधीन देशवासियों के सिर पर उनकी इच्छा के प्रतिकूल क्यों लादी जाय। राष्ट्रहित की दृष्टि से वे थोड़ी-बहुत हिन्दी का अध्ययन कर लें जिससे वे अन्तः प्रान्तीय काम-काज में उसका व्यवहार कर सकें। बस इतना ही पर्याप्त है। माध्यम के रूप में तो विभिन्न प्रदेशों के लोगों को अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषाओं के व्यवहार का ही स्वच्छन्द अधिकार होना चाहिए। इसके विपरीत माध्यम के रूप में हठात् हिन्दी को सर्वत्र स्थापित करने की बात करना हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषा-भाषियों के बीच व्यर्थ का विरोध और मनमुटाव खड़ा करना है। केवल हिन्दी-क्षेत्र में हिन्दी माध्यम का प्रयोग हो और हिन्दीतर क्षेत्रों में उनकी अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं का। यों अपनी इच्छा से यदि कोई प्रदेश हिन्दी माध्यम का प्रयोग करना चाहे तो उसे इसकी स्वच्छन्दता और सुविधा रहनी चाहिए। पर इस विषय में किसी प्रकार का हठ या आग्रह तो कभी नहीं होनी चाहिए।

परन्तु मुंशी जी को इस हिन्दी विमुख भावना में राष्ट्रीयता की दृष्टि से विनाश के ही लक्षण दिखाई देते हैं। वे तर्कपूर्वक इस प्रादेशिकतावादी मत का खंडन करते हैं। इस संबंध में गुजराती साहित्य परिषद् सम्मेलन के १९ वें अधिवेशन, १९५५ ई० में उन्होंने जो भाषण दिया था उसके निम्नलिखित अंश उद्धरणीय हैः—

"मेरी सम्मति में हिन्दी को उच्च कक्षाओं के माध्यम के रूप में स्वीकार करना गुजराती से विकास के लिए आवश्यक है। क्या गोवर्धनराम, नरसिंह राव और नागलाल के संस्कृत तथा अँगरेजी पढ़ने से गुजराती का विकास रुक गया? यदि गांधी जी, महादेव भाई और काका कालेलकर ने संस्कृत, अँगरेजी, मराठी आदि भाषाओं का अध्ययन न किया होता तो क्या वे गुजराती की इससे अच्छे ढंग से सेवा कर सकते थे?"

सारे देश की उच्चतर शिक्षा के लिए हिन्दी माध्यम का इतना आग्रह-पूर्ण और सबल समर्थन मैंने अब तक और किसी के मुँह से नहीं सुना था। खास करके आजकल की बढ़ती हुई भाषावादी परिस्थिति में किसी हिन्दीतरभाषी क्षेत्र में यह कहने के लिए आसाधारण साहस चाहिए कि उस प्रदेश की भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम न हो, वरन् उसके स्थान पर हिन्दी का ही माध्यम होगा उसके लिए हितकर है। परन्तु मुंशी जी की यही विशेषता है कि अपने गहरे चिंतन और अनुभव से एक बार वे जिस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं उसे सत्य का तकाजा समझकर वे पूर्ण नैतिक बल के साथ निर्भय, निःशंक कहने में और लिखने में कभी हिचकते नहीं।

हिन्दी माध्यम तथा मातृभाषा माध्यम की विवादग्रस्त समस्या के समाधान के सम्बन्ध में आचार्य विनोबा की निम्नलिखित सम्मति भी विचारणीय है, जिसे उन्होंने अभी हाल में प्रकाशित किया है—

"शिक्षाशास्त्री सूक्ष्म विचार करें तो उन्हें स्वयं ध्यान में आ जायगा कि आरंभ से अंत तक मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम बननी चाहिए। सिर्फ कालेज में यह सुविधा हो कि दूसरी युनिवर्सिटी का प्रोफेसर वहाँ की मातृभाषा में न बोलकर हिन्दी में बोले तो विद्यार्थी उसे समझ जायँ। मेरा तो यह मत है कि जिस तरह मानव दो-दो आँखों से देखता है उसी तरह हर भारतीय को मातृभाषा और राष्ट्रभाषा दोनों आनी चाहिएँ।"

सन् १९४७ तक हिन्दी अथवा देशीभाषाओं के विरुद्ध विदेशी भाषा अँगरेजी के समर्थन में कुछ कहने का साहस कोई नहीं करता था। पर अब तो आश्चर्य है कि इन विचारों के प्रतिकूल एक तीसरी आवाज यह भी सुनाई पड़ने लगी है कि उच्चस्तरीय शिक्षा के माध्यम के रूप में तो सदा या दीर्घ अनिश्चित काल अर्थात् कम-से-कम अभी सौ-डेढ़ सौ वर्षों तक अँगरेजी का ही व्यवहार होते रहना चाहिए, क्योंकि वह संसार की एक श्रेष्ठ भाषा है और उसके माध्यम से हम ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में सारे संसार से अपना सीधा सम्पर्क बनाये रह सकेंगे। हिन्दी या किसी भी देशी भाषा के संबंध में यह ख्याल करना कि वह ज्ञान-विज्ञान के वैभव और प्रकाशन में अँगरेजी की समकक्षता प्राप्त कर सकेगी, अभी वर्षों तक के लिए एक असंभव कल्पना है। इसलिए यदि अँगरेजी का सहारा छूटा तो हमारे ज्ञान का स्तर गिर जायगा और विज्ञान के क्षेत्र में तो बहुत पिछड़ जायँगे।

किन्तु अँगरेजी के तरफदारों को यह भी तो सोचना चाहिए कि किसी भी स्वतंत्र देश में किसी भी स्तर पर विदेशी भाषा माध्यम के रूप में न बरती गई है और न बरती जा सकती है। इसके विपरीत चेष्टा करना एक सर्वथा अप्राकृतिक बात है जिसमें कभी सफलता नहीं मिल सकती। सत्ता के दबाव के कारण विवश होकर अब तक हमारे यहाँ अँगरेजी माध्यम का व्यवहार होता था। कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों की बात छोड़ दें तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि विदेशी माध्यम ने हमारे देश में ज्ञान के विकास की प्रगति और स्तर दोनों को ही कुंठित कर रक्खा है। यह इसी का दुष्परिणाम है कि आज हम अँगरेजी के स्थान में हिन्दी या अपनी किसी भी अन्य देशी भाषा को अँगरेजी के स्थान में उच्चस्तरीय शिक्षा के माध्यम के रूप में व्यवहृत करने में एक अजीब-सी लाचारी और भय का अनुभव करते हैं।

ऐसी दशा में इस समय आखिर किया क्या जाय? मुंशी जी का यह निश्चित मत है कि अँगरेजी का स्थान तो आज या कल हिन्दी को ही लेना है, प्रादेशिक भाषाओं को नहीं, अन्यथा राष्ट्रीय भावना का विघटन होगा और कटु क्षेत्रीयतावाद को प्रश्रय मिलेगा। प्रदेशों के भाषावार संघटन के संबंध में होने वाले विग्रहपूर्ण आन्दोलन मुंशी जी द्वारा संकेतित इस भाषावादिता के खतरे के ही प्रमाण हैं। मुंशी जी इससे हमें बराबर सचेत करते रहे हैं। इसी कारण उच्च शिक्षा के लिए वैकल्पिक रूप में भी प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम को अपनाने के लिए वे तैयार नहीं हैं। उनका सुझाव है कि कुछ वर्षों तक वैकल्पिक रूप से हिन्दी के साथ-साथ अँगरेजी का ही माध्यम चले तो चले। इसके लिए उनका प्रबल तर्क है कि "यदि हिन्दी को किसी दिन अँगरेजी का स्थान लेना है तो देश के प्रत्येक राज्य की उच्च शिक्षा में अँगरेजी और हिन्दी को माध्यम बनाना होगा। इससे

क्षेत्रीयता की जगह राष्ट्रीयता को स्थान मिलेगा। सभी विश्वविद्यालयों के स्नातकों के लिए राष्ट्रव्यापी कार्यक्षेत्र होगा। शासन-व्यवस्था की दृष्टि अक्षेत्रीय रहेगी और विद्वानों एवं अध्यापकों का सम्पर्क और विनिमय पूर्ववत् होता रहेगा।"[९]

हिन्दी को अँगरेजी के स्थान में यथाशीघ्र सारे देश की राजभाषा तथा उच्चतर शिक्षा का माध्यम बनाने के उद्देश्य से ही मुंशी जी इस बात पर अधिक से अधिक जोर देते रहे हैं कि हिन्दी के अध्ययन का सम्पर्क एक ओर अँगरेजी से और दूसरी ओर संस्कृत से घनिष्ठ रूप से बना रहना चाहिए। उनका विचार है कि भारत में शिक्षित वर्गों की मातृभाषा, हिन्दी, अँगरेजी और संस्कृत इन चार भाषाओं का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। जिसकी मातृभाषा हिन्दी हो उसे दूसरी भारतीय भाषा पढ़नी होगी। जिसे साहित्य-सेवा करनी है, उसके लिए विविध भाषाओं की जानकारी अनिवार्य है। विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क से साहित्य में नया सौन्दर्य और मर्मस्पर्शिता आती है।

यों सिद्धान्ततः इसमें तो दो मत हो ही नहीं सकते कि हिन्दी के विकास की दृष्टि से उसके विशेषज्ञों को संस्कृत, अँगरेजी आदि अन्यान्य भाषाओं का ज्ञान होना सर्वथा वांछनीय है। पर शिक्षा की योजना में एक ही साथ विविध भाषाओं को समाविष्ट करने का प्रश्न जब उपस्थित होता है तब तरह-तरह की कठिनाइयों के कारण वह भी कई अंशों में विवादास्पद हो जाता है। यदि पृथक्-पृथक् प्रधान विषयों के रूप में विश्वविद्यालयों में इन भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध हो तो इसमें किसको आपत्ति हो सकती है! परन्तु आपत्ति तब खड़ी हो जाती है जब कि संस्कृत के पंडित यह देखकर कि हिन्दी के साथ स्वतंत्र विषय के रूप में संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था नहीं हो पाती, प्रयत्न करने लगते हैं कि बी० ए० या एम० ए० में हिन्दी का ही कोई पत्र अथवा उसका कोई अंश काटकर उसके स्थान पर संस्कृत का पत्र या थोड़ा अंश रख दिया जाय। पर इससे न तो हिन्दी के अध्ययन का कुछ हित हो पाता है न संस्कृत का। हिन्दी के किसी आवश्यक पक्ष से संबंधित पत्र को हटा देने से एक ओर तो हिन्दी का ज्ञान अधूरा रह जाता है और दूसरी ओर महज मन रखने के लिए संस्कृत का केवल एक असम्बद्ध पत्र रख देने से उसका भी ज्ञान विशृंखल तथा नाममात्र का ही हो पाता है और ज्ञानलवदुर्विदग्धवत् फल मिल पाता है। इसी प्रकार हिन्दी की विद्वत्ता और विशेषज्ञता का उपहास करते हुए जब यह कहा जाने लगता है कि बिना अँगरेजी के आश्रय के हिन्दी का ज्ञान निरर्थक और खोखला है तो स्वभावतः इसकी प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं होती। जैसे हिन्दी की कोई अपनी स्वतंत्र हस्ती ही न हो। आखिर वह भी तो एक जीवित भाषा है, उसकी भी तो अपनी व्यवस्थाएँ हैं, उसके पीछे भी तो सैकड़ों वर्षों के विकास की परम्परा और इतिहास है। हिन्दी के प्रति दिखाई जाने वाली उपेक्षा का प्रतिवाद करते हुए हिन्दी के विख्यात विद्वान् डा० धीरेन्द्र वर्मा ने जो स्वयं संस्कृत, अँगरेजी, फ्रेंच आदि अनेक देशी-विदेशी भाषाओं के ज्ञाता तथा प्रसिद्ध भाषाविज्ञानी हैं, एक बार कहा था कि यह कैसा विडंबनापूर्ण विचार है कि संस्कृत और अँगरेजी की बैसाखी के बिना हिन्दी चल ही नहीं सकती। ऐसा

---

९. क० मु० हिन्दी विद्यापीठ के भवनोद्‌घाटन के अवसर पर दिया हुआ भाषण तथा भारती, जून, १९५७ ई०, पृ० १०।

समझना एक दुर्भाग्यपूर्ण मतिभ्रम के सिवा और कुछ नहीं है। उसे ऐसी लँगड़ी, अपाहिज, सत्वहीन बताना अनुचित, अन्याय एवं भयंकर भूल है।

हिन्दी एक विश्लेषणात्मक भाषा है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से उसके ज्ञान को संस्कृत-जैसी संश्लेषणात्मक भाषा पर सर्वथा आश्रित नहीं समझा जा सकता। यों संस्कृत की साहित्यिक प्रेरणाओं और शब्द-भंडार पर तो हिन्दी तथा अन्यान्य भारतीय भाषाओं का एक समान अधिकार है। हिन्दी संस्कृत की शब्द-समृद्धि को आत्मसात् अवश्य करे। उसकी शब्द-सामग्री की शिक्षा हिन्दी की विशेषज्ञता के लिए अवश्य ही दी जाय, पर उसके सुप् और तिङ्का ज्ञान भी उसके लिए आवश्यक क्यों माना जाय? उसी प्रकार प्रत्येक हिन्दी सीखने वाले के लिए अँगरेजी का ज्ञान आवश्यक क्यों माना जाय? राष्ट्र के समस्त शिक्षित समुदाय पर अनिवार्य रूप से अँगरेजी क्यों लादी जाय? इस सम्बन्ध में अभी हाल में प्रकाशित आचार्य विनोबा भावे का एक वक्तव्य उद्धरणीय है:—

"अँगरेजी हर एक को सीखने की कोई आवश्यकता नहीं। लेकिन आज अँगरेजी के अत्यंत हिमायती कहा करते हैं कि सभी को अँगरेजी सीखनी चाहिए। इस बारे में मुझे एक हरिकीर्त्तन करने वाले ने जो एक कहानी बताई थी वह याद आ रही है। एक बार दस-पन्द्रह लोग घूमने गये और हनुमान जी के एक मन्दिर में पहुँचे। एक ने उनकी नाभि में अँगुली डाली और तुरन्त उसे बाहर निकालते हुए कहा कि 'वाह-वाह! कितनी तरावट है।' फिर दूसरे ने भी अँगुली डाली और उसने भी कहा 'वाह-कितनी तरी है।' इसी तरह पन्द्रहों ने अँगुली डाली और फिर बिच्छू के काटने के कारण सभी रोने लगे। इसी तरह आज अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों को बिच्छू ने काट खाया है और वे 'बड़ी तरी, बड़ी तरी' कहकर अपने बाल-बच्चों से भी अँगरेजी पढ़ने के लिए कहते हैं।

लेकिन अगर सारे राष्ट्र पर विदेशी भाषा लादी जाती है तो बुद्धि अत्यन्त क्षीण हो जाती है। इंगलैंड के सात-आठ साल के लड़के 'विकार आफ वेकफील्ड' आदि जो पुस्तकें पढ़ते हैं उन्हें हम लोग सोलहवें वर्ष में पढ़ते हैं, जब कि उस समय हमें उपनिषद् जैसे ग्रंथ पढ़ने चाहिए। इसलिए राष्ट्र पर अँगरेजी लादना गलत है। शिक्षाशास्त्रियों को चाहिए कि ये नौकरी-जैसी साधारण बातों पर विचार न किया करें। उन्हें तो सरकार पर अपनी छाप डालनी चाहिए, सरकार की छाप अपने ऊपर नहीं पड़ने देनी चाहिए। नौकरी के बारे में सरकार ही चाहे जैसा तय करे।"

उपर्युक्त विचारों से मुंशी जी के विचारों में वस्तुतः कोई मौलिक भेद या विरोध नहीं, केवल विरोधाभास भर है। यह ठीक है कि जिस भाषा में कबीर, सूर और तुलसी जैसे समर्थ साहित्यकारों की विराट् और सूक्ष्म भावनाओं को अभिव्यक्त करने की शक्ति प्रकट हो चुकी हो, उसको अँगरेजी या संस्कृत पर ही सर्वथा आश्रित समझना सम्मत नहीं है; परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि आज के इस वैज्ञानिक और औद्योगिक युग के विविध क्षेत्रों के उपयुक्त हिन्दी की अभिव्यंजना-शक्ति को यथावत् विकसित किये बिना उसके द्वारा हमारे राष्ट्रीय जीवन की बहुमुखी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। मुंशी जी ने इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए संस्कृत, अँगरेजी और देशी भाषाओं से संसर्ग कायम रखने की आवश्यकता पर जोर दिया है। संस्कृत की विभक्ति और प्रत्ययों

के लिए उनका कोई आग्रह नहीं; परन्तु उसकी शब्द-सामग्री के प्रति हिन्दी की समृद्धि के लिए उनका आग्रह अवश्य है। और ऐसा आग्रह तो सन्त विनोबा भावे-जैसे विचारकों का भी है। श्री राजागोपालाचार्य, डा० सुनीति कुमार चटर्जी आदि के समान मुंशी जी ने न तो कभी नौकरी के लिए अँगरेजी के ज्ञान को आवश्यक बताया है और न सारे राष्ट्र पर उसे लादने का ही कभी प्रस्ताव किया है। परन्तु जिन्हें नवीन साहित्य-सृष्टि करनी हो, अनुसंधान के लिए अधिक ग्रन्थ पढ़ने हों, ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में नेतृत्व करना हो, उनके लिए तो उन्होंने निश्चय ही यह आवश्यक माना है कि हिन्दी के साथ-साथ उनके मनो-जगत् में अँगरेजी, संस्कृत तथा अन्यान्य भाषाओं के ज्ञान का समुचित समावेश हो। यही वह साधन है जिसके द्वारा हिन्दी का युगानुकूल विकास शीघ्र हो सकता है। मुंशी जी की सदा यही कामना रही है कि इस प्रकार सभी दिशाओं से पुष्टि प्राप्त करके हिन्दी अपने देश की भाषाओं में ही नहीं वरन् सारे संसार की भाषाओं में अग्रस्थान पा सके। उन्होंने अँगरेजी, संस्कृत या हिन्दीतर भाषाओं के ज्ञानार्जन की वांछनीयता के विषय में जो भी आतुर प्रस्ताव रक्खे हैं, उनके अन्तर्गत हिन्दी के ही प्रभावपूर्ण प्रसार का उद्देश्य सन्नि-हित है।

ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों के लिए हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने के उद्देश्य से केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय कई वर्षों से पदार्थ-विज्ञान, भौतिक विज्ञान आदि की पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण करा रही है। इसके लिए ऐसे अनु-संधान-सहायकों की आवश्यकता पड़ती है जो अपने-अपने वैज्ञानिक विषयों के विशेषज्ञ होते हुए हिन्दी, संस्कृत और अँगरेजी भाषा के भी अच्छे जानकार हों। संघ-सेवा-आयोग (युनियन पब्लिक सर्विस कमीशन) के एक मान्य सदस्य मुझे व्यक्तिगत रूप से बता रहे थे कि ऐसी नियुक्तियों के लिए उपयुक्त शिक्षित नवयुवक उन्हें नहीं मिल पाते। इस अभाव की पूर्ति के लिए विभिन्न विषयों के अध्ययन के साथ संस्कृत और अँगरेजी से शृंखलित हिन्दी की विशेषज्ञता कितनी अपेक्षित है, यह सहज ही समझा जा सकता है।

अपने विशाल और महान् देश की महिमपूर्ण भव्य भारती के रूप में राष्ट्रभाषा पद के अनुरूप हिन्दी की महती विभूति का ध्यान मुंशी जी वर्षों से करते रहे हैं। कितना हृदयग्राही हौसला, संकल्प और प्रेरणा है उनके निम्नोद्धृत कथन में :—

"जो 'भारती' भाषा मेरी नजरों के सामने आती है, वह हिन्दी नहीं, पर प्रान्त-प्रान्त की शक्ति से प्रफुल्ल भारत की भाषा—जिसमें प्रत्येक विद्यापीठ में, जिसमें अपने विचार और व्यवहार, विज्ञान और कल्पनाएँ, संस्कार और सरसता मूर्त्तिमान् होते हों, जिसमें संस्कृत का प्राधान्य होने पर भी अरबी, फारसी व अँगरेजी की दौलत हो, जिससे हम अपनी संस्कृति का पाठ जगत को पढ़ा सकें। आप कहेंगे कि यह स्वप्न है, तो स्वप्नद्रष्टा रहना ही मैंने अपना धर्म माना है। आप कहेंगे कि यह अशक्य है, तो अशक्य यदि शक्य न होता तो मानव-प्रयत्न का अर्थ मुझे दिखाई नहीं पड़ता।"[१०]

---

१०. हिन्दी साहित्यसम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन का भाषण।

यह जो कभी 'अशक्य' था, उसे 'शक्य' करने के लिए मुंशी जी ने एक हिन्दी विद्यापीठ की जरूरत महसूस की थी। आज से एक युग पूर्व सन् १९४६ में अपने उदयपुर सम्मेलन के भाषण में इस ओर ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने कहा था :— "इसके लिए हिन्दी विद्यापीठ की जरूरत है······क्या ऐसा स्थान नहीं मिलेगा जहाँ हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हो सके। क्या हमारे राजाओं और धनाढ्यों की मनोदशा इतनी संकुचित हो गई है कि ऐसे विद्यापीठ की स्थापना नहीं हो सकती ?······मैं आप सबसे—जिन तक मेरी आवाज पहुँच सकती है, उन सबसे—विनती करता हूँ कि और सर्व प्रवृत्तियाँ गौण हैं। भारत को 'भारत विद्यापीठ' की जरूरत है।"

सौभाग्य की बात है कि वर्षों से देश के वातावरण में गूँजती हुई मुंशी जी की इस आवाज को, इस कल्पना को साकाररूप देने का श्रेय प्राप्त हुआ हमारे आगरा विश्वविद्यालय को, जिसके प्रांगण में १४ दिसम्बर १९५३ ई० को मुंशी जी की तत्संबंधी योजना को कार्यान्वित करने के लिए हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हुई। आगरा विश्वविद्यालय के इतिहास में यह दिन चिरस्मरणीय है। उस अवसर पर विद्यापीठ के उद्देश्यों तथा क्षेत्र-विस्तार की चर्चा करते हुए कुलपति के रूप में मुंशी जी ने कहा था "मुझे आशा है कि आज हम जिस हिन्दी विद्यापीठ का उद्‌घाटन कर रहे हैं, वह हिन्दी को प्रादेशिक भाषा के ही रूप में स्वीकार नहीं करेगा और उसी रूप में उसे उन्नत करने की पुरानी और प्रथित पद्धति का परित्याग कर देगा। इसमें हिन्दी की शोध का क्षेत्र तथाकथित हिन्दी क्षेत्र की बोलियों तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। मुझे विश्वास है कि यह संस्था ऐसा उद्योग करेगी जिससे हिन्दी विकसित होकर राष्ट्र-भाषा के पद की प्रतिष्ठा के अनुकूल रूप पा सकेगी। साथ ही हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन की व्यवस्था भी यहाँ होगी। केवल हिन्दी-साहित्य के अध्ययन को ही यहाँ प्रोत्साहन न मिलेगा अपितु विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की भी व्यवस्था होगी और उसे भी प्रोत्साहन मिलेगा। उन आन्दोलनों का भी अध्ययन होगा जो हमारे समस्त साहित्य के लिए प्रेरणाप्रद रहे हैं। इस प्रकार यह संस्था हमारे राष्ट्र के सम्मुख हिन्दी के माध्यम से भाषा-वैज्ञानिक शोध और साहित्यिक उपलब्धियों का एक सर्वमान्य धरातल प्रस्तुत कर सकेगी।

उसी दिन विद्यापीठ का शिलान्यास करते हुए उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन मुख्य मंत्री और भारतीय शासन के वर्तमान गृह-मंत्री श्री गोविन्द वल्लभ पंत ने कुलपति महोदय की बहुविध हिन्दी सेवाओं की प्रशंसा की और विश्वविद्यालय को इस नवीन योजना के लिए बधाई दी। उन्होंने कहा कि हिन्दी अब भारत में वही स्थान प्राप्त करने जा रही है जो स्थान इंगलैंड में अँग्रेजी का और फ्रांस में फ्रांसीसी भाषा का है। हमारे राजदूत विदेशों में अब अपने प्रमाणपत्र हिन्दी में ही प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि अंग्रेजी में प्रमाणपत्र प्रस्तुत करना हमारे लिए गौरव की बात नहीं है। हिन्दी को आज जो स्थान मिला है उसमें हमारे समस्त देशवासियों की शुभ कामना ही नहीं रही, उनका सहयोग भी रहा है, चाहे वे उत्तर के हों, चाहे

दक्षिण के, चाहे पूर्व के हों, चाहें पश्चिम के। अतः आज हिन्दी समस्त राष्ट्रीय संगठन और एक्य का साधन बन जानी चाहिए। उन्होंने उन समस्त विचारों और उद्देश्यों की प्रशंसा की जिनको लेकर हिन्दी विद्यापीठ की स्थापना हुई है।

इस विद्यापीठ में मुंशी जी की योजना के अनुसार हिन्दी के मूल को सींचने के उद्देश्य से अखिल भारतीय स्तर पर समन्वित रूप से हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं एवं भाषाविज्ञान के स्नातकोत्तरीय अध्ययन और अनुसंधान की व्यवस्था है। अँगरेजी के अतिरिक्त विद्यापीठ में फ्रेंच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं के शिक्षण का भी प्रबन्ध है। भाषावैज्ञानिक सर्वेक्षण-कार्य, कोश-कला, पाठ-भद, बोली-विज्ञान, लोकवार्त्ता तथा तुलनात्मक साहित्य में अनुशीलन और अनुसंधान की विशष सुविधा है। परन्तु यहाँ इन सब आयोजनों का एकमात्र उद्देश्य है—हिन्दी का उन्नयन। हमारा साध्य है—राष्ट्रभाषा 'भारती' के रूप में हिन्दी भाषा और साहित्य का उच्चतम विकास, और साधन है—भाषा-विज्ञान तथा अन्यान्य देशी-विदेशी भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसंधान।

अपने इस विद्यापीठ को मैंने मुंशी जी की हिन्दी-सेवा का ठोस मूर्त्तिमान रूप, उनकी उदात्त हिन्दी-भावना का सजीव प्रतीक माना है। विद्यापीठ के भवन के उद्घाटन के अवसर पर मैंने कहा था :—

"साकारा भावना येयं भवदीया भारतीसमा।
एकनीडीकृते लोके ज्ञानालोकन्तनोतु सा॥"

"इस भवन के रूप में भगवती भारती के समान आपकी जो मंगलमयी भावना मूर्त्तिमती खड़ी है, वह हमारे सारे देश में जो विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के सम्मिलित अध्ययन और संगम के द्वारा यहाँ सबके लिए एक नीड़ के रूप में परिणत हो गया है—ऐसे हमारे सारे देश में आपके इस विद्याभवन की वह भावना ज्ञान की अभिनव ज्योति का विकास करती रहे और समस्त प्रान्तीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी के राष्ट्रभाषा रूप को सबल और समृद्ध करती रहे।"

संख्या नहीं सौष्ठव, प्रदर्शन नहीं मौन साधना के उच्च आदर्श से मुंशी जी ने इस विद्यापीठ को अनुप्राणित किया है। शान्त और एकाग्र भाव से उन सिद्धांतों का प्रतिपालन जिनसे हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का मनोनुकूल विकास हो, हमारे इस संस्थान का एकनिष्ठ ध्येय है। पुत्र जैसे अपने पिता का नाम श्रद्धापूर्वक ग्रहण करता है उसी प्रकार आगरा विश्वविद्यालय ने अपने इस विद्यापीठ के नाम के साथ इसके जन्मदाता मुंशी जी का शुभ नाम जोड़ दिया है। अपनी इस शिशु-संस्था की प्रगति से प्रसन्न होकर पिछले वर्ष मुंशी जी ने कहा था—"अठारह महीनों में इस संस्था ने, जिसके जन्म देने का श्रेय मुझे दिया जाता है, मेरी आशाएं पूरी कर दीं।······इसने अनोखा अन्वेषण-कार्य किया है और बँगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, तमिल आदि के अध्यापकों के सहयोग से एक

ऐसे वातावरण का निर्माण कर दिया है जिसके अन्तर्गत ही हिन्दी का विकास राष्ट्र-भाषा के रूप में हो सकता है।"

राष्ट्रभाषा शब्द से मुंशी जी ने बराबर हिन्दी का ही अर्थ ग्रहण किया है। मुझे याद है कि एक बार केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय के एक आयोजन के अवसर पर प्रसंगवश मैंने हिन्दी के लिए 'राष्ट्रभाषा' शब्द का प्रयोग किया था तो कुछ लोगों को एतराज हुआ था। उन्होंने मुझे बताया कि अन्य भारतीय भाषाएँ भी तो राष्ट्रभाषाएँ ही हैं। ठीक है, अन्य भाषाएँ भी अवश्य राष्ट्र की भाषाएँ हैं और इस अर्थ में उन्हें भी राष्ट्रभाषा कहा जाय तो किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। पर सापेक्ष-संबंध की दृष्टि से जहां अन्यान्य भाषाएँ प्रादेशिक हैं वहाँ हिन्दी को ही एकमात्र राष्ट्रभाषा कहा जाय, तो इसमें किसी प्रकार के आक्षेप के औचित्य का समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता। आखिर हमारे विभिन्न प्रदेश कोई भिन्न-भिन्न राष्ट्र तो हैं नहीं कि उनकी भाषाओं को खामखाह राष्ट्रभाषा कहा जाय। फिर इस प्रकार का अवैधानिक आग्रह क्यों?

मुंशी जी ने भारतीय भाषाओं की मूलभूत अभिन्नता और एकता को बराबर ध्यान में रक्खा है और उनके पारस्परिक सम्पर्क को यथासंभव बढ़ाने पर सदा बल दिया है। इस मन्तव्य की पूर्ति के लिए समस्त देश में देवनागरी लिपि का प्रयोग उन्हें सबसे अधिक सफल साधन जँचा है। हिन्दी को राजभाषा के रूप में स्वीकार करते समय संविधान-सभा में भारतीय लिपियों के एकीकरण के प्रश्न पर भी विचार हुआ था और देवनागरी लिपि में लिखी हुई हिन्दी को ही संघ की राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने में इसी उद्देश्य को ध्यान में रखा गया था। परन्तु लिपियों के एकीकरण की समस्या शीघ्र ही सुलझनेवाली नहीं है। एकीकरण के पहले उनमें शनैः शनैः एकरूपता का भी विकास होना चाहिए। देवनागरी लिपि-सुधार के लिए उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से लखनऊ में जो एक कान्फ्रेंस आयोजित की गयी थी, उसके उद्घाटन-भाषण में इस विषय पर अपने विचार व्यक्त करते हुए मुंशी जी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया था कि केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक सरकारों की ओर से अखिल भारतीय स्तर पर प्रयत्न होना चाहिए कि प्रत्येक प्रादेशिक भाषा के कुछ चुने हुए महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अच्छे संस्करण देवनागरी लिपि में प्रकाशित किये जायँ और सामयिक पत्रों में भी प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को देवनागरी लिपि में प्रकाशित करने को प्रोत्साहित किया जाय। इससे न केवल हिन्दी तथा हिन्दीतर भाषाओं का सम्पर्क बढ़ेगा वरन् देश के विभिन्न भागों में उठती हुई आकांक्षाओं, भावनाओं तथा साहित्यिक प्रेरणाओं का बोध सबको हो सकेगा। जो व्यक्ति थोड़ी भी संस्कृत, साहित्यिक हिन्दी बँगाली या गुजराती जानता है, उसके लिए न तो मलयालम के किसी व्याख्यान अथवा वल्लत्तोल या पणिक्कर की देवनागरी में प्रकाशित रचनाओं के आशय को समझने में कोई विशष कठिनाई हो सकती है और न तेलुगु या कन्नड़ में लिखित या अभिनीत किसी साहित्यिक नाटक के अर्थ को ग्रहण करने में ही। तमिल का चुना हुआ साहित्य यदि

देवनागरी में प्रकाशित किया जाय तो वह देवनागरी लिपि से अभिज्ञ किसी भी दक्षिणभारत-वासी की समझ में आसानी से आ जायगा। ऐसा देखने में आता है कि बहुतेरे कन्नड़ तथा तेलुगुभाषाभाषी ऐसे हैं जो तमिल लिपि तो नहीं पढ़ सकते, परन्तु यदि तमिल साहित्य देवनागरी लिपि में मुद्रित हो तो उसे अनायास समझ जायँगे। हमारे विद्वान् राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी ने भी अनेक अवसरों पर अपने अनेक वक्तव्यों में इस बात पर जोर दिया है कि सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया जाना चाहिए।

प्रेमचंद जी के साथ मुंशी जी जब 'हंस' का प्रकाशन करते थे तब उन्होंने देवनागरी से परिचित-पठित समाज के सामने विभिन्न प्रदेशों के साहित्य को प्रस्तुत करने और समस्त देश-व्यापी भावनाओं और विचारों के समानान्तर आन्दोलनों से परिचित कराने का प्रयास किया था।

हिन्दी के प्रसार और विकास की दृष्टि से इस सम्बन्ध में हमारे सामने एक और विचार भी आता है। एक ओर जहाँ विभिन्न भारतीय भाषाओं के चुने हुए ग्रन्थों को नागरी लिपि में प्रकाशित किया जाय वहाँ साथ ही साथ हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों को विभिन्न भारतीय लिपियों में भी मुद्रित कराया जाय, जिससे हिन्दीतर प्रदेशों के लोग उन्हें अनायास पढ़ सकें और अपनी-अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के साथ हिन्दी की समरूपता को सहज ही समझ सकें।

मुंशी जी ने सदा इस बात की पुष्टि की है कि हिन्दी का सार्वदेशिक अध्ययन ही होना चाहिए। इसे उन्होंने राष्ट्रीय कार्य-क्रम, एक बड़ा प्रश्न माना है। और माना क्यों नहीं जाय जबकि वह संविधान का एक आवश्यक अंग है। पर खेद है कि इसका भी एक विपरीत पक्ष खड़ा किया गया है। हिन्दी के पुराने समर्थक श्री राजागोपालाचार्य ने यह आश्चर्यजनक आपत्ति की है कि हिन्दी का प्रश्न कोई बड़ा प्रश्न नहीं है। और तो क्या स्वयं हमारे प्रधानमंत्री श्रद्धेय नेहरूजी के विरुद्ध उनका आक्षेप है —

"प्रधान मंत्री कहते हैं कि मैं (राजा जी) देश की बड़ी समस्याओं को भूल गया हूँ। मैं नहीं बल्कि वह स्वयं भूल गये हैं। वही राजभाषा के प्रश्न पर गड़बड़ी पैदा कर रहे हैं, जो एक बड़ा प्रश्न नहीं है। वह राजभाषा-प्रश्न को बड़ा प्रश्न बनाना छोड़ दें और वास्तविक बड़े प्रश्नों पर ध्यान दें तो मैं अपना आन्दोलन बन्द कर दूँगा।"

एक ओर इस मत को रखिए और दूसरी ओर मुंशी जी के मत को रखिए तो दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। मुंशी जी ने हिन्दी के प्रश्न को अपने देश के भविष्य के निर्माण का अभिन्न अंग माना है और उसे हमारे राष्ट्रीय एकीकरण का सबसे शक्तिपूर्ण और प्रधान माध्यम समझा है। उनकी दृष्टि में "संस्कृति और राष्ट्र के पुनर्निर्माण का प्रत्येक युग किसी-न-किसी भाषा के प्रभावशाली विकास के साथ जुड़ा रहता है। गुप्त काल में संस्कृत की दुंदुभी बजी। यूरोपीय रेनेसाँ के समय इटालियन भाषा ने और एलिजाबेथ-कालीन इंगलैंड में अँगरेजी ने

महत्त्व प्राप्त किया । उसी प्रकार भारत के भविष्य का निर्माण राष्ट्रभाषा भारती के उद्भव और विकास के साथ सम्बद्ध है ।"[११]

हमारे संविधान ने इसीलिए हिन्दी के विकास को राष्ट्रीय कार्य-क्रम का एक प्रमुख अंग माना है और ३४४ वीं धारा के द्वारा इस बात की व्यवस्था की है कि संविधान के लागू हो लेने के पाँच वर्षों की समाप्ति पर राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा एक आयोग गठित करेंगे, जिसका कर्त्तव्य होगा राजभाषा के रूप में अँगरेजी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठित करने के उपायों का निर्देश करना । उसे इस बात का ध्यान रखना है कि उसके निदशों के अनुसार चलकर हिन्दी देश की औद्योगिक, सांस्कृतिक और वैज्ञानिक उन्नति में आवश्यक योग प्रदान कर सके ।

राष्ट्रपति द्वारा आयोजित प्रथम राजभाषा आयोग की सिफारिशें अब प्रकाशित हो चुकी हैं और इस समय लोक-सभा तथा राज्य-परिषद् के निर्वाचित सदस्यों की समिति के समक्ष विचाराधीन हैं । उनके प्रतिवेदन पर विचार करके राष्ट्रपति की ओर से हिन्दी के विकास के लिए आवश्यक निदेश प्रकाशित होगा ।

मुंशी जी के विचार से पिछले अस्थायी राजभाषा-आयोग के अतिरिक्त एक स्थायी आयोग भी गठित किया जाना चाहिए था, जिसे संविधान की ३५१ वीं धारा के अनुसार हिन्दी भाषा की प्रसार-वृद्धि और विकास के लिए आवश्यक कार्य करने का अधिकार होता । उन्होंने इस सम्बन्ध में खेद प्रकट करते हुए कहा है :—

"संविधान परिषद् के समय ऐसी आशा की गई थी कि एक बार संविधान पारित हो जाने पर भारत सरकार ३५१ वीं धारा के अनुसार और राज्य सरकारें स्वेच्छापूर्वक शीघ्रता और एकमत के साथ कार्यवाही करके हिन्दी का विकास कर लेंगी । पर यह तो अभी तक एक धार्मिक आकांक्षा ही बनी हुई है । कोई स्थायी हिन्दी आयोग जिसे समुचित कार्य और अधिकार दिये जाते, अभी तक नियुक्त नहीं हुआ ।"[१२]

परन्तु हमें आशा है कि हमारे गृह-मंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त की अध्यक्षता में नियुक्त उपर्युक्त समिति के द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले प्रतिवेदन पर विचार करके हमारे सुविज्ञ राष्ट्रपति अपने निदेश से ऐसे स्थायी आयोग का संघटन निश्चय ही करेंगे । उनके निर्देशन और संरक्षण में मुंशी जी की वे समस्त धार्मिक आकांक्षाएँ शीघ्र ही पूर्ण ही होंगी, जिनका उन्होंने संकेत किया है । हमारा केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय आज पहले से अधिक जागरूक है । साहित्य अकादमी भी अपने ढंग से हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य की श्लाघनीय सेवा कर रही है । मुंशी जी के आगरा विश्वविद्यालय हिन्दी विद्यापीठ का तो संकल्प ही है उनके निर्दिष्ट और अभीष्ट मन्तव्यों की पूर्ति । उनके भारतीय विद्या-भवन के द्वारा भी हिन्दी का अभीष्ट हित हो रहा है । अनेक विश्वविद्यालय, अनेक प्रादेशिक राज्यों

---

११. गुजराती साहित्य-परिषद्-सम्मेलन, १९५५ ई० का भाषण ।

१२. भारती, जून, ३०, १९५६ ई० पृ० ९ ।

द्वारा संचालित प्रतिष्ठित संस्थाएँ, देश की अनेकानेक सुविख्यात सभा-समितियाँ तथा प्रकाशन-मंडल आज हिन्दी के विकास-कार्य में सानुराग संलग्न हैं। अत: हमें असंशय विश्वास है कि हमारे इस स्वप्नद्रष्टा के जीवन के अनेक स्वप्न राष्ट्र के आकाश में सितारों के समान जैसे एक-एक करके चमक उठे हैं वैसे ही उनका राष्ट्र-भारती हिन्दी-विषयक सुनहला स्वप्न भी आशातीत गति और प्रगति के साथ सार्थक, साकार और सचेतन होगा।

श्री रमेश चन्द्र दुबे

मुंशी जी की संस्कृत-सेवा

संस्कृति और संस्कृत मुंशी जी के जन-जीवन के ये दो सबसे महत्त्वपूर्ण पोषक तत्त्व हैं। भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा और अटूट निष्ठा ने भारत की इस महनीय विभूति की सबल संवाहिका शक्ति संस्कृत को सदैव जीवन्त और लोक-प्रिय बनाए रखने के लिये निरन्तर व्यग्र किए रक्खा है। मारवाड़ी मंगालाल के दान-प्रस्ताव पर त्वरित विचार का अवसर हो या बिहार-संस्कृत-समिति का दीक्षान्त भाषण, विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता पर टीका-टिप्पणी करने का मौका हो या धामों और तीर्थों का पर्यटन, मुंशी जी की भावाकुल विचारधारा के टिकने का एक ही लक्ष्य-बिन्दु है—संस्कृत। यहाँ आकर वे भारत के उज्ज्वल अतीत के उसके 'स्वर्ण-सूत्र' को पकड़ लेते हैं जिसने पिछले ३००० वर्षों में देश को एक बनाए रक्खा है, 'जिसने वैदिक काल से लेकर आजतक के सारे भारतीय जीवन को एक में गूँथ रक्खा है', और जिसने 'देश की उस मूलभूत एकता को जो सारी नदियों और तीर्थ-स्थानों में अपनत्व की भावना भर देती है, जो हिमालय से लेकर कुमारी अन्तरीप तक फैले हुए देश को एकता की चेतना प्रदान करती है,' आधार और सप्राणता दी है।

मुंशी जी की संस्कृत-सेवा इसीलिये एक 'मिशन' का भाव लिये हुये है, उसमें वैयक्तिक राग और भावना का सबल संवेग मिला हुआ है। अपने चमत्कारिक व्यक्तित्व का सारा प्रभाव इस एक दिशा की ओर मोड़ देने में उन्हें किसी संकोच का अनुभव नहीं होता। अपने सम्पूर्ण व्यक्तिगत प्रभाव को इस पुण्य-कार्य में लगाकर उन्होंने संस्कृत-जगत् का महान् उपकार किया है। देश के बड़े बड़े नेताओं को उन्होंने संस्कृत के महत्त्व की ओर आकृष्ट किया है, विभिन्न राज्यों में संस्कृत-शिक्षा को मान्यता दिलाने का सफल प्रयास किया है और संस्कृत-विश्वविद्यालयों की स्थापना का स्तुत्य समारंभ कराया है।

मुंशी जी ने स्वयं लिखा है कि उन्हें संस्कृत का ज्ञान उतना नहीं है जितना कि उसके प्रति प्रेम है। अपने पिता जी की आज्ञा से 'कौमुदी' पढ़ना प्रारंभ की और 'इको यण चि' से कभी आगे नहीं बढ़ पाए। बी० ए० में संस्कृत ली और उत्तीर्णांकों से केवल तीन अंक अधिक प्राप्त कर सके। पर गुजराती साहित्य को अपने जीवन का श्रेष्ठत

अंश प्रदान करने वाले मुंशी जी ने 'भगवान् परशुराम' के माध्यम से वैदिक ऋषियों के प्रागैतिहासिक जीवन को जीवन्त रंग-रूप में उपस्थित कर दिया, 'गुजरातनो नाथ' में संस्कृत श्लोकों के प्रयोग और कालिदास की उक्तियों के समर्थन द्वारा संस्कृत-साहित्य के मनो-मुग्धकारी रमणीय रूप को जैसे नया संजीवन दे दिया। मुंशी-साहित्य द्वारा वैदिक और लौकिक संस्कृत के साहित्य को पर्याप्त महत्त्व मिला है, मुंशी साहित्य की लोक-प्रियता के साथ-साथ उसमें पड़े हुए संस्कृत के महत्त्व के बीज भी दूर-दूर तक फैले हैं, समें सन्देह नहीं।

सन् १९३७ में उनके मारवाड़ी मुवक्किल श्री मंगालाल एक दिन अकस्मात् उनसे सट्टे में कमाए हुए छः लाख रुपयों को दान करने के विषय में सलाह लेने आए। उन्होंने उन्हें गो-सेवा के लिए दान करने की सलाह दी और 'कृषि गो विद्या-भवन, आनन्द' की स्थापना हुई। एक पखवारे के बाद यह छः लाख बढ़ कर आठ लाख हो गये और मंगालाल ने अतिरिक्त दो लाख के उपयोग के लिये सलाह मांगी। मुंशी जी ने तत्काल ही कहा कि इसे संस्कृत के लिये दे दो। उसी रुपए से 'भारतीय-विद्या-भवन' की नींव पड़ी। भवन के 'मुम्बादेवी संस्कृत महाविद्यालय' में संस्कृत वाङमय के विभिन्न अंगों का पुरानी पद्धति से अध्ययन-अध्यापन होता है। विद्यार्थियों की शिक्षा निःशुल्क दी जाती है और अधिकारी छात्रों को रहने-खाने-पीने के व्यय से भी मुक्त कर दिया जाता है। 'मंगालाल गोयन्का-संशोधन-मंदिर' में 'संस्कृत शिक्षापीठ' एक अलग विभाग है, जिसमें संस्कृत में स्नातकोत्तरीय शोध-कार्य होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब मुंशी जी के ही सत्प्रयासों का फल है।

सन् १९५१ में ११ मई को प्रभास पाटन में भगवान सोमनाथ के ज्योतिर्लिंग की प्रतिष्ठा के शुभ अवसर भारतीय विद्या-भवन के अध्यक्ष की हैसियत से मुंशी जी ने एक 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्' बुलाई। विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा प्राच्य विद्या संस्थानों से लगभग २८५ प्रतिनिधि एकत्रित हुये। इस परिषद् ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा सोमनाथ ट्रस्ट तथा अन्य समान संस्थाओं के सहयोग से चलने वाली 'संस्कृत विश्व परिषद्' को स्थापना की। तब से बनारस, नागपुर, तिरुपति और कुरुक्षेत्र में इस परिषद् के विशद अधिवेशन हो चुके हैं। प्रत्येक अधिवेशन के साथ केन्द्र तथा राज्यों के प्रभावशाली शासनाधिकारियों का संबंध रहा है और संस्कृत-शिक्षा के पुनरुद्धार के लिये सक्रिय प्रयत्न हुआ है। संस्कृत विश्व परिषद् के वाराणसीय अधिवेशन को संस्कृत विश्वविद्यालय से संबद्ध किया गया और नागपुर में रायपुर संस्कृत महाविद्यालय से, तिरुपति में ऑरियन्टल इन्स्टीटयूट से तथा कुरुक्षेत्र में संस्कृत विश्वविद्यालय से। कुरुक्षेत्र अधिवेशन के उद्घाटन भाषण में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा कि भारत-सरकार द्वारा संस्कृत आयोग की नियुक्ति तथा संस्कृत विश्वविद्यालयों की स्थापना के विचार का श्रेय विश्व परिषद् को ही है। मुंशी जी ने अपने कई लेखों, पत्रों तथा भाषणों में इस बात पर बल दिया है कि संस्कृत लैटिन और ग्रीक की तरह मृत भाषा नहीं है। पाठशालाओं में परम्परागत पद्धति से अध्यापन करने वाले पंडित लोग जिस संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं वह सरल, प्रवाहमयी, जीवित संस्कृत भाषा है। संस्कृत शिक्षा को आधुनिक युग के अनुरूप और उपयोगी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि

संस्कृत-शिक्षा को केवल प्राचीन वाङमय के अध्ययन तक ही सीमित न करके आधुनिक ज्ञानविज्ञान के सीखने-सिखाने और तद्विषयक ग्रंथ-प्रणयन का माध्यम भी बनाया जाय। इसके लिए आवश्यक है कि संस्कृत के माध्यम से सभी आधुनिक विषयों का परिशीलन और अध्यापन करने वाले विश्वविद्यालयों की स्थापना हो। मुंशी जी के इस विचार के परिणाम-स्वरूप ही वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय तथा कुरुक्षेत्र संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

मुंशी जी को यह चिन्ता बराबर लगी रहती है कि संस्कृत की परम्परागत शिक्षा-प्रणाली जो संस्कृत को अभी तक जीवित बनाए हुए है, आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी होकर विलीन होती जा रही है। पुरानी पाठशालाएँ नष्ट होतीं जा रही हैं। अतः उनको पुनरुजीवित करने के लिये यह आवश्यक है कि पुरानी प्रणाली से संस्कृत शिक्षा-प्राप्त छात्रों को अँग्रेज़ी शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थियों की तरह ही सेवाओं में नियुक्ति का अवसर मिले। इस दिशा में भी परिषद् ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इसके लिये यह भी आवश्यक है कि संस्कृत के शास्त्रियों की शिक्षा प्रणाली को इस प्रकार ढाला जाय कि वे तीव्रता से परिवर्तित होती हुई आज की दुनियाँ में, जमे हुए पत्थर की तरह एक ही जगह जड़ होकर न रह जायँ। इसके लिये संस्कृत शिक्षा की परम्परागत प्रणाली के पुनर्गठन के लिए परिषद् ने राज्य सरकारों को लिखा और मध्यप्रदेश, बंगाल, आन्ध्र, केरल, पंजाब और बम्बई राज्यों में इस दिशा की ओर महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया। उत्तर-प्रदेश में पाठशालाओं के अनुदान की रकम को बढ़ा दिया गया और संस्कृत में लिखे गये मौलिक ग्रंथों पर पुरस्कारों की घोषणा की गई। इन सब उज्ज्वल प्रकाश किरणों के पीछे हमें मुंशी जी की सतत् क्रियाशील प्रतिभा के ही दर्शन होते हैं।

संस्कृत को लोकप्रिय बनाने के लिये मुंशी जी ने संस्कृत विश्व परिषद् के तत्त्वावधान में एक समिति नियुक्ति की जिसने सरल-संस्कृत परीक्षाओं की एक योजना तैयार की और उसके लिए पाठ्य पुस्तकें भी तैयार कीं। इस परीक्षा को भारतीय विद्याभवन ने चलाया और पहिले वर्ष में ही २८२४ परीक्षार्थी इसमें सम्मिलित हुए। परिषद् के प्राध्यापक देश के विभिन्न भागों में घूम-घूम कर संस्कृत में व्याख्यान देते हैं और लोगों में संस्कृति के प्रति अभिरुचि जागृत करते हैं।

मुंशी जी का एक अत्यन्त प्रिय विषय है 'विश्वविद्यालयों की शिक्षा से संस्कृत का लोप हो जाना'। उनकी यह दृढ़ निष्ठा है कि संस्कृत की शिक्षा के बिना भारतीय स्नातक अपने व्यक्तित्व का समुचित संगठन करने में असफल रहेगा। उसकी शिक्षा केवल सूचनात्मक रहेगी व्यक्तित्व की सर्जना या आदर्शों की अभिनिविष्टि उससे नहीं हो सकेगी। बहुत कठिनाइयों और कटु आलोचनाओं के होने पर भी मुंशी जी के प्रयत्नों के फलस्वरूप लखनऊ विश्वविद्यालय में कुछ विद्यार्थियों के लिए संस्कृत अनिवार्य हो गई है। आगरा विश्वविद्यालय में भी बी० ए० की हिन्दी परीक्षा के साथ संस्कृत का अनिवार्य अध्ययन जोड़ देने का प्रस्ताव मान्य हो गया है।

संस्कृत की विभिन्न संस्थाओं से संबद्ध रह कर तो मुंशी जी ने संस्कृत के प्रचार में योगदान दिया ही है पर अपनी अँग्रेजी में लिखी गई पुस्तकों द्वारा

वे उन अँग्रेजी पढ़े लिखे आधुनिकों के कान में, जो संस्कृत-शिक्षा के सबसे बड़े उपहास करने वाले हैं, यह बात बराबर फूँकते रहे हैं कि संस्कृत के अभ्युत्थान के बिना भारत का अभ्युत्थान नहीं हो सकता; संस्कृत के प्रचार के बिना देश की एकता की एक बहुत बड़ी कड़ी टूट जायगी; संस्कृत के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति के मूलाधार छिन्न-भिन्न हो जायँगे; और संस्कृत के परिशीलन के बिना भारत का वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संदेश जो आज के संसार के लिए एक मात्र शान्ति का संदेश है, दिशाओं में खो जायगा। अपने 'कुलपति के पत्रों' में बीसियों बार वे संस्कृत के महत्त्व का ख्यापन करते हैं, अपने दीक्षान्त भाषणों में अनिवार्य रूप से भारत की सांस्कृतिक एकता के सूत्र संस्कृत का उल्लेख करते हैं और गीता अथवा शिक्षा पर लिखे गए किसी भी निबन्ध में संस्कृत के अध्ययन की अनिवार्यता बतलाना नहीं भूलते हैं। वर्तमान समय में मुंशी जी एक अकेले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा तथा चमत्कारी व्यक्तित्व के प्रभाव से संस्कृत के लोकप्रिय बनाने में तथा संस्कृत-जगत् का हित करने में इतना ठोस कार्य किया है जितना हिन्दी के हज़ारों प्रचारक बीसियों वर्षों से जुटे रहने पर भी हिन्दी के लिए आज तक नहीं कर पाये।

मुंशी जी का केन्द्रीय सरकार के प्रति एक प्रस्ताव है कि वह एक केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना करे जो देश के संस्कृत विश्वविद्यालयों तथा पाठशालाओं को एक सूत्र में बाँधे और संस्कृत भाषा के विशेषज्ञ प्राध्यापकों को शोध-कर्म में जुटाए तथा संसार के विभिन्न प्राच्य विद्या संस्थानों से संबंध जोड़कर प्राध्यापकों तथा छात्रों के आदान-प्रदान द्वारा उस केन्द्रीय विद्यापीठ को आज का नालन्दा बना दे। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस महाचेता व्यक्ति की यह अमर कल्पना शीघ्र ही साकार हो। वर्तमान संस्कृत-जगत् और आने वाली पीढ़ियाँ भारत के सांस्कृतिक गौरव के इस महान् स्वप्नद्रष्टा को श्रद्धा पूर्वक स्मरण करेंगीं।

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी

श्री मुंशी और पुरातत्त्व

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का पुरातत्त्व से प्रगाढ़ प्रेम है। यह प्रेम मुख्यतया पुरातत्त्व के चेतन रूप से है। श्री मुंशी किसी पुराने अस्थिपिंजर के वाह्य रूप से उतना प्रभावित नहीं होते जितना उसमें रक्त और जीवन संचार करने वाले तत्त्वों से। वस्तुत: उन्होंने पुरातत्त्व को उसके प्राणमय रूप में ही देखने की चेष्टा की है। उत्तरप्रदेश में वे पिछले पाँच वर्षों तक राज्यपाल रहे। इस अवधि का उपयोग उन्होंने न केवल विविध प्रशासकीय कर्त्तव्यों के निबाहने में किया, अपितु इस प्रदेश की महान् सांस्कृतिक निधि के भी वे सजग प्रहरी और दर्शक रहे। उन्होंने उत्तर में बद्रीनाथ से लेकर दक्षिण में कालिंजर तक और पश्चिम में मथुरा से लेकर पूर्व में काशी तक इस प्रदेश के प्राय: सभी सांस्कृतिक स्थलों का स्वयं अवलोकन किया। उत्तर प्रदेश के बाहर अनेक प्राचीन स्थानों को देखने का भी अवसर मुंशी जी समय-समय पर प्राप्त करते रहे।

दो वर्ष पूर्व भारतीय पुरातत्त्व विभाग ने मथुरा नगर के प्रसिद्ध प्राचीन स्थल श्रीकृष्ण-जन्मभूमि के एक भाग में उत्खनन-कार्य कराया। वहाँ से जो सामग्री उपलब्ध हुई उसे देखने के लोभ का संवरण मुंशी जी कैसे कर सकते थे? खुदाई से प्राप्त मुख्य वस्तुओं को मथुरा के पुरातत्त्व संग्रहालय में श्री मुंशी के अवलोकनार्थ प्रदर्शित किया गया। इस सामग्री में धारीदार भूरे मृत्पात्र, काली चमकीली पालिश वाले मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े, मिट्टी की पकी मूर्तियाँ, मनके, पुराने सिक्के, पाषाण-प्रतिमाएँ आदि विविध वस्तुएँ थी। इस सामग्री को देखकर महाभारतकाल से लेकर परवर्ती युगों तक की रूपरेखा श्री मुंशी के मस्तिष्क में खिच गई। वे उन कड़ियों को जोड़ने का प्रयत्न करने लगे, जिनका आभास उन्हें हस्तिनापुर 'जिला मेरठ' रोपड़ 'जिला अम्बाला' आदि की खुदाई में मिल चुका था। इस संबंध में उन्होंने अनेक प्रश्न इन पंक्तियों के लेखक से किये। संग्रहालय की कई वस्तुओं की तुलना भी उन्होंने नई वस्तुओं से की। ई० पू० ४०० से लेकर ई० १२वीं शताब्दी तक का मथुरा का इतिहास संग्रहालय की प्रतिमाओं के रूप में उनके सामने कई बार आ चुका था। इसके अध्ययन में उन्होंने

घण्टों का समय दिया । भारतीय कला पर उनका जो विवेचन हाल में प्रकाशित हुआ है वह अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। उसमें उन्होंने ईसा से पूर्व की भारतीय कला पर विशेष प्रकाश डाला है। कला में मानव-रूप का आविर्भाव कब हुआ और उसका विकास कैसे हुआ, इसकी भी समीक्षा उक्त निबंध में की गई है।

हस्तिनापुर की खुदाई देखने के लिए श्री मुंशी वहाँ पधारे थे वहाँ जो वस्तुएँ मिलीं उनमें हाथ की चूड़ियाँ, कान के कुंडलों के टुकड़े, काजल लगाने की शलाका, चम्मच आदि भी थे। श्री मुंशी ने अपने एक कुलपति-पत्र में तुरंत यह मनोरंजक सूचना प्रकाशित कर दी कि यदि उनसे कोई पूछे कि हस्तिनापुर में उन्होंने क्या-क्या देखा तो वे बताएँगे कि उन्होंने वहाँ द्रौपदी और सत्यभामा के आभूषण और प्रसाधन की वस्तुएँ देखीं और वह चम्मच भी देखा जिससे कुन्ती बच्चों को दूध पिलाती थीं। यह मुंशी जी के लिखने का रोचक ढंग था कि जड़ वस्तुओं में भी प्राण का संचार कर वे उन्हें प्राचीन परंपरा और अनुश्रुतियों से जोड़ देते थे।

इतिहास-निर्माण का यह दृष्टिकोण मुंशी जी की विशेषता है। परन्तु वे तथ्यों के प्रति उदासीन रहते हों, ऐसी बात नहीं है। उनकी पुस्तकों और निबंधों में सर्वत्र ऐतिहासिक तथ्यों का आकलन मिलेगा। उनके आधार पर ही किन्हीं परिणामों तक पहुँचने की स्वतंत्रता का वे उपभोग करते हैं, जो सभी लेखकों के अधिकार की बात है। मुंशी जी के ऐतिहासिक उपन्यासों में यह बात विशेष रूप से मिलेगी।

गत पाँच वर्षों में उत्तरप्रदेश के जिन अन्य स्थानों पर खुदाई का कार्य हुआ, उन सब में मुंशी जी पहुँचे। यहाँ कौशांबी और कन्नौज का उल्लेख कर देना आवश्यक है। कौशांबी की खुदाई पिछले कई वर्षों से उत्तरप्रदेश की सरकार के अनुदान से प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा कराई जा रही है। इस खुदाई में ई० प्रथम शती से छठी शती तक की कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण वस्तुएँ मिली हैं। 'घोषिताराम' नामक एक बौद्ध विहार का पता भी इसके द्वारा चला है। मुंशी जी ने इस विहार में पर्याप्त रुचि ली। उन्होंने कौशांबी की वस्तुओं से सुसज्जित प्रयाग विश्वविद्यालय के कौशांबी कक्ष का उद्घाटन भी किया। इस अवसर पर उन्होंने एक विद्वत्तापूर्ण भाषण प्राचीन इतिहास पर दिया।

इस प्रदेश में मुंशी जी का सबसे अधिक प्रिय ऐतिहासिक नगर कन्नौज कहा जा सकता है। इसकी गौरव-गाथा सुनते हुए मुंशी जी तृप्त नहीं होते। कन्नौज (प्राचीन कान्यकुब्ज) का वर्णन वे अपने अनेक ग्रंथों में कर चुके हैं। कन्नौज में खुदाई का श्रीगणेश मुँशी जी ने अपनी उपस्थिति में कराया। इतना ही नहीं, उन्होंने वहाँ एक पुरातत्त्व संग्रहालय की भी आधारशिला रखी और आशा प्रकट की कि वहाँ शीघ्र ही एक अच्छी इमारत का निर्माण किया जाएगा, जिसमें कन्नौज नगर और आसपास की पुरातत्त्वीय सामग्री प्रदर्शित होगी।

उक्त, स्थानों के अतिरिक्त नैमिषारण्य, श्रावस्ती, कुशीनगर, सारनाथ, कालिंजर, कालपी, जौनसार-बाबर आदि कितने ही प्राचीन स्थानों का अवलोकन मुंशी जी ने किया

और वहाँ की पुरातत्त्व सामग्री का अध्ययन किया। हस्तिनापुर, मथुरा आदि महाभारत-कालीन स्थानों से प्राप्त सामग्री का तुलनात्मक अध्ययन करने के निमित्त उन्होंने अम्बाला जिले में रोपढ़ नगर की खुदाई भी देखी।

मुंशी जी द्वारा लिखे गये ग्रंथ और निबंध तथा हाल में लिखित 'कुलपति के पत्र' जहाँ उनकी अन्य विषयों में बहुमुखी प्रतिभा का दर्शन कराते हैं। वहाँ वे इस बात के भी द्योतक हैं कि पुरातत्त्व में उनकी कितनी उत्कट रुचि है और वे उसे कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

श्री राजबहादुर सिंह

मुंशी जी लेखक और पत्रकार के रूप में

मुंशी जी का जीवन जिस प्रकार विचित्र परिस्थितियों से परिपूर्ण रहा है, उसी प्रकार उनके जीवन में सहसा प्रवेश करने वाली लेखनकला और पत्रकारिता का विकास किस रूप में हुआ, इसकी कहानी बड़ी मनोरंजक है।

१९०७ ई० में जब मुंशी जी अपने जन्मस्थान भड़ौच से बम्बई आये तो उनके पास पैसे का अभाव था। इसलिये उन्होंने लेखक और पत्रकार का जीवन आवश्यकता के रूप में अपनाया।

वैसे तो ९ वर्ष की आयु में ही वे अपने पिता के पास आने वाले 'टाइम्स आफ इंडिया' (अँग्रेजी दैनिक) को देखकर उसी के ढंग पर 'ब्राह्मण के नित्यकर्म' नामक हस्तलिखित पत्र तैयार किया करते थे, जिसमें नियमित स्तम्भ आदि बने होते थे।

सन् १९०४ में ही जब वे बड़ौदा कालेज में पढ़ते थे तो वहाँ के अँग्रेजी विभाग के 'फेलो' आचार्य कृपाशंकर 'बड़ौदा कालेज मिसलेनी' नामक पत्रिका प्रकाशित करते थे जिसमें नाम तो केवल उनका छपता था; पर काम—प्रेस जाना, प्रूफ पढ़ना, लिखना आदि आचार्य और मुंशी जी दोनों ही का होता था।

सन् १९०५–६ में लिखने का क्रम जारी रहा और १९०७ में मुंशी जी के बम्बई आने पर 'भार्गव' नामक गुजराती त्रैमासिक पत्रिका के सम्पादन का भार इन पर पड़ा जिसके प्रकाशन का स्थान भड़ौच होता था और मुद्रण-स्थान बम्बई। इस पत्रिका का सारा काम मुंशी जी ही करते थे।

जैसा कि ऊपर बताया गया है मुंशी जी को बम्बई आने पर अपने कानूनी अध्ययन के सिलसिले में खर्च की जरूरत पड़ी तो उन्हें सर्वप्रथम 'इन्दुप्रकाश' नामक गुजराती पत्र में लेखनकार्य मिला। परन्तु पाठकों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि लिखने से भी पहले जब उन्हें प्रूफ़ पढ़ने का काम मिला तो उससे प्रतिदिन की आमदनी ६ आने से आठ आने तक होती थी और उन्हें एल्फिन्स्टन कालेज से कान्देवाड़ी के नाके तक पैदल आ-जा कर,

यह प्रूफ़ लेने तथा दूसरे दिन प्रातः देखकर दे आने के पश्चात् उपर्युक्त आमदनी होती थी। इस आय में से वे पाँच रुपये मासिक भोजनालय को देते थे।

सन् १९०८–९ में मुंशी जी को 'पेटिट पुस्तकालय' में अध्ययन का सुअवसर प्राप्त हो गया और थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' नामक अँग्रेजी पत्रिका में 'मीराबाई' पर लेख लिखे।

बिहार के तत्कालीन प्रसिद्ध साहित्यिक श्री सच्चिदानंद सिन्हा मुंशी जी की लेखनी से आकर्षित हुए और उन्हें अपनी पत्रिका 'हिन्दुस्तान रिव्यू' में 'जनतंत्र' पर लेख लिखने को आमंत्रित किया जिसे बहुत पसन्द किया गया। उन्हीं दिनों मद्रास से प्रकाशित महिलाओं की एक पत्रिका 'वोमेन्स मेगज़ीन' में पहले-पहल मुंशीजी ने सामाजिक कहानियाँ लिखीं और साथ ही 'इण्डियन रिव्यू' में भी कुछ लेख लिखे।

सन् १९०९–१० में जब 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' में इनका 'कांक्वस्ट आफ़ सोमनाथ' (जय सोमनाथ) दो अंकों में प्रकाशित हुआ तो उसकी धूम मच गयी।

जिस प्रकार मुंशी जी ने 'भार्गव' पत्रिका प्रकाशित की थी उसी प्रकार उन्होंने मित्रों के सहयोग से एक सर्वजातीय पत्र भी निकाला, किन्तु कुछ दिनों बाद इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

१९१० में जब मुंशी जी अपनी वकालत का श्रीगणेश करने के लिए बम्बई आये तो उसके एक वर्ष बाद–अर्थात् १९११ में उनकी 'मारी कमला'[1] नामक सामाजिक कहानी स्त्रियों के मासिक पत्र में घनश्याम व्यास के नाम से निकली जिसकी बड़ी चर्चा हुई। उस समय तक मुंशी जी अपनी प्रायः सभी रचनाएँ इसी नाम से प्रकाशित कराते रहे। किन्तु 'मारी कमला' के प्रकाशन के बाद इनकी बड़ी खोज हुई जिसके फलस्वरूप श्री नरसिंह राव दिवेटिया ने श्री चन्द्रशंकर को बता दिया कि घनश्याम व्यास कोई और नहीं, कन्हैयालाल मुंशी ही हैं। इसी सिलसिले में उनकी आठ-दस कहानियाँ और प्रकाशित हुईं। सन् १९१२–१३ में मुंशी जी डाक्टर कल्याण दास के साथ आर्य समाज में आने-जाने लगे और फिर गुर्जर-सभा में प्रवेश पा गये। उस समय तक मुंशी जी को बोलने का अवसर नहीं मिला था और वे प्रायः चुपचाप पीछे बैठे भाषण सुना करते थे। किन्तु जब एक दिन सहसा उनका मुंह खुला तो सभा में उपस्थित सभी सज्जन आश्चर्यचकित रह गये। उनका एक व्याख्यान 'दि क्लेम आफ संस्कृत आन यंग इण्डियंस' बड़ा ही प्रभावशाली रहा और इस प्रकार भाषणों के सिलसिले में ही वे साहित्यिक क्षेत्र में पूर्णतः प्रविष्ट हो गये।

सन् १९१२–१३ में जब 'गुजराती' सम्पादक श्री मणिलाल ने अपने सहकारी श्री अम्बालाल को मुंशी जी के पास भेज कर लघु कथाओं की माँग की तो मानो मुंशी जी के लिये साहित्याकाश का द्वार ही खुल गया। उन्होंने 'वेरनी वसूलात' चौदह आने प्रति

---

१. हिन्दी में इसका अनुवाद 'मेरी कमला' के नाम से इन पंक्तियों के लेखक ने करके दिल्ली से प्रकाशित कराया था।

कालम प्रति सप्ताह पर लिखना आरम्भ किया और इससे न केवल पाँच कालम प्रति अंक लिख कर चार-पाँच रुपये प्रति सप्ताह की कमाई शुरू कर दी अपितु उस कथा के उग्र प्रेम-प्रसंग ने कितनों ही को—यहाँ तक कि स्वयं मुंशी जी और लीलावती जी को प्रेम-बन्धन में बाँध लिया। इस प्रकार उनकी बड़ी रचनाओं में 'वेरनी वसुलात' पहली चीज़ थी, और इसका स्वागत गुजराती समाज ने बड़े ही तपाक से किया।

इसके पश्चात् तो मुंशी जी का साहित्य और पत्रकार जगत् में जबर्दस्त स्वागत हुआ और १९१५ में गुजराती दैनिक 'हिन्दुस्तान' ने दीवाली उपहार के रूप में इनकी 'पाटणनी प्रभुता' प्रकाशित की। इन्हें उसका पुरस्कार एक रुपया प्रति स्तम्भ के हिसाब से प्राप्त हुआ था। इस पुस्तक के प्रकाशन से जहाँ एक ओर बहुत-से जैनी नाराज हो गये और उन्होंने उन पर अभियोग चलाने की धमकी दी, वहां कुछ जैनी ऐसे भी निकले जिन्होंने इस रचना को जैनियों की कीर्ति बढ़ाने का निमित्त बताया।

१९१५ में 'कोनो वाँक' 'हिन्दुस्तान' (गुजराती) साप्ताहिक में प्रकाशित हुआ और इस प्रकार मुंशी जी की कीर्ति बढ़ते देख 'बीसमी सदी' (गुजराती) के सम्पादक श्री हाजी मुहम्मद अल्लारखिया ने उन्हें अपनी पत्रिका में लिखने के लिये आमंत्रित किया। आपने मुंशी जी को पाँच कहानियाँ लिखने के लिये ५०० रुपया देने का वचन दिया और 'गुजरातनो नाथ' तथा 'पृथ्वीवल्लभ', 'बीसमी सदी' में क्रमशः प्रकाशित हुए।

मुंशी जी ने श्री इन्दुलाल के साथ सन् १९१४ में ही 'सत्य' (गुजराती) मासिक निकाला था पर बाद में यह बन्द हो गया। सन् १९१७ से १९२० तक वे 'बीसमी सदी' के लिए धारावाहिक रूप में 'गुजरातनो नाथ' और 'पृथ्वीवल्लभ' लिखिते रहे। इस बीच मुंशी जी श्री जमनादास द्वारकादास के साथ 'यंग इण्डिया' के संयुक्त सम्पादक के रूप में काम करते रहे।

'बीसमी सदी' का प्रकाशन बन्द हो जाने पर मुंशी जी ने 'गुजराती साहित्य संसद' की स्थापना की और 'गुजराती' नामक मासिक सन् १९२२ में निकाला जिसमें 'राजाधिराज' (ऐतिहासिक प्रेम-कथा), 'वावासेठनुं स्वातंत्र्य' (सामाजिक नाटक) 'पुरन्दर-पराजय' (पौराणिक नाटक) और 'भगवान कौटिल्य' (ऐतिहासिक उपन्यास) प्रकाशित हुए। यह पत्रिका सन् १९२६ में त्रैमासिक बना दी गयी और बाद में जब सत्याग्रह-आन्दोलन की तैयारी हुई तो उसका प्रकाशन अनियमित हो कर बन्द हो गया।

किन्तु इधर नाटकों का प्रकाशन काफी आगे बढ़ा। 'अविभक्त आत्मा' (पौराणिक नाटक), 'स्वप्नद्रष्टा' (सामाजिक उपन्यास), 'बे खराब जन' (सामाजिक नाटक) 'तर्पण' (पौराणिक नाटक), 'आज्ञांकित' (सामाजिक नाटक), 'काकानी शशी' (सामाजिक नाटक) 'पुत्र समोवड़ी' (पौराणिक नाटक), 'ध्रुव-स्वामिनी देवी' (ऐतिहासिक नाटक), 'स्नेह-सम्भ्रम' (सामाजिक नाटक), आदि उन्हीं दिनों (१९२३ से १९३१ तक) प्रकाशित हुए।

इसके बाद जब सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ हुआ तो मुंशी जी अपनी लेखन-शक्ति अँग्रेजी पत्रों में लेख, वक्तव्य आदि प्रकाशित करने में लगाये रहे और जेल जाने तक यही करते रहे। इन दिनों राजनैतिक अखबारी लेखों की धूम में साहित्य-सृजन का काम स्थगित-सा हो गया क्योंकि १९३२ ई० से उनकी उल्लेखनीय कृतियों में केवल 'शिशु अने सखी' (गद्य-काव्य) और 'लोपामुद्रा' (वैदिक नाटक) ही उल्लेखनीय है।

सन् १९३४ में जब महात्मा गांधी की अध्यक्षता में इन्दौर में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन हुआ तो उनकी प्रेरणा से मुंशी जी भी उसमें भाग लेने के लिए वहाँ गये। वहाँ मुंशी जी ने उच्च साहित्य प्रकाशित करने के लिये एक अन्तर्प्रान्तीय साहित्य-प्रकाशन की योजना प्रस्तुत की जो साहित्य-जगत् में बहुत पसन्द की गयी, किन्तु उसके कार्यान्वय का भार भी इन्हीं पर पड़ा और उन्होंने इसके लिए अपने पास से ही धन की व्यवस्था की जिसके परिणामस्वरूप सन् १९३६ में 'हंस' लिमिटेड की स्थापना हुई और स्व० श्री प्रेमचन्द के तत्त्वावधान में वाराणसी से 'हंस' का प्रकाशन होने लगा, किन्तु डेढ़ वर्ष के बाद ही सरकारी प्रतिबन्ध लग जाने के कारण उसका प्रकाशन बन्द हो गया।

सन् १९३७ में जब मुंशी जी बम्बई प्रदेश के गृह मन्त्री बने तो उनके लेखन-कार्य में कुछ व्यवधान उपस्थित हुआ; किन्तु उन्हीं दिनों गुजराती साहित्य-परिषद के अध्यक्ष बनाये जाने के कारण उनकी साहित्यिक गतिविधि धीमी नहीं पड़ी। इसके बाद जब द्वितीय विश्वव्यापी महासमर छिड़ जाने पर काँग्रेस-सरकार के प्रान्तीय मन्त्रि-मण्डल भंग हुये और मुंशी जी १९४० में व्यक्तिगत सत्याग्रह में गिरफ्तार होने के बाद जब १९४१ में छूटे तो उन्हें फिर पत्रकार जीवन की ओर झुकने का अवसर मिला और उन्होंने अँग्रेजी साप्ताहिक 'सोशल वेलफ़ेयर' निकाला। यह १९४३–४४ तक चलता रहा। इसमें मुंशी जी ने अपनी 'भगवद्गीता ऐण्ड माडर्न लाइफ' (भगवद्गीता और आधुनिक जीवन), 'द चेंजिंग शेप आफ इण्डियन पालिटिक्स (भारतीय राजनीति का परिवर्तित रूप) 'द इण्डियन डेडलाक' (भारतीय गतिरोध) शीर्षक विचारोद्वेलक लेखमालाएँ चलायीं। इसी वर्ष १९३८ ई० में मुंशी जी ने 'भारतीय विद्या भवन' की भी स्थापना की।

सरदार वल्लभभाई पटेल के प्रयत्न से स्थापित अखिल भारतीय पत्र-प्रकाशन लिमिटेड की अध्यक्षता भी मुंशी जी ने की और उससे अँग्रेजी, मराठी, गुजराती के दैनिक पत्र प्रकाशित कराये, किन्तु बाद में जब सरदार जी के पुत्र डाह्याभाई पटेल ने उसका कार्य भार संभालना चाहा तो आप उससे तुरन्त अलग हो गये और अन्त में वह संस्था बुरी तरह समाप्त हो गयी।

सन् १९४६ में मुंशी जी ने अ० भा० हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के उदयपुर अधिवेशन की अध्यक्षता की तो अपने भाषण में उन्होंने साहित्य-प्रकाशन के साथ पत्रकारिता को दृढ़तर बनाने के लिए ठोस सुझाव उपस्थित किये।

यूरोप और अमेरिका की यात्राओं में मुंशी जी ने वहाँ के पत्र-संचालन और पत्रकार-जीवन का गहरा अध्ययन किया।

हैदराबाद में भारत-सरकार के एजेण्ट नियुक्त होने तथा भारतीय संविधान-परिषद में संविधान-रचना-समिति के सदस्य होने की हैसियत से उन्होंने अपने पत्रकार-जीवन के अनुभवों से काफी लाभ उठाया। यही नहीं, उत्तर प्रदेश के राज्यपाल की हैसियत से छह विश्वविद्यालयों के कुलपति होने पर पत्रकार-जीवन से सम्बन्धित प्रचारों से सुपरिचित होने के कारण वे समुचित विकास और प्रसार को महत्त्व देने के प्रयत्नों में लगे रहे।

मुंशी जी को पत्रकारिता के जीवन से बड़ा अनुराग है और अब भी भारतीय विद्या-भवन (बम्बई, दिल्ली, कानपुर और प्रयाग) से, जिसके वे कुलपति हैं, दो पाक्षिक पत्रिकाएँ (भवन्स जर्नल और 'भारती') क्रमशः अँग्रेजी और हिन्दी में उनके इस विषय के चाव के कारण ही सुन्दर और सुप्रचारित रूप में प्रकाशित हो रही हैं और भारतीय-संस्कृति के प्रचार में देश की एकमात्र माध्यम मानी जाती हैं। सत् १९५२ में मुंशी जी द्वारा आरम्भ की गयी 'कुलपति का पत्र' शीर्षक लेख माला अब भी इन पत्रिकाओं में निरन्तर रूप से प्रकाशित होकर भारतीय जीवन, जागृति और संस्कृति को प्रभावित कर रही है।

डॉ० बिपिन झवेरी

मुंशी : एक समग्र-दर्शन

जीवन

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी (उपनाम "घनश्याम") भरूच के भार्गव ब्राह्मण हैं। इनके पिता सरकारी अधिकारी थे और बड़ी ही वफादारी से उन्होने सरकारी नौकरी की। मुंशी का कुल सामान्य किन्तु जाना-माना और प्रतापी था। माता-पिता के एकलौते पुत्र कन्हैयालाल बचपन में वड़े ही शरमीले थे। बचपन में वह माणभट्ट की कथा सुनते और उसका असाधारण प्रभाव इनके ऊपर पड़ा था। इसी ग्राम में उन्होंने बाँकानेर नाटक-मंडली के बहुत से नाटक देखे और छोटे तथा बड़े त्रंबक को शिवाजी, नरसिंह मेहता इत्यादि का अभिनय करते देखा। प्रकृति से ही अत्यन्त कल्पनाशील मुंशी के ऊपर इन नाटकों ने भी बहुत प्रभाव डाला। बचपन से ही मुंशी ऐसी कल्पना करते जैसे कि वह किसी कहानी के नायक हों। इस बीच एक बार श्री मुंशी वायु-परिवर्त्तन के लिए सूरत के निकटवर्त्ती डुमस गये। वहाँ एक छोटी सुन्दर बालिका से उनका साधारण-सा परिचय हो गया। उनकी बालकल्पना पर इस बालिका ने निर्दोष प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

मैट्रिक होने के बाद मुंशी को बड़ौदा के कालेज में दाखिल होना पड़ा क्योंकि बम्बई की अपेक्षा बड़ौदा की शिक्षा सस्ती थी। कॉलेज में आरंभ में तो वह उपद्रव करते थे किन्तु बाद में कुछ आगे के विद्यार्थी बनकर वह प्राणलाल कृपाराम देसाई इत्यादि के समूह में सम्मिलित हो सके। कालेज-जीवन में उन्होंने पुरोगामी युग के विद्वानों-जितना तो नहीं किन्तु फिर भी पर्याप्त अध्ययन किया। नेपोलियन के जीवन-चरित्र तथा फ्रेंच क्रांति के इतिहास ने उन पर गहरा प्रभाव डाला।

बड़ौदा के कालेज में बी० ए० होकर, उन्होंने बंबई की काँदावाड़ी की सामान्य कोठरी में रहकर निर्धन स्थिति में एल-एल० बी० का अध्ययन किया। इसके बाद वह एडवोकेट के रूप में एडवोकेट भूलाभाई देसाई के पास काम करने लगे। कुछ समय तक उन्हें भूलाभाई की ओर से आवश्यक परिमाण में मार्ग-दर्शन नहीं मिला किन्तु बाद में मिलने लगा। इसी प्रकार उन्हें सर चिमनलाल सेतलवाड के मार्गदर्शन का लाभ भी मिला।

बंबई में रहते समय मुंशी श्री चंद्रशंकर नर्मदाशंकर पंड्या की सहायता से बंबई-निवासी नडियादी शिक्षित-समाज में प्रविष्ट हुए। इस प्रकार साहित्य-संसार में उनका प्रवेश हुआ।

कुछ ही वर्षों में मुंशी ने बम्बई के अच्छे वकीलों में स्थान पा लिया। इस सारे समय पत्नी अतिलक्ष्मी के साथ हुआ विवाह मुंशी के मन पर भार-रूप बना रहा। यह विवाह मुंशी के माता-पिता ने किया था। अतिलक्ष्मी सामान्य, सुशील, गृह-कार्य-कुशल तो थीं किन्तु स्वरूप या लावण्य में डुमस की उक्त बालिका के समान न थीं, न साहित्य-सृष्टि की नारियों की कोटि में आ सकने वाली थीं। किन्तु धीरे-धीरे मुंशी के मन ने कल्पना-सृष्टि छोड़ दी और अतिलक्ष्मी के साथ मानसिक समाधान हो गया। यहीं उन्होंने अपने आस-पास ज्योतीन्द्र दवे, भानुशंकर व्यास, "मस्त फकीर", विजयराय वैद्य इत्यादि उदीयमान लेखकों और कवियों की मंडली बनायी। मुंशी और उनकी मंडली ने साहित्य-परिषद् पर अधिकार किया तथा साहित्य-संसद की स्थापना की। इसी बीच अहमदाबाद के एक धनिक लालभाई सेठ की विदुषी पत्नी लीलावती सेठ के साथ उनका परिचय हुआ। मुंशी, अतिलक्ष्मी और लीलावती ने विलायत की यात्रा की। मुंशी की कल्पना में जो मूर्त्ति रमती थी, उसका आभास उन्हें लीलावती बहन में हुआ। लालभाई सेठ तथा अतिलक्ष्मी के देहान्त के बाद मुंशी और लीलावती बहन विवाह-सूत्र में बँध गये।

सन् १९२८ के बारडोली-आन्दोलन के समय मुंशी ने इसमें कुछ भाग लिया। १९३०-३२ ई० के आन्दोलन में जेल गये। व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ हुआ तब १९४०-४१ ई० में उनको और लीलावती बहन को फिर जेल जाना पड़ा। १९४७ ई० में जब स्वराज्य मिला तब मुंशी ने भारत के संविधान की रचना में सहायता की। इसके बाद हैदराबाद में भारत के एजेंट जनरल के रूप में उन्होंने अच्छा काम किया। बाद में वह भारत के खाद्यमंत्री नियुक्त हुए और फिर उत्तरप्रदेश के राज्यपाल बने।

उपन्यास

मूलतः व्यवसायी सदृश जीवन में भी मुंशी ने अनेकाविध साहित्यसर्जन किया है। गुजराती साहित्य को उनकी सबसे बड़ी देन—"पाटणनी प्रभुता" (१९१६), "गुजरातनो नाथ", "राजाधिराज". "जय सोमनाथ" और पृथ्वीवल्लभ"—ये उपन्यास हैं। सत्य ही, मुंशी गुजरात के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार हैं। उनके समय से पहले गुजरात में एक उपन्यास खूब लोकप्रिय हुआ था और वह था "सरस्वतीचन्द्र"। किन्तु "सरस्वतीचन्द्र" में उसके लेखक का उद्देश्य कथा के बहाने ज्ञानगोली खिला देना था। इसके विपरीत मुंशी सचमुच कथा कहने के उद्देश्य से ही कथा लिखते हैं। इसलिए निरर्थक विस्तार, पांडित्य-पूर्ण चर्चा तथा विषयान्तक, कथा-रूप में "सरस्वतीचन्द्र" के इन मुख्य दोषों से मुंशी बच सके। उनकी कथा अत्यन्त वेगमयी होती है, प्रसंग बहुत और रसपूर्ण होते हैं। चरित्र-चित्रण सजीव तथा संवाद सचोट और संक्षिप्त होते हैं। मुंशी मुख्यतः रंगदर्शी (Romantic) हैं, इसलिए स्वभावतः उनके उपन्यासों में चमत्कार और अद्भुतता व्यापक रहती है। एलेग्जेंडर ड्यूमा को मुंशी अपना कलागुरु स्वीकार करते हैं, इसलिए ड्यूमा की लेखन-पद्धति के समस्त अच्छे अंश मुंशी में संक्रान्त हुए हैं। कुछ स्थलों पर जाने-अनजाने मुंशी ने ड्यूमा की सामग्री का उपयोग भी कर लिया है। "विवेचनमुकुर" में श्री विश्वनाथ भट्ट ने "पाटणनी प्रभुता" के "हृदय अने हृदयनाथ" नामक सम्पूर्ण प्रकरण की अनेक पंक्तियों

की तुलना "थ्रीमस्केटियर्ज" की समानार्थ पंक्तियों के साथ की है। मुंजाल के चरित्र की कई रेखाएँ कार्डिनल रिशलियू पर से ली गयी हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त मुंशी ने परशुराम या कौटिल्य-जैसे प्राचीन पात्रों के गौरव का आलेख करने वाले उपन्यास भी लिखे हैं। साथ ही उन्होंने "वेरनी वसूलात", "स्वप्नद्रष्टा" तथा "कोनो वांक" इत्यादि सामाजिक उपन्यास भी गुजरात को दिये हैं।

बचपन से नाटक देखने के शौकीन मुंशी के उपन्यासों में अनेक नाट्यात्मक प्रसंग आते हैं जो वस्तु को इतना जीवंत और मूर्त्त कर देते हैं, मानो ये प्रसंग हमारी आँखों के सामने हो रहे हों। मुंशी के उपन्यासों में—विशेषकर ऐतिहासिक तथा प्राचीन उपन्यासों में—कहीं भी सामान्यता नहीं दीखती। बुद्धू और पागल माने जाने वाले गुजरातियों की बात होते हुए भी मुंशी के गुजराती पुरुष-मात्र नरपुंगव होते हैं, उनकी महत्त्वाकांक्षाएँ महान होती हैं और उनका प्रणय हृदय के स्पन्दनों तथा ऊष्मा से युक्त होता है। महत्त्वाकांक्षा सन्तुष्ट करने के लिए या प्रणय में सफल होने के लिए ये पात्र किसी भी तरह का जोखम उठाते घबड़ाते नहीं। मुंशी के स्त्री-पात्र भी अतिशय तेजस्वी होते हैं। उत्साहहीन कुमुद और गुणसुंदरी के पीछे मृणाल, मंजरी, काश्मीर तथा मीनलदेवी तक—अधिक चेतन, अधिक जीवंत, अधिक ऊष्मामयी लगती हैं।

इससे विपरीत एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है। मुंशी के पात्रों का आलेखन सुंदर है सही किन्तु वास्तविक कम है। मंजरी या काक—जैसे पात्र जीवन में कितने मिलते हैं ? मुंशी की देन भी बहुत है। किन्तु उस सबमें प्रतापी दुर्वंश पुरुषों तथा स्वच्छन्द, तेजस्वी, जाज्वल्यमान स्त्रियों की आवृत्ति भिन्न-भिन्न स्वरूपों में होती ही रहती है। इस कोटि से पृथक् पात्र मुंशी में कितने हैं ? और, क्या प्रतापी प्रतिभावाले पुरुषों को ही संसार में आदर्श माना जाता है ? प्रशान्त, महान आशयवाले धीर-गंभीर पुरुषों को नहीं माना जाता ? सच पूछिए तो जीवन का मूल्य सच्चे तत्त्वदर्शन से ही आँका जाता है। इसीसे "सरस्वती चन्द्र" अमर ग्रंथ माना जाता है और रमणलाल देसाई को सुसंस्कृत पाठकों का प्रेम प्राप्त है। क्या मुंशी के लिए ऐसा कह सकेंगे ?

मुंशी के ऐतिहासिक सर्जनों में सच्चाई नहीं है, यह एक बड़ा दोष है। प्रसंग और घटनाएँ कभी-कभी ठीक होती हैं किन्तु पात्र और विचार बिलकुल अनैतिहासिक होते हैं। उदाहरण के लिए लोपामुद्रा का वह प्रसंग देखिए जिसमें विश्वाराज्ञ अनार्यों को अपनाने का प्रयत्न करता है।

नाटक

मुंशी ने सामाजिक और पौराणिक नाटक भी लिखे हैं। जिस नैसर्गिक हास्यशक्ति ने उन्हें वरण किया है, वह उनके उपन्यासों की भाँति उनके नाटकों में भी दिखती है और विशेष व्यापकता से। "काकानी शशी", "ब्रह्मचर्याश्रम", "वे खराब जण", "पीड़ाग्रस्त प्रोफेसर" और "छीए ते ज ठीक"—ये उनके मनोहर, रोचक नाटक हैं। कहीं-कहीं प्रहसन (फार्स) के अंश धारण करते हुए ये नाटक अच्छी 'कॉमेडी' बन जाते हैं और लेखक की

कटाक्षशक्ति—आधुनिक समाज के दंभों तथा अभावों के प्रति उसकी वक्रदृष्टि—इनमें सरस रीति से खिल उठी है। मुंशी के पौराणिक नाटक उनके सामाजिक नाटकों की अपेक्षा साधारण कोटि के हैं। उनमें विस्तार अधिक है और जीवंतता कहीं-कहीं कम दिखती है। "तर्पण", "अविभक्त आत्मा" और "ध्रुवस्वामिनी देवी" को उनके अच्छे पौराणिक नाटक कहा जा सकता है। इनमें भी करुण और भयानक रस को आवेग से प्रत्यक्ष करता हुआ "तर्पण" सब प्रकार श्रेष्ठ है तथा गुजराती नाट्यसाहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। यह सब कहते हुए यह उल्लेखनीय है कि कुछ रूढ़िवादी विवेचकों की दृष्टि में "ब्रह्मचर्याश्रम" इत्यादि 'कॉमेडियों' में लेखक शिष्ट मर्यादा को बिलकुल भूल गया है और उसने 'गटर' के सर्जन किये हैं। वे कहते हैं:—"जिस हास्य को निष्पन्न करने के लिए बार-बार अश्लीलता का आश्रय लेना पड़े, उस कला को क्या नाम दिया जाय?"

कहानी और आत्मकथा

उन्होंने १६११ से कुछ लघुकथाएँ भी लिखी हैं। परन्तु लघुकथा के सृजन में उनको प्रथम कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। यह कहानियों में केवल नमूनों (types) का सृजन कर सकते हैं। उनकी कहानियाँ निर्बल हैं, इसका मुख्य कारण यह है कि वे उनके अभ्यास-काल के प्रयास हैं।

उन्होंने अपनी आत्मकथा भी लिखी है और वह "अऽधे रस्ते", "सीधां चढाण" और 'स्वप्रसिद्धिनी शोधमां'—इन तीन पुस्तकों में प्रकाशित हुई है। सब समर्थ लेखकों के प्रसंग को मिलाकर, उन्हें तीव्र करके कहने की शक्ति मुंशी में भी है और यह शक्ति इन तीनों आत्मकथाओं में हमें देखने को मिलती है। "शिशु अने सखी" में मुंशी ने लीलावती के प्रति अपने प्रेम का, नामांतर से, कुछ डोलन शैली में आलेख किया है। "स्वप्नद्रष्टा" में 'सुदर्शन' पात्र के द्वारा उन्होंने अपने कालेज-जीवन के कुछ भाग का (अधिक तीव्र बनाकर) आलेख किया है।

विवेचक मुंशी

सृजन में मुंशी जितने सफल हो सके हैं, उतने विवेचन में नहीं। विवेचन की उनकी मुख्य मुख्य पुस्तकें हैं:—"गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर", "थोडांक रसदशनो" "नरसैयो भक्त हरिनो", "आदिवचनो" (१—२), "नर्मद—अर्वाचीनोमां आद्य" और साहित्य-संसद के अंतर्गत विविध लेखकों की सहायता से तैयार की हुई "मध्यकालनों साहित्यप्रवाह"। "गुजरात ऐंड इट्स लिटरेचर" की पहली आवृत्ति में छोटी-छोटी बहुत-सी गलतियाँ होने पर भी, मनोहर भाषा में, किसी प्रकार के पूर्वगामी विवेचनों की अपेक्षा रक्खे बिना, गुजराती साहित्य का सर्वग्राही परिचय आकर्षक और सफल रीति से कराया है। 'थोडांक रसदर्शनों' में भक्ति के विषय में मुंशी की स्थापनाएँ तुरन्त स्वीकार की जा सकें, ऐसी नहीं हैं। इसमें तथा "आदिवचनों" के कई लेखों में लगता है जैसे आवश्यक अभ्यास तथा मनन के अभाव में, पाश्चात्य विवेचकों के विचारों का अनुसरण करके लिखा गया हो। "मध्यकालनो साहित्यप्रवाह" हमारे यहाँ अपने प्रकार का एकमात्र प्रयत्न है और इसलिए

तथा गुणवन्ता के बल पर प्रशंसा का एकान्त अधिकारी है। "नरसैयो" में मुंशी ने नरसिंह मेहता का समय--रूढ़ मान्यता का त्याग कर--अस्सी-नब्बे वर्ष निकट लाने का समर्थ प्रयत्न किया है। अपने इस प्रयास में वह कुछ अंशों में सफल हुए हैं तो दूसरी ओर उनके निजी लेखन के आधार पर भी यह समय बिलकुल इतना निकट लाना उचित नहीं दिखता। "आदिवचनों" में प्रेमानंद विषयक उनका व्याख्यान कदाचित् सर्वश्रेष्ठ है। अनेक कार्यों में रत मुंशी को जो समय सरलता से खाली मिला, उसका कुछ भाग उन्होंने सर्जनात्मक साहित्य को दिया, इस कारण विवेचन के लिए अपेक्षित स्थिरता मुंशी नहीं पा सके अथवा अपेक्षित अध्ययन नहीं कर सके--यह स्पष्ट दिखता है और इसीसे हमारे प्रसिद्ध विवेचकों की पंक्ति में वह स्थान नहीं पा सके।

विवेचक मुंशी ने शोध भी किया है और "नरसैयो" के अतिरिक्त "ग्लोरी दैट वाज़ गुर्जर देश" उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय ग्रंथ है। गुजरात विषयक उनकी ठक्कुर व्याख्यानमाला का भी इस वर्ग में समावेश हो सकता है। अँग्रेजी भाषा के शब्दशः अनुकरण, अशुद्ध गठन, अशुद्ध मुहावरे तथा अनुपयुक्त शब्द प्रयोग--ये श्री मुंशी की भाषा के मुख्य दोष हैं।

उपसंहार

अत्यन्त कार्यव्यस्त होते हुए भी अपनी व्यस्तता से चुराये हुए कुछ क्षणों में इस समर्थ सर्जक ने गुजरात को लगभग ५० पुस्तकें भेंट की हैं और इनमें एक भी तिरस्कृत करके फेंक देने योग्य नहीं है। अर्वाचीन गुजरात के समस्त सर्जकों में कथा तथा इसकी दृष्टि से विचार करते हुए मुंशी सर्वश्रेष्ठ सर्जक हैं और आगामी अनेक वर्षों तक उनकी जैसी शक्ति और प्रतिभावाला गुजराती उपन्यासकार या नाटककार मिलना दुर्लभ है। मुंशी ने गुजरात को पहली बार सिखाया कि आधुनिक उपन्यास का आदर्श क्या है। "कान्ता" और "राईनो पर्वत" से भिन्न, आधुनिक ढंग के नाटकों का आरंभ भी मुंशी ने ही किया। बटुभाई उमरवाडिया, चन्द्रवदन मेहता इत्यादि सभी आधुनिक नाटककारों को सहज ही मुंशी का उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। आधुनिक गुजराती साहित्य में ऐतिहासिक उपन्यास का सच्चा प्रारंभ मुंशी ने ही किया। और आज भी रस की दृष्टि से दूसरा कोई ऐतिहासिक उपन्यासकार उनको नहीं पा सकता। ऐतिहासिक उपन्यासों में मुंशी इतने सफल न हुए होते तो कदाचित 'धूमकेतु' भी ऐतिहासिक उपन्यास की ओर आकर्षित न होते। इसलिए गुजरात को ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा देने में मुंशी को ही निमित्त माना जाय तो इसमें अधिक अतिशयोक्ति न होगी। मुंशी की पहली कमी है--इतिहास के साथ ली हुई उनकी अनेक छूटें। परिणाम स्वरूप उनके ऐतिहासिक उपन्यास--चुन्नीलाल वर्धमान शाह के उपन्यासों की भाँति--अपने समय के वातावरण का वास्तविक स्वरूप न प्रस्तुत कर केवल "रोमान्स"--प्रायः अविश्वसनीय "रोमान्स"--बन जाते हैं। उनकी दूसरी कमी है--कम तैयारी के बावजूद विवेचन तथा शोध के क्षेत्र में किये हुए उनके कुछ साहस। यह सब होते हुए भी, सरलता से उनको गुजरात का सर्वश्रेष्ठ सर्जनात्मक गद्य लेखक कहा जा सकता है।

Shree Brijmohan Saksena

AS A YOUNG MAN SEES Mr. K. M. MUNSHI

Before you came the skies were dull and grey,
And dull unsmiling was the face of day,
And night was shadowed by a sense of pain;
You came, a million lights now burned anew,
The skies were lit, the day was fresh with dew,
The winds blew fragrant, and the valleys knew,
The singing patter of the springing rain.

Fair faces from the ancient ages gleamed,
Fair moments from the womb of ages seemed
To waken, and the joy of beauty glowed
In lustrous limbs and flower-burdened trees;
The earth grew radiant, and the restless seas
Knew once again the calm of silences,
As you your lone skiff through strange waters rowed—

The wild strange waters of Romance, whose shores
Know known margins, no familiar oars,
But tempt bold spirits to adventurous quest;
Where many founder on the rocks, and some
See the shore glimmer yet ere they reach home
Sweeps o'er their head the curling, plunging foam,
And lays them to their uneventful rest.

Yea, in the blazon of the names how few
Felt breath of success or its rapture knew,
Though many hungered for the quivering star;
You only in our base degenerate day,
Your head unbound with roses or with bay,
Found the safe margin where Fame's temple lay,
Where the great Masters and the Muses are.

मूल लेखक—श्री ब्रजमोहन सक्सेना

अनुवादक—श्री देवी शंकर द्विवेदी

श्री मुंशी : एक नवयुवक की दृष्टि में

न जब तक आये थे तुम यहाँ गगन था सूना और उदास
दिवस के निष्प्रभ मुख पर नहीं दीखता था स्मिति का आभास
वेदना की कोई चेतना ढके थी विभावरी की देह;
तभी तुम आये तो ज्योतियाँ जगमगा उठीं अनेक नवीन
गगन भी दीप उठा औ' दिवस युवा हो गया ओस में लीन
सुवासित पवन बह चला, और घाटियाँ जो थीं रागविहीन—
उन्हींमें गूँज उठा संगीत कि रिमझिम बरस रहा है मेह ।

उभरने लगे पुराने युगों में छिपे मुखमंडल अम्लान
जागने लगे युगों के अन्तराल में लीन दिवस छविमान,
और यह प्रोद्भासित हो उठा 'सुन्दरम्' का आनन्द अमाप—
दमकते अंगों में औ' सुमन-भार से नत विटपों पर आज,
कि ज्योतिष्मती हो गयी धरा, और उद्विग्न समुद्र-समाज—
आज फिर जान गया गम्भीर मौन की शान्ति का सुखद साज
कि ज्यों ही तुम एकाकी तरी खे चले उस 'सागर' को नाप—

अपरिचित 'सागर' जो उत्ताल : 'शौर्य-साहस' का पारावार
किनारे हैं जिसके निर्बन्ध, नहीं पहचाने हैं पतवार
'साहसी खोज' के लिए किन्तु शूर को लेता मोह तुरन्त;
बहुत-से जाते जल में डूब, शिलाएँ टकरातीं जब विषम,
दीखने लगता कुछ को तीर किन्तु घर पहुँचें इसके प्रथम—
उन्हें ढँक लेता धँसता फेन घुमड़ता हुआ लिये बल परम
और पहुँचा देता है वहाँ जहाँ पाएँ विश्राम अनन्त ।

प्रयासी बहुत, तालिका बड़ी; किन्तु कितने हो पाये सफल ?
ले सके कौन विजय की साँस ? कि जाना हो उसका सुख तरल,
किये यद्यपि बहुतों ने यत्न, छुएँ कम्पित-धुँधला आलोक—
लक्ष्य का; किन्तु आज के समय कि जिसमें दैन्य पतन एकत्र
तुम्हीं एकाकी ऐसे वीर, न जिस पर विजय-पुष्प या पत्र
किन्तु जो सकुशल उस तट गया कि जिस पर यश-मन्दिर का छत्र
जहाँ पर बसते सभी 'महान' : कलाओं-विद्याओं का लोक

श्री कुंजविहारी सी० मेहता

साहित्यकार श्री कन्हैयालाल मुंशी

वर्तमान गुजराती उपन्यास-साहित्य में श्री मुंशी का नाम बड़े महत्त्व का है। उनके आलोचकों को भी उनकी महत्ता स्वीकार करनी पड़ी है। मुंशीजी के साहित्य-सर्जन में उनकी प्रतिभा की छाप स्पष्ट दीख पड़ती है। उनका व्यक्तित्व उनके साहित्य में अंकित है। श्री मुंशी अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये जीवन एवं साहित्य में सतत मंथन करते रहते हैं। उनकी प्रतिभा गतिशील है और उनका व्यक्तित्व उत्तरोत्तर विकासोन्मुख, जीवन के विग्रह के बीच किसी भव्य आदर्श की ओर जाने वाला तथा नैतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने में सदा प्रयत्नशील है। वे अपनी भिन्न-भिन्न साहित्य-कृतियों में व्यक्ति पूजा के द्वारा आत्मसाक्षात्कार के आदर्श को प्राप्त करने के लक्ष्य से प्रेरित हुए हैं। महत्त्व की बात यह है कि मुंशी जी ने जीवन को विचारों के द्वारा गढ़ने का प्रयत्न किया है। जहाँ-जहाँ यह दिखाई देता है वहाँ-वहाँ मुंशी जी का व्यक्तित्व उनकी कृतियों पर जम कर बैठ जाता है। अपने व्यक्तित्व की संपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने साहित्य को साधन के रूप अपनाया है। उनकी कला रोमैंटिक तथा आदर्शवादी रही है।

श्री मुंशी स्वप्नद्रष्टा हैं। वास्तविक दुनिया में सन्तोष न पाकर वे आदर्श प्रधान साहित्य में उसकी खोज करते हैं। यथार्थ जीवन की न्यूनताओं की पूर्ति एवं अपने व्यक्तिगत जीवन की इच्छाओं की तृप्ति के हेतु वे साहित्य के साधन का आश्रय लेते हैं। मुंशी जी गुजराती साहित्य के सर्वप्रथम सजग साहित्यकार हैं। उन्होंने रोमैंटिक कथा को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करने की कला को सबसे पहले अपनाया है। इसमें उन्हें बड़ी सफलता मिली है। कथा का विन्यास मुंशी जी ऐसे सुन्दर ढंग से करते हैं कि पाठक चकित हो जाता है। मुंशी जी के उपन्यासों में आदर्शमय जीवन का दर्शन है, उष्मा-युक्त और रोमैंटिक प्रेम-भावना के द्वारा दो आत्माओं का पूर्ण एकत्व प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा है और वीर मानव का सर्जन तथा आर्य-संस्कृति का मूल्यांकन है। इन सभी लक्षणों ने उनके कथा-साहित्य को गौरव प्रदान किया है। उसमें एक कलाकार द्वारा अंकित जीवन का भावनाशील चित्र प्राप्त होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मुंशी जी के उपन्यासों ने हमारे उपन्यास-साहित्य का महत्त्वपूर्ण विकास किया है। परंपरा को भंग कर मुंशी जी ने स्वरूप का ऐक्य स्थापित किया है। उन्होंने परम्परागत शिथिल शैली का परित्याग किया है और पाठक को उबा उबा देने वाले लंबे-लंबे वर्णन भी उनके उपन्यासों में नहीं मिलते। उनकी कथाओं का वस्तु-विन्यास बहुत ही कलात्मक होता है। उनके उपन्यासों में वर्णनात्मक, नाट्यात्मक एवं चिंतनात्मक तत्त्वों का बड़ा सुंदर सामञ्जस्य है। इस कला के द्वारा उन्होंने आकर्षक वर्णन-शैली तथा शीघ्रता से प्रस्तुत होने वाले नाट्योचित घटना-विन्यास की योजना की है। उनके उपन्यास स्वरूप में संपूर्ण बने हैं। उपन्यास की रोमैंटिक कथावस्तु के लिए श्री मुंशी भारत के सुदूर भूतकाल का आश्रय लेते हैं तथा उसके कलात्मक विन्यास के लिए पाश्चात्य साहित्य से सीखी हुई कला का। इसीलिए उनके हाथों उपन्यास सच्चे अर्थ में उपन्यास बनता है।

श्री मुंशी की कला सादी और सरल है। कथा स्वयं ही उसकी कथावस्तु है। वे केवल रोमांचकारी प्रसंगों को प्रस्तुत ही नहीं करते, अपितु इन प्रसंगों को वे इस तरह ग्रथित करते हैं कि पात्रों के पारस्परिक संघर्ष से समग्र प्रसंग नाट्यात्मक बन जाता है। मुंशी जी संवादों के द्वारा पात्रों को सजीव बनाने में सिद्धहस्त हैं, इस कारण ये नाट्यात्मक प्रसंग बहुत ही रसमय बन सके हैं। चमत्कारपूर्ण कथोपकथन से पात्रों का कार्यकलाप घटनाओं के साथ गुँथ जाता है। मुंशी की वस्तुविन्यास की दृष्टि बहुत रसमय होने के कारण कहानी की भिन्न-भिन्न कड़ियाँ बड़े सुन्दर ढंग से एक दूसरे के साथ जुड़ जाती हैं। जहाँ भूतकाल की कोई बात कहने के लिए कथा-प्रवाह को रोकना पड़ता है वहाँ वे सूत्रात्मक प्रणाली का आश्रय लेते हैं। उनका लक्ष्य कथा के रसप्रवाह पर केंद्रित होने के कारण उनके उपन्यासों में कहीं शुष्क वर्णन, सीधे उपदेश या नीतिबोध बिलकुल नहीं है।

रोमैंटिक कलाकार जब वर्तमान के संघर्ष में आता है तब वह भूतकाल का आश्रय लेता है। मुंशी जी भी ऐसा ही करते हैं। उन्हें राजनैतिक परतन्त्रता, आर्थिक दासता एवं नैतिक पतन बहुत अखरते हैं। भूतकाल का गौरव ही वर्तमान की अपूर्णता को दूरकर सकता है, इसलिए आधुनिक काल के निरूपण को छोड़कर वे गुजरात के सबसे अधिक गौरवशाली युग चालुक्य काल की ओर मुड़ते हैं। मुंशी जी स्वभाव से रोमैंटिक कलाकार होने के कारण मानव जीवन की व्यक्तिगत या जातीय और राष्ट्रीय भव्यता की ओर बहुत आकर्षित होते हैं। जब-जब प्रेम या युद्ध-जीवन के प्रति उत्साह या मृत्यु का तिरस्कार मानव के प्रति अथवा आदर्श के प्रति सच्चाई मनुष्य को नायक (Hero) का महान पद प्रदान करते हैं, तब-तब मुंशीजी का हृदय अत्यंत उल्लसित होता है। यह नायक जनता का नेता हो तो वह नैतिक अथवा राजनैतिक संघर्ष के समय जनता में श्रद्धा एवं चेतना भरता है और जनता के सद्गुणों को प्रकाश में लाता है, जिससे समस्त जाति उस नायक की छाया में चमक उठती है। ऐसा नायक सामान्य मनुष्य से निराला होता है। वह विजयी जाति का प्रतीक बन कर उनकी संयुक्त आकांक्षा को मूर्तिमान् बनाता है। यदि वह नायक किसी आदर्श अथवा विशिष्ट विचार से प्रेरित हो और उसे मूर्त स्वरूप देने के लिए अपने जीवन की समग्र शक्ति का व्यय कर रहा हो तो वह मानवता की दीप्ति से युक्त देवता

की तरह प्रकाशमान् बनाता है। मुंशी जी की वीर पात्रों के विषय में ऐसी भावना है। नायक विषयक उनकी यह भावना उनके जीवन का आदर्श प्रस्तुत करती है।

श्री मुंशी जी ने अपनी भावना के अनुरूप वीर पुरुषों की खोज के हेतु इतिहास का अनुशीलन किया है। जहाँ तक उनके ऐतिहासिक उपन्यासों का सम्बन्ध है, उन्होंने ऐसे वीर पुरुषों के लिए गुजरात, मालवा तथा मगध के ऐतिहास की गवेषणा की है और मुंजाल जैसे वीर पुरुषों का अपनी मनोभावना के अनुरूप निर्माण किया है। आदर्शमय बने हुए ये पात्र और जीवन का गतिशील दृष्टि बिन्दु मुंशी जी के उपन्यासों को गहन रहस्य प्रदान करते हुए उनके जीवन दर्शन को स्पष्ट करते हैं। उनका प्रत्येक वीर पुरुष किसी राष्ट्रीय, नैतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक अथवा मानवीय आदर्श का प्रतीक होता है, परन्तु चालुक्य वंश के गुजरात से सम्बन्धित ऐतिहासिक उपन्यासों में चित्रित वीर पुरुष महान युग की आत्मा को मूर्तिमान करते हैं।

मुंशी जी के नाटकों को सामाजिक तथा पौराणिक, इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। नाटकों के अध्येता को प्रथम दृष्टि में ही इन वर्गों को एक दूसरे से अलग करने वाले लक्षण दिखाई दे जाते हैं। मुंशी जी ने अपने उपन्यासों की रचना का प्रारंभ सामाजिक उपन्यास से किया, परन्तु मुंशी जी स्वभाव से आदर्शवादी तथा रोमैंटिक लेखक होने के कारण सामाजिक कथावस्तु उनकी कल्पना के अनुकूल नहीं पड़ी। सामाजिक साहित्य के सर्जन में हम यथार्थ की अपेक्षा रखते हैं जब कि रोमैंटिक साहित्य कल्पना प्रधान तथा आदर्शवादी होता है। इन दोनों तत्त्वों को कला के एक ढाँचे में बिठाने के लिए लेखक में असाधारण कौशल होना आवश्यक है। मुंशी जी को इसका ध्यान है। अतः अपनी कल्पना के लिए सामाजिक जीवन अपर्याप्त लगने पर उन्होंने इस क्षेत्र को छोड़कर इतिहास और पुराणों को अपनाया, और इसमें उनकी प्रतिमा का पर्याप्त विकास हुआ।

श्री मुंशी के सामाजिक तथा पौराणिक नाटकों के विभेदक लक्षणों में उन नाटकों की भिन्न-भिन्न प्रतिपादन शैली और उनकी पृष्ठ भूमि में निहित जीवन-दर्शन का स्थान सर्व प्रथम है। सामाजिक नाटकों में मुंशी जी ने अपने आसपास के समाज में दीख पड़ने वाली निर्बलता, दंभ तथा कामुकता पर कठोर प्रहार किया है और भंडाफोड़ कर उन सबका उपहास किया है। उस समाज में उन्हें कुछ भी आदर पात्र, प्रेरक या पवित्र नहीं प्रतीत हुआ, इसलिए उन्होंने इन सब की खिल्ली उड़ाते हुए प्रहसन-सदृश सामाजिक नाटक लिखे।

पौराणिक नाटकों की कथा वस्तु का उपयोग उन्होंने अपने आदर्श-निरूपण में किया। किसी समय प्राचीन आर्यों का जीवन कितना गौरवशाली था, उनके तप और श्रद्धा, पुरुषार्थ और संयम कितने मानास्पद थे, जीवन के मूल्यों को सुरक्षित रखने और आचरण में लाने में वे सब कितने तत्पर थे, आन के लिए व्यक्तिगत हिताहित को वे कैसे भुला देते थे, यह सब मुंशीजी ने इन नाटकों में प्रकट किया है। अनेक प्रलोभनों के आन्तरिक संघर्ष के अन्त में स्त्री द्वारा अपनी शील-रक्षा तप तथा श्रद्धा के परिणामस्वरूप दो आत्माओं का अद्वैत गुरु की आज्ञा शिरोधार्य कर अपनी प्रियतमा का शिरच्छेद करने का कर्त्तव्य, अपने प्रणय का

त्याग कर पिता के साथ रहते हुए स्वराज्य-प्राप्ति की अभिलाषा, इस प्रकार की अनेक उदात्त भावनाएँ इन नाटकों में हैं।

स्वरूप की दृष्टि से भी मुंशी जी के नाटकों का हमारे नाटक-साहित्य में नया कदम हैं। उनके सभी नाटक—वेद की कुछ ऋचाओं को छोड़ कर—पूर्णतः गद्य में लिखे गये हैं। उनमें से कुछ तीन अंकों के और कुछ पाँच अंकों के हैं। 'लोपामुद्रा' के अपवाद के सिवा अन्य नाटकों में अंकों को भिन्न-भिन्न प्रवेशों में विभक्त नहीं किया गया। संघर्ष के तीव्र आवेग एवं वेगवती सक्रियता के कारण ये नाटक बहुत रसप्रद बने हैं। कथोपकथन आकर्षक हैं। कथोपकथन को भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने की कला में मुंशी जी गुजराती साहित्य में अद्वितीय हैं। चुटीले वाक्य शब्दों का तेजी से आदान प्रदान, पात्रोचित उक्तियाँ—मुंशी जी के कथोपकथन की ये विशेषताएँ हैं। पात्रों की विविधता तथा उनका भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व नाटक के मूल्य में अभिवृद्धि करते हैं। अपनी टेक पर सर्वस्व की बलि देने को तत्पर तपस्तेज से सुशोभित, जीवन-दर्शन को स्थापित करने वाले पात्र रंग-मंच पर विचरण करते हैं। पौराणिक नाटकों में लोग पौराणिक वातावरण की अपेक्षा रक्खें यह स्वाभाविक है। परन्तु मुंशी जी पौराणिक पात्रों द्वारा अपने युग की समस्याओं का निरूपण करते हैं। फलतः उनमें आधुनिकता का प्रवेश हो ही जाता है। नाटक का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण अभिनेयता है। मुंशी जी वस्तु को मूर्तिमान् बनाने की कला में सिद्ध हस्त हैं। उनके उपन्यासों की घटनाओं की नाटयात्मकता में भी उनकी इस कला के दर्शन होते हैं। नाटक-जैसी विषय-प्रधान (Objective) तथा मूर्त कला को मुंशी जी अत्यंत सरलता के साथ विकसित कर सके हैं। उनके नाटकों में अभिनेयता का गुण पर्याप्त मात्रा में है।

ऐसा ही हो तो अंधकार में कब तक और क्यों भटका जाय? निरपेक्ष सत्य क्या है?"[२] इस महातर्क-जाल में कोई भी तत्त्वचिंतक फँसे बिना नहीं रहा। इसलिये भूतकालीन भूल में न भटकते हुए श्री मुन्शीजी निम्नांकित सिद्धान्त स्थिर करते हों ऐसा लगता है।

The secrct of life worth living is finding out our talents and using them to the fullest extent; finding out our weaknesses and turning them into Strong points. You may not have natural abilities but there is no reason why you should not cultivate them. It needs only the desire and persistent application. Cultivate the belief that every thing within-reason is attainable if it is persistenty strived after.[३] श्री मुन्शी जी के किसी भी पात्र को लीजिये। वह जिस तरीके से जीवन यापन करता है उसी तरीके से जी सकते हैं, जीना चाहिये एसी दृढ़ मान्यता लेखक हम पर डाल सकता है और वहीं पर उनकी विजय है। प्रत्येक पात्र एक दूसरे से भिन्न हैं, फिर भी जाज्वल्यमान है; प्रत्येक का जीवन ध्येय भिन्न है फिर भी उसके लिये तैयारी और आकांक्षा सबमें एक सदृश है। "हाय! इस जीवन में मुझे अनुकूलता ही नहीं मिलती! मेरा क्या होगा? इस जिन्दगी में तो इतना दुःख मिला—अब क्यों पाप किया जाय कि जिससे आने वाला जन्म भी बिगड़ जाय?" ऐसी विचारधारा लेखक को मान्य नहीं है। निर्बल का ही वह वह तत्त्वज्ञान है। उनके मन में तो निष्क्रिय जीवन जीने से भय-पूर्ण साहसी जीवन जीने में भी आनंद है।[४] ईश्वर हो या न हो, परलोक हो या न हो, पाप पुण्य हो या न हो किन्तु यह जीवन है यह बात तो सत्य है। उसकी गुप्त शक्ति को अभिव्यक्ति कीजिये और उसको पूर्णतया विकसित कीजिये। जीवन-ध्येय और उसकी

---

(२) तुलना कीजिये, ट्रीटाइज़ ऑफ ह्यूमेन नेचर में में—ह्युम के निम्नोक्त वाक्य।

"The intense view of these manifold contradictions and imperfections in human reason has so wrought upon me and heated my brain that I am ready to reject all belief and reasoning and can look upon no opinion even as more probable or likely than another Where am I or what? From what causes do I derive my existence and to what condition shall I return?..............I am confounded with all these questions and begin to fancy-myself in the most deplorable condition imaginable, environed with the deepest darkness and utteryl deprived of the use of every member and faculty"

(३) ए शॉट फॉर टु डे टाइम्स ऑफ इण्डिया—११ जून १९४०।

(४) तुलना कीजिये: A dangerous life is far nobler than one of passive in sipidity' श्री मुन्शी कृत "गुजरात एन्ड इटस लिटरेचर" पृष्ठ ३४०।

सिद्धि :—इसके लिये संपूर्ण जीवन को निछावर कर दो। परलोक होगा तो पूर्ण विकसित शक्ति से श्री गणेशाय नमः करना होगा, इससे वह भी लाभप्रद है ही। असत्य-मार्ग में विकसित शक्ति को सत्य मार्ग में लाने में देर नहीं लगेगी, एक मोड़ ही की आवश्यकता होगी, लेकिन शक्ति ही जिसने विकसित नहीं की होगी उसके लिये बचने का कोई उपाय नहीं। नायग्रा के प्रपात में पत्थर की चट्टानों को भेदने की ताकत थी तभी वह विद्युत-उत्पादक रूप में परिवर्तित की जा सकी; लेकिन वह शक्ति ही न होती तो क्या कुछ हो सकता था? श्रीमुन्शी जी का कोई भी पात्र लीजिये—उपन्यास का, कहानी का या नाटक का उस प्रत्येक पात्र के पीछे जिजीविषा और विजिगिषा ये दो महान् भावनाएँ कार्य करती दिखाई पड़ती हैं। महान जर्मन दार्शनिक नित्शे के "सुपरमैन की की कल्पना भी कुछ ऐसी ही है। "हरि-जन बन्धु" में महात्मा जी कुछ इसी प्रकार की बात लिखते हैं[५] और गीताकार भगवान् व्यास भी "कर्मण्ये वा धिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" जैसे सूत्रों द्वारा यही कहना चाहते हैं। जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण ठीक त्रिकालाबाधित सनातन सत्य के जैसा ही है। तार्किक दृष्टि से वह अकार्य्य है। बहुत असत्य साबित हुआ है; सब कुछ असत्य साबित हो, लेकिन यह सत्य सनातन ही रहेगा—बस विकास कीजिये; अस्मिता प्रकट कीजिये; जीवन को जीना जानिये। साहित्य के द्वारा नव गुजरात के चरणों में श्री मुन्शीजी ने जो कुछ रक्खा है वह देखते हुये यह सहर्ष कहना पड़ेगा कि नूतन गुजरात को गढ़ने में श्री मुन्शी जी का भाग इस दृष्टि से सब से ऊँचा है।

इस मनोदशा का अनिवार्य परिणाम है:—यथार्थ—दर्शन। उत्तंग व्योम-विहार और व्यर्थ आदर्शवाद की पूर्व भूमिका इस प्रकार के लेखक के मानस में नहीं मिल सकते। श्री मुन्शी जी की और कवि श्री नानालाल की कृतियों में यही महत्त्वपूर्ण और मौलिक भेद है। कवि श्री नानालाल जीवन के आदर्श—विशेष सफल न हो सकने वाले आदर्श—पात्रों के द्वारा उपस्थित करके, इस दुनिया को सुधारना चाहते हैं; जबकि वास्तवदर्शी श्री मुन्शीजी जीवन के कैसे भी साधारण और कैसे भी गन्दे प्रसंगों में भी जीवन की अस्मिता प्रकट करने की कला सिखाते हैं। उनकी दृष्टि से यह जीवन एक तथ्य है,[६] माया नहीं। इस जीवन के स्वर्ग को यहीं स्थापित करना चाहते हैं, उसके लिये बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। जीवन का वास्तविक आनंद प्रगतिशील रहने में ही है; व्यक्तित्व को व्यक्त करने में और विकसित करने में ही है[७] आदर्श की कल्पना

(५) हरिजन बंधु—६ जुलाई १६४०।

(६) तुलना कीजिये: But life in its reality is sacred to me; not so much the laws made to bind it.' श्री मुन्शी कृत 'गुजरात एण्ड इटस लिटरेचर' [१६३५] पृष्ठ ३२७।

(७) तुलना कीजिये : Beauty in life as in literature lie, only in attempts to achieve 'Becoming of evergrowing magnitude' श्री मुन्शी कृत 'थोडांक रस दर्शनो' पृष्ठ १३।

करके उसके अनुरूप जीवन गढ़ने में और बिताने में; और जीवन में उल्लास को प्रकट करके उसी को संपूर्णतया विकसित करने में प्रयत्न तो एक समान ही है फिर भी प्रथम कार्य दुष्कर है जबकि दूसरा तो लगभग स्वायत्त है और इसीलिये जया-जयन्त सौ में दो ही को आकर्षित करते हैं; जब कि मुंशी जी के सामाजिक नाटक शाश्वतदर्शी होने की वजह से समाज जब तक रहेगा तब तक रहेंगे। कवि श्री नानालाल के जया-जयन्त; उषा जैसे पात्र गगन बिहारी हैं; जबकि जोईता, सविता, और हरकिसनदास तो इस दुनिया में विहार करने वाले हैं। उनको पृथ्वी पर पैर रखना पसन्द नहीं; घृणा होती है; जबकि दूसरे तो दुनिया में रह करके दुनिया को उज्ज्वल बनाना चाहते हैं। "They want to drink the cup of life to its lees" दूसरे के महल को देखकर घर की कुटिया क्या छोड़ी जा सकेगी? और वह गगन-स्थित महल वहाँ पर हैं कि नहीं यह भी सवाल है, उससे कुटिया को ही लीप पोत के, सुधार सुशोभित करके नहीं रहेंगे? पाठक क्या पसंद करेगा? और उस कुटिया में रह करके-आगे बढ़ करके-दुनिया ही में महल कहाँ नहीं बनाये जा सकते कि आकाशीय महलों में जा बसें?

यह तो श्री मुंशी जी के तत्त्वज्ञान का साधारण निरूपण हुआ। यह तत्त्वज्ञान हम को पचने में कठिन महसूस न हो इसके लिये उन्होंने उपन्यासों में और ज्यादातर सामाजिक नाटकों में हास्य का कटाक्ष का व्यंग्य का प्रचुर मात्रा में सफल उपयोग किया है। कुछ स्थानों में जैसे "ब्रह्मचर्याश्रम" और "आज्ञांकित" में यह हास्य अतिशयोक्ति का रूप धारण करता है तब हमें वह, कला की दृष्टि से क्षम्य हो तो भी, ऐसा अवश्य लगता है कि प्रतिभा की अतिशयता ने वहाँ सहज असुन्दर स्वरूप धारण किया है और उतना रुचिकर नहीं है।[८]

श्री मुन्शी जी की ब्रह्मचर्य विषयक भावना उनकी वास्तवदर्शी दृष्टि के विशिष्ट प्रतीक समान है। "परिणीत होना यानी प्रभुता में कदम रखना" इससे वह कवि श्री नानालाल के समान ही सहृदयता के साथ सहमत हैं, लेकिन परिणीत होना यानी जातीय आकर्षण से भागते फिरना ऐसा तो नहीं ही। संसार यदि प्रणय-प्रेरित हो तभी वह शोभित होता है फिर भी जातीय भावना उस प्रणय में प्रविष्ट नहीं हो सकती ऐसा वह आवश्यक नहीं समझते। और इसीलिये तो वह "ब्रह्मचर्याश्रम" में गँवारन पमेली के पीछे बेरीस्टर नरोत्तम को और "आज्ञांकित" में जोइता को सचिता के पीछे पागल बनाकर छोड़ते हैं। यह सत्य है "बलवान् इन्द्रिय ग्रामोविद्वांसमपि कर्षति"[९] कोई अपवाद मिल सकता है लेकिन उससे क्या? बुभुक्षा और रिरसा ये दोनों अन्तर्वृत्तियाँ विधाता ने सृष्टि के आरम्भ में ही रखी हैं। उससे जल जायेंगे और ऐसा मानकर उससे भागना और

---

(८) तुलना कीजिये: 'The truth is that it is almost fatal to have to much genius as too little' लीटन स्ट्राची: पोर्ट्रेटस इन मीनीएचर (१९३३) पृष्ठ १८४।

(९) मनुस्मृति: २; २१५।

जबर्दस्ती भी संयम पालन करना बिलकुल कृत्रिम है "Marriage is a biological necessity" ब्रह्मचर्य प्राकृतिक धर्म नहीं है[१०]। इसी हेतु श्री मुन्शी जी अपने सभी पात्रों को जातीय भावना के शिकार बनाते हैं।

स्त्री-स्वातंत्र्य का उनका विचार भी बहुत ही वास्तविक है। जर्मन तत्त्वज्ञ शोपेन हाइएर की जैसी विचारणा है वैसा ही श्री मुन्शीजी का स्त्री-विषयक अभिप्राय हो ऐसा लगता है। पुरुष की अर्धाङ्गिनी बन कर, बनी रहकर, पुरुष की पूर्ति के रूप में कार्य करे तभी स्त्री स्त्री की हैसियत से जी सकती है। स्त्री-स्वातंत्र्य के माने स्त्रियों का पुरुषों से स्वतंत्र हो जाना ऐसा नहीं[११]। आंग्ल कवि टेनिसन "प्रिन्सेस" में इस भावना की खबर लेते हैं, उसी तह्रीके से मुंशीजी भी "काका नीशशी" में इस मान्यता के प्रति वेधक कटाक्ष करते हैं। मनहरलाल आता है तब गंगा ऐनक साफ करने लग जाती है, शिव गोरी जरा सा कपड़े को ठीक करती है और पिरोजा पाउडर का आश्रय लेती है। ऊपरी अधिकारी आ जाय और नौकर जैसे सब व्यवस्थित करने लग जाता है वैसा ही कुछ यह भी है। ऐसा उपहास करने वाला लेखक फिर भी कैसे उज्ज्वल, प्राणवान् स्त्री पात्र रच सका है? मोहन मेडिको से रंभा, जोइते से सविता और डाक्टर मधुभाई से पेमली कितने सुन्दर, उज्ज्वल और छटामय लगते हैं? विशिष्टि रीति से वह स्त्री पात्र पुरुष पात्रों से उदात्त हों, व्यक्तित्व वाले हों, अस्मितायुक्त हों लेकिन संसार कब शोभित हो उठता है? जीवन मस्ती का प्रतिरूप कब बनता है? जब स्त्री पुरुष की अर्धाङ्गिनी बन कर रहे तभी। यह भावना सभी नाटकों में सूत्र रूप से सर्वत्र विद्यमान रहती है।

वास्तववाद वस्तु से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है इससे दम्भ या पर्दा उनको मान्य नहीं है। श्रीयुत न० ज० त्रिवेदी की ऐसी मान्यता है कि श्री मुन्शीजी का वास्तव-दर्शन पश्चिम और पूर्व के संघर्ष से उत्पन्न बुद्धिवाद का परिपाक है[१२] यह मन्तव्य बहुत मनन के बाद स्वीकार्य नहीं जान पड़ता। श्री यशवंत पंडया के वास्तव दर्शन का उत्स पश्चात्य साहित्य में से मिल सकता है। उनके नाटकों (जैसे अ० सौ० कुमारी) पर आस्कर वाइल्ड, हेनरिक इब्सन का असर अवश्य है। इससे मौलिकता जैसी होनी

---

(१०) तुलना कीजिये: "मनहरलाल—शशि जब छोटी थी तब मैंने एक शक्कर के हाथी को लाकरके काँच की अल्मारी में रखा था। वह हर रोज अल्मारी के पास जाकर हाथी मीठा लगेगा ऐसी कल्पना करके मुँह में पानी लाया करती थी। मुझे जीभ वलवलाने के लिये रूठी नहीं चाहिये। मुझे तो जागृत ज्योति के समान स्त्री चाहिये। श्री मुन्शी कृत "काकाजी शशि" (१९२९) पृष्ठ २९।

(११) तुलना कीजिये: न. ज. त्रिवेदी: "केटालांक विवेचनो" (सन् १९३४) पृष्ठ ९२।

(१२) तुलना कीजिये: न. ज. त्रिवेदी "केटलांक विवेचनो" (सन् १९३४) पृष्ठ ४१।

चाहिये वैसी न होने के कारण केवल अनुकरण अर्थविहीन और आनन्दविहीन हो गया है और श्री पंडया के नाटक स्थायी आनन्द दे सकने वाली नहीं रहे हैं। पात्रों में जो वेग होना चाहिये वह भी नहीं है। मर्यादा रहित अश्लीलता सुरुचि को आघात पहुँचाती है। इन नाटकों से श्री बटुभाई उमरपाडिया के नाटक जैसे "लोम-हर्षिणी" फिर भी विशेष मौलिक गिने जा सकते हैं और उससे भी अधिक मौलिक और वास्तवदर्शी नाटक श्री चंद्रवरन मेहता का "आगगाड़ी" है। श्री उमाशङ्कर जोशी के नाटक "सापना लारा" को भी इसी श्रेणी में रख सकते हैं; जब कि श्री मुन्शी जी के नाटकों के विषय में कुछ और ही है। अपने वास्तववाद की लहर के लिए सहवर्ती पूर्ववर्ती पाश्चात्य वास्तवाद से तनिक भी प्रेरणा नहीं ली है; वस्तु को उपस्थित करने के योग्य उातावरण और विधि पाश्चात्य साहित्य के गम्भीर और तलस्पर्शी अध्ययन के कारण उनमें अनायास भले ही आ जाते हों। श्री मुन्शीजी के सामाजिक नाटकों में से किसी भी पात्र को लीजिये, वह उतना प्रभावशाली वेगवान् और जीता-जागता (life like) लगता है कि उसको अनुकरण कह ही नहीं सकते। अनुकरण और सफल सर्जन का भेद पढ़ते ही प्रकट हो जाता है। सफल सर्जक वक्ता नहीं होता, वह तो पात्र के पीछे पात्र प्रस्तुत करता जाता है। भाषा के चुनाव और वातावरण की रचना के लिये वह रुकता नहीं है। पढ़ने ही लगता है जैसे हम ऐसा कुछ पहले भी जान देख चुके हैं। पात्र नवीन-जैसे नहीं लगते। संक्षेप में, उनमें कृत्रिमता तनिक भी नहीं होती। श्री यशवंत पंडया के नाटक कृत्रिम और आयास-साध्य हों ऐसा लगता है। श्री बटु भाई के नाटकों में मानस-शास्त्र के गूढ़ प्रश्न उपस्थित होते हैं, जब कि श्री मुन्शी जी के सामाजिक नाटक ठंडे कलेजे से और आराम से पढ़ने योग्य हैं। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि श्री मुन्शी जी वास्तववाद के आद्य प्रणेता हैं। उनका जीवन-दर्शन ही कुछ इस प्रकार का है कि उनको वास्तववादी बनना ही पड़ता है। वह दूसरी माथापच्ची में नहीं पड़ते। समग्र जीवन जिस प्रकार से जिया जा रहा है उसको अनावृत करके उस पर प्रहार करके, दिल्लगी उड़ा के जिस तरीके से जीवन जीना चाहिये उसका दर्शन हमको कराते हैं। किस पात्र के प्रति श्री मुन्शीजी के सहानुभूति है उसको समझते हमें देर नहीं लगती। जो पात्र विकास-शील हो, शक्ति की बौछारें जिससे फूटती हों, उस पात्र के प्रति श्री मुन्शीजी की सहानुभूति होती है और उस पात्र के द्वारा ही गुजरात को अस्मिता का सन्देश मिलता है। कंगाल-जीवन जीकर दया-याचना करते रहना उनको पसंद नहीं। समाज के किसी भी स्तर में रह कर अपने प्रिय आदर्शों की सिद्धि के लिये जीवन बिताने वाला मानव ही सच्चा मानव है, प्रसंगों की अनुकूलता के लिये दैव के ऊपर आश्रित रहने वाला उनके अनुसार मूर्ख है। "दैवयत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्"[१३] यह उनका सिद्धान्त-वाक्य है। श्री मुन्शीजी ने अपनी साहित्य-कृतियों के द्वारा पुराण-प्रिय गुजरात में नवीन प्राण प्रतिष्ठा की है, ऐसा कहे बिना नहीं रहा जा सकता।

सामाजिक दंभ को अनावरण करने के लिये लेखक अतिशयोक्ति का आश्रय लेते समय ऐसा मार्ग अपना सकता है जो हमारी रसवृत्ति या सुरुचि को अमान्य हो। यह

---

(१३) वेणीसंहार—३; ३३।

ठीक है कि सफल कलाकार इस विषय में सतर्क रहते हैं। और अपना आशय किसी विशेष रीति के द्वारा किसी विशेष काल में कहते हैं। इसके विपरीत भी बहुत से उदाहरण मिलते हैं—संस्कृत साहित्य और प्राचीन गुजराती साहित्य दोनों में। वास्तव-दर्शन कराने के लिये कविकुलगुरु कालिदास ने[१४] कवि हाल ने, अमरुक ने और सुरत-संग्राम में नरसिंह मेहता ने मर्यादा को ध्यान में नहीं रखा है। अर्थात् वास्तव दर्शन वास्तव दर्शन ही है उसका अपना स्वतंत्र महत्त्व है। इसीलिये उपर्युक्त अमर कवियों की कलाकृतियों की तरह श्री मुन्शीजी की कलाकृतियाँ भी यावच्चन्द्र दिवाकरौ जीवित रहन के लिये सर्जित हुई हैं।

---

(१४) ऋतुसंहार—२; ११।

डॉ० भानुशंकर मेहता

मुंशी—साहित्य के कुछ विशिष्ट तत्त्व

किसी साहित्यकार की समालोचना करना या उसके साहित्य पर अपनी सम्मति देना एक कठिन कार्य है और यह किसी समर्थ साहित्यिक को ही शोभा देता है। किन्तु किसी से कुछ पाया हो तो उसे धन्यवाद देना, प्राप्ति-स्वीकार करना और आभार प्रगट करना उतना कठिन नहीं है। मैं कुछ पाने की लालसा से ही पुस्तकें पढ़ता हूँ। मुंशी-साहित्य भी एक पाठक के नाते ही मैंने पढ़ा है और पाठक के नाते ही उसके बारे में कुछ पंक्तियाँ लिखने का साहस कर रहा हूँ। मेरा अपना विश्वास है कि मुंशी जी ने पाठक के लिए अधिक और आलोचक के लिए कम लिखा है। पाठक भी कई प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो केवल मनबहलाव के लिये 'नाविल' पढ़ लेते हैं और ये लोग अगर कभी कोई मनोविज्ञान के ज्ञान से पूर्ण यथार्थवादी 'नाविल' पढ़ने बैठते हैं तो दस-पांच पृष्ठ पढ़कर ही छोड़ देते हैं, किन्तु मुंशी-साहित्य के साथ यह बात नहीं है, उनकी पुस्तकें आरम्भ करने पर पूरी पढ़नी ही पड़ती हैं। दूसरे पाठक वे हैं जो मनवहलाव के लिये पढ़ते हैं किन्तु साथ ही ज्ञान-वर्धन भी करना चाहते हैं—मुंशी-साहित्य इनके लिए भी है। तीसरी श्रेणी के पाठक जो स्वयं बुद्धिमान हैं, कुछ पढ़े-लिखे कहलाने का दम भरते हैं, वे जब पुस्तक पढ़ने बैठते हैं तो उसमें नयी बात ढूँढ़ते हैं, अपनी बुद्धि को लेखक की बुद्धि से रगड़ कर सान देने की चेष्टा करते हैं, मुंशी-साहित्य इनके लिए भी है। जिस श्रेणी के भी हों, हैं सब कोरे पाठक। आलोचकों को पाठक नहीं कहना चाहिए, वे साहित्य के चिकित्सक हैं—स्वास्थ्य परीक्षक हैं, वे पुस्तक पढ़ते हैं उसमें कमियाँ देखने के लिए, साहित्यिक तत्त्वों की विवेचना करने के लिए, (कभी-कभी व्याकरण की भूलें, प्रूफ की अशुद्धियाँ और छपाई की सफाई भी देख लेते हैं।) या फिर लेखक की स्तुति करने के लिए। मुंशी-साहित्य के आलोचकों की बातें मैंने पढ़ी हैं (उनसे अनभिज्ञ नहीं हूँ यह स्वीकार करने के विचार से कहता हूँ।) उन्होंने कई मार्के की बातें भी कहीं हैं, स्तुति भी की है, निन्दा भी, इतिहास की तोड़-मरोड़ का आरोप भी लगाया है। यह सब समझने के बाद पुनः जब पाठक के नाते मैंने मुंशी-साहित्य पढ़ा, तो मुझे उसमें रस आया, कुछ नये तत्त्व मिले, कुछ विचारों को उत्तेजन मिला। इस प्राप्ति का आभार

प्रदर्शन करने और आर्यावर्त की महागाथा कहने वाले लेखक का अभिनन्दन करने के विचार से ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ।

मुंशी-साहित्य के अन्तर्गत तीन श्रेणी के उपन्यास हैं। एक तो वे जो गुजरात के इतिहास पर आधारित हैं, इनमें "जय सोमनाथ", "पाटणनी प्रभुता", "गुजरातनो नाथ", "राजाधिराज" तथा 'पृथ्वीवल्लभ' है। दूसरी श्रेणी है आर्यावर्त की महागाथा की और इसमें 'पुत्र समोवडो', 'अविभक्त आत्मा', 'पुरन्दर-पराजय', 'लोपामुद्रा', 'लोमहर्षिणी', 'भगवान परशुराम' और 'तर्पण' है। प्राचीन भारतीय इतिहास की इस श्रेणी में 'भगवान कौटिल्य' को भी रक्खा जा सकता है यद्यपि उसका समय अपेक्षाकृत अर्वाचीन है। तीसरी श्रेणी सामाजिक उपन्यासों की है जिसमें 'वेरनी वसूलात', 'कोनोवांक', 'अभिशाप' आदि हैं। यही मुंशी-साहित्य की इति नहीं है—उन्होंने अन्य कई पुस्तकें भी लिखी हैं और उनमें उनकी आत्मकथा तो बड़ी ही रोचक बन पड़ी है। कुलपति के पत्र भी कम मनोरंजक नहीं हैं। किन्तु पाठक के नाते मैंने उपन्यास ही पढ़े हैं और आगे की चर्चा उन्हीं तक सीमित रक्खूँगा।

मुंशी जी के उपन्यासों में सबसे बड़ा और आकर्षक तत्त्व यह है कि वे वास्तव में उपन्यास हैं। यह बात जरा विस्तार से कहनी होगी। कुछ वर्षों पूर्व लंदन में लेखकों का एक सम्मेलन हुआ था जिसमें स्वीकार किया गया था कि आधुनिक युग में 'नावेल' मर गयी है। उपन्यास के नाम से जो कुछ लिखा जाता है वह राजनीति, दर्शन, मनोविज्ञान और विज्ञान की 'थीसिस' होती है, उपन्यास नहीं। इनको पढ़ने में श्रम पड़ता है और पढ़ने के बाद मन उथल-पुथल हो जाता है, वर्तमान समाज और संसार के यथार्थवादी चित्रण से मन हाहाकार कर उठता है। उपन्यास पढ़े जाते हैं थोड़ी देर के लिए दीन दुनिया भूलने को पर आज के उपन्यास उल्टे उसकी कटु स्मृति को और अधिक तीव्र रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। मुझे बहुधा वे विज्ञापन याद आ जाते हैं जिनमें लिखा रहता था 'नींद हराम कर देने वाली' सच में, उपन्यास तो वही हैं जिसे पढ़ते समय आदमी भूख-प्यास और नींद भूल जाय। यह उसकी शक्ति है। नींद हराम करनेवाले सस्ते और रद्दी उपन्यास भी मैंने देखे हैं पर वे प्रभावहीन होते हैं। अच्छे उपन्यास से मनोरंजन भी होता है, और बुद्धि को आहार भी मिलता है। जब आधुनिक लेखकों ने 'आजकल उपन्यास नहीं लिखे जाते' यह विचार प्रकट किया तो उनके सम्मुख ड्यूमा, रेनाल्ड्स आदि उपन्यासकार थे। किन्तु मुंशी जी के उपन्यास पढ़कर मुझे यह धारणा बदलनी पड़ी है। उन्होंने वास्तव में सरस, बुद्धि का पोषण करने वाले, रहस्य-रोमांच और कौतूहल को जगाने वाले, अद्भुत घटनाओं के वर्णनों से परिपूर्ण उपन्यास लिखे हैं। उन्हें एक सांस मे पढ़ना पड़ता है, रात्रि में जागकर पढ़ना पड़ता है। और यह बात विशेषरूप से उनके ऐतिहासिक उपन्यासों पर लागू है। गुजरात के इतिहास पर आधारित उपन्यास कुछ ड्यूमा की परम्परा लेकर चले हैं। अपने में पूर्ण होते हुए भी ये एक-दूसरे से संबंधित हैं। ड्यूमा के उपन्यासों की तरह ही इनमें गुजरात के शौर्य, राजनीतिक हलचलों और रोमांचकारी घटनाओं का उल्लेख है। 'जय सोमनाथ' में गजनी के अमीर का हमला रोकने में घोघा बापा का अभूतपूर्व शौर्य, उनके पौत्र सज्जन सिंह की 'पदमडी' पर अकेले

उस महाभीषण रेगिस्तान की यात्रा और गजनी के अमीर को धोखा देकर उसकी एक तिहाई सेना का उस रेगिस्तान में विध्वंस ये वर्णन ऐसे हैं जिन्हें पढ़ते ही बनता है। मुंशी जी ने जिन चरित्रों का निर्माण किया है वे पाठक के सम्मुख विराट रूप धारण कर सामने आते हैं। वे साधारण मानव नहीं हैं। उनकी शतरंज के ये मोहरे चलते नहीं दौड़ जाते हैं। इन चरित्रों में मुंजाल मेहता, काक भट्ट और कीर्तिदेव, चाणक्य-परंपरा के कुशल राजनीतिज्ञों के रूप में हमारे सम्मुख आते हैं। वीर नेताओं के रूप में त्रिभुवन पाल, देवीप्रसाद और रा अद्भुत हैं। उनके स्त्रीपात्र तो सदा ही विशेष आकर्षक रहे हैं। मंजरी, प्रसन्नमुखी, मीनल देवी और हंसा सभी वीर हैं, बुद्धिमती हैं, चपल और जाज्वल्यमान हैं। सती के रूप में राणकदेवी आज भी गुजरात की आदर्श है और अद्भुत वीर रा और राणक की कथा के साथ मुंशी जी ने पूरा न्याय किया है। मुंशी जी के पात्र सजीव पात्र हैं, वे सदा आदर्श बने बैठे रहते हों ऐसी बात नहीं। व हंसते हैं, रोते हैं, भूख से तड़पते हैं, नियति के आगे झुक भी जाते हैं, वे प्रेम करते हैं—घृणा करते हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे जीवित प्राणी करते हैं, उनमें कोरे आदर्शवाद की जड़ता नहीं है। बारंबार जब वे सामने आते हैं तो यही लगता है ये मानव हैं, उसकी सारी कमजोरियों और शक्तियों को ओढ़े हुए।

किन्तु इन सबसे ऊपर भी जो एक बात मुझे गुजरात के ऐतिहासिक उपन्यासों में मिली वह थी–'महागुजरात' की विचार धारा। गुजरात सदा से छोटी-छोटी रियासतों में बंटा रहा है और इन्हीं नन्हें राज्यों के आपसी वैर-भाव, प्रतिस्पर्धा और युद्धों से गुर्जर देश और उसकी जनता पिसती रही है। मैं मान लेता हूँ कि आलोचकों का यह कथन सही है कि मुंशी जी ने गुजरात के इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा है। संभव है कि घटनाओं में व्यतिक्रम हो या पात्रों का निरूपण सही रूप में न हुआ हो, किन्तु मेरी समझ से इन उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाएँ तो केवल आधार मात्र हैं, वे प्रमुख नहीं हैं। मुख्य तो वह सरस्वती की अदृष्ट धारा है जो महागुजरात की बात कहती है। मुंजाल मेहता का प्रयत्न है कि पाटन का प्रभुत्व स्थापित हो, उसके झंडे के नीचे लाट, प्रभास आदि राज्यों को समेट लिया जाय। किन्तु उसका पुत्र कीर्तिदेव उससे भी आगे बढ़ा हुआ है—उसकी दृष्टि और विचारों की विशालता मुंजाल को पीछे छोड़ देती है। मुंशी जी ने स्पष्ट रूप से कीर्तिदेव का मुंजाल मेहता से अधिक उज्ज्वल और प्रभावशाली चित्रिण किया है और क्यों न हो, वह सारे गुजरात के एकाकार का स्वप्नद्रष्टा जो है। गुजरात को उस राज-नैतिक दलदल से, आपसी बैर के बदले लेने में क्षीण होती शक्ति को ऊपर उठाने का एक ही हल है, गुजरात का एक झंडे के नीचे एकीकरण। गुजरात के उस काल में राजनीतिज्ञों ने ऐसे स्वप्न देखे हों या नहीं, आज का राजनीतिज्ञ जब अपने को उस युग म रखकर विचार करता है तो यही समाधान मिलता है। किन्तु मुंशी जी गुजराती होने के नाते महागुजरात की बात कहते हों यह बात नहीं है। जैसा अभी मैं आगे स्पष्ट करूँगा, उन्होंने अपनी आर्यावर्त की महागाथा मे 'एक दुनिया' की कल्पना की है। इन उपन्यासों में चूँकि केवल गुजरात का इतिहास ही पृष्ठभूमि है इसलिए कल्पना की सीमा भी 'महागुजरात' ही है।

अब 'आर्यावर्त की महागाथा' की ओर ध्यान दें। जब मैंने रामायण और महाभारत पढ़े तो बहुत सी शंकाएँ मन में रह गयी थीं। इनमें विश्वामित्र, परशुराम और वशिष्ठ के चरित्र स्पष्ट नहीं हो सके थे, मन में जिज्ञासा थी कि परशुराम को राम का अवतार क्यों कहा गया है, क्यों विश्वामित्र से महामांत्रिक को राम-से बालक की सहायता की आवश्यकता पड़ी, आर्य-पुरुष राम ने समुद्र-लंघन से पूर्व शिव की स्थापना और पूजन क्यों किया? मुंशी जी के इन उपन्यासों ने इन जिज्ञासाओं का समाधान करने में बड़ी सहायता की है। इन समस्त गाथाओं में दो चरित्र सबसे ऊपर और विराट रूप में हमारे सामने आते हैं—विश्वामित्र और परशुराम। दोनों ही एक मानवता के पुजारी हैं। लोपामुद्रा में शंबर के पौत्र को जिलाने के लिये विश्वरथ मंत्रों का आवाहन करते हुए सोचता है "क्या देव सिर्फ आर्यों पर ही कृपा करते हैं? क्या वे केवल आर्यों के देवता हैं।" मानवतावादी विश्वामित्र केवल सोचते ही नहीं, आर्यों और अनार्यों के भेद दूर करने में ही अपना जीवन अर्पण कर देते हैं। वे अनार्य कन्या उग्रा से विवाह करते हैं। वे मानते हैं :—आर्य कौन हैं? जो आर्यों की भाँति आचरण करे। और भगवान सविता का आवाहन कर उग्रा को आर्या बनाने का जो प्रसंग मुंशी जी ने वर्णित किया है वह अद्भुत है, रोमांचकारी है, अद्वितीय है। हमारे प्रत्यक्ष देवता सूर्य द्वारा उग्रा को आर्या स्वीकार कराकर मुंशी जी ने मानवतावाद पर देवताओं की स्वीकृति की मोहर लगा दी है। मनुज बड़ा है, उसके गुण और प्रतिभा का आदर होना चाहिए न कि उसके आर्यत्व या अनार्यत्व का, देवी लोपामुद्रा ने विश्वरथ के आचरण का समर्थन करते हुए कहा है "तुझमें मैं विश्व का मित्र देख रही हूँ।"

इस महागाथा के प्रसंग में वर्तमान संघर्ष की याद आती है। यद्यपि इन महागाथाओं में रामायण से पहले के आर्यों के, आदि युग की बातें कही गई हैं, पर प्रतीत होता है जैसे लेखक ने अतीत की इन घटनाओं का सहारा लेकर आज के संघर्ष पर अपने विचार प्रगट किये हैं। अफ्रीका, अमेरिका और इंगलैंड में काले-गोरों का यह संघर्ष, हमारे ही देश में छूत-अछूत की यह भावना क्या उस आर्य-अनार्य, देव-असुर संघर्ष से भिन्न है.? अमेरिका के हब्शी-विरोधी कानून, अफ्रीका के 'अपारथीड' क्या वशिष्ठ के इस कानून से भिन्न हैं कि "जो आर्य अपने कुल की स्त्री को कुलधर्म गवाने से रोकेगा उसे पचास गायें दंड देनी होंगी और जो दास किसी भी आर्य-स्त्री के साथ संबंध स्थापित करेगा उसका वध होगा।" युग बदल गये—आदमी नहीं बदला—आज भी किसी गोरी स्त्री से संबंध करने वाला हब्शी मृत्युदंड का भागी होता है। मानव मानव से लड़े यह कैसी विडम्बना है। इस संघर्ष में विश्वामित्र अकेले हैं—उनकी पत्नी, उनके गुरु, बाल-साथी और गुरुभाई जमदग्नि सब उनके विरुद्ध हैं। फिर भी वह महान ऋषि जमदग्नि से कहते हैं—"मुझे अपना सत्य पालने दो। या तो आर्य सर्वोपरि और शुद्ध हैं, और या फिर मानवता ही सर्वोपरि और शुद्ध है।" पुनः जब अनार्य भेद ने शशीयसी का अपहरण किया—अपहरण को बुरा बाताते हुए भी विश्वामित्र उसे औरों के दृष्टिकोण से देखने को तैयार नहीं हुए। यह कैसा न्याय है कि यदि आर्य अपहरण करे तो वीरता है और वही कार्य अनार्य करे तो मृत्युदंड पाए। उन्होंने भेद और शशीयसी का विवाह करके आर्यों के ढोंग और अन्याय को चुनौती दी।

वे कहते हैं "भेद और उग्रा आर्यश्रेष्ठ है। यह मेरी दृष्टि है। मेरे सर्वस्व से भी मेरे मन में सत्य श्रेष्ठतर है।"

इसी संदर्भ में मैंने रामकथा की अन्य जिज्ञासाओं का समाधान देखा । विश्वामित्र राम को अपना शिष्य शायद इसी उद्देश्य से बनाते हैं कि आर्यश्रेष्ठ उनकी आर्य-अनार्य-भेद मिटाने की योजना कार्यान्वित कर सके और राम ने गुरु का उद्देश्य पूरा किया। रामेश्वर में शिव की स्थापना करते हुए आर्यनेता की यह घोषणा।

"शंकर-प्रिय मम द्रोही, शिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कल्प भरि, घोर नरक मँह वास।"

इसकी साक्षी है। आज के मानवीय संघर्षों का समाधान करने के लिए हमें महर्षि विश्वामित्र की आवश्यकता है। मुंशी के उपन्यासों से ही में राजा दशरथ के दरबार में राम-लक्ष्मण को माँगने वाले ऋषि विश्वामित्र को जान सका हूँ।

मुंशी के दूसरे पात्र भगवान परशुराम और भी अद्भुत हैं। धनुषभंग के अवसर पर समस्त राजा जिसे देखकर उलूक की भाँति छुप गये थे, वह महाक्रोधी परशुराम-भगवान कैसे हुए ,१ इस समस्या का समाधान मुंशी जी ने 'भगवान परशुराम' में किया है। भगवान परशुराम भी उसी मानवीय भावना को लेकर चलते हैं। वे विश्वामित्र से भी आगे बढ़े हैं—उन्होंने मानव-मात्र को एक करने के लिये गोत्रों का विलय करने का प्रयत्न कर डाला है। यह आज का जातिवाद और उस युग का गोत्र व्यर्थ ही मानवों को आपस में लड़ाता है उसे नष्ट कर देना ही श्रेयस्कर है। मुंशी के पात्रों में राम सबसे अद्भुत है--वह अजेय है, अद्वितीय है। वह जल वर्षण न करने के लिए इन्द्र को चुनौती देता है, वह किसी भी महाबली राजा के विरुद्ध अकेला लोहा लेने का साहस रखता है, वह शिक्षा-दीक्षा की अभूतपूर्व व्यवस्था कर सकता है, वह जानवरों से भी बुरे माने जाने वाले नागों को गले लगा सकता है, वह नेता है जो युद्ध में और सारे जन-समूह के एक देश से दूसरे देश की ओर निष्क्रमण का चतुराई से नेतृत्व कर सकता है, वह सब का प्रिय है--डड्डनाथ अघोरी भी उसे अपना पुत्र माने बिना नहीं रह सकते। उसमें अपनी माता का वध करने के लिये परशु उठाने का साहस है पर साथ ही वध की आज्ञा देने वाले पिता के मिथ्या आडंबर और आर्यत्व की भावनाओं की तर्क द्वारा धज्जियाँ उड़ा देने का भी पुरुषार्थ है। ऐसे राम के चरणों में मन स्वयमेव प्राणिपात कर उठता है। विश्वामित्र और परशुराम ने मिलकर आर्यों के महादेश-मानवता के वास स्थान-महान आर्यावर्त बनाने की जो चेष्टा की वह आज भी आदर्श है।

आर्यावर्त की महागाथाओं में आर्य महर्षियों के दर्शन होते हैं। जो केवल लम्बी दाढ़ी वाले, धर्म उपदेश देने वाले ऋषि मात्र नहीं हैं, वे मानवीय भावनाओं से ओत-प्रोत प्राणी हैं। उनकी शक्ति और दुर्बलता को देखकर उन पर श्रद्धा होती है।

यदि कोई गुजरात के प्रतभाशाली, जाज्वल्यमान नर-नारियों का, प्राचीन भारत के आर्यों का और आर्यों के महादेश का दर्शन करना चाहे, तो उसे मुन्शी-साहित्य का अध्ययन करना चाहिये। सच पूछिये तो "सह अस्तित्व" का इतना जोरदार समर्थन शायद ही कहीं अन्यत्र मिले।

शारदाप्रसाद सक्सैना

साहित्यकार मुंशी एक मूल्यांकन

यह स्पष्ट है कि देश के जीवित साहित्यकारों में श्री मुंशी ही ऐसे हैं जिनको एक साथ सबसे अधिक विरोध और सबसे अधिक प्रशंसा मिली। अपनी प्रशंसा को यह उसी भाव से स्वीकार करते हैं जिस भाव से अपनी आलोचना को और दोनों में ही उन्हें अभि-रुचि है। एक इनकी शक्ति को उत्तेजित करती है तो दूसरी उनका बल-वर्धन करती है। इनके प्रशंसक और आलोचक, सभी चकित होकर इनके शब्दों के उस अनवरत प्रवाह को देखते हैं जो लघुकथा, रेखाचित्र, निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक या भाषण आदि विविध साहित्यिक कृतियों को रूप देता है। इतनी क्षमता का स्रोत मुंशी में कहाँ छिपा हुआ है, अपने इस व्यक्तिगत रहस्य को अन्य किसी पर प्रकट करने के लिए वह तैयार नहीं। यों तो एक सस्मित मुद्रा से वे हम सबको अपनी निजी बातें भी बताने को प्रस्तुत रहते हैं, यदि आपको सन्देह है तो उनकी आत्म-कथा के तीनों भाग पढ़ जाइए परे वे किसी को भी यह अवसर नहीं देते कि वह इस कलाकार के कौशल-विधान के रहस्य की एक झाँकी पा सके। दूसरे लोग हमारे प्रश्न का उत्तर दे सकते हैं किन्तु वह स्वतंत्र हैं।

६६ वर्ष की इस अवस्था में भी वह उसी स्फूर्ति से साहित्य-सृष्टि में लगे हैं जिससे कभी, प्रायः चालीस वर्ष पहले, उन्होंने साहित्य की उपासना प्रारंभ की थी। और ये चालीस वर्ष जिनमें देश में नवीन जाग्रति हुई तथा प्रेमचन्द और शरच्चन्द्र-ऐसी विभूतियाँ प्रकाश में आईं, साहित्य के इतिहास में अवश्य ही मुंशी युग के नाम से स्मरण किये जायँगे, क्योंकि प्रेमचन्द तथा शरच्चन्द्र का रचना-काल बीस या पचीस वर्ष से अधिक नहीं रहा और इन दोनों के साहित्य का अभिप्रेक्ष्य (Canvas) मुंशी की अपेक्षा बहुत स्वल्प है। टैगोर इससे पहले ही अपना श्रेष्ठतम साहित्य दे चुके थे। उनसे चरम साहित्यिक उत्कर्ष की स्वीकृति संसार ने उसी समय दे दी जब उनकी कृति नोबल-पुरस्कार से सम्मानित हुई।

टैगोर की परवर्त्ती रचनाओं ने उनके अत्यन्त श्रेष्ठ साहित्यिक महत्त्व में नया योग दान नहीं किया। किन्तु उनके विशाल यशस्वी व्यक्तित्व के चारों ओर नयी प्रतिभाएँ

उभर रही थीं जिन्होंने अगले १५ वर्षों में किसी न किसी क्षेत्र में उस कलाकार से अधिक उन्नति की, यद्यपि कुल मिलाकर उनका स्वरूप उससे छोटा ही रहा, प्रेमचन्द की ख्याति उनके जीवन में प्रान्त की सीमाओं के आगे नहीं बढ़ी और अभी दस वर्षों से उनकी प्रतिभा उनके प्रान्त के बाहर पहचानी जाने लगी है। बंग प्रान्त अधिक गुणग्राही था और शरच्चन्द्र एक नक्षत्र के रूप में साहित्य-गगन में उदित होकर अचल प्रकाश से प्रकाशित होते रहे। उनका अवसान प्रेमचन्द के समान निर्धनता की परिस्थितियों में नहीं हुआ। शरच्चन्द्र ने वह साहित्यिक सम्मान तथा वैभव अपने जीवन में प्राप्त किया जो आधुनिक काल में भारतीय लेखकों को अपने जीवन-काल में प्रायः दुर्लभ ही रहा है। पर ये दोनों साहित्यिक 'अपने निजी पृष्ठभूमि में अपने चतुर्दिक के वातावरण को अभिव्यक्त करने में सन्तुष्ट थे।' तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों में उनको दृष्टि लगी और उसमें वह इतना उलझ गये कि उनसे छुटकारा न पा सके। उनकी कृतियाँ उनके समय के सामाजिक इतिहास के भाग के रूप में ही ग्रहण की जा सकती हैं। यदि किसी घटनावश बंगाल के जमीदारों के स्वतंत्रता के पहले के रहन-सहन का, उनके प्रेरणा-स्रोतों का उनका भाग्य बनाने या बिगाड़ने वाले षड्यंत्रों का कोई ऐतिहासिक विवरण न प्राप्त हो तो उनके जीवन की स्पष्ट रूपरेखा शरच्चन्द्र के उपन्यासों में मिल सकती है। कुछ कम अंशों में यही बात प्रेमचन्द के विषय में भी सत्य है, यद्यपि इनके राजनैतिक विचारों ने इनकी साहित्यिक दृष्टि को कुछ कुंठित कर दिया था और इनके पात्र किसी न किसी राजनीतिक अथवा सामाजिक विचाराधारा के कारण अति आदर्शोन्मुख हो गये हैं।

जहाँ तक सामाजिक उपन्यास के क्षेत्र का सम्बन्ध है, श्री मुंशी प्रेमचन्द तथा शरच्चन्द्र से प्रतिद्वन्द्विता नहीं करना चाहते। उन्होंने विघटित होते हुए भारतीय सामाजिक संघठन को अपना विषय न बनाकर प्रागैतिहासिक भारत के उदात्त स्वरूप को सजीव रूप में उपस्थित करना ही अपना लक्ष्य बनाया। इनकी साहित्यिक दृष्टि कुछ गिने-गिनाये वर्षों की सीमा में न बद्ध होकर व्यापक युगों को अपने भीतर समेटने वाली है। जिन समस्याओं को इन्होंने छुआ है उन्हें एक व्यापक तथा चिरन्तन भूमिका पर ले जाकर परखा है। इनके विचार में आज की समस्याएँ कल की घटनाओं का परिणाम न होकर चिर अतीत काल तक व्याप्त सामाजिक विचारधाराओं का क्रमिक विकास हैं जिनके मूल रूप का अध्ययन प्राचीन महाकाव्य महाभारत में किया जा सकता है। इसीलिये तो प्रेमचन्द के समान श्री मुंशी आज की समस्याओं से उतने उद्विग्न नहीं होते। इनकी दृष्टि से आज का 'आज' व्यापक इतिहास का एक अंग मात्र है और क्रमशः विकसित होता हुआ आगे चल कर अपने रहस्यों का उद्घाटन करेगा। इसी से इनकी सब कृतियाँ उल्लास और आशा से स्पन्दित हैं। अपने साहित्य में उन्होंने उन निराशामय परिस्थितियों को नहीं फटकने दिया है जो मानव के पतित स्वरूप को उपस्थित कर तथा घृणित और पंकिल समाज को सामने लाकर उल्लास रहित वायुमण्डल की सृष्टि करती हैं। यदि लोगों को मृत्यु का आलिंगन करना पड़ा है तो वे जीवन के प्रति कृतज्ञ होते हुए तथा एक सरल मुस्कान को मुख पर लिए हुए ही संसार से विदा हुए हैं। इन्हें बाह्य और आभ्यंतर दोनों सौन्दर्य आकृष्ट करते हैं। यदि एक ओर सलोने मुखड़े पर इनकी सौन्दर्यवृत्ति आकृष्ट

होती है तो दूसरी ओर एक सुन्दर विचार या भाव पर भी वह न्यौछावर होती रहती है। ये सौन्दर्य के कलाकार हैं। फलतः इनकी कृतियों में एक भी नारी चित्र ऐसा नहीं है जो असुन्दर या अनगढ़ हो। निरन्तर मग्न होती हुई आशाओं के जाल से संकुल इस लोक में आशा का सन्देश देने वाले इस लेखक से बहुत ही आश्वासन मिलता है। मुंशी की कृतियों का अवगाहन करना एक स्वस्थ सौन्दर्य्यालोक में विचरण करना है जहाँ नेत्र-सुखद प्रकाश है जहाँ अधरों के कगारों में मधुसरिता की तरल हंसी कलकल ध्वनि करती है, शौर्य और साहस साधारण जीवन को भी आन्दोलित करते रहते हैं और जहाँ सरस्वती की वीणा की सुखद झंकार सदा सुनाई पड़ती रहती है।

श्री मुंशी गौरवपूर्ण प्राचीन भारत को हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष रूप में उपस्थित कर देते हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र, व्यास, जमदग्नि, देवयानी लोपामुद्रा आदि दीमकों से चाटी गई पुस्तकों में प्राप्त नाममात्र ही नहीं हैं—वे सजीव रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं तथा अपनी भावविभूति को लेकर अनुराग पूर्वक हमारी ओर बढ़ते प्रतीत होते हैं तथा हमें भी एक ऐसा अवसर देते हैं कि हम उनके प्रति अनुरक्त हो सकें। साधारण प्राकृत जनों को जो अनुभूतियाँ प्रभावित करती हैं उन्हीं से इनके साहित्य के चरित्र प्रभावित होते हैं। यूनान देश के नाटकों में जैसे जीवन्त पात्र मिलते हैं वैसे ही इनकी कृतियों में प्राप्त हैं।

श्री मुंशी की स्त्री-सृष्टि में लोक-बाह्य संसार को स्थान नहीं है और कभी भी उनके द्वारा उपस्थित किये गये ऋषि अथवा उनकी पत्नियाँ अमानवीय नहीं होतीं। महाभारत का भी यही मुख्य गौरव है और श्री मुंशी ने व्यास की परंपरा को भलीभाँति स्वायत्त किया है। यह कल्पना बड़ी सुखद प्रतीत होती है कि यदि ये आज से दो सहस्र वर्ष पहले उत्पन्न हुए होते तो इन्होंने भी आर्यों के जीवन से संबंधित एक अन्य महाकाव्य लिखा होता। ये बाल्मीकि की अपेक्षा व्यास के अधिक निकट हैं। इनके उपन्यासों की रमणियाँ गर्विणी तथा रूपवती और साथ ही प्रतिशोध-तत्परा द्रौपदी से अधिक मिलती-जुलती हैं, मौन रूप में अपनी आहुति दे देने वाली बाल्मीकि की कृति सीता से कम। उसी प्रकार इनकी पुरुष-सृष्टि निष्कलुष और अनघ राम से नहीं मिलती, यह महाभारत के पात्रों की कोटि में हैं जिसमें गुण और अवगुण की समन्वित रूप रेखा प्रायः दृष्टिगोचर होती है। इनके आदर्श श्रीकृष्ण हैं, राम नहीं। इनके कृष्ण महाभारत के कृष्ण हैं जो जीवन को उसकी सारी कुण्ठाओं के साथ स्वीकृत करने को प्रस्तुत थे। इनके पात्र उन राम से भिन्न हैं जो केवल सात्त्विक मर्यादाओं के भीतर ही निबद्ध थे।

सत्तर वर्ष की अवस्था में भी इनकी दृष्टि अकुंठित है। कहना तो यह चाहिए कि इनकी दृष्टि अब अधिक तीक्ष्ण हो गई है किन्तु वह भविष्य की अपेक्षा अतीत की ओर देखने में अधिक सतर्क तथा आग्रहवती है। ये अतीत में अवगाहन करते हैं, भविष्य में नहीं; क्योंकि अतीत का एक ठोस वास्तविक महत्त्व है, भविष्य केवल कल्पनामात्र है।

जिसने व्यास के साथ अतीत की झाँकियाँ ली हैं जो देवोपम नरनारियों के साथ एक विशेष लोक में विचरण कर चुका है जिसने दिव्य संलाप का श्रवण किया है जिसके चिरन्तन सौन्दर्य का अवलोकन किया है तथा जिसकी घ्राणेन्द्रिय यज्ञाग्नि से उठे सुगंधित

धूम से आतृप्त हैं और जिसने सरस्वती के उपकूलों पर होने वाली वेदध्वनि को सुना है उसे अनिश्चित भविष्य कैसे आकृष्ट कर सकता है ?

वे लेखक जो आधुनिक सामाजिक समस्याओं से उद्विग्न होते हैं, भौतिक विज्ञान की उन्नति से चकाचौंध होता है और जो भौतिक विकास-वाद पर आस्था रखते हैं वे जहाँ तक मानव-दृष्टि की शक्ति है भविष्य के स्वप्न देखें, कल्पनालोक में उड़ानें भरें और आने वाले भव्यलोक की सृष्टि करें: पर एक ऐसे कलाकार के लिए जो भूत और भविष्य दोनों का साक्षात्कार कर सकता है, जिसकी कल्पना अनन्त प्राचीन युगों को स्पष्ट देख सकती है तथा जिसकी दृष्टि मानव जाति की अतीत स्मृतियों को जगा सकती है और जो आने वाले जगमगाते दिनों की अपेक्षा अतीत के धूमिल प्रकाश को अधिक प्रिय समझता है—उसे तो आये दिन की समस्याएँ अधिक उद्विग्न नहीं कर सकती। यही कारण है कि इनके उपन्यास उन्हीं सीमित घटनाओं तक सीमित हैं जिनके सम्पर्क में वे आये हैं। ये उड़ाने भरने के लिये ऐसे स्वच्छन्द लोक को चाहते हैं जिसमें अनुभव की कोई सीमाएँ न हों।

अपने देश में ऐतिहासिक उपन्यास लिखने वाले इनसे पहले भी हो चुके हैं। वे तथा मुंशी स्वयं स्काट और ड्यूमा के ऐतिहासिक उपन्यासों से प्रभावित हो चुके हैं। पर इनमें एक विशेषता है कि ये इतिहास और पुराण में अधिक भेद नहीं करते। इनके ऐतिहासिक पात्रों पर भी एक पौराणिक छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। इसी विशेषता के कारण ये अन्य देशी तथा विदेशी ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकों से भिन्न हैं।

लार्ड मार्ले जब ग्लैडस्टन की जीवनी लिखने जा रहे थे तो आर्थर बलफोर ने उन्हें साहसी और सत्य का आग्रही बनने की सम्मति दी थी। मुंशी में ये दोनों विशेषताएँ हैं। किसी का जीवन-चरित्र अथवा आत्मचरित्र लिखने के लिये इन गुणों की बड़ी आवश्यकता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण मुंशी लिखित तीन भागों में इनका आत्म-चरित्र भारतीय साहित्य में अद्वितीय महत्त्व का है। भारत में लिखे गये आत्म-चरित्रों में चार सब से महत्त्व के हैं—श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी द्वारा लिखा गया उनका जीवन चरित्र, महात्मा गांधी की आत्मकथा, श्री नेहरू का स्वलिखित जीवन-चरित्र और श्री मुंशी की स्वलिखित जीवनी। कोई भी जीवनचरित्र तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक उसमें कथा-तत्व न हो। महात्मा गान्धी में यह विशेषता थी। परन्तु श्री सुरेन्द्रनाथ अथवा श्री नेहरू में इसकी कमी थी। मुंशी के जीवन चरित्र में लोक के प्रपंचों को स्थान नही दिया गया है लेखक का ध्यान केन्द्रि पपने में है तथा बाहरी व्यक्तियों और घटनाओं को तभी अवसर मिला है जब वे कथानायक के जीवन विकास में किसी प्रकार सहायक हुई हैं। मुंशी केवल अपनी जीवन का व्यौरा प्रस्तुत नहीं करना चाहते थे, वे एक कलाकृति भी देना चाहते थे। और इनकी यही विशेषता इनकी कृतियों को इतना लोकप्रिय बना देती है।

मुंशी अपने जीवन के प्रत्येक क्षण का आनन्द लेना चाहते हैं और बन पड़े तो औरों को भी इस आनन्द का समभागी बना लेना चाहते हैं। ये कला, सौन्दर्य और सुरुचि का बड़ा ध्यान रखते हैं। इनकी वाणी, इनकी मुद्राएँ इनके वस्त्र तथा इनके निवास-कक्ष की सजावट इनकी सुरुचि और कलाप्रियता की साक्षी हैं। सौन्दर्य और सुरुचि पर आघात इनके हृदय पर आघात है।

इधर इनकी साहित्य-कृतियाँ बहुत विरल हो गई हैं। किसी भी नवीन कृति का प्रकाशन साहित्य की एक विशेष घटना माना जाता है। लोग नवीनकृति का स्वागत करने उसी उत्कण्ठा से उमड़ पड़ते हैं जिससे कोई व्रती व्रतान्त-पारण की ओर उन्मुख होता है। पिछले बीस वर्षों में किसी भी लेखक ने पाठक को इनसे अधिक आकृष्ट नहीं किया। इनका साहित्य अनुरंजित और चकित दोनों करता है। कुछ बंधी धारणाओं से चिपटे जो बैठे हैं उन्हें इनका साहित्य एक झटका सा देता है। ये चाहते हैं कि इनका पाठक एक नवीन शक्ति और एक नवीन दृष्टि से जगत् का साक्षात्कार करे। वे अपने पाठक को आनन्द और भव्यता के आमने सामने खड़ा कर देना।

असंख्य देशवासी अपने को इनके प्रति ऋणी अनुभव करते हैं कि इन्होंने धूमिल अतीत को उसकी सारी महिमा के साथ सजीव कर दिया तथा प्राचीन विस्मृत महामानवों की राख में मन्त्र फूँक कर फिर प्राण डाल दिये। इन्होंने विविध क्षेत्रों में कार्य किया है। ये राजनीतिज्ञ, कुशल वकील और सफल शासक रहे हैं। पर समय बीतते-बीतते लोग इनके अनेक रूपों को भूल जायँगे, केवल स्मरण रखेंगे यह बात कि एक कलाकार था जिसने अपनी मन्त्रशक्ति से प्राचीन अस्थिशेष नर और नारियों को पुनर्जीवित कर दिया था।

सत्तर वर्ष की अवस्था में मुंशी अब भी युवक हैं। इनकी रचनाशक्ति तनिक भी क्षीण नहीं हो रही है। साहित्य जगत उनसे अब भी बहुत सी आशाएँ लगाए हुए हैं। जो कुलपति के पत्र पढ़ते हैं वे जानते हैं, जीवन के प्रति उनका अनुराग अभी बना हुआ है और जब तक यह अनुराग है तब तक मुंशी की कलम विश्राम नहीं ले सकती। काल अपना कार्य करता चलेगा पर वे उससे अप्रभावित रहेंगे। यद्यपि उन्होंने पूर्ण शारीरिक स्वस्थता का रहस्य नहीं पा लिया है पर स्थिर मानसिक स्वास्थ्य व यौवन का रहस्य उन्होंने अवश्य पा लिया है। वृद्धावस्था आने से अनेकों में दार्शनिक शैथिल्य उपस्थित हो जाता है, पर समय बीतने के साथ ही साथ मुंशी की जीवन-शक्ति व जीवनोल्लास वृद्धि पर है। ऐसा लगता है, वे अपनी मुस्कान के बल से बुढ़ापे को छूमन्तर करते रहेंगे। मेरे ऐसे लोगों के लिए तो जिन्होंने उनसे बातें की हैं, उनकी बातें सुनी हैं, उनके गम्भीर विचारों को जाना है, मुंशी कभी वृद्ध नहीं होगें। शेक्सपियर ने जैसा कि अपने एक ज्वलन्त चरित्र के विषय में अमर वाणी से कहा था वैसा ही एक सर्वनाम बदल कर इनके विषय में कहा जा सकता है।

"Age cannot wither him nor custom stale His infinite variety."

डॉ० सत्येन्द्र

मुंशी जी के ऐतिहासिक उपन्यास और जगदेव

मुंशीजी ने जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं, वे कालक्रमानुसार ये हैं :—

१.	पाटणनी प्रभुता	पाटण का प्रभुत्व	१९१६
२.	गुजरातनो नाथ	गुजरात के नाथ	१९१७
३.	पृथ्वीवल्लभ	पृथ्वीवल्लभ	१९२०-२१
४.	राजाधिराज	राजाधिराज	१९२२
५.	भगवान कौटिल्य	भगवान कौटिल्य	१९२३
६.	जयसोमनाथ	जयसोमनाथ	१९४०
७.	भग्न पादुका	भग्नपादुका	१९५६

इन उपन्यासों को ऐतिहासिक इसलिए कहा गया है कि इनकी कथा-वस्तु का संबंध इतिहास-काल से संबंधित है और इनकी सामग्री उन स्रोतों से ली गयी है, जिनसे इतिहास अपने लिए सामग्री ग्रहण करता है।

दो प्रकार के और 'ख्यातवृत्त'* वाले उपन्यास भी मुंशी जी ने लिखे हैं, जिन्हें 'वैदिक' कहा गया है। इन्हें भी यहाँ काल-क्रम से दिया जा रहा है :—

१.	लोपामुद्रा भाग १ :	वैदिक	१९३३
२.	लोमहर्षिणी	,,	१९४५
३.	भगवान परशुराम	,,	१९४६

लेखक की कुछ कृतियों को पौराणिक भी कहा गया है, पर वे पौराणिक रचनाऐं, सभी 'नाटक' हैं, उपन्यास नहीं।

इन उपन्यासों की वस्तु को देखकर अनायास ही यह विचार उत्पन्न होता है कि लेखक 'गुजरात' और 'भृगुवंश' का अभिमानी है। यह बात भृगुवंश के संबंध में वह स्वयं लक्ष्य कर सके, तभी उन्होंने 'लोमहर्षिणी' के 'आमुख' में ये पंक्तियाँ लिखी हैं :—

* 'ख्यातवृत्त' से अभिप्राय उस कथा-वस्तु से है जो पहले से कहीं प्रचलित हो, और उपन्यासकार उसे लेकर और अपनी कल्पना से जोड़-तोड़कर संजीवित बना उसे प्रस्तुत कर दे।

"मुझ पर एक आक्षेप अवश्य किया जायगा कि इस महानाटक में मैंने भृगुवंश के महापुरुषों से ही कथा प्रारम्भ की है। मैं भड़ौंच का भार्गव ब्राह्मण हूँ, इसलिए गुजराती ऐसा ही कहेंगे। किन्तु जो अध्ययनशील हैं वे तो समझ सकेंगे कि भृगुवंश वैदिक और पुराण-काल का महाप्रचण्ड तेज था। शुक्राचार्य, देवयानी, च्यवन, सुकन्या, सत्यवती और रेणुका, ऋचीक जमदग्नि, परशुराम और कवि चायमान, और्व और मार्कण्डेय आदि बड़े प्रतापी नाम हैं। भृगु-संहिताओं का स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलता है। महाभारत भृगुओं का महाकाव्य है, यह तो स्व० डा० सुखठण-कर जैसे विद्वान भी प्रतिपादित कर गए हैं। और ऋषियों में यदि कोई ईश्वर के अवतार स्वीकृत किये गये हैं तो वह अकेले भगवान परशुराम ही हैं।"

किन्तु यदि इसी प्रकार से आक्षेप करने आगे बढ़ा जाय तो कहा जा सकता है कि 'भृगुवंश' के संबंध में तो मुंशी जी की सफाई कुछ अर्थ भी रखती है, पर भृगुकच्छ के 'काक' की वैसी सृष्टि का क्या रहस्य है ?

उनके तीन उपन्यासों में से दो में 'काक' छाया हुआ है। वे हैं 'गुजरात के नाथ' और 'राजाधिराज'। मुंशी जी के इन उपन्यासों में विविध स्थानादि के प्रति भक्ति के क्रम का आधार कुछ इस प्रकार है :—

गुजरात—लाट—भड़ौंच (भृगुकच्छ)—भृगुवंश।

पहले वे गुजरात के गौरव के प्रति भक्तिवान बने हैं, उसमें से वे लाट और भड़ौंच अथवा भृगुकच्छ की ओर आकर्षित हुए हैं। वे 'भड़ौंच के भार्गव' हैं, इस नाते उनके 'पाटन के प्रभुत्व', 'गुजरात के नाथ' और 'राजाधिराज' तीनों उपन्यासों को एक शृंखला में बांधकर देखा जाय तो कहा जा सकता है कि यह तीन खंडों का 'महाउपन्यास' 'भृगुकच्छ' के 'काक' का उपन्यास है, जैसे 'महाभारत' भृगुओं का महाकाव्य है। 'पाटन का प्रभुत्व' जमते जमते हमें भृगुकच्छ के काक के दर्शन होते हैं। गुजरात विषयक इन तीनों उपन्यासों में मुंशीजी की उपन्यास-कला का एक तत्व उभरता दिखायी पड़ता है। वे अपने इन उपन्यासों का आरंभ तीन उपादानों से करते हैं :—

(१) उसके कुछ महत्त्वपूर्ण पात्र, (२) उपन्यास के महवत्त्पूर्ण नगर में (३) एक रहस्यमय परिवेषण के साथ प्रवेश करते हैं।

'पाटन के प्रभुत्व' में देवप्रसाद और त्रिभुवन एक रहस्यावृत्त आतंकित स्थिति में पाटन में घुसते दिखायी पड़ते हैं। किसी यति से वे मिल चुके हैं, जिसके कारण उन्हें देर हुई है।

'गुजरात के नाथ' में काक, कृष्णदेव, मुंजाल और जयदेव भी पाटण में कुछ वैसी ही आतंकपूर्ण स्थिति में पाटण के द्वार पर दिखायी पड़ते हैं।

'राजाधिराज' में हेमचन्द्र सूरि, आम्रभट्ट, तथा मणिभद्र भृगुकच्छ के द्वार पर फाटक खुलने की प्रतीक्षा में मिलते दिखाये गये हैं। आम्रभट्ट तथा अन्य उपरोक्त सभी पात्र बाहर से आये हैं। यहाँ हेमचन्द्र सूरि और आम्रभट्ट परस्पर अपरिचित की भांति मिलते हैं, जिससे एक रहस्य का सृजन हुआ है।

दूसरे, इस प्रकार आगत इन पात्रों में से एक तो समस्त कथा-वस्तु के विधान में उग्र प्रक्रिया पैदा करने वाला होता है, जो एक दृष्टि से 'नायक' भी कहा जा सकता है: इन्हीं में से एक उस नायक का विरोधी-जैसा सिद्ध होता है। इस प्रकार कुछ विषम सूत्र आरंभ में ही नाटकीय पद्धति से मिला दिये जाते हैं। समस्त सूत्र एक स्थान पर एकत्र होकर फिर अपनी अपनी दिशाओं में प्रधावित होते हैं। यह आरम्भ में 'विंदुवी' सूत्र-संग्रह तीसरा उपादान है।

'पाटन के प्रभुत्त्व' में देवप्रसाद और त्रिभुवन समस्त कथा-संस्थान को हिलाने वाले हैं, और त्रिभुवन तो एक प्रकार से नायक ही कहा जा सकता है। यति, जिसका आरंभ में उल्लेख मात्र हुआ है, वास्तविक विरोधी विषम तत्व है।

'गुजरात के नाथ' में फाटक खुलने की प्रतीक्षा में जिन चार व्यक्तियों का परिचय मिलता है उनमें से मुंजाल-जयदेव स्थिति-स्थापकत्व से नायक-स्थानक हैं, पर आगत तो 'काक' ही है, और 'गुजरात के नाथ' उपन्यास का कर्तृत्व उसीमें सिमिट कर आ जाता है। वह त्रिभुवन की भांति ही समस्त कथा-संस्थान को झकझोरने वाला है। कृष्णदेव सोरठ का खेंगार है जो पाटण का आन्तरिक और यथार्थ शत्रु है।

'राजाधिराज' में यद्यपि आगतों की ऐसी ठीक ठीक परिभाषा नहीं की जा सकती, फिर भी उपन्यास का मुख्य घटना-स्थल भड़ौंच माना जायगा, और उसकी दृष्टि से नायकत्व आम्रभट्ट को मिलेगा, भड़ौंच में काक नहीं मंजरी रही, और मणिभद्र मंजरी बहिन का प्रतिनिधित्व करता दिखायी पड़ता है। 'गुजरात के नाथ' के खेंगार की तरह इसमें रेवापाल है, पर वह कुछ देर बाद दिखाई पड़ता है। अतः इस 'राजाधिराज' में मुंशी जी का कला-विधान पूर्व के जैसा रहा तो सही पर कुछ परिमार्जन उसमें अवश्य हो गया प्रतीत होता है। वस्तुत: भड़ौंच में आम्रभट्ट को भेज कर नायकत्व उसको सौंपने में 'गुजरात के नाथ' के ऊदा के काक विरोधी षडयंत्र को ही आगे बढ़ाया गया है; और काक ने भड़ौंच से बाहर जाकर और मंजरी ने भड़ौंच में ही रह कर सिद्धराज जयसिंह और ऊदा मेहता को प्रत्येक मोरचे पर परास्त किया है। इससे इस 'राजाधिराज' में भी 'काक' ही छाया हुआ है। यह संभवत: निस्संकोच कहा जा सकता है कि काक-मंजरी के इस औपन्यासिक मोह ने ही लेखक की पहले की प्रणाली में संशोधन कराया है।

मुंशी जी के उपन्यास-विधान में 'काक' अकेला ही उत्पन्न हुआ, पहले; और वह 'पाटन के प्रभुत्व' के 'यति' की भाँति 'मुंजाल' की राजनीतिक मेधा का प्रतिस्पर्द्धी होकर आया। 'यति' से 'काक' अधिक शुद्ध था; क्योंकि उसे किसी धर्म, संप्रदाय या वर्ग का पक्षपात नहीं था। वह शुद्ध आत्म-कौशल और वरेण्य राजनीति की योग्यता पर ही स्पर्द्धा के लिए आगे बढ़ा था। और गहराई से देखने पर विदित होता है कि 'काक' में मुंशी जी ने त्रिभुवन का शौर्य और मुंजाल की मेधा को एक पात्र में ढालकर खड़ा किया, जिससे उसकी प्रखरता बढ़ गयी। काक की इस प्रखरता ने जयसिंह को तो छेदकर छलनी कर दिया, ऊदा के कुटुम्ब को चारों कोने चित्त पटका; निष्प्रभ उसके सामने लड़खड़ा पड़ते थे, और प्रभावान शत्रु के साथ शत्रुता निबाहते हुए भी वह मित्र बन सकता था।

सिद्धांत, विचार और कर्म की इस कठिन कसौटी पर काक ने जो चमक दिखायी है, वह मुंशी जी का कोई भी अन्य पात्र नहीं दिखा सका; मुंजाल का व्यक्तित्व भी उसके समक्ष बौना हो गया है और स्पष्ट ही यह लगता है कि मुंजाल केवल उपन्यास-कार का सहारा पाकर ही अपने गौरव को सँभाल पा रहा है। उधर काक जैसे लेखक की चिन्ता बिना किये अगौरवकारक घटाटोप में से भी अपने लिए गौरव का मुकुट प्राप्त कर लेता है। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि वह भड़ौंच के भृगुवंश के वंशज के अपने देश का था।

इन आक्षेपों के लिए यद्यपि मुंशी जी की भृगुवंश विषयक ऊपर दी गयी दलील नहीं दी जा सकती, फिर भी कला-पारखी के मर्म की दुहाई दी जा सकती है। जिस आत्मरस के सिंचन से मुंशी जी ने 'काक' जैसा अपना मानस-पुत्र खड़ा किया है, वह कला-क्षेत्र में एक अद्वितीय सिद्धि है। वह भारतीय साहित्य का अमर पात्र है।

इन तीनों उपन्यासों की सम्पूर्ण कथा-वस्तु पर एक साथ विचार करने से यह विदित होता है कि 'पाटन का प्रभुत्व' बाद के दो उपन्यासों की भूमिका मात्र है। ये तीनों उपन्यास सिद्धराज जयसिंह से संबंधित हैं। जयसिंह के साथ जिस सैद्धान्तिक विचारावलि को उपन्यासकार ने गूंथा है, वह यों दी जा सकती है :

"मैं" (मुंजाल) तो इतने वर्षों से पाटन को चक्रवर्ती बनाने का विचार करता हूँ......।"

[अतीत के स्वप्न (पाटन का प्रभुत्व) पृ० ३०६]

"पाटन विश्व का मुकुट कब बन सकता है? उसी समय जब कि जो उत्साह इस समय एक मात्र पाटन में है वह संपूर्ण गुजरात में फैल जाय।"

[अतीत के स्वप्न (पाटन का प्रभुत्व) पृ० ३०७]

"जब से राज-तंत्र मुंजाल मेहता के हाथ में आया, तब से उसकी राजनीति स्पष्ट प्रकट हो गई। मत मतान्तरों के झगड़ों में न पड़कर पाटण की सत्ता को शौर्य के बल से बढ़ाना और गुजरात को एक साम्राज्य बनाना ही वह अपनी नीति समझता था।

(गुजरात के नाथ—पृ० ७४)

"मुझे (काक को) भी ऐसा ही प्रतीत होता है कि यदि कोई चक्रवर्ती राजा भारत को अधीन नहीं करता है, तो हमारा सत्यानाश हो जायगा।"

[राजाधिराज पृ० ७६]

इस प्रकार उपन्यास का राजनीतिक सूत्र गुजरात के चक्रवर्तित्व से संबंधित है। इसमें 'पाटन का प्रभुत्व' भूमिका रूप है, और 'राजाधिराज' 'उपसंहार' के तत्वों से युक्त है।

'पाटन के प्रभुत्व' में भूमिका रूप जिन प्रधान पात्रों का समावेश हुआ है वे हैं मुंजाल, मीनलदेवी, जयसिंह, त्रिभुवनपाल, प्रसन्नकुमारी तथा ऊदा मेहता। ये महारथी तीनों उपन्यासों में निरंतर विद्यमान रहते हैं। इनके ताने-बाने से जो भूमिका प्रस्तुत होती है; उस पर यथार्थ औपन्यासिक अभिनय 'काक' का होता है।

'काक' का आगमन 'गुजरात के नाथ' से होता है। उसके साथ जो कथा-सूत्र प्रस्तुत होता है वह सोरठ से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। उस सूत्र के प्रतिनिधि के रूप में 'कृष्णदेव' से भी हमारा परिचय बिल्कुल आरंभ में ही 'काक' के साथ-साथ ही होता है। काक के कारण ही ऊदा मेहता और मंजरी उभरते हैं, कीर्तिदेव भी काक से संयुक्त हो गये प्रतीत होते हैं। 'लीलावती' के प्राधान्य में 'काक' की सत्ता स्पष्ट है। रेवापाल और ध्रुवसेन 'काक' के विरोधी हैं।

उपन्यास के कलाविधान में काक के साथ टेकनीक की दृष्टि से उपन्यासकार ने पूर्ण न्याय किया है। काक के समस्त विरोधियों को मुंह की खानी पड़ी है : ऊदा मेहता तीन प्रकार से परास्त हुए हैं :—

(अ) मंजरी, जिससे वे विवाह करना चाहते हैं, वह काक की पत्नी हो गयी।

(आ) उसके लड़के आँवड़ (आम्रभट्ट) और वाहड़ (वाग्भट्ट) काक के प्रशंसक बने और उसके वश में हो गये।

(इ) ऊदा मेहता की प्रतिष्ठा भंग हुई, काक की प्रवल।

ऊदा मेहता के निजी हेमचंद्राचार्य मंजरी से पराजित होकर उपन्यास के क्षेत्र में से विलुप्त हो गये। 'काक' की नीति का विरोध करने पर उन्हें ऊदा के पुत्र आँवड़ से भी अपमानित होना पड़ा।

महाराज जयसिंह को पद-पद पर काक से नीचा देखना पड़ा, नीचा ही नहीं देखना पड़ा उसके हाथों परास्त होकर बंदी भी होना पड़ा; फिर भी अन्त में विवशतापूर्वक जयसिंह को उसे ही अपना 'सेनापति' बनाना पड़ा।

उसके शत्रु रेवापाल की मृत्यु उसी के हाथों हुई, और उसके दूसरे शत्रु उसके गुरु ध्रुवसेन अन्त में स्वयं उसे मनाने गये।

उपन्यास की अधिकांश सिद्धियाँ 'काक' के द्वारा संभव हुई हैं; उन्हें यों प्रस्तुत किया जा सकता है :—

१. नवधन रा को पकड़वाना।
२. ऊदा मेहता को छकाकर मंजरी को मुक्त करना।
३. जयसिंह देव से लीलावती का विवाह कराना तथा लाट को सर करना।
४. कीर्तिदेव के पिता का पता लगाना।
५. कृष्णदेव के गुजरात-विरोधी षड्यन्त्र को भंग करना।
६. कीर्तिदेव की नीति को विफल करना।
७. जयसिंह देव को राणक से विवाह न करने देना और राणक को सती कराना।
८. बाबराभूत को परास्त करना।

९. जयसिंह देव को सोरठी शत्रुओं के चंगुल से बचाने के लिए अपने प्राणों को संकट में डालना।

१०. लीलावती को पुरुषार्थ पूर्वक राजा को जीतने के लिए प्रेरित करना।

११. खतीब की रक्षा करना।

'काक' का चरित्र वस्तुतः पाश्चात्य जगत के राउंडटेबल के पर-दुःख-कातर वीर नाइट के जैसा बन पड़ा है। वह घर से निकलता है, जब जहाँ जिसको जैसी सहायता की अपेक्षा पड़ती है, वह प्रस्तुत हो जाता है, पर घूमता उसी केन्द्र के चारों ओर है। उसे अपनी क्षमता और अपनी नीति में अटूट श्रद्धा है। वह उचित और न्याय्य पक्ष को ही सहारा देता है। उसी में से वह अपनी नीति को भी पुष्ट करता जाता है। वह जयसिंह देव के काम के लिए घर से निकलता है, १. वीसल को बहकाकर स्वयं कृष्णदेव का संदेश वाहक बनता है, खंभात जाते जाते करुणा से प्रेरिति होकर, २. खतीब को हथिया लेता है, ३. दामू की सहायता को तत्पर हो कर जाता है तो मंजरी का हरण कर लाता है। इस प्रकार ऊदा मेहता से जयसिंह देव के लिए निजी शत्रुता बाँध लेता है। ४. कीर्तिदेव के कहने से जघन्य तांत्रिक विद्या सीखकर प्राण पर खेल कर उसके पिता के नाम का पता लगा ही लाता है। संकट में कृष्णदेव की भी सहायता करता है; ५. उसे राणक के साथ भाग जाने देता है। राणक बुलाती है तो ६. उसके पास जाकर उसकी और उसके पति खेंगार की सहायता को भी तय्यार हो जाता है; और ७. लीलावती बुलाती है तो उसको भी स्थिति के अनुकूल बनाने और उसकी सहायता के लिए वह सन्नद्ध दिखायी पड़ता है। वह सहायता करता है; और अपने वचन के अनुसार ८. वह राणक के सतीत्व की रक्षा करता है और ९. जयसिंह को राणक से विवाह नहीं करने देता, इस प्रकार 'लीलावती' पर सौत न आने देने का कार्य वह संपन्न करता है। इन सब में आन्तरिक रूप से सिद्धराज जयसिंह और गुजराती साम्राज्य के उत्कर्ष का साधन ही सर्वत्र व्याप्त दिखायी पड़ता है। 'काक' में व्यष्टि-समष्टि के उन्नत आदर्शवाद का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है। इसी कारण वह न किसी से भयभीत होता है, न किसी का दबाव या रौब मानता है, इसी कारण जो जितने हीनता भाव से ग्रस्त है, वह उतना ही काक से त्रस्त और अपमानित होता है। काक की एक महानता यह है कि वह अपमान करना किसी का नहीं चाहता, पर एक कुशल और दक्ष-व्यक्तित्व की भांति जब वह किसी काम में प्रवृत्त और अग्रसर होता है तो कुछ ऐसी गति और विधि वह ग्रहण करता है कि सबके ऊपरी खोल उसके सामने गिर पड़ते हैं, प्रत्येक का वास्तविक रूप उसके समक्ष खड़ा हो जाता है, इसी से वह उसके समक्ष अपमानित अनुभव करता है।

सबसे अधिक अपमान ऊदा मेहता का हुआ; उसने तो शत्रुता ही बाँध ली। उसके बाद जयसिंह देव ने उसके हाथों अपना अपमान कई बार कराया; मुंजाल मेहता जैसे व्यक्ति भी उसके द्वारा अपमान चख पाये। सभी ने उसके तीखे व्यक्तित्व और न्याय-निष्ठा की विमल कसौटी पर अपने व्यक्तित्व को फीका होते दखा। त्रिभुवन

पाल और लीलावती ही अपवाद रहे, क्योंकि वे वस्तुतः उसके श्रद्धा-पात्र थे, और उसके 'लाट' के ही थे। किन्तु जिस व्यक्ति को सबसे अधिक अपदार्थ काक ने किया है वह 'जगदेव पंवार' है।

एक बात पर हमारा विशेष ध्यान जाता है; वह यह है कि इस समस्त 'उपन्यास-व्यूह' के प्रायः समस्त पात्रों की यश-सीमा गुजरात तक ही रही है। सिद्धराज जयसिंह अवश्य ही केवल गुजराती सीमा से बँधकर नहीं रहे पर उनकी कीर्ति भी बहुत आगे नहीं बढ़ी। गुजरात विषयक इन तीनों उपन्यासों के समस्त पात्रों में जिस व्यक्ति की सर्वाधिक क्षेत्र में लोक-प्रतिष्ठा आज तक है, वह केवल 'जगदेव' है। 'लोकवार्त्ता' में जगदेव के चरित्र की एक विशेष प्रतिष्ठा है और उसके साथ वह हिमांचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यभारत ऐसे विशाल भूभाग में आज भी लोकवार्ता में सजीव व्यक्तित्व रखता है। जगदेव पंवार के इस लोक-प्रिय रूप से मुंशी जी भलीभाँति परिचित हैं क्योंकि उन्होंने जिन स्रोतों से अपने इन उपन्यासों के लिए सामग्री संकलित की है उनमें से कई में जगदेव पंवार का विशिष्टतापूर्ण विवरण प्रस्तुत हुआ है। फार्बस ने 'रासमाला' में ही जगदेव का विस्तृत वर्णन दिया है। 'रासमाला' का स्रोत के रूप में उल्लेख मुंशी जी ने अपने इन उपन्यासों में कई स्थानों पर किया है।

'जगदेव पंवार' की इन प्रशस्तियों से और उसके संबंध की लोकवार्त्ता से 'जगदेव' का जो रूप खड़ा होता है, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक है।

जगदेव का उल्लेख विस्तारपूर्वक निम्नलिखित ग्रंथों में हुआ है :—

१. फार्बस कृत रासमाला।

२. पुरातन प्रबंध संग्रह।

३. विविध लोक-संगीत तथा ख़याल

४. लोक-गायकों के कण्ठस्थ गीत।

[ये लोक-गायक बहुधा देवी के 'भगत' होते हैं, और देवी के जागरण में जगदेव के पंवारे गाते हैं। इन पँवारों में जगदेव के बारह मवासे गाये जाते हैं।]

५. The Legends of the Punjab Vol. II. The Story of Raja Jagdeva.

६. अर्जुनदेव वर्मा की 'अमरुशतक' व्याख्या में।

७. राजपूताने का इतिहास—गौरीशंकर हीराचंद ओझा।
जिल्द १ प्रथम आवृत्ति वि० सं० १९८२ पृ० १९०।

८. अर्जुनवर्मा देव प्रणीतया रसिक संजीवनी समाख्य व्याख्यया 'अमरुशतकम्'।

इस समस्त सामग्री पर दृष्टि डालने से जगदेव की कथा का जो रूप खड़ा होता है उसमें कुछ प्रमुख कथा-तीलियाँ (Motifs) ये हैं:—

१. उसने बर्बरक को जीता और इसे जयसिंह के आधीन कर दिया।
.२ उसने राणक के सतीत्व की रक्षा मदान्ध सिद्धराज जयसिंह से की।
३. वह इतना स्वामिभक्त था कि उसने अपना और अपने कुटुम्ब का सिर देवियों को चढ़ाकर राजा की आयु बढ़वायी।
४. वह प्रबल देवी-भक्त था। देवी से वचनवद्ध होकर उसने अपना शीश चढ़ा दिया था।
५. जिस कार्य को कोई नहीं कर सकता था, उसी को करने के लिए वह नियुक्त किया जाता था और वही उसे कर लाता था।
६. जगदेव को देवी सिद्ध थी।

लोक-कथा, प्रशस्तियाँ, साहित्यिक-संदर्भों से यह निर्विवाद प्रतीत होता है कि वह अद्वितीय दानवीर था।[१] वह प्रबल वचन वीर था[२]। वह अत्यन्त रूपवान किन्तु धीर-वीर[३] था। वह अत्यन्त बलशाली था।[४] वह महान देवी-भक्त था। वह जयसिंह की नाक का बाल था, उसका दाहिना हाथ था।

ऐसे प्रबल व्यक्तित्व में से उसके प्राण निकाल कर मुंशी जी ने अपने काक में डाल दिये हैं। लोक-अनुश्रुति कहती है कि जो कार्य किसी से न हो सके वह जगदेव कर सकता था। मुंशी जी ने अपने काक को इसी सिद्धान्त पर ढाला। इस प्राण-तत्व से रहित करके जगदेव का निर्जीव बलिष्ठ शरीर उन्होंने अपने उपन्यास में जयसिंह के साथ खड़ा कर दिया। यही नहीं, जगदेव के जीवन का महान कृत्य जो राणक के सतीत्व की रक्षा से सबंध रखता है, उसे भी मुंशी जी ने काक को सौंप दिया है। अतः काक को जगदेव के जीवन के आभूषण ही मुंशी जी ने नहीं पहनाये, काक के द्वारा ऐसा आचरण भी कराया है जैसा कोई अभिमानी पुरुष किसी अपदस्थ से करता है या जैसे चोर किसी का सर्वस्व छीन कर उसमें दो लातें और जमाता है।

मुंशी जी के उपन्यासों में से तीसरे 'राजाधिराज' नामक उपन्यास में ही जगदेव दिखाई पड़ता है; वह भी तब जबकि काक जूनागढ़ होकर जयसिंह से मिलने उनके निकट पहुँचता होता है।

सबसे पहले 'बर्वरक' शीर्षक आठवें अध्याय में 'काक' के कान में जगदेव शब्द पड़ता है। 'काक' ने बर्वरक को परास्त कर उससे पूछा—"इस समय राजा का मानीता कौन है"

"जगदेव"

"जगदेव कौन" चकित होकर काक ने पूछा।

"परमार"।

---

१. पुरातन-प्रबंध संग्रह।
२. शशिमाला कथा में वचन के कारण शीश चढ़ाने की वीरता की ओर संकेत है।
३. 'अमरुशतक' की रसिक संजीवनी में अर्जुनवर्मा देव द्वारा उद्धृत श्लोक।
४. जायसी के उल्लेख से।

आगे गुजरात पर विचार करते हुए काक के मन का निष्कर्ष लेखक ने यों प्रकट किया है।

"जयदेव महाराज का प्रताप भी उसे स्पष्ट रीति से मालूम पड़ने लगा। मुंजाल मेहता का सूर्य अस्त हो गया है, ऐसा लगा ऊदा का उपयोग महाराज कर रहे हैं। पिशाच समझा जानेवाला बाबरा उनके प्रताप को अस्वाभाविक एवं दुःसह बना रहा है और जगदेव परमार जैसे परदेशी योद्धा को गुर्जर वीरों पर ही अपना प्रभाव जमाए रखने के लिए बुलाया हो, यह सम्भव जान पड़ा।"

काक ने लीलादेवी से भी 'जगदेव' के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसके कुछ देर बाद ही 'जगदेव' पहली बार उपन्यास में प्रत्यक्ष हुआ। उसके शरीरादि का वर्णन लेखक ने यों दिया है:—

"जगदेव बल की मूर्ति-सा लगता था। वह बड़ा कद्दावर था। उसकी छाती विशाल और हाथ साधारण आदमी की जाँघ जैसे थे। मुख बड़ा और भरावदार था, जो तेजस्वी तो नहीं पर सुन्दर कहा जा सकता था। काली और सावधानी से सँभाली हुई दाढ़ी मुख की शोभा में वृद्धि कर रही थी। कमर में खड्ग लटक रहा था और कमरबन्द में दो कटारें शोभा दे रही थीं।

उसे देखकर अडिग शौर्य का ध्यान आता था। परन्तु उसकी आँखों के तेज में कोई अगम्य वस्तु थी। वे तेजस्वी न थीं; फिर भी आदमी को घबड़ा देतीं। उनमें भलाई न थी। फिर भी हरामखोरी नहीं झलकती थी। उनमें धूर्तता न थी तो भी उन्हें देखकर किसी को विश्वास नहीं होता था।"

लेखक ने सबसे पहले प्रसंग में ही लीलादेवी द्वारा जगदेव को अपमानित कराया है। वह लीलादेवी से किसी अपरिचित के आने के सम्बन्ध में खोज-बीन करने गया तो दुत्कारा गया। लीलादेवी ने जिस रूप में उसकी भर्त्सना की उसका स्वाद एक वाक्य से भी भली प्रकार जाना जा सकता है:—

"जगदेव" शान्ति से लीलादेवी ने कहा। उसकी आवाज में भयंकर तिरस्कार था। "पाटन की महारानी के साथ कैसा विवेक रखना चाहिए सो तेरे जैसे परदेशी नहीं समझ सकते; परन्तु मुझे वह सिखलाना चाहिए!"......आदि।

और इसके कुछ आगे ही महाराज जयदेव जगदेव को यों फटकारते दिखाई पड़ते हैं:—

"परमार" सिर उठाकर राजा ने कहा। "मुझे कोई भी बहाना नहीं सुनना है। दो आदमी यहाँ बिना पूछे आए, इसमें तुम्हारा कसूर है।"

जगदेव हाथ पर हाथ धरे, नीचा सिर किये खड़ा रहा।

इस अपमान के उपरान्त लेखक ने जगदेव का अपमान वस्ता नामक मुंजाल के कर्मचारी से कराया। वस्ता ने जगदेव की आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया।

तब काक के हाथों भी उसे अपमानित कराया। और इस अपमान-काण्ड की पराकाष्ठा हुई मुंजाल के द्वारा जिसने अरिदल कँपाने वाली आवाज में कहा—

'परमार······एक घड़ी में—एक घड़ी में या तो वस्ता को खोज लाओ, नहीं तो अपने आयुध और आज्ञापत्र शोभ मेहता को सौंपकर यहीं हाजिर हो जाओ।"

मुंजाल मेहता के समक्ष जगदेव की जो दशा हुई उसका वर्णन उपन्यासकार ने यों किया है:—"जगदेव को नहीं सूझा कि वह खड़ा रहे, गिर पड़े, या धरती में समा जाय। वह चुपचाप चला गया।

जगदेव के मुख में फेन आ गया। क्या मालवे से वह इन सबके पैरों की धूल गिना जाने के लिए आया है! उसने क्या अपराध किया है?······

जगदेव महाराज जयसिंह देव के पास पहुँचा। वहाँ जयदेव महाराज हँसी के स्रोत में बहते मिले। जगदेव के द्वारा बतायी गयी गंभीर स्थिति को उन्होंने हँस-हँस कर टाल दिया। यहाँ जगदेव की स्थिति बच्चों की सी हो गयी। उसकी समस्त शिकायतों पर शाब्दिक मलहम सी लगी; पर महाराज ने भी 'वस्ता' को छोड़ देने का मुंजाल का आदेश बहाल रखा और जगदेव अपने सम्राट जयदेव की सत्ता को भंग होते हुए देखकर बच्चों की तरह मुँह फुलाकर यह कहता हुआ मिला कि 'मैं तो वस्ता को छोड़ दूँगा, बापू आपकी आप जानें।"

इस विदेशी चाकर जगदेव का ठीक ठीक उपयोग उपन्यासकार ने उस स्थल पर कराया है जहाँ सोरठी सैनिकों से घिर जाने पर जगदेव ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर जयसिंह देव की रक्षा का प्रयत्न किया। यद्यपि लेखक ने यहाँ भी महत्वपूर्ण चोट लाट या भृगुकच्छ के निवासी और काक के सेवक खेमा से ही करायी है। खेंमा ने ही युक्ति से भयानक एभल नायक को वाण से मृत्यु के घाट उतारा। यदि एभल नायक न मारा जाता तो जगदेव और जयदेव दोनों सोरठियों से परास्त होते। इस हारती बाजी को खेमा नायक की युक्ति ने पलट दिया। फिर भी लेखक ने 'जगदेव' को भी अपना शौर्य दिखाने का अवसर दिया। यह लगता है कि जगदेव के कथांश (Episode) का यही चरम है। इसके उपरांत फिर जगदेव यों ही जहाँ तहाँ हमें दिखायी पड़ता रहा, और जूनागढ़ में जाकर यह कथांश एक कटुता के साथ समाप्त हो गया। जगदेव जयसिंह के साथ गुप्त मार्ग से जूनागढ़ में घुसा। जयसिंह देशलदेव के साथ उसे लेकर राणक के महल की ओर बढ़ा। कुछ आगे बढ़कर जगदेव को वहीं ठहरने का आदेश देकर वह उस ओर बढ़ गया जहाँ खेंगार से युद्ध हुआ। उस युद्ध में जयसिंह देव खेंगार के आदमियों से घिर गये। यह देखा एक ऊँचे कदवाले पट्टनी ने। वह पट्टनी सेना की कठिनाई को समझ गया और तेजी से राजमहल की ओर गया। वहाँ जगदेव पच्चीस तीस सैनिकों के साथ पहरा दे रहा था।

"परमार" उस सैनिक ने सत्तापूर्ण स्वर में कहा। "महाराज को सोरठियों ने घेर लिया है, वहाँ चलो।"

ढाटा बाँधे हुए एक अज्ञात सैनिक उसे इस तरह सम्बोधित करे, यह जगदेव को जँचा नहीं, साथ ही उसे यहीं रहने का हुक्म हुआ था, इसलिए इस सत्ता का आडम्बर भी उसे अच्छा न लगा।

"तू कौन है ?" जगदेव ने तुच्छता से कहा।

"मैं जहाँ युद्ध हो रहा है, वहाँ से आया हूँ।"

"मेरे पास आने को किसने कहा ?"

"किसी ने नहीं, मैंने।"

"तेरा दुस्साहस महान् है, तू अपना काम देख।"

वह सैनिक ज़रा सतर हुआ उसकी आवाज़ में तलवार की धार जैसी तीक्ष्णता थी। "जगदेव, तुम्हें आज्ञापालन करना भी नहीं आता और भंग करना भी नहीं आता।" उस सैनिक ने सत्ता के साथ कहा। जगदेव को आवाज़ परिचित-सी लगी। वह किसकी है, इसका विचार वह कर ही रहा था कि उस सैनिक ने निकट खड़े सैनिक की ओर मुड़कर हुक्म दिया, "मूलानायक, आदमी लेकर चलो मेरे साथ।"

"कौन मेहता जी ?" ज़रा घबराए हुए स्वर में परमार बोला और दूसरे सैनिकों ने सम्मान के साथ उसको चारों ओर से घेर लिया।

"हाँ तुम्हें अब भी पहचानने में बहुत देर लगती है। तुम्हें यहाँ खड़ा रहना हो तो खड़े रहो। बहादुरो, चलो मेरे साथ, वहाँ महाराज को खेंगार ने घेर लिया है।"

"महाराज, मैं देशलदेव से कह आऊँ।" घमंडी जगदेव ने कहा।

"हाँ जाओ और कहकर आ पहुँचो।" कहकर मुंजाल मेहता सैनिकों को लेकर चल दिये।

बस 'जगदेव' की कथा उपन्यासकार ने यहाँ अनायास ही समाप्त कर दी। आगे हमें जगदेव कहीं नहीं दिखायी पड़ता। लोक-श्रुति ने राणक देवी के सतीत्व की रक्षा का जो दायित्व जगदेव को सौंपा था, उसे उपन्यासकार ने 'काक' से सम्पन्न कराया है। काक ने ही राणक की जयसिंह से रक्षा की और उसे सती हो जाने का प्रबन्ध कराया।

जगदेव परमार देवी के प्रबल भक्त के रूप में गुजरात से बंगाल तक और हिमांचल से महाराष्ट्र तक विख्यात है। गुजरात में उसकी ख्याति है कि उसने अपने प्राण न्यौछावर करके भी जयसिंह की आयुवृद्धि करायी। उपन्यासकार ने ऐसे प्रसिद्ध व्यक्तित्व की छीछालेदर ऊपर दिये ढंग से करा डाली है। सामान्य दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि जगदेव का समावेश इस उपन्यास में केवल उसको अपमानित करने के लिए ही किया गया है। संभवतः बिना जगदेव के भी उपन्यास का समस्त व्यापार ज्यों का त्यों चल सकता था। फिर क्यों ऐसा किया गया ?

एक समाधान यह देने का प्रयत्न होगा कि 'जगदेव' मालवी था, गुजरात के लिए विदेशी। ऐसे विदेशी, अहम्मन्य, चापलूस चाकरों की दुर्गति होती ही है, इसी सत्य को प्रकट करने के लिए जगदेव को लाया गया है। कोई कितना भी यशस्वी हो विदेशी चाकरी के पुरस्कार में अपमान ही मिलता है। इसे उपन्यासकार ने खूबी से जगदेव के माध्यम से दिखा दिया है।

एक समाधान यह दिया जायगा कि जगदेव ऐतिहासिक व्यक्ति है, जयसिंह देव का वह मानीता था। उसे ऐतिहासिक कारणों से ही लाना आवश्यक था; पर उसे लाकर उपन्यासकार गुजरात की प्रबलता को जिस कलम से लिख रहा था, उसमें लोक-वार्त्ता के रूप से लेकर ज्यों का त्यों कैसे खड़ा कर सकता था? इसीलिए उसने अपने चित्रण में ऐतिहासिक अनिवार्यता से उसे सम्मिलित करते हुए, उसे गुजराती और लाटी शौर्य की कसौटी बना डाला है, और यह कसौटी मनोरंजक बन पड़ी है।

एक समाधान यह दिया जा सकता है कि उपन्यासाकर ने लोक-प्रसिद्धियों में प्राप्त स्वाभाविक उपन्यास-प्रवृत्तियों के संशोधन के उपन्यासकार के निजी अधिकार को घोषित करने के लिए अनेक चरित्रों के चित्रण को हेर-फेर से प्रस्तुत किया है।

जयसिंह की बाहरी कीर्ति को प्रतिष्ठित रखते हुए, उसकी भीतरी खोखली जड़ों का बहुत कौशल से चित्रण लेखक ने किया है। हेमचन्द्र सूरि की प्रसिद्धि में अंतर न पड़ने देकर मंजरी को सरस्वती के रूप में उसने प्रस्तुत कर दिया है और इस लोक-श्रुति का औपन्यासिक समाधान दिया है कि जिसमें कहा गया है कि हेमचन्द्र के समक्ष स्वयं सरस्वती ने प्रकट होकर वरदान दिया······आदि। इसी दृष्टि से उपन्यासकार ने लोक-प्रवृत्ति और लोक-मेधा को यह ललकार दी है कि जगदेव को लोकवार्त्ता ने जो दायित्व सौंपा है, वह जगदेव पूरा नहीं कर सकता था, उसके लिए तो 'काक' जैसा व्यक्तित्व चाहिए था।

एक और समाधान यह दिया जा सकता है कि लोक-श्रुति को अथवा लोकवार्त्ता को इतिहास नहीं माना जा सकता। न उसे प्रत्येक दशा में समीचीन ही माना जा सकता है। लोकवार्त्ता में भी तो एक का कर्तृत्व दूसरे को सौंपा जाता रहा है, तो उपन्यासकार यदि अपने विचार में और औपन्यासिक कला के प्रसार में एक के कर्तृत्व से दूसरे को विभूषित कर देता है तो लोकवार्त्ता के मार्ग का ही अवलंबन करता है, उस पर आक्षेप नहीं किया जा सकता। इस प्रसंग में उसे दोनों पात्रों की समीचीनता दिखाने के लिए दोनों को ही लाना आवश्यक हो जाता है; और दोनों का आमना-सामना कराना भी ठीक ही रहता है। जैसे उपन्यासकार कह रहा हो, जिस जगदेव का तुम जयसिंह के साथ उल्लेख करते हो, वह तो उस प्रसंग में यह 'जगदेव' है, जिसे मैंने आपको दिखाया है और जिसे आप जगदेव समझे बैठे हैं, वह तो कोई 'काक' जैसा कल्पना का पात्र ही हो सकता है।

समाधान एक नहीं अनेक हो सकते हैं; और यह कहा जा सकता है कि 'काक' का निर्माण जिस औपन्यासिक कौशल में उपन्यासकार ने किया उसमें उसकी प्रबलता अनिवार्य और कठोर होती गयी है, जिसके आगे स्वयं गुजरात के यशस्वियों को हीन-श्री होना पड़ा है, तो उनके अनुपात में मालवी जगदेव की स्वभावतः जो कला-जन्य मूर्ति खड़ी होती, वही तो उपन्यासकार ने खड़ी की है। और उसी को तो उसने बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है।

उपन्यास एक बृहत् नद की भांति शिखर से उतर कर प्रधावित होता है, और इतिहास तथा लोकवार्त्ता की सत्ताओं को आत्मसात् कर अपने अनुकूल बनाता चलता है। उपन्यास का सत्य जो ग्रहण कर लेता है वही उपन्यास की गति के साथ सत्तावान होता है। यही कारण है कि उपन्यास-कला का अभ्यासी किसी विकार से ग्रस्त नहीं हो पाता। देखना केवल यही होता है कि उपन्यास के उस पावन कला-तत्व को उपन्यासकार ने प्राप्त कर लिया है या नहीं। हमारा मत है कि मुंशी जी ने उस कला-तत्व को पा लिया है। ऐसे कला-तत्व को पा लेने वाले के लिए 'नाम'और 'रूप' 'नाम' और 'रूप' का ही काम देते हैं। 'गुजरात', 'मालवा', 'जगदेव' 'काक' आदि नाम ही हैं। विधाता की सृष्टि की भाँति ये 'नाम' आकस्मिक (Accidental) हैं, जो कुछ इनके साथ भाव-संपत्ति प्रवर्तित होती है, वही यथार्थ है। नाम आकस्मिक है, रूप भंगुर है, मूल है आत्मा। यह भारतीय संस्कृति की मौलिक मान्यता है। कलाकार की कला से यही सत्य उद्घाटित होता है। 'काक' का नाम 'जगदेव' हो सकता है, और 'जगदेव' 'काक' हो सकता है; किन्तु उससे उपन्यास की औपन्यासिकता में अंतर नहीं आता। यही बात स्थानों के नाम के संबंध में है, पर एक विशेषता के साथ। वह विशेषता विधाता की विवशता से संबंध रखती है। विधाता ने सृष्टि रची, कहीं पहाड़, कहीं नदी, कहीं मैदान। स्थल-स्थल की प्रकृति उसने भिन्न रची। इससे सृष्टि में एक अनोखा वैविध्य उमड़ पड़ा; इस विविधता में प्रत्येक इकाई कई प्रकार की सामान्यताओं के साथ और कई प्रकार की विविधताओं के साथ एक निजी वैशिष्ट्य रखती है। उस विशिष्टता का विकास उक्त विविधताओं की सीमाओं में ही होता है, यही विधाता की विवशताएँ हैं। उपन्यास-कार की सृष्टि में भी यही विवशताएँ रहती हैं। 'काक' के नाम से जैसे एक विशेष चारित्रिक इकाई खड़ी होती है, वैसे ही स्थल विशेष, मालवा, गुजरात या अन्य से एक स्थानीय वैशिष्ट्य प्रस्तुत किया जाता है। यह वैशिष्ट्य भी उपन्यास-कार के लिए एक निजी महत्व रखता है। मात्र स्थान का नाम नहीं।

उपन्यासकार का 'गुजरात' या 'मालवा' उसके वैशिष्ट्य वाले गुजरात या मालवा हैं जिनमें भौगोलिक गुजरात या मालवा के कुछ साधारण धर्म मिल सकते हैं, उनकी आत्मा से कुछ अनुकूलता भी मिल सकती है, पर वे उपन्यासकार की औपन्यासिकता के लिए एक अपेक्षित वैशिष्ट्य के अवतार होते हैं।

यही कारण है कि कुशल उपन्यासकार की कृति को पढ़ते समय पाठक उसकी आत्मा के साथ ऐसा तादात्म्य कर लेता है कि उसे व्यक्ति और स्थानों के यथार्थ भेदों का ज्ञान नहीं रहता, वह तो एक आत्मिक संसर्ग का आनन्द भर प्राप्त करता चलता है।

हाँ, भेद-बुद्धि और मलिनता उसमें तब आती है, जब उस आनन्द को प्राप्त करने के उपरान्त एक आलोचक की तरह वह इस कला-कृति के अंगों को उधेड़-उधेड़ कर उनमें उन तत्वों को वह महत्व देने लगता है, जिनकी उपन्यासकार को केवल सहारे के लिए आवश्यकता थी।

मुंशी जी के उपन्यास वेगवान नद की भांति प्रधावित होते हैं, जिसमें तरह तरह के क्षुद्र और विशाल नाले-नदी मिलते जाते हैं; जिनका गंदलापन तल में पैठता जाता है और मानवीय शक्ति और उज्ज्वलता ऊपर तरंगित होती रहती है। ऐसे कलाकार का अभिनन्दन !

प्रो० वी० वी० आर० शर्मा

श्री मुंशी के पौराणिक नाटक

'पौराणिक नाटके' नाम से प्रसिद्ध श्री मुंशी की पुस्तक में ४ नाटक संकलित हैं :—(१) पुरन्दर-पराजय, (२) अविभक्त आत्मा, (३) तर्पण और (४) पुत्रसमोवड़ी ।

'ये नाटक पौराणिक हैं, क्योंकि इनमें आये हुए मुख्य पात्र पौराणिक हैं',[१] श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री के इस मत से असहमत होने का कोई कारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि 'पात्रों' से उनका तात्पर्य पात्रों के नामों से और उनसे सम्बन्धित मोटी-मोटी घटनाओं से ही है—ऐसा श्री शास्त्री ने आगे स्पष्ट कर दिया है । यों, ये पात्र वैदिक काल के हैं, लेकिन उनके चारों ओर बुने गये आख्यान पुराण कालीन हैं । पौराणिक 'वस्तु' में लेखक ने अपनी कल्पना से कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन किये हैं, जिनका उल्लेख 'उपोद्‌घात' तथा 'परिशिष्ट' में हुआ है । अरुंधती और वसिष्ठ को सप्तर्षियों में कैसे स्थान मिला, इसका कोई संकेत पुराण नहीं करते । मुंशी ने अपनी कल्पना के बल पर यह प्रक्रिया प्रस्तुत की है, साथ ही मानव-सभ्यता के उस युग में गार्हस्थ्य-जीवन की भावना किस प्रकार प्रतिष्ठित हुई होगी—इसका एक रोचक चित्र भी खींचा है । इस प्रकार 'अविभक्त आत्मा' में 'मुख्य अंश' के लिए मुंशी की सृजनात्मक कल्पना-शक्ति उत्तरदायी है । 'पुरन्दर-पराजय' में वह इस दायित्व से मुक्त हैं । नाटक की सभी मुख्य घटनाएँ ऋग्वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों, मत्स्यपुराण, हरिवंशपुराण, विष्णु पुराण, महाभारत में आती हैं । इस नाटक में सुकन्या वासना के वशीभूत होकर अश्विनीकुमारों (अश्विदेवों) को बुलाती है, जबकि पुराणों के अनुसार अश्विनीकुमार स्वयं ही सुकन्या की परीक्षा लेने आते हैं । यहाँ मुंशी की कलाभिरुचि का स्वरूप परखा जा सकता है, इसलिए थोड़ा विस्तार से विचार कर लिया जाय ।

सुकन्या की गणना हमारे यहाँ सतियों में होती है । अपने नवयौवन के बावजूद उसने अश्विनीकुमारों जैसे रूपवान देवताओं के सम्मुख अपने मन को अडिग रक्खा, शववत् च्यवन की सेवा रत रही—पातिव्रत का यह अनुपम उदाहरण है । यही कारण है कि आज हम सुकन्या को देवी मानते हैं, उसकी पूजा करते हैं । मुंशी ने इस घटना को यों स्वीकार नहीं किया । आये हुए अश्विनीकुमारों के आमंत्रण को सुकन्या ने दृढ़तापूर्वक

१ 'पौराणिक नाटको' ('उपोद्‌घात') पृ० ७

अस्वीकार कर दिया, एक बाह्य आकर्षण के प्रति अपनी विरक्ति प्रदर्शित की; किन्तु उसे मानसिक द्वन्द्व नहीं करना पड़ा। 'यदि मन का वेग बाह्य आकर्षण की ओर प्रवाहित ही न होता हो, अंत:करण में निर्बलतावश या रूढ़िबल के कारण या पूर्वाभ्यास के बल से शान्ति ही हो तो संयम या पवित्रता का महत्त्व क्या? स्वाभाविक रीति से सत्य भाषण हो जाता हो, कोई असत्य बोला ही न जा सकता हो तो सत्य का नीति के रूप में मूल्य ही क्या रहे? सत्य-पालन के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है, वह प्रयत्न ही सत्य के नैतिक महत्त्व का मूल्य है।'[2]

इसलिए मुंशी ने चित्रित किया कि सुकन्या भी सामान्य नारी है। यौवन उसके हृदय में भी वे तरंगें, उत्कंठाएँ और कल्पनाएँ उत्पन्न करता है जो प्रत्येक मानव के हृदय में। अपने विवाहित जीवन के सम्बन्ध में उसकी भी अपनी स्वप्न-सृष्टि होगी, जो च्यवन से विवाहित होने पर झटके के साथ टूट जाती है। च्यवन न बोल पाते हैं, न चल पाते हैं, न उठ पाते हैं, न हिल पाते हैं। भोजन कर सकने का सामर्थ्य भी उनमें नहीं है। जीवित होते हुए भी जीवन का कोई लक्षण उनमें शेष नहीं है। सुकन्या का मन क्षोभ से भर उठता है। परवर्ती लज्जालु आर्यकन्याओं की भाँति वह इसे चुपचाप सह ले, यह सम्भव नहीं। वह राजकन्या है, उस युग की है जब सभ्यता के मानदंड स्थिर ही हो रहे थे, दूसरे-उसे मुंशी की विचार-सरणि[3] का समर्थन भी प्राप्त है। इसलिए वह कुछ अधिक साहसी है, अश्विनीकुमारों को स्वयं आमंत्रित करती है। अश्विनीकुमार आते हैं किन्तु इस समय सुकन्या के हृदय में मन्थन होता है और अन्त में वह एक उच्च भावना के प्रभाव में अश्विनीकुमारों को वापस कर देती है, च्यवन के प्रति भक्तिपूर्ण समर्पण का निश्चय करती है।

स्वाभाविक है कि विश्वासी जनता को इस कथा-परिवर्तन से आघात लगे। सुकन्या की पूजा लोग माता की तरह करते हैं, और उनकी माता परपुरुषों को आमंत्रित करे—यही कितने कलंक की बात है! उनकी आस्था के लिए यह ठेस साधारण नहीं है।

क्या मुंशी को इसका पता नहीं था या उन्हें स्वयं इन आस्थाओं के प्रति अनास्था थी? ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। मुंशी स्वयं संस्कृति के और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों के भक्त हैं। भक्त न होते तो इस विषय पर लेखनी ही क्यों उठाते, और यदि उठाते तो सुकन्या के द्वारा अश्विनीकुमारों का तिरस्कार कराके मान्यतानुसार उसके सतीत्व को यथावत् अक्षुण्ण रखने की चिन्ता क्यों करते?

फिर उपर्युक्त परिवर्तन क्यों? बात यह है कि 'कला के लिए कला' मुंशी का साहित्यिक सिद्धान्त है। उनकी 'कला' का लक्ष्य 'कला के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

---

२ 'पौराणिक नाटको' (उपोद्घात') पृ० ११

३ 'श्री मुंशी के विचार उनके मस्तिष्क की कल्पना-सृष्टि ही नहीं है, प्रत्युत् पूर्व और पश्चिम के विचार-संघर्षण के फलस्वरूप हममें जिस बुद्धिवाद का जन्म हुआ, उसी का परिपाक हैं।' स्व० नवलराम त्रिवेदी कृत 'केटलांक विवेचनो' पृ० ५२।

इसलिए 'कला' की वृद्धि के निमित्त यदि मुंशी यह परिवर्तन करते हैं तो अपने स्थान पर अनुचित नहीं करते, आस्थावान लोग यदि इस 'कलंक' का समर्थन नहीं कर पाते तो अपने स्थान पर वे दोषी नहीं हैं और हिंमतलाल गणेशजी अंजारिया-प्रभृति सामाजिक-उपयोगितावादी समीक्षक यदि मुंशी के सिद्धान्त 'कला के लिए कला' पर ही आक्षप करते हैं[४] और उसका 'उपयोग' नहीं समझ पाते तो वे भी अपने तईं ईमानदारी का निर्वाह करते हैं। इन तीन रेखाओं का कोई सम्मिलन-बिन्दु खोजने के लिए हमें इन मान्यताओं और सिद्धान्तों की गहराई में उतरना पड़ेगा तथा तात्त्विक विश्लेषण करना पड़ेगा, जिसके लिए न तो यहाँ स्थान है न प्रसंग ही। हाँ, यह निष्कर्ष केवल उनके नाटकों ही में नहीं अपितु समस्त साहित्य के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण है कि कला के विकास के लिए किसी भी प्रकार की मान्यता का एक सीमा तक उल्लंघन करने में मुंशी को कोई संकोच नहीं।

मुंशी से पहले गुजराती नाटक गायनों की रूढ़ि से ग्रस्त थे। इसी परम्परा के अन्तर्गत रमणभाई नीलकंठ के प्रसिद्ध नाटक 'राईनो पर्वत' में पद्य का समावेश गद्य से कम नहीं किया गया। राई अपनी माता की मृत्यु पर शोकमग्न हो जाता है किन्तु शोक की अभिव्यक्ति के लिए कविता-पाठ करता है। पर्वतराय की बाल-विधवा पुत्री जो संसार के विषय में कुछ नहीं जानती, कविता में पत्र-व्यवहार करना जानती है। न्हानालाल भी अपने नये ढंग के नाटकों में इस परम्परा की अवज्ञा न कर सके। किन्तु मुंशी ने गीतों से उपजती अस्वाभाविकता से बचने के लिए अपने नाटकों में गीतों का त्याग कर दिया। उनकी यह विशेषता इन पौराणिक नाटकों में भी है। कुछ ऋचाएँ व्यवहृत हुई हैं, किन्तु उन्हें इस परम्परा में आये हुए गायन न समझना चाहिए। एक तो ये ऋचाएँ किसी पात्र के स्वकीय विचारों का पद्य-संस्करण नहीं हैं, ऋचाओं के रूप में उनका स्वतंत्र अस्तित्व है जिन्हें आवश्यक अवसरों पर ज्यों-का-त्यों पढ़ा जा सकता है, अपनी व्यक्तिगत इच्छा, विचारणा या भावना के अनुरूप उनमें कोई हेर-फेर नहीं किया जा सकता; दूसरे, वैदिक तथा पौराणिक सन्धिकाल के वातावरण को प्रस्तुत करने के लिए ये ऋचाएँ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई हैं और इनसे 'स्वाभाविकता' की वृद्धि हुई है।

'स्वाभाविकता' अथवा 'वास्तविकता' मुंशी का अपना गुण है। मुंशी से पहले लिखे गये नाटकों में भावनाशीलता ही प्रमुख है। मुंशी की कसौटी बुद्धिपरक है जो 'वस्तु' को यथादृश रूप में प्रत्यक्ष करती है। हाँ, इस 'वास्तविकता' को आधुनिक अर्थों में व्यवहृत होते 'यथार्थ' का पर्याय न समझना चाहिए।

नाटक अभिनेय साहित्य है, उसमें अंकों और दृश्यों की योजना होती है, साथ-ही-साथ देश-काल तथा पात्रों की वेशभूषा के सम्बन्ध में लेखक अपनी टिप्पणियाँ देता है। मुंशी ने इन नाटकों में अंकों की योजना की है, अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया।

---

४ 'कला यदि मनुष्य के लिए न हो तो उसके अस्तित्व की ही आवश्यकता न रहे। कला के लिए कला—ऐसा मानने से तो कला का सर्जक और कला का आस्वादक दोनों विस्मृत हो जाते हैं, दोनों निरर्थक हो जाते हैं, दोनों असत्य हो जाते हैं।'— हिंमतलाल गणेशजी अंजारिया-कृत 'साहित्य-प्रवेशिका' पृ० २६७

आरम्भ में मुंशी टिप्पणी देते हैं किन्तु वह न तो इतनी विस्तृत होती है कि उसम सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का निर्देश किया जाय, न इतनी अल्प होती है कि उससे लेखक का मन्तव्य प्रकट होने में बाधा पड़े। जो बातें आवश्यक हैं उनका स्पष्ट उल्लेख करते हुए लेखक ने अपनी बात कही है। इन टिप्पणियों का कार्यान्वयन दृश्य-विधान के समय देश-काल का वातावरण निर्मित करने में सहायक होगा।

आरम्भ से ही 'संघर्ष' नाटकों का आवश्यक अंग रहा है। नायक हमारे आकर्षण का प्रमुख केन्द्र होता है, उसकी प्रतिद्वन्द्विता में खलनायक खडा किया जाता था, जिनमें निरन्तर संघर्ष होता चलता था। बाद के समस्यामूलक और विशेषतः सामाजिक नाटकों में व्यक्ति का संघर्ष किसी सामाजिक कुरीति से होता था। मनोविज्ञान का महत्त्व प्रकट होने पर बाद में यह संघर्ष अन्तर्द्वन्द्व के रूप मे सम्मुख आया। नाटककार ने देखा कि एक मनुष्य की दो विपरीत भावनाएँ परस्पर जो संघर्ष करती हैं, उसका आकलन अधिक रोचक होगा क्योंकि मनुष्य की कार्य-प्रवृत्ति के लिए मूलतः यही संघर्ष उत्तरदायी है। आजकल तो 'अन्तर्द्वन्द्व' इतना महत्त्वपूर्ण हो गया है कि कोई नाटककार बिना इसके नाटक लिखना नहीं पसन्द करता और कोई पाठक बिना इसके नाटक पढ़ना नहीं पसन्द करता। मुंशी की स्वतः प्रवृत्त अभिरुचि इस ओर है। 'तर्पण' में सगर का मानस-मन्थन इसका सुन्दर उदाहरण है।

मुंशी ने 'संघर्ष' के जिस स्वरूप में अधिक रुचि ली है, वह है जीवन-संघर्ष। उनका प्रत्येक पात्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए संघर्षरत है, बाधाएँ आने पर वह उनका निराकरण करेगा, असफलताएँ आने पर उन्हें अपने प्रयत्नों से कुंठित करेगा। किसी कारण उनका कोई पात्र कहीं अपनी क्रियाशीलता से विरत हो, यह सम्भव नहीं। 'अविभक्त आत्मा' में अपने एक स्वप्न की सिद्धि के लिए वसिष्ठ सप्तर्षि-पद-भी अस्वीकार कर देते हैं और छहों ऋषियों के शाप का भागी बनने से नहीं हिचकते। 'पुरन्दर-पराजय' में च्यवन इन्द्र के सम्मुख अपनी पराजय नहीं स्वीकार करते, इस साहस के लिए उन्हें चाहें जो परिणाम भुगतने पड़ें। 'पुत्रसमोवड़ी' में शुक्राचार्य मानव-मुक्ति के लिए अपना जीवन समर्पित कर देते हैं। इस प्रयत्नशीलता में स्त्रियाँ पुरुषों से पीछे नहीं हैं। अरुन्धती के तप से अच्छे-अच्छे ऋषि स्तब्ध हैं। देवयानी स्वयं को 'पुत्रसमोवड़ी' (पुत्र-सरीखी) सिद्ध करने के लिए पति ययाति और प्रेमी कच का त्याग कर देती है: इस क्रियाशीलता को ही मुंशी ने संजीवन-मंत्र[५] माना है।

---

५ डरवुं नहि
हठवुं नहि
नमवुं नहि,
ने युद्ध करवुं सर्वदा,
अजयमां के विजयमां,
आ जन्ममां के मृत्युमां,
ने आखरे परलोकमां,
['पुत्र समोवड़ी']

अरुन्धती के सम्मुख समस्या है कि वह वसिष्ठ के साथ परिणय करे या तपश्चर्या में रहत रहे। 'तर्पण' में सगर के हृदय में मन्थन होता है कि वह और्व के वचन का अनुवर्त्तन कर आर्यावर्त्त की स्थापना में योग दे या उसे तिरस्कृत कर अपनी और सुवर्णा की प्रेम-कल्पनाएँ मूर्त करे। 'पुत्रसमोवड़ी' में देवयानी को एक ओर कच और ययाति आकर्षित करते हैं तो दूसरी ओर पिता की मुक्ति-योजना में सम्मिलित होने का विचार उसके मन में उठता है। 'पुरन्दर-पराजय', 'तर्पण' और 'पुत्रसमोवड़ी' में स्पष्टत: 'श्रेय' की विजय होती है। 'अविभक्त आत्मा' में प्रत्यक्ष देखने से 'श्रेय' पराजित होता है और 'प्रेय' विजयी। किन्तु यहाँ स्मरणीय है कि वह 'प्रेय' भी वसिष्ठ के द्वारा प्रस्तुत होने पर अरुन्धती के सम्मुख 'श्रेय के' रूप में आता है। इस 'प्रेय के प्रति उनके हृदय में इतनी आस्था है कि वह 'श्रेय' बन जाता है। यदि यह कल्पना स्वीकार कर ली जाए कि गार्हस्थ्य-जीवन का आरम्भ वसिष्ठ ने ही किया और मानव-जाति के विकास को दृष्टिगत रखकर ही वसिष्ठ ने स्नेहलग्न के सपने सँजोये या ऐसा करने का अस्पष्ट दैवी निर्देश उन्हें मिला और उसीके अनुवर्त्तन में तपस्या का मोह छोड़कर उन्होंने स्नेहलग्न को महत्त्व दिया, तो इस 'प्रेय' को उनके 'श्रेय' के रूप में स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

चारों नाटकों में प्रेम के विविध स्वरूप (भले ही वे कहीं-कहीं विकृत हों) देखने को मिलते हैं। अन्तिम दो नाटकों में प्रधान स्वर प्रेम का नहीं है, ('तर्पण' में एक भूखंड के स्वातंत्र्य का स्वप्न प्रमुख है और आर्यावर्त्त की स्थापना की योजना है; 'पुत्र-समोवड़ी' का लक्ष्य है मानव-मात्र की मुक्ति, समानता और शक्ति-विकेन्द्रीकरण) फिर भी शायद मुंशी प्रेम की अभिव्यक्ति में अधिक रस लेते हैं इसलिए उसमें अधिक सफल हुए हैं। यही कारण है कि इन दोनों नाटकों में भी प्रेम का स्थान गौण नहीं होता। मुंशी के प्रेम का स्वरूप पार्थिव है, यह स्पष्ट है। अरुंधती के सम्मुख वसिष्ठ के मुँह से यह कहलाकर कि 'मेरा संयम तनिक भी डिगा नहीं',[८] मुंशी यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि यहाँ दो 'आत्माएँ' ही 'अविभक्त' अर्थात एक हो रही हैं, शारीरिक आकर्षण का महत्त्व नहीं है। किन्तु दूसरे स्थल पर इस बात का स्वयं ही खंडन हो जाता है और वास्तविकता प्रकट हो ही जाती है। वसिष्ठ अरुन्धती से कहते हैं—"मुझे उन प्रतापी बालवसिष्ठों और मोहक बालअरुन्धतियों का रुदन सुनाई दे रहा है। इन्हें अवतरित होने से पहले कितनी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी?"[९]

शेष पृष्ठ १६३ का

में व्यभिचार पर बन्धन था। मह महापातक माना जाता था—तभी तो विदन्वन्त-जैसे ऋषि व्यभिचारिणी वारियों को मृत्युदंड देने के लिए उद्यत रहते थे। कहा जा सकता है कि पातिव्रत का अर्थ है कि नारी की स्वतः प्रवृत्ति उस ओर हो, जैसी सुकन्या की हुई, भय से पतिव्रत मानना पातिव्रत नहीं है। किन्तु इस रूढ़ अर्थ से सुकन्या भी पतिव्रता सिद्ध नहीं होती। जो परपुरुषों को दूषित भावना से आमंत्रित करे, वह पतिव्रता कैसी? पातिव्रत का पालन तो मनसा, वाचा, कर्मणा होना चाहिए।

८ 'पौराणिक नाटको' 'अविभक्त आत्मा" पृष्ठ ५९

९ 'अबिभक्त आत्मा' पृष्ठ ६४

'तर्पण' और 'पुत्रसमोवड़ी' में प्रेम के विविध पक्ष प्रस्तुत करते समय मुंशी ने स्वातंत्र्य-भावना को विस्मृत नहीं कर दिया। 'तर्पण' में तो सगर अपनी प्रेयसी सुवर्णा की समस्त कल्पनाओं को आमूल उखाड़कर फेंक देता है, उसकी आँखों के सम्मुख उसके पिता का बध कर देता है जिसके आघात से सुवर्णा की मृत्यु हो जाती है। अपने प्रेम की तरंगों का बलिदान सगर कर देता है--किसलिए? आर्यावर्त्त की स्वतंत्रता और उस के पुनर्गठन के लिए। सगर ने अपनी प्रेयसी का बध अपने हाथों से नहीं किया, किन्तु उसकी मृत्यु का उपकरण प्रस्तुत कर दिया। नाटक की करुणा कहीं पाठकों को असह्य न हो जाए, इसलिए लेखक ने सगर के हाथ प्रत्यक्षतः प्रेयसी के रक्त से नहीं रँगवाये। 'पुत्रसमोवड़ी' में तो मानव-स्वातंत्र्य के निमित्त शुक्राचार्य और देवयानी अपना जीवन ही समर्पित कर देते हैं। पुराण के अन्तर्गत ययाति-आख्यान की प्रमुख भावना है कि कामनाएँ उपभोग से नहीं शान्त होतीं। मुंशी ने इस भावना को गौण स्थान पर रखकर स्वातंत्र्य-भावना को प्रमुख स्थान दिया है। यह परिवर्त्तन स्वतंत्रता के प्रति मुंशी की अभिरुचि का परिचायक है।

नाटकों में वैविध्य अधिक नहीं दिखता। कारण स्पष्ट है—मुंशी का व्यक्तित्व इन सब पर अंकित है जो सबमें कुछ-न-कुछ समानता ला देता है। कुछ असम्भव घटनाएँ भी मुंशी ने स्वीकार कर ली हैं जो पुराणसम्मत तो है, किन्तु बुद्धि द्वारा अग्राह्य हैं। लेकिन 'स्वाभाविकता' के लिए इन घटनाओं का समावेश आवश्यक था। 'स्वाभाविकता' के लिए ही पात्रों की विशिष्ट वेशभूषा, घटना-वर्णन की विशिष्ट प्रणाली, भाषा की विशिष्ट गहन-पद्धति, यज्ञादि क्रियाओं और मन्त्रों की योजना की गयी है। प्रमुख पात्रों का स्वरूप बिककुल स्पष्ट है किन्तु गौण पात्रों का उतना नहीं। यह शायद आवश्यक भी था क्योंकि गौण पात्रों को प्रमुख पात्रों की भाँति महत्त्व देने से समान आकर्षण वाले अनेक पात्रों की भीड़ एकत्र हो जाती जिससे नाटकों की आनुपातिकता को आघात लगता। साथ ही, परस्पर-विरोध के कारण प्रमुख पात्रों का जैसा स्वरूप उभरता है, वह न उभरता। भाषा मुंशी की उतनी स्वाभाविक और समीचीन नहीं है। श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री के अनुसार "शब्दों का चुनाव इत्यादि भाषा के अंगों के लिए श्री मुंशी बहुत समर्थ नहीं हैं, यह प्रसिद्ध है।.........किन्तु मुंशी सचोट अर्थवाले थोड़े शब्दों में सजीव चित्र खड़ा करने का प्रयत्न करते हैं।"[१०]

चित्रों की इस सजीवता के कारण ही मुंशी को इतना गौरवपूर्ण स्थान मिला है कि महात्मा गांधी जैसे युग पुरुष के नाम पर प्रवर्त्तित युग के नामकरण में मुंशी के नाम का योग भी लोग मानते हैं।[११]

---

१० 'पौराणिक नाटको' (उपोद्घात) पृष्ठ १५

११ श्री विजयराय कल्याणराय वैद्य आधुनिक युग को 'मोहन युग' की संज्ञा देते हुए लिखते हैं—'युगपुरुष मोहनदास गांधी के नाम पर।' 'कन्हैयालाल' शब्द का प्रथम पद 'मोहन' अर्थवाची है, इस प्रकार इस युगनाम में श्री मुंशी का भी स्थान परोक्ष रीति से है, ऐसा समझा जा सकता है"

'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' पृष्ठ ३१५

डॉ० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश"

तपस्विनी : एक परिचय

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी गुजराती के वर्तमान कथाकारों और सांस्कृतिक चेतना-सम्पन्न व्यक्तियों के सिरमौर हैं। राजनीति, इतिहास, धर्म, दर्शन, कला और साहित्य के क्षेत्र में उनके व्यक्तित्व का जो प्रस्फुटन हुआ है, वह न केवल भारत प्रत्युत विदेशों तक अपनी आभा विकीर्ण कर चुका है। भारत में तो शरत् और प्रेमचन्द के बाद उनसे अधिक लोक-प्रिय कथाकार दूसरा नहीं है। हिन्दी में उनकी रचनाएँ ऐसे पढ़ी जाती हैं, जैसे वे हिन्दी के ही लेखक हों। ऐतिहासिक उपन्यास लेखक के नाते उनकी ख्याति विशेष रूप से फैली है। वैसे उनका लेखनारम्भ सामाजिक उपन्यास 'वैरनी वसुलात' (वैर का बदला) से प्रारंभ हुआ था। इस उपन्यास ने गुजराती साहित्य में रोमांटिसिज़्म का सूत्रपात किया था। तब से उन्होंने नाटक, कहानी, निबन्ध आदि अनेक साहित्य-विधाओं पर अपनी कलम आजमाई। उनकी यह विशेषता रही कि कुछ भी लिखने पर मुन्शीत्व की छाप बराबर बनी रही। किसी प्रतिभा-सम्पन्न लेखक के लिये इससे अधिक प्रशंसा की बात और क्या होगी कि वह सर्वत्र अपने व्यक्तित्व के तेजस्वी अंश की ज्योति का प्रसार करने में समर्थ हो।

आज वे सत्तर को पार कर जाने पर भी उतने ही सरस और उल्लासमय हैं, जितने सन् १९१३-१४ में 'वैर का बदला' लिखते समय थे। उनका 'तपस्विनी' उपन्यास इस तथ्य का प्रमाण है। 'तपस्विनी' जो उनका नवीनतम सामाजिक उपन्यास है—एक महाकथा है। अभी तक इसके दो भाग प्रकाशित हुए हैं—१ 'संघर्ष' और २—'प्रणय'। 'प्रभाव' नामक तीसरा भाग अभी प्रकाशित होने को है। मुंशीजी ने प्रथम भाग की 'प्रस्तावना' में इस सम्बन्ध में लिखा—'तपस्विनी' लिखते समय जितना सोचा था उससे कहीं अधिक लम्बी हो गई। अतः इसे तीन भागों में प्रकाशित करने का निश्चय किया है। यह पहला भाग 'संघर्ष' प्रकाशित हो रहा है। एक महीने में दूसरा भाग 'प्रणय' बाहर आयगा और फिर कुछ ही समय में तीसरा भाग 'प्रभाव' निकलेगा।"

हम चाहते थे कि तीनों भागों पर एक साथ विचार होता लेकिन 'भारतीय साहित्य' का मुंशी अभिनदनांक तीसरे भाग के प्रकाशित होने से पहले ही छप जायगा। इसलिये 'भारतीय साहित्य' के संचालक-सम्पादक मंडल की भावनानुसार दो भागों पर

ही प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जा रहा है। इन दो भागों में कथा के सूत्रों का जो बिखराव है उन्हें किसी निष्कर्ष के मध्यविन्दु पर लाकर एकत्र करना तीसरे भाग में ही संभव होगा। ऐसी स्थिति में उपन्यास की कलात्मक उपलब्धियों पर कुछ कहना कठिन जान पड़ता है। फिर मुंशी जी ऐसे सुलझे हुए लेखक हैं कि कौन पात्र कब क्या करेगा, इसका पता नहीं। यदि पता हो भी तो वह किस प्रकार अपने स्वरूप को स्पष्ट करेगा, यह तो पता लगाना ही कठिन है। अस्तु,

'तपस्विनी' के प्रथम खण्ड की कथा इस प्रकार है—गणपतिशंकर त्रिपाठी नाम के एक पचासी वर्ष के वेद-शास्त्र-पारंगत पंडित हैं। उनका नाती है रवा त्रिपाठी। बाबा अपरिग्रही है, पैसा तक नहीं छूता और पंडित ऐसा है कि उसकी सर्वत्र धाक है। एक दिन बम्बई के माधवबाग मंदिर में रवा को किसी सम्पन्न परिवार के बालक द्वारा पाँच रुपया दक्षिणा मिलती है। बाबा को सर्वगुण सम्पन्न मानने वाला रवा डरते-डरते बाबा से पूछता है कि वह उन रुपयों के नये कपड़े सिलवाकर सरकारी पाठशाला में पढ़ने जाय तो कैसा ? बाबा सरकारी पाठशाला में पढ़ने की तो आज्ञा दे देते हैं पर कपड़े बनवाकर उन रुपयों को पुस्तकों के लिये बक्स में रखवा देते हैं। दूसरे दिन सरकारी पाठशाला में वह फटे-पुराने कपड़ों से ही भर्ती होने जाता है। जैसा कि होता है, रवा सरकारी पाठशाला के अध्यापक द्वारा तिरस्कृत होता है परन्तु एक अन्य सज्जन की कृपा, अपनी योग्यता से वह पाठशाला में नाम लिखवाता है और उसके नंगेपन की हँसी उड़ाने वालों को विद्वत्ता और तप के बल पर नीचा दिखाने का संकल्प करता है। बाबा से संस्कृत का ज्ञान मिल ही गया था, अंग्रेजी और गणित की कठिनाई थी। उसमें से अंग्रेजी 'अंग्रेजी शिक्षक' से और गणित लीलावती से सीखा। पढ़ाई का सिक्का जमा और रवि त्रिपाठी कहलाने लगा। ट्यूशन से गुजर करने लगा।

एक दिन जब ट्यूशन वाले लड़के चले गये तो अर्थाभाव से व्यग्र भूलेश्वर महादेव के चरणों में मस्तक रख दिया। मंदिर से बाहर मिला तो एक मोटर से टकराया। यह मोटर थी बम्बई के प्रसिद्ध बैरिस्टर राधारमण की धर्मपत्नी शीला की, जिसने उसे बेहोशी की दशा में घर लाकर सार-सँभार की। राधारमण नहीं चाहता था कि शीला इस प्रकार के निर्धन ब्राह्मण के लिये परेशान हो। उसने, रवि के कुछ स्वस्थ होने पर, उसके बाबा गणपति शास्त्री को बुलाकर उसकी पढ़ाई में धन देना चाहा, जिसे शास्त्री ने अपरिग्रही के नाते विनम्रता पूर्वक न लेने की बात कही। अन्त में रवि राधाकृष्ण पाठशाला में वयाकरणी के पद पर नियुक्त हो जाता है, जिसका वेतन शीला द्वारा दिया जाना तय होता है।

शीला एक विधवा की सत्तरह वर्षीय कुमारी थी, जब पैंतीस वर्ष के विधुर बैरिस्टर राधा रमन से उसका विवाह हुआ। रवि त्रिपाठी के मोटर दुर्घटना ग्रस्त होते समय उसकी आयु बीस वर्ष की थी। राधारमण रुपया और प्रतिष्ठा के ऊँचे शिखर पर पहुँचकर कादम्ब-कामिनी का भक्त हो गया था। शीला की पति भक्ति का महत्त्व उसके लिये कुछ ही दिन रहा। वस्तुतः राधारमण अपनी इच्छा का स्वामी था—और कोई उसकी इच्छा के विरुद्ध चले, यह उसे स्वीकार्य नहीं था। उसका सिद्धान्त था कि अंग्रेजी

जीवन पद्धति से ही मनुष्य में संस्कारिता आती है । मांसाहार से ही मस्ती आती है, बिना शराब के निर्द्वन्द्व नहीं रहा जा सकता, छैलापन ही मनुष्यता का माप दण्ड है। भारतीय रीति रिवाज, संस्कृति और आदर्श को वह हेय दृष्टि से देखता था । मर्दानगी का सबूत शराब पीने और विषय भोग की शक्ति में था अतः प्रति वर्ष तीन चार मास विलायत, फ़ांस या स्विटजरलैण्ड जाता । शीला के विवाह के पहले यह क्रम चला पर अब बन्द था । कुछ समय के लिये दबे हुए संस्कार शीला द्वारा रवि त्रिपाठी और गणपति शास्त्री के सम्मान में जाग पड़े । खिचाव बढ़ा। वमनशा नामक पारसी मित्र ने इसमें मदद की । वह फिर यहूदिनों और गोवाइनों के चक्कर में फँस गया ।

रवि त्रिपाठी शीला के मास्टर भगवान दास की सहायता से अपना अध्ययन आगे बढ़ाने लगा । एक दिन जब रविवार को रवि भगवान दास के घर गया तो मास्टर ने उसे चौपाटी की हवा खिलाई और उसके मन में भौतिकता के प्रति मोह उत्पन्न किया । अपनी गली से शीला के घर की तुलना की तो और भी वेदना हुई । इसी बीच एक कम्यूनिस्ट का भाषण उसने सुना, जिसमें पूँजीवादियों की निन्दा थी । उसने संल्कप किया कि वह वाणी द्वारा हृदय जीतेगा और प्रभावशाली व्यक्ति बनेगा। बाबा से कहा तो उन्होंने संतोष व्यक्त किया क्योंकि उन्होंने समझा कि वह उन्हीं के आदेश पर कार्य करेगा । बाबा ने इसके बाद अपनी आप बीती सुनाई जिसमें झाँसी की रानी के सन् ५७ के युद्ध और अपनी उसमें उपस्थिति बताई। उसके बाद रवि के पिता शिवशंकर त्रिपाठी के आंतकवादियों के साथ काम करते-करते मारे जाने का कच्चा चिठ्टा सुनाया। रवि के गर्व का ठिकाना न रहा। बाबा ने समझा यह मेरे विद्या के आदर्श को पालेगा पर वह हो गया कम्यूनिस्ट और नाम रख लिया रविदास चुडगर।

अब कथा में एक और सूत्र मिलता है--उदय सोलंकी का, जो मणिगढ़ के राजा के काका के लड़के केप्टन प्रतापसिंह का पुत्र है। विलायत से उच्च शिक्षा प्राप्त कर बैरिस्टर हो आया है। वहाँ उसने एलिस नाम की एक लड़की से शादी भी की, जो भारतीय डाक्टर चौधरी की अंग्रेज पत्नी की पुत्री थी। उदय के साथ एलिस के अतिरिक्त उसका पुत्र करण भी है। पिता का स्वर्गवास हो चुका है । घर में माँ पद्मकुँवर, बहन राज और छोटा भाई भीम और हैं। मामा भूपतसिंह भी परिवार का ही अंग है, यद्यपि अलग रहता है । एलिस पूरी अंग्रेज और सास पद्मकुँवर परम भक्त। एलिस को प्रत्येक भारतीय वस्तु और रीति-रिवाज से घृणा है। वह कुछ ही दिन ताजमहल होटल में रहती है और रणचंदानी नामक एक विलासी के साथ इंगलैंड लौट जाती है । उदय के उसे भारतीय बनाने के प्रयत्न विफल हुए । यही नहीं, उसने उदय से सम्बन्ध विच्छेद भी कर लिया। उदय को अपनी वकालत जमाने के लिये बैरिस्टर राधारमण का सालिस्टिर होना पड़ा। उसकी पत्नी शीला से उसका परिचय हुआ गण-पति शास्त्री के घर । वह विलायत से लौट कर माँ के साथ शास्त्री जी से मिलने गया था। शीला भी रवि के साथ की दुर्घटना के बाद से शास्त्री जी की भक्त हो गई थी। अतः वह भी वहाँ उपस्थित थी ।

शीला और राधारमण में खिंचाव बढ़ता जाता है। वह भगवानदास मास्टर के

साथ बार डोली की यात्रा पर जाती है। गांधी जी के व्यक्तित्व का सम्पर्क होता है। चौरी चौरा काण्ड से उत्पन्न स्थिति में गांधी जी ने अपनी हिमालय जैसी भूल स्वीकार कर सत्याग्रह बन्द करने का फैसला किया था। शीला गांधी के रंग में रंग जाती है। राधारमण को यह पसंद नहीं। विरोध बढ़ता चला जाता है। इधर उदय एलिस के जाने पर भारतीयता की ओर मुड़ता है। साथ ही अपने पेशे में उन्नति करने के लिये कृत-संकल्प होता है।

रवि चुडगर के रूप में रवि को कम्यूनिस्ट पार्टी में चार वर्ष काम करते हो जाते हैं। पालिटब्यूरो के प्रधान मंत्री सान्याल की कसौटी पर वह खरा उतरता है। अब उसके साथ काम करने आती है मोना, जो श्रीमती चुडगर बन जाती है। रूस जाकर लौटी है, वारंट है अतः भूगर्भ में—under ground रहने के लिये वह यह रूप लेती है। रवि के संस्कार जागते हैं। वह घबराता है। बिना विवाह एक स्त्री के साथ रहना कैसा? मोना कहती है "मैं विवाह में विश्वास नहीं करती। रूस में स्त्रियों का राष्ट्रीय-करण हो गया है।" विवश रवि को मोना रेवा चुडगर के रूप में स्वीकार करनी पड़ती है। लेकिन घर का काम उससे आता नहीं। बेचारे कमरेड को ही वह सब करना पड़ता है। काम चलाऊ पत्नी के रूप में ही वह रहती है।

एक सूत्र कथा और है, जिसका सम्बन्ध उदय की बहन राज से है। उदय जब विलायत में था तब उसके साथ प्रेमकोट के महाराज के काका का लड़का समरसिंह भी पढ़ता था। प्रेमकोट के महाराज मृत्यु-शैया पर थे। पुत्र कोई था नहीं इसलिये उनके काका के लड़कों में गद्दी के लिए दाँव-पेच चल रहे थे। समरसिंह भी गद्दी के दावेदारों में एक था। उदय की माँ और भूपत मामा ने समरसिंह को राज के लिए वर रूप में प्राप्त करने की चेष्टा की। समरसिंह ने इसमें उन्हें चकमा दिया। हुआ यह कि मणिगढ़ के राजा गंगासिंह भी बम्बई में बीमार थे। उनकी नई रानी हंसकुँवर समरसिंह की ओर झुकी थी। वह चाहती है कि समरसिंह को मणिगढ़ की ओर से आठ लाख रुपया ऋण के रूप में मिल जाय तो प्रेमकोट की गद्दी उसे मिल जाय। मणिगढ़ के महाराज को मरना था ही। वह मणिगढ़ और प्रेमकोट दोनों की ही सर्वेसर्वा हो जायगी। अपने गर्भ में बालक है, अतः समरसिंह की सहायता वह निस्स्वार्थ भाव से कर रही है, यह उदय उसकी माँ और मामा सबको ठीक लगती है। दस्तावेज तैयार कराती है और उदय के उस पर हस्ताक्षर कराती है। राजा समरसिंह और हंसकुँवर की आँखों से समझ जाती है कि यह छल है। उदय भी अनुभव करता है कि यह केवल आठ लाख रुपये के लिये ही ढोंग रचा गया है। न तो हंसकुँवर पुत्रवती होने वाली है और न राज समरसिंह की पत्नी। राज का मन इस ओर से विरत हो जाता है। वह स्वभावतः सद्विचार वाली थी। इस घटना से उसका जीवन और भी बदलता है। वह मस्तिष्क विकार-ग्रस्त मान ली जाती है। लेकिन वस्तुतः उसे प्रत्येक अनुचित बात का पहले से ही आभास हो जाता है। माँ बेटी की यह दशा नहीं देख सकती। मणिगढ़ के महाराज रामसिंह के गुरु आनन्दस्वामी की सम्मति ली गई तो पता चला कि उसे कोई बीमारी नहीं। वह अब पूरी भक्त बन गई। उनमें पाण्डुचेरी जाकर अरविन्द के दर्शन-लाभ का निश्चय हुआ।

पाण्डुचेरी जाने से पहले माँ-बेटी मालसर पहुँचती हैं, जहाँ के मंदिर में पहुँचकर राज को मूर्छा आना बन्द हो जाता है। वहाँ से स्वामीराज नाम के एक चमत्कारी साधु के पास ढेवरिया जाती है। राज उदय को पत्र रूप स्वामीराज के चमत्कार पूर्ण जीवन की बातें लिखती हैं। स्वामीराज के विषय में राजने एक पत्र में लिखा—"वे नाम के साधु हैं। छः फुट ऊँचे तीन फुट चौड़े और सत्तर वर्ष के। शरीर पर केवल स्वच्छ साफी पैरों में खड़ाऊँ और हाथ में मोटा डंडा। सफेद बाल और दाढ़ी, कन्धे पर जनेऊ। मुँह और हाथ पर पुरे हुए घावों के निशान।" × × × × धार्मिकता, विद्वत्ता या आध्यात्मिक शक्ति का तनिक भी दिखावा नहीं फिर भी उनकी बातों में सौंदर्य झलकता है। बचपन में सन्यास लेकर छोड़ दिया था। एक बार ढेवर के ठाकुर के तलवार धारी थे फिर उनके पौत्र के गुरु भी रहे। पच्चीस वर्ष की उम्र में विवाह किया पर विधुर होने के बाद प्रत्येक स्त्री को जगदम्बा का अवतार मानने लगे।" स्वामीराज राजको अपनी साधना का रहस्य बताते हैं, जिसके लिए चन्द्रभालेश्वर के मन्दिर में पचास वर्ष पहले के स्वामी शिवानन्द के शिष्य एक सर्वानन्द की कहानी सुनाते हैं जिसने ढेवरिया के ठाकुर के जमादार की लड़की चन्दन के प्रेम में मन्दिर छोड़ दिया था। और राजूभट के नाम से ढेवरिया के विरोधी ठाकुर के यहाँ जाकर रहा था। उसने न केवल चन्दन वरन् गंगली तेलिन की भी रक्षा की थी। यह तेलिन वेश्या-वृत्ति द्वारा पैसा कमाकर अपने पिता को भेजती थी। इस कहानी द्वारा स्वामीराज राज को पाप-पुण्य का भेद समझाते हैं। उपदेश का सार है—"अपुण्य से कायरता आती है। उसकी अपेक्षा यदि ऐसा विश्वास रखा जाय कि संसार पुण्यमय है तो अपुण्य में से पुण्य प्रकट हो सकता है।" श्रद्धा ही सत्य, शिव और सुन्दर की जन्मदात्री है। यों पहला खण्ड समाप्त हो जाता है।

दूसरे खण्ड की कथा माथेरान[1] से आरम्भ होती है। माथेरान के 'पर्वताश्रम' होटल—मत्रमयूर नाम के कवि का परिचय हमें मिलता है। उदय के लिये जो कमरा होटल के मालिक को रखना था उसको मत्रमयूर अपने अधिकार में कर लेते हैं। स्वयं उदय ने एलिस के जाने के बाद से 'भग्न हृदय' और 'तपस्विनी' नामक दो कृतियाँ लिखी थीं। उन पर उसका नाम 'पीयूष' था, उदय नहीं। उन कृतियों से साहित्य में हलचल मच गई थी। कविराज पीयूष नामके इस लेखक की तलाश में थे। राधारमण और शीला भी जलवायु परिवर्तनार्थ माथेरान पहुँचते हैं। उदय को अपने साथ ले आते हैं और कविराज के घमंड को चूर करते हैं। 'नव प्रकाश' नामक पत्र में कविराज अपने खण्ड काव्य की आलोचना पढ़ते हैं और यह देखकर कि उसे केवल शब्दक्रीड़ा कहा गया है, आग बबूला हो जाते हैं। उसी नव प्रकाश में 'तपस्विनी' की प्रशंसा पढ़कर तो उनके क्रोध की सीमा नहीं रहती। बेचारे 'तपस्विनी' उठाते हैं और दो बड़े समाप्त करके ही छोड़ते हैं। उनका निर्णय होता कि यह आर्यत्व का विध्वंसक कल्पना के क्रोड़ में खेलता साहित्य है। अपने 'ब्रह्मचारिणी' काव्य के साथ उसकी तुलना करते हैं। पीयूष ने ब्रह्मचारिणी का मजाक उड़ाया था और तपस्विनी के समक्ष वह निर्जीव लगती थी। कविराज 'सनातन' युग के सम्पादक कालिदास विद्वान को फोन करते हैं कि 'तपस्विनी' और उसके लेखक के

१. बम्बई के निकट एक स्वास्थ्यप्रद पार्वतीय स्थान।

विरुद्ध जिहाद बोला जाय । कालिदास ने तपस्विनी पढ़ी तो उन्हें अपने जीवन की वह घटना याद आ गई, जिसमें उन्होंने स्वयं एक महाराज की लड़की को भ्रष्ट किया था ।

माथेरान में शीला और उदय निकट आते हैं। 'भग्न हृदय' और 'तपस्विनी' के स्रष्टा की ओर शीला खिचती है । शीला और उदय साथ खाते-पीते ही नहीं, गाते-बजाते और घूमते-फिरते भी हैं । एलिस से अलग होने के बाद उदय को शीला के सम्पर्क से नवजीवन मिलता है। हिजहाईनेस समरसिंह भी माथेरान आते हैं । इस बीच समरसिंह ने राजाओं में नाम कमा लिया है । मणिगढ़ की महारानी हंसकुँवर के साथ अपनी विलास-भूख शान्ति करने में भी कमी नहीं छोड़ी । हंसकुँवर से वह आठ लाख का दस्तावेज वापस लेता है, जिसके कारण प्रेमकोट की गद्दी मिली है । वह इसलिये कि एजेण्ट जनरल 'समरसिंह' और 'हंसकुँवर' की प्रेम लीला बरदाश्त नहीं कर पाता । साथ ही हंसकुँवर भी अलग होना नहीं चाहती । इसमें उदय की सहायता चाहिए। इसीलिये माथेरान आये हैं। राधारमण बेरी नामक अँग्रेज स्त्री के साथ समरसिंह के यहाँ विलासलीला में डूबने के कारण रात्रि को नहीं आते । शीला और उदय राधारमण की क्रूरता के फलस्वरूप एक दूसरे को गहराई से समझते हैं । शीला 'तपस्विनी' पढ़कर और भी गहरे में डूबती है । स्वयं तपस्विनी और उदय कवि रूप में अभिनय-सा करते हैं कि कामरेड चुडगर तथा रेवा चुडगर द्वारा लक्ष कर लिये जाते हैं । शीला राधारमण के प्रति वितृष्णा से भर उठती है । गणपति शास्त्री का त्याग उसे बल देता है । वह अपना निश्चय उदय के समक्ष प्रकट करती है—"मुझे इब्सन के 'डाल्स हाउस' की नायिका बनकर नहीं रहना है । मैं तो अपनी आत्मसिद्धि का व्रत लेकर बैठी हूँ ।" यह कहकर राधारमण की कोठी में न रहने और उसके पैसे का उपयोग न करने का संकल्प करती है । राधारमण के बम्बई लौट जाने पर भी माथेरान में रहने का निश्चय करती है ।

मत्तमयूर कालिदास के साथ मिलकर 'तपस्विनी' और उसके लेखक के विरुद्ध मोर्चा जमाते हैं । शीला और उदय दोनों अलग-अलग रह रहे हैं । पत्र-व्यवहार चल रहा है । उदय अस्वथ हो गया है । राधारमण का तार आता है कि शीला बम्बई आवे पर वह न जाने का निश्चय कर चुकती है । उदय का शीला से अकेले में मिलना कवि के भय से संभव नहीं । दोनों के हृदय विकलता का अनुभव करते हैं । माथेरान में रेवा चुडगर की झड़प कविराज मत्तमयूर से हो जाती है । रवि शीला के परिचय में आता है और पुरानी स्मृतियाँ जाग उठती हैं । रेवा द्वारा शीला और उदय की उस रात्रि की बातचीत का पता कविराज मत्तमयूर को मिलता है, जिससे उदय अपमानित होता है ।

शीला इस घटना के बाद उदय के साथ मत्तमयूर की परवाह किये बिना मिलती है । उदय की बीमारी में उसकी सहायता करती है । पाण्डुचेरी से उदय की माँ और बहन लौटती हैं । शीला बम्बई लौट जाती है—पति द्वारा गवर्नर की पार्टी का प्रबन्ध करने । राज को उदय की बीमारी का पता चल गया था इसी से वह आई थी । चेल स्टेशन पर शीला और समरसिंह से राज और उसकी माँ की भेट होती है, जिसमें समरसिंह राज के देवी जैसे रूप पर आश्चर्यचकित रह जाता है । राजवा अपनी प्रार्थना शक्ति से उदय को स्वस्थ कर लेती है । वह गंगु नामक नौकरानी को होटल के मलिक के

अत्याचार से बचाती है। गंगु एक अवैध शिशु को ट्रंक में रखती थी और नौकरी करती थी। जब पता चला तो होटल में कुहराम मचा। मत्तमयूर ने भी होटल मालिक का पक्ष लिया। इस पर राज ने मानवता के नाते उसे अपनाया। कविराज को नीचा देखना पड़ा और साथ ही माथेरान से बोरिया बिस्तर बाँधना पड़ा।

समरसिंह के विरुद्ध हंसकुँवर ने गवर्नर को तार दिया, जिसमें लिखा कि उसे आधी रात के समय दो बाँदियों के साथ नंगाझोरी लेकर विहार-भवन से निकाल दिया गया है। मेरा आठ लाख रुपया इनसे दिलाया जाय। उधर गांधी जी को भी पत्र लिखा। समरसिंह ने राधारमण का आश्रय लिया। उधर शीला को राज का पत्र मिला कि उदय के पास आवे। इधर राधारमण ने समरसिंह की सहायतार्थ शीला का उपयोग करने के लिये उसे माथेरान भेजना चाहा। वह माथेरान पहुँची। शीला को पाकर उदय स्वस्थ होता है। दूसरे दिन समरसिंह भी उदय का हाल पूछने पहुँचते हैं। उन्हें वहाँ जगजीवन भगवानदास को गांधीजी द्वारा लिखाया पत्र मिलता है, जिसमें हंसकुँवर की शिकायत की सत्यता-असत्यता की जाँच करने के लिए मिलकर बात करने का उल्लेख है। राधारमण साथ है। प्रयत्न होता है कि उदय को फुसला कर मामला ठीक किया जाय। इसके लिये राज को जीतने का गुरु राधारमण बताता है। लेकिन राज को सब पता चल जाता है। वह अपने व्यक्तित्व से समरसिंह से से सत्य निकलवाकर महात्मा जी को उसके द्वारा अपराध स्वीकृति तथा क्षमा-याचना का पत्र लिखाती है।

माथेरान में रवि को शीला का साक्षात्कार हुआ तो उसे राधारमण के वैभव-सम्पन्न घर की याद आई। मोना के साथ लाख सुख होने पर भी सौंदर्य की प्यास ने उसे बेचैन किया। उसे लगा कि कोरे मार्क्स के सत्य-पाठ से काम नहीं चल सकता। सुरुचि पूर्ण ढंग से रहना हो तो ऐसे रहना चाहिए जैसे कि शीला रहती है। उसने सोचा—मुझे सौंदर्य की भूख है। न हो तो पूर्णतः संतोष नहीं हो सकता। प्रभावशालीनता तो मेरा श्वासोच्छ्वास है। इससे पैसे वालों से बदला लिया जा सकता है परन्तु यदि सौंदर्य न हो तो ग़रीबी और गंदगी से संसार का उद्धार कैसे किया जा सकता है? उसे अपने बाबा के प्रभाव की भी याद आई। फिर यह भी सोचा कि पॉलिटब्यूरो का सदस्य होना कितना कठिन है। इस प्रकार के विचारों में जब वह निमग्न रहता था तभी उसे पॉलिटब्यूरो के समक्ष उपस्थित होना पड़ा। नेता सान्याल ने कहा कि बार डोली में गांधी जी कर विरोधी आन्दोलन चला रहे हैं और उसका भार वल्लभ भाई को सोंपा गया है। करना यह है कि गांधीवादियों के साथ मिलकर किसानों पर भी वैसा ही अधिकार किया जाय जैसा मजदूरों पर किया है। रवि चुडगर को गुप्त रूप से कांग्रेसियों का विश्वास प्राप्त कर कम्यूनिस्टों का प्रभाव जमाना था। उसने जिम्मेदारी ली। नया ठिकाना किया। वेशभूषा बदली और भगवान दास मास्टर से मिलकर विश्वास प्राप्त किया। जो मीटिंग बारडोली के सत्याग्रह में सहायता के लिये हुई उसमें वह भी गया। वहाँ राज शीला और उदय को देखा। उसका भाषण हुआ। स्वभावतः उसने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। वह उदय का प्रायवेट सेक्रेटरी हो गया। बारडोली में गया तो वल्लभ भाई का प्रभाव देखा, गांधी के प्रति श्रद्धा देखी, और

उसका मन कम्यूनिस्टों की ऊपरी अटकलबाज़ी पर क्रुद्ध हो उठा। मोना द्वारा गांधी को अँग्रेजों का एजेण्ट बताने की बात उसके गले न उतरी। उसने निश्चय किया कि कम्यूनिज्म से स्वर्ग नहीं आवेगा। वह मोना से अलग हुआ और साथ-साथ कम्यूनिज़्म से भी। उसने गांधी जीवन की सादगी अपना ली। उदय का विश्वास भी प्राप्त किया परन्तु राज की ओर उसका जो झुकाव था, उसमें राज की ओर से कोई पहल न हुई। पर वह चाहता था कि राज को जीते। शीला की ओर भी उसका ध्यान जाता पर उदय और शीला की पारस्परिक एकात्मता देखकर वह फिर राज की ओर मुड़ जाता।

इधर उदय और शीला एक हो रहे थे। उधर राधारमण यहूदिनों के पीछे पागल था। शराब की मात्रा बढ़ गई थी। बारडोली के सम्बन्ध में समझौते के प्रयत्न चल रहे थे। सर सादिक जैसे सरकारी पिट्ठू अपनी खैरख्वाही का सबूत शीला और उदय को अपनी ओर करके देना चाहते थे। उधर समरसिंह ने सादा जीवन बिताना शुरू कर दिया था और उनकी महारानी जयवन्तकुँवर राज की ओर से सन्देह में डूबी थी। एक बार ताजमहल होटल में राज को चाय में अभिमंत्रित चावल डालकर उसे अपने रास्ते से हटाना चाहती थी कि राज को पता चल गया और उसने कहा कि सब अपनी अपनी चाय स्वयं ले लें। बारडोली का समझौता न हुआ और अंतिम लड़ाई की तैयारी हुई। रवि को उदय का एक प्रेम पत्र मिला, जिसे शीला भूल से फायल में रखकर भूल गई थी। एक दिन शीला उदय के साथ अपने घर गई। पीछे से राधारमण आया। रवि भी साथ था। राधारमण ने शीला को खरी-खोटी सुनाई। इसमें रवि का हाथ था क्योंकि उसने यशोधर से उदय-शीला प्रेम प्रसंग की बात कह दी थी। शीला घर छोड़कर उदय के साथ चल दी।

एक दिन राधारमण उदय के यहाँ आकर शीला से बुरा-भला कहता है। उसकी गांधी-भक्ति ने किस प्रकार गवर्नर की काउंसिल की मेम्बरी छुड़वाई, किस प्रकार प्रेक्टिस को हानि पहुँचाई, किस प्रकार उसे अधिकाधिक कुमार्ग पर ठेला आदि का दोषारोपण किया। वह गया कि सूरत से जगजीवन का फोन आया जिसमें उदय को विधान सभा का सरदार बनाने के लिये सरदार का आग्रह है। रवि राज के कहने से उदय का पक्का साथी हो जाता है और उदय विधान सभा का सदस्य बन जाता है। राज अब उदय के प्रत्येक कार्य की देखभाल करती है। रवि उसके परिवर्तन पर दंग है। बारडोली का काम खत्म होने से रवि को अब उदय के मंत्री के रूप में काम नहीं करना था पर राज बा ने बारडोली के लिये दिये गये अपने बारह हज़ार रुपयों में से साढ़े चार-पाँच हज़ार खर्च करने के बाद बचे रुपयों के खाते में अपने दोनों के अतिरिक्त तीसरा नाम रवि का भी जोड़ दिया। शीला के प्रति उदय की लगन का राज को पता था। विधान सभा में पहली बार बोलने को खड़ा हुआ तो कुछ का कुछ बोल गया और उसे चक्कर आ गया। राज उसे पूना अस्पताल ले गई और फिर बम्बई लाई। उसी के प्रयत्न से वह स्वस्थ हुआ। रवि चाहता है कि इस निष्क्रिय जीवन से मुक्ति पावे पर छूट नहीं पाता—राज के आकर्षण के कारण। वह भगवानदास के साथ चर्खा संघ का कार्य करने लगता है। उदय योरोप चल देता है।

इटली में उसे अपने स्वास्थ्य में परिवर्तन दिखाई दिया। वहाँ से वह रोम गया। कोमो के तटपर होतेल-द-एस्ते में सामान रख कर स्टीमर से आसपास के गाँव देखने गया। स्टीमर से उतर कर एक छोटी-सी जगह पर होटल में गया। वहाँ शीला की याद आई और वह द-एस्ते होटल लौटा। वहाँ शीला से उसकी भेंट हो गई। वहाँ से फिर उसी छोटे से गाँव में पहुँचे। इसी बीच राधारमण का तार आया। राधारमण के साथ शीला भी योरोप आई थी। वेनिस से मिलान पहुँच कर राधारमण ने तार दिया था। राधारमण के विलासीपन से ऊब कर ही शीला उदय के पास आई थी पर तार पाकर चल दी क्योंकि उसे डर था कि कहीं राधारमण उसके बिना किसी संकट में न पड़ जाय। शीला मिलान गई और उदय निर्जीव-सा उस गाँव के होटल में पड़ा रहा। उसे होटल वाली ने शीला का तार दिया, जिसमें लिखा था कि अंतिम स्टीमर से वह वापस आ रही है। रात को शीला को रोते देख उदय उसके कक्ष में पहुँचा। पता चला कि शीला के बेग से राधारमण को उदय के पते का कागज मिल गया था, जिस पर राधारमण क्रुद्ध हो गया। वह लीना नामक किसी वारविलासिनी के साथ विलासक्रीड़ार्थ जाने वाला था। उसके पास अपने आने की सूचना भी शीला द्वारा ही भिजवाई। दूसरे दिन से उदय ने शीला को अपनी आराध्या देवी की भाँति मानकर दीन भक्त जैसा व्यवहार आरंभ किया। वहाँ से वे दोनों स्विटजरलेण्ड जाते हैं। शीला पूछती है कि बम्बई जाकर हम इस तादात्म्य का कैसे निर्वाह करेंगे तो उदय कहता है कि इस समय तो वर्तमान के प्रत्येक क्षण को आनन्द से भोग लेना है। लेकिन शीला को राधारमण की बीमारी का पत्र पाकर पेरिस जाना पड़ता है। जिस पत्र को पाकर वह पेरिस गई उसे उदय ने छिपाना चाहा था और देर से दिया था। इस पर शीला उदय से नाराज़ भी हुई थी। यहाँ दूसरे खण्ड की कथा समाप्त हो जाती है। तीसरे खण्ड में क्या होगा, कहा नहीं जा सकता। हम जो अनुमान लगा सकते हैं वह यह कि रवि और राज तथा उदय और शीला एक होंगे। किस प्रकार होंगे इसका पता नहीं।

दोनों खण्डों की कथा-वस्तु को लेखक ने उपविभागों में विभाजित किया है। पहले खण्ड में संघर्ष, मोना और स्वामीराज तीन उपविभाग हैं। कथा के अन्तर्गत जितने सूत्रों का समावेश होता है वे सब 'संघर्ष' के अन्तर्गत हैं। रवि त्रिपाठी की दरिद्रता और उसके बाबा गणपतिशंकर शास्त्री का तप और त्याग तथा रवि के पिता शिवशंकर त्रिपाठी के बलिदान की पृष्ठ भूमि में रवि के कम्यूनिस्ट होकर प्रभावशाली बनने तक की कथा आ जाती है। बैरिस्टर राधारमण और उसकी द्वितीय पत्नी शीला के परस्पर विरोधी स्वभावों तथा जिन दिशाओं में वे आगे जा सकते हैं उनका चित्रण है। उदय, राज और उदय की अँग्रेज पत्नी एलिस के सम्बन्ध-विच्छेद की कथा है। शीला और उदय के बीच जो आत्मीयता होने वाली है उसकी झलक भी इस खण्ड में है। केप्टन समरसिंह की कथा रजवाड़ों की तत्कालीन दशा की सूचक है। रानी हंसकुँवर और समरसिंह के अवैध सम्बन्ध तथा राज के साथ शादी करने के झूठे बहाने द्वारा आठ लाख रुपया हंसकुँवरबा से लेकर समरसिंह का राजगद्दी प्राप्त करना इस वर्ग की अपनी विशेषता है। दूसरे उपविभाग से लेखक कथा को उन पात्रों के साथ अधिक विस्तार बाँधता है जो

उसकी विचारधारा या प्रतिपाद्य का प्रमुख अंग है। 'मोना' नामक इस उपविभाग में रवि त्रिपाठी जो कामरेड चुडगर है एक कम्यूनिस्ट लड़की के साथ दाम्पत्य जीवन बिताता हुआ प्रभावशाली नेता होने का प्रयत्न करता है। कम्यूनिस्टों की कार्यप्रणाली, उनकी सामाजिक और नैतिक मान्यताएँ, उनका रूस के साथ सम्बन्ध आदि बातों का समावेश है। 'स्वामीराज' नामक उपविभाग में राज और उसकी माँ के तीर्थ यात्रा करने का वर्णन है। इसके द्वारा मुंशीजी ने अद्भुत-तत्व को कथा में समाविष्ट करने की चेष्टा की है। इसमें पत्रों द्वारा एक ऐसे सन्यासी का चरित्र है, जो अपनी इच्छा-शक्ति के बल पर मानवीय संवेदना की महत्ता प्रतिपादित करके पाप-पुण्य की समस्या पर प्रकाश डालता है।

दूसरे खण्ड में चौथा उपविभाग 'माथेरान' नाम का है। इसमें उदय के प्रसिद्ध उपन्यासकार होने और मत्तमयूर कवि ने उसके विरुद्ध विष-वमन करने का उल्लेख है। बैरिस्टर राधारमण का विलासी-जीवन शीला को गहरा आघात देता है। मत्तमयूर उदय को बदनाम करने के लिये शीला के साथ उसके अनुचित सम्बन्ध की अफवाह फैलाता है। स्वयं ईर्ष्याभाव से पीड़ित है। कम्यूनिस्ट रेवा द्वारा उसकी ईर्ष्याग्नि और प्रज्ज्वलित की जाती है। समरसिंह और हंसकुँवर की कथा इसमें समाप्त हो जाती है। वह इस प्रकार कि हंसकुँवर समरसिंह से आठ लाख रुपया प्राप्त करने के लिये गवर्नर तथा महात्मा गांधी को प्रार्थना पत्र देती है। समरसिंह चाहता है कि फिर उदय को धोखा दिया जाय पर राज, जिसे भविष्य में होने वाले दुष्कर्म का ज्ञान हो जाता है, उससे प्रायश्चित कराती है, क्षमापत्र लिखवा कर शीला और उदय को राज अपने व्यक्तित्व से और भी निकट ले आती है—इतना कि अब उन दोनों का एक होना अवश्यम्भावी हो गया है। पाचवें उपविभाग का नाम लेखक ने 'ट्राय का घोड़ा' रखा है। पॉलिटब्यूरो का प्रधान मंत्री सान्याल बारडोली सत्याग्रह में रवि को भेजता है। उद्देश्य यह है कि उसमें घुसकर किसानों में कम्युनिस्ट पार्टी का असर बढ़ाया जाय। रवि इस कार्य को करने का वचन देता है पर गांधीजी और वल्लभ भाई के प्रभाव को देखकर वह गांधीवादी हो जाता है। उसके इस परिवर्तन को देखकर मोना उसका साथ छोड़ देती है। उदय बारडोली-सत्याग्रह में प्रचार मंत्री है और रवि उसका प्राइवेट सेक्रेटरी। शीला पहले ही चर्खा केन्द्र चलाती है। बारडोली सत्याग्रह में वह प्रमुख भाग लेती है। राधारमण अपनी विलास-लालसा की तृप्ति के लिये फिर भटकना आरंभ कर देता है। रवि राज की ओर झुकता है। उसे अपने कम्युनिस्ट-जीवन से घृणा हो जाती है। उदय विधान सभा का सदस्य हो जाता है और यों वह आगे बढ़ रहा है। छठा उपविभाग 'प्रणय' है। इसमें राधारमण और शीला विदेश यात्रा पर जाते हैं। उदय भी अपना स्वास्थ्य सुधारने योरोप जाता है। रोम के एक छोटे से पार्वतीय प्रदेश में उदय और शीला की भेंट होती है। एक बार शीला राधारमण को छोड़कर उदय के पास चली आती है पर फिर तार पाकर लौट जाती है।

दोनों खण्डों के उपविभागों में कथा को ऐसा विभाजित किया है कि धीरे-धीरे प्रमुख पात्र महत्व प्राप्त करते चले जाते हैं। शीला और उदय कथा के केन्द्र हैं। शीला

तो प्रारंभ से ही उपन्यास में प्रमुख स्थान रखती है क्योंकि रवि को दुर्घटना-ग्रस्त होने से बचाने और गणपतिशंकर शास्त्री की विद्वत्ता से प्रभावित होने के कारण वह अपनी आदर्शवादी वृत्ति का परिचय देती है। अपने मास्टर भगवानदास के कारण वह गांधीवादी बनती है और चर्खा केन्द्र तथा बारडोली सत्याग्रह में खुलकर भाग लेती है। अपने पति के विलासी स्वभाव से उसे घृणा है। न केवल विलासी स्वभाव प्रत्युत जीवन के भौतिक मूल्यों के प्रति भी वह विरक्ति-भाव धारण करती है। उदय के स्वभाव में भी वही आदर्शवाद है जो शीला के स्वभाव में है। एलिस की भारतीय संस्कृति के प्रति अरुचि को देखकर उसका हृदय घायल हो जाता है और उसके विलायत लौट जाने पर तो वह अपने को कठिनाई से सँभाल पाता है। परन्तु उसे भी प्रेरणा गणपतिशंकर शास्त्री के जीवन से ही मिलती है। वह भारतीयता के प्रति झुकता है और एलिस के सम्पर्क से प्राप्त पाश्चात्य जीवन के आदर्श को छोड़ देता है। निश्चय ही इस एक सूत्र से प्रेरणा लेने वाले उदय और शीला को लेखक मिलाना चाहता है अतः उनके समान संस्कारों का परिचय पाठक को पहले ही मिल जाता है। एक तीसरा पात्र और है जो इस आदर्श का मूर्त रूप है और वह है राज। राज के चरित्र को लेखक ने ऐसी कुशलता से गढ़ा है कि वह जहाँ उदय और शीला के संस्कारी हृदयों को मिलाता है वहाँ अपनी भी अमिट छाप छोड़ता है। उसे किसी भी पाप मय घटना अथवा अभिसंधि का आभास पहले से हो जाता है। वह स्थिर चित्त और स्थिर आँखों से ऐसी परिस्थिति प्राप्त होते ही किसी दूसरे लोक में पहुँच जाती है और भविष्य उसकी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। समरसिंह का छल, उसकी रानी द्वारा अभिमंत्रित चावल राज की चाय में डालने का प्रयत्न, उदय के मार्थरान में रुग्ण होने का तीर्थ यात्रा में पता चल जाना आदि ऐसी ही घटनाएँ हैं। वह भक्त-हृदय है और प्रार्थना के बल से रुग्ण उदय को स्वस्थ कर लेती है। हमारा विश्वास है कि राज मुंशी की ऐसी सृष्टि है, जो कला की दृष्टि से बड़ी ही सफल है।

रवि दरिद्रता से ऊबकर कम्यूनिस्ट होता है। प्रभविष्णुता भी प्राप्त हो जाती है। लेकिन जो सौंदर्य और कला सम्पन्न जीवन उदय और शीला का है उसकी ओर वह फिर झुकता है और गांधी जी तथा वल्लभ भाई के प्रभाव को स्वीकार कर मोना को छोड़ देता है। कम्यूनिस्टों की कार्य प्रणाणी का खाका खींचने के लिये ही रवि की सृष्टि की गई है। किस प्रकार केवल प्रचार के लिये नाना प्रकार के घृणित उपाय वे काम में लाते हैं, किस प्रकार बिना विवाह किये ही लड़कियाँ पार्टी में काम करती हैं, किस प्रकार वे अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये असत्य पथ का अनुसरण करते हैं आदि पर व्यंग-पूर्ण शैली में विचार प्रकट किये गये हैं। वे कहाँ तक सत्य हैं यह विचारणीय है पर उनसे कम्यूनिज्म के प्रति घृणा अवश्य होती है। मनोहर नामक एक कामरेड पहली बार सभा में बोलने को उद्यत रवि को समझाता है—"साम्यवाद—कम्यूनिज्म और क्या ? इसमें जो कहेगा वह ठीक है। कान फोड़ने वाले शब्द बोलते जाना इससे श्रोताओं का सर भन्ना जायगा। कुछ याद न आवे तो पैसे वालों को गाली देना। हमें यही चाहिए। बहुत लम्बा मत बोलना। लोग इतिहास नहीं चाहते, विचार नहीं चाहते। हमें तो उनके हृदय में द्वेष की लौ लगानी है। किसी भी प्रकार और किसी भी कारण से हो। वर्ण भेद, जाति भेद, व्यक्ति भेद, आदि सबकी रेल-पेल मचाना। इससे लोग

ज़हर को ऐसे पी जायँगे जैसे बिल्ली दूध पी जाती है।" (पृष्ठ १३५) विवाह पर मोना का विचार है—"विवाह का अर्थ है भावी दु:खका बीमा कराना। मुझे यह बीमा नहीं कराना। यदि यह बीमा करालूँ तो घर घुसनी बन जाऊँ।" (पृष्ठ. २५५) यद्यपि मोना को हड़तालों में रुचि नहीं तथापि कम्यूनिज़्म पागलपन है। वैसे उसका शंकालु मन पूछता है, इस देश में कम्यूनिज़्म जीत की बाजी नहीं यह तो विदेशी पौधा लगता है। यहाँ की भूमि, हवा, पानी और प्रकाश क्या इसके अनुकूल आवेगा? रूस का यह पौधा यहाँ रोपें तो क्या जियेगा? फल देगा? यहाँ के लोगों के ढीले-ढाले मन, हमारी धर्मान्धिता, संकीर्ण और सुन्दर रहन-सहन और अहिंसा का ढोंग इसके बीज को जला दें तो?" (पृष्ठ २५१). होता भी यही है। रवि अन्त में बारडोली के सत्याग्रह में पहुँच कर इसे सत्य सिद्धि कर देता है। उसका कम्यूनिस्ट से गांधीवादी हो जाना ही जैसे कम्यूनिज़्म के बीज का नष्ट होना है।

राजे-महाराजों का जीवन कैसा असंतुलित था यह हमें समरसिंह, हंस कुँवर और मणिगढ़ तथा प्रेमकोट के शासकों के जीवन से पता चलता है। मणिगढ़ के राजा गंगासिंह शिकार में जमादार की लड़की को रानी बनाकर रख लेते हैं। समरसिंह की ओर वह आकृष्ट होती है। उसे आठ लाख रुपया देती है। अपने गर्भवती होने का ढोंग भी करती है। तीर्थ यात्रा के बहाने राज्य से बाहर जाकर समरसिंह के साथ विलास-लीला में रत हो जाती है। अन्त में उसकी दुर्दशा होती है। उधर समरसिंह की वास्तविक रानी इस भय से कि कहीं राजा दूसरी शादी न करलें, कुछ नहीं कहती। वह सयानों से घात करवाने का आयोजन करती है। राज को चाय में अभिमंत्रित चावल खिलाकर अपना मार्ग निष्कण्टक करना चाहती है। समरसिंह राज से शादी करने का ढोंग कर उदय की सहायता से रानी हँसकुँवर से रुपया ऐंठता है। फँसने पर फिर वही चाल चलना चाहता है। राधारमण और चतुर लाल जैसे विधि-विशेषज्ञ कैसा घृणित जीवन बिताते हैं, यह उनके लोगों को ठगने, शराब पीने और वार विलासिनियों के पीछे दौड़ने से प्रकट है।

उपन्यास का सम्बन्ध उच्च वर्ग से है। सभी प्रमुख पात्र विलायत में जाकर पढ़ते ही नहीं है। राधारमण जैसे तो हर वर्ष कुछ महीनों के लिये घूम आते हैं। स्वास्थ्य-सुधार के लिये तो उदय भी गया है। यों विलायत जाना उनके लिये साधारण-सी बात है। इन पात्रों के साथ मध्यवर्ग के पात्रों में भगवानदास या उनका लड़का जगजीवन दास और गणपति शास्त्री या उनका पौत्र रवि मध्यवर्ग के भी पात्र हैं पर वे राजनैतिक अथवा शैक्षिक दृष्टि से उनके साथ हैं, आर्थिक दृष्टि से वे इनसे कुढ़ते हैं। रवि तो शीला और उदय के सम्बन्ध को लेकर यशोधर के कान भी भर देता है, जिससे राधारमण और शीला में कहा-सुनी हो जाती है। सर सादिक जैसे अँग्रेजों के पिट्ठू हैं तो मध्य वर्ग पर वे अपने देशद्रोह के कारण उच्चवर्ग में जा मिलते हैं। यों मध्यवर्ग के पात्रों की कोई महत्वपूर्ण भूमिका उपन्यास में नहीं है, उनका कार्य कलाप उच्चवर्ग सापेक्ष है। रही निम्न वर्ग की बात सो वह एक ही पात्र में मूर्त्त हुई है। वह पात्र है माथेरान के पर्वताश्रम की गंगु, जो अपने माँ-बाप के मालिक सेठ के लड़के के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिये

कुँवारी माता बनकर नौकरानी का काम कर रही है। उसने लड़के को ट्रंक में बन्द करके रखा है। एक दिन यह पता चलने पर कि वह शिशु अवैध है उसे पर्वताश्रम का मालिक और कवि मत्तमयूर जैसे भी मार पीट कर निकालना चाहते हैं पर राज उसे अपनाती है। 'स्वामी राज' शीर्षक उपविभाग में राजूभट और चन्दन की प्रेमकथा मे भी लेखक ने निम्न वर्ग की ओर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि रखी है। गंगलोभी, जो वेश्यावृत्ति द्वारा अपने बाप को रुपया कमाकर भेजती थी, लेखक की संवेदना पाये बिना नहीं रही है। मुंशीजी निश्छल और रूढ़िभंजक पात्रों के प्रेम सम्बन्ध को महत्व देकर समाज की सड़ी-गली व्यवस्था पर चोट करने में सदा आनन्दानुभव करते रहे हैं।

कविराज मत्तमयूर और कालिदास विद्वान् साहित्य में नैतिकता का झण्डा बुलन्द कर चलने वाले हैं। वैसे मन ऐसों का कलुषित न होता हो, यह बात नहीं है। मत्तमयूर शीला के प्रशंसक हैं। वे शब्द जाल को कविता का रूप समझते हैं। 'तपस्विनी' के विरुद्ध मोर्चा संगठित कर वे चाहते हैं कि उनका सिक्का जम जाय पर इसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती। ये पात्र यद्यपि हैं तो मध्यवर्ग के लेकिन अपने को समझते हैं सबसे ऊँचा। राधारमण को आधे नाम से सम्बोधन करने वाला कवि अपने अहंकार में बैरिस्टर को नीचा ही समझता है।

उपन्यास के इन दोनों खण्डों में यदि कोई वस्तु स्पष्ट तया ऊपर आती है तो उदय और शीला का प्रणय है। लेखक ने कवित्व और भावुकता की हद कर दी है। अपने हृदय का समस्त रस इन दो पात्रों के माध्यम से बाँट दिया। माथेरान में या रोम में जब कभी लेखक अपने इन पात्रों को एक साथ या अलग रखकर उनके हृदय की हलचल का चित्र खींचता है तो एक-एक भावना सजीव हो जाती है। इनमें उदय की स्थिति शीला से कुछ अच्छी है क्योंकि उदय को एलिस स्वयं छोड़ जाती है। यद्यपि उदय चाहता नहीं कि ऐसा हो। शीला की परेशानी यह है कि वह बार-बार राधारमण के घेरे से बाहर आती है पर उसका नारीत्व उसे फिर वहीं ले जाता है। यही 'तपस्विनी' की तपस्या है। हो सकता है कि तीसरे भाग में राधारमण इस दुनियाँ से चल दे और तपस्विनी (शीला) अपने कवि (उदय) को पाले।

दूसरी बात है कम्यूनिज्म पर गांधीवाद की विजय। रवि और मोना की कथा इसीलिये उपन्यास में आई है। गणपति शास्त्री के त्यागमय जीवन में लेखक ने ब्राह्मणत्व के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया है। उस वरेण्य दरिद्रता से ऊब कर रवि का कम्यूनिस्ट होना और फिर गांधीवाद की ओर आना यह सिद्ध करता है कि लेखक कम्यूनिस्टों के विचित्र सिद्धान्तों से सहमत नहीं है। इन पात्रों के पारस्परिक व्यवहार में कुछ बातें ऐसी भी हैं जो अतिरंजित जान पड़ें। यह कदाचित अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में लिया गया है।

तीसरी बात यह है कि लेखक भारतीय संस्कृति का उपासक है। गणपति शास्त्री की अपरिग्रह-प्रवृत्ति के प्रति उसकी दृष्टि भारतीय ही है। चाहे एलिस हो या राधारमण विलासी और या समरसिंह या हंसकुँवर कोई पात्र उसकी सहानुभूति का पात्र नहीं है। स्वामीराज की आश्चर्यजनक साधना और राज का चरित्र लेखक के लिये

आदर की वस्तु हैं। यह भी नैतिकता अथवा भारतीयता के आग्रह के कारण ही हुआ है। राज की असाधारण मानसिक स्थिति (Abnormal mentel state) का कारण डाक्टर फ्रायड के अनुसार 'फ्रस्ट्रेशन' बताता है, जिसको राज अपने तप:पूत व्यक्तित्व से असत्य सिद्ध कर देती है। उसकी भक्ति और प्रार्थना दोनों को लेखक ने उसकी पवित्रता का प्रतीक मानकर भारतीय आस्तिकवाद का समर्थन किया है।

चौथी बात यह है कि उपन्यास में रोमांस पर्याप्त मात्रा में है। रोमांस के अनेक पहलू इस उपन्यास में है। उदय-शीला का रोमांस एक प्रकार का है। समरसिंह हंसकुँवर का दूसरे प्रकार का। पहले में मानसिक और कलात्मक सौंदर्य उसका आधार है, दूसरे में कांचन और कामिनी का प्रलोभन भर है। दूसरा समाप्त भी शीघ्र हो जाता है। रवि और मोना का रोमांस सबसे अलग है, जिसमें स्त्री को मिलते और बिछुड़ते कोई संवेग व्यथित नहीं करता। वह केवल बौद्धिक स्तर का है, जिसमें राजनैतिक सिद्धान्त शरीर सम्बन्ध से ऊपर हैं। रणचन्दानी और राधारमण का रोमांटिक जीवन और भी निम्न स्तर का है। वहाँ केवल वासना-तृप्ति ही लक्ष्य है। राजूभट और चन्दन के रोमांस में नारी की समर्पणशीलता की ओर ध्यान खींचा गया है। गंगूली का जीवन समाज पर एक तमाचा है। यों एक नहीं विविध रूप हैं।

भाषा शैली तो मुंशी जी की ऐसी है कि लगता है कहीं लेखक को कुछ सोचना ही न पड़ता हो। जैसे किसी तीव्र गति से बहने वाली सरिता में बहाव की ओर नाव डाल दी जाय वैसे ही उनकी भाषा चलती है। छोटे-छोटे वाक्य जो कहीं सूक्ति के मोतियों से भरे हैं तो कहीं गहन मानसिक पीड़ा को दर्पण की भाँति प्रतिबिम्बित किये हुए हैं। बोलचाल के अनेक शब्द और मुहावरे अँगूठी में नगीने से जड़े हैं। व्यंग्य तो ऐसा चुभीला है कि उसकी चुभन भूलती ही नहीं। समाज के व्यक्तियों की जड़ नैतिकता पर प्रहार करने में मुंशी जी अद्वितीय हैं।

इससे अधिक इस कृति के सम्बन्ध में क्या लिखा जाय। हम पहले ही कह चुके हैं कि अभी पूरी रचना सामने नहीं है। अतः कोई अटकल लगाना असंगत होगा। हाँ, इतना अवश्य है कि इसमें मुंशी जी का आत्मकथात्मक अंश पर्याप्त मात्रा में है।

श्री वागीशदत्त पाण्डेय

"बेरनी बसुलात" : श्री मुंशीजी

एक श्रद्धांजलि

अध्ययन और अध्यापन के सिलसिले में सन् १९५० में मुंशीजी की आत्मकथा का कुछ अंश पढ़ने का सौभाग्य हुआ। आत्मकथा के एक अध्याय में मुंशीजी ने अपनी प्रारम्भिक कठिनाइयों तथा साहित्यिक प्रवेश के ऊपर कुछ प्रकाश डाला है। "बेरनी बसुलात" या हिन्दी अनुवादित "बेरनी बसुलात" की नायिका, "तनमन" का स्वाभाविक, मनोमोहक चरित्र और उसके प्रति जन-साधारण या पाठकों के अनुराग का मुंशीजी ने वर्णन किया है। लेखक द्वारा "तनमन" के चरित्र का इस प्रकार का परिचय पाकर मुंशीजी के इस कृतित्व के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक था। जुलाई १९५८ में कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ में अध्यापक बनकर आने का अवसर मिला। "भारतीय साहित्य" के विशेषांक "मुन्शी अभिनन्दन ग्रन्थ" के लिए संचालक महोदय द्वारा कुछ लिखने की आज्ञा मिली। "तनमन" के चरित्रगत कुछ धूमिल संस्कार पूर्व से थे ही, प्रेरणा पाकर अभिनन्दन के इस पुनीत अवसर पर कुछ भाव-पुष्प चढ़ाने का सुयोग मिला। मुन्शीजी के कृतित्व का परिचय यदि थोड़ा भी यहाँ मिल सका तो वही मेरे श्रम की उपयोगिता होगी और वहीं मेरी श्रद्धाञ्जलि फल-परक होगी।

गुजरात के प्रारम्भिक उपन्यासों में "नंद शंकर मेहता" का "करणघेलो" और "गोवर्धन राम त्रिपाठी" का "सरस्वती चन्द्र" उपन्यास बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजरात में ये उपन्यास कला की दृष्टि से उच्च न होते हुए भी प्रेरणा की दृष्टि से प्रथम सफल उपन्यास कहे जाते हैं। मेहता और त्रिपाठी परवर्त्ती उपन्यासकारों के लिए वस्तु, पात्र-चयन और निरूपण की पद्धति में बहुत समय तक प्रेरणा देते रहे। "करणघेलो" एक ऐतिहासिक उपन्यास है और "सरस्वती चन्द्र" ४ बड़े-बड़े भागों में पूर्ण एक महा उपन्यास। इन उपन्यासों में आदर्श, भावपूर्ण संदेश या चारित्रिक विशेषताओं की प्राप्ति नहीं होती, अपितु अनावश्यक प्रचुर वर्णनों से रसक्षति होती रहती है। इन उपन्यासों के बाद गुजराती-उपन्यास-साहित्य में बहुत दिनों तक मराठी, बँगला और हिन्दी के उपन्यासों के अनुवाद होते रहे। "विलायती फैशनमाँ विलास बाई खलास", "एम० ए० बनाके क्यों मेरी मिट्टी खराब की", आदि ऐसे ही अनुवादित उपन्यास गुजराती उपन्यास साहित्य की प्रारम्भिक कड़ी हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव, टेकनीक, मूल प्रवृत्तियाँ और आदर्शात्मक

सन्देशों से शून्य गुजराती उपन्यास-साहित्य प्रारम्भ में बहुत दिनों तक विकसित होता रहा। गुजराती उपन्यास की इस दयनीय दशा के समय ही बहुमुखी प्रतिभा और पाण्डित्य-सम्पन्न श्री मुन्शीजी का इस क्षेत्र में पदार्पण हुआ। सच बात तो यह है कि हिन्दी-उपन्यास क्षेत्र में जिस प्रकार प्रेमचन्द ने युगान्तर पैदा किया, मुन्शीजी ने भी उसी प्रकार गुजरात के उपन्यास-साहित्य को अपने व्यक्तित्व, विचारधाराओं और बौद्धिक माप-दण्डों से प्रभावित किया है। गुजराती साहित्य में मुन्शीजी की देन को कोई भुला नहीं सकता।

"वेरनी वसुलात" मुन्शीजी का प्रथम सामाजिक उपन्यास है। चरित्र-गठन, भाव-दर्शन और आदर्शपूर्ण सन्देश की दृष्टि से यह उपन्यास आज भी गुजराती साहित्य में अपनी सानी नहीं रखता। "वेरनी वसुलात" की कहानी कल्पना के उच्चतम शिखर पर गौरव और आदर्श की अभूतपूर्व वस्तु है। मुन्शीजी की यह कृति गुजराती उपन्यास-क्षेत्र में एक सफल साहित्यिक कृति मानी गई है। मुन्शीजी के अन्य सामाजिक उपन्यासों में "स्वप्न द्रष्टा", "कोनोबाँक," तथा "शिशुअनेसखि" श्रेष्ठ उपन्यास हैं। बाद में तो "पाटरनी प्रभुता", "गुजरातनो नाथ" तथा "राजाधिराज" आदि अनेक श्रेष्ठ उपन्यासों का सृजन मुन्शीजी ने किया। मुन्शीजी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास के निर्णय के विषय में मतभेद होते हुए भी गुजरात के कुछ आलोचक मुन्शीजी की इस प्रथम कृति "वेरनी वसुलात" को ही उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते हैं।

मुन्शीजी एक मौलिक उपन्यासकार हैं। कला का उच्चतम विकास उनके उपन्यासों में उपगत होता है; फिर भी कुछ आलोचक उनके पूर्ववर्त्ती उपन्यासकारों का प्रभाव उन पर पाते हैं। मेहता और त्रिपाठी के "करणघेलो" और "सरस्वती चन्द्र" प्रेरक के रूप में मुन्शीजी को भी प्राप्त हुए हैं। आलोचकों ने तुलना की दृष्टि से अनेक ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनसे इन कृतियों का थोड़ा-बहुत प्रभाव मुन्शीजी की इस आद्य-कृति पर अंकित हुआ मिलता है। उदाहरण स्वरूप मेहता और त्रिपाठी की कृतियों में काल्पनिक देशी रियासतों का परिचय बहुत कुछ दिया गया है। "वेरनी वसुलात" में भी अनेक रियासतों का काल्पनिक उल्लेख है। "सरस्वतीचन्द्र" में ऐसे बहुत-से पात्र हैं, जिनके नामों द्वारा उनके गुणों और उनकी सामाजिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है जैसे "सरस्वतीचन्द्र" उपन्यास में नायक सरस्वतीचन्द्र के नाम से उसकी विद्वत्ता प्रकट होती है; लक्ष्मी नन्दन पात्र के नाम से उसका धनपति होना व्यक्त होता है। "वेरनी वसुलात" में भी इसी प्रकार "गुणवन्ती" और "अनन्तानन्द" आदि ऐसे ही पात्र हैं, जो अपने-अपने गुणों को अपने-अपने नामों से व्यक्त करते हैं। "सरस्वतीचन्द्र" में विधवा-विवाह की समस्या है, पर उस समस्या का समाधान त्रिपाठी जी ने नहीं दिया। "वेरनी वसुलात" में भी अन्तर्जातीय विवाह की बात लेखक उठाता है, पर परम्परावादी विचारों के समक्ष उसे झुकना पड़ता है। लेखक की सुधारवादी दृष्टि पूर्ण रूप से साकार न बनकर संकेत-मात्र देकर रह जाती है। "सरस्वतीचन्द्र" में "कुसुम" जैसी अद्यतन लड़की है, पर उसे भी प्राचीनता के समक्ष झुकना ही पड़ता है। मुन्शीजी ने भी नवीन संस्कारों से अभिभूत "तनमन" में संघर्ष उत्पन्न कर परम्परागत विचारों को स्वीकृत कराया। हां, इस घटना द्वारा सामाजिक क्रान्ति का बीज-वपन गुजराती समाज में मुन्शीजी ने अवश्य किया।

गुजराती उपन्यास-क्षेत्र में रूढ़ियों के प्रति संघर्ष और नवीन जागरण का सन्देश मुन्शीजी ने अवश्य सर्वप्रथम सुनाया। "बेरनी बसुलात" की "गुणवन्ती" ,'सरस्वतीचन्द्र" की "गुण-सुन्दरी" जैसी-ही है। दोनों साम्प्रदायिक परिवार में रहती हैं। दोनों ने जीवन के विषम क्षणों से साक्षात्कार किया है। "गुण सुन्दरी" पर जैसे "मूलुभा" की कुदृष्टि दिखाई देती है, उसी प्रकार "बेरनी बसुलात" में "गुणवन्ती" भी "रघु भाई" की वासनात्मक दृष्टि का लक्ष्य बनती है। मुन्शीजी ने इस अनुकरण में भी एक विकास दिखाया है। "गुण सुन्दरी" "मुलुभा" से किसी तरह बचकर भागती है जबकि "गुणवन्ती" साहस के साथ "रघु भाई" पर स्वयं चाटा लगाती है। मुन्शीजी ने "गुणवन्ती" द्वारा दण्ड-विधान की इस योजना को दिखाकर नारी के चरित्र में पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक विकास दिखाया है। मुन्शीजी एक प्रतिभीवान् लेखक हैं। ज्ञान के आदान-प्रदान में उनकी नवीनतम सूझ-बूझ अप्रतिम हैं। जो कुछ उन्होंने अपने पूर्ववर्त्ती लेखकों से गृहीत किया, अभिव्यक्ति में उस पर अपनी छाप अवश्य लगादी। इस प्रकार आंशिक रूप में अनुकृत होकर भी मुन्शीजी की यह आद्य-रचना विचार, भावना, कला और आदर्श की दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति है।

"प्रतिशोध" का कथानक आदर्श और यथार्थ के समन्वय के साथ-साथ आगे बढ़ता है। मूल कथा एक निश्चित उद्देश्य परक है। जन-जीवन के कल्याण की कामना उसका लक्ष्य है। वह व्यक्ति को व्याष्टि के खेमे से आगे बढ़ाकर समष्टि के घेरे की तरफ़ बढ़ने को उत्साहित करती है। जन-जीवन की मंगल-कामना में व्यक्ति के सुख की भावना पूर्ण होती है। "प्रतिशोध" में लेखक ने यह भावना "अनन्तानन्द" के चरित्र द्वारा व्यक्त की है। "अनन्तानन्द" के जीवन का त्याग और उनकी तपस्या स्वयं के लिए उपकृत सिद्ध नहीं होती, अपितु राष्ट्र की मंगल-कामना में ही "अनन्ताँनन्द" के जीवन का इतिवृत्त समाप्त होता है। "प्रतिशोध" की कथा इस प्रकार वैराग्य, तितिक्षा, शान्ति और सन्तोष की धुरी के इर्द-गिर्द घूमती है। जीवन में परम चंचल "चम्पा" इसीलिए शान्ति और सन्तोष की ओर अग्रसर हुई। विरही "जगत" भी इसीलिए "सिद्धनाथ" बनकर इसी कर्तव्य और उपकार की भावना में लीन हुआ। इस प्रकार राष्ट्र-हित का उदात्त उद्देश्य मुन्शीजी की व्यापक कल्पना का विषय बना है।

मुन्शी जी की सूक्ष्म दृष्टि "प्रतिशोध" में केवल आदर्शों की उदभावना करके ही विरत नहीं होती, प्रत्युत वह जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र को बारीकी से कुरेदती हुई आगे बढ़ती है। उन्होंने आदर्शों को बड़े-बड़े सिद्धान्तों और तर्कों से पुष्ट कर वहाँ रखा जिससे उनके पाण्डित्य की गरिमा ज्ञात हुई, पर जीवन की अन्तर्हित ज्ञातव्य बातों का ज्ञान कराकर उन्होंने अपनी व्यावहारिक ज्ञान-गरिमा का भी परिचय दिया है। "प्रतिशोध" में मुन्शी जी ने अनेक सामाजिक-जीवन के चित्र अंकित किए हैं। उन्होंने समाज की अनेक कुप्रथाओं और रीतियों की ओर ध्यान दिलाया है। हमारा हिन्दू-समाज अनेक रूढ़ियों का अन्धानुकरण करने वाला समाज है। रूढ़ियों के भार से दबकर समाज के कितने भावुक और कोमल हृदय इच्छा की अपूर्णता के कारण कसक-कसक कर जीवन-लीला समाप्त करते हैं, मुन्शी जी का यह उपन्यास इस ओर प्रकाश डाल रहा है। मानवता, शीलता और

विद्वत्ता अमानवता, दुःशीलता और मूर्खता के समक्ष इन्हीं रूढ़ियों के कारण पराजित होती देखी गई है । रूढ़ियों के सत्ताधारियों के समक्ष विवेकशीलों को भी हारता पाया गया है ।

"प्रतिशोध' का कथानक समाज के विविध वर्गों के विविध चित्रों से भरपूर है। राजवर्ग, सामन्तवर्ग, श्रेष्ठिवर्ग सन्यासीवर्ग और मध्यम वर्ग आदि की मार्मिक बातों के चित्रण लेखक की व्यावहारिक ज्ञान की कुशलता को बता रहे हैं । वहाँ कहीं यदि रणुभा रेवाशंकर और रघुभाई के राजकीय षडयंत्रों का चित्रण है, तो कहीं आनन्तानन्द के अनन्त आनन्द और उदात्त त्याग का वर्णन है । यदि कहीं राजा जसुभा का नायिका चम्पा के साथ उन्मुक्त विहार का निरूपण है, तो कहीं गुणवंती के मातृत्व और गार्हस्थ्य मर्यादाओं का सुन्दर दर्शन है । यदि कहीं निश्छल तनमन का जगत के प्रति स्वाभाविक-स्नेह का समर्पण है, तो कहीं वासना की दुर्गन्ध से पूर्ण मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला गुलाब का श्यामदास से प्रेम अंकित है । भाव यह है कि वासना की दुर्गन्ध, स्वार्थ परता, विलासिता· और अत्याचार से पूर्ण यथार्थवादी पात्रों के चित्रण के साथ सहज स्नेह, परार्थता, भव्यता और उदात्तता से व्याप्त आदर्श वादी पात्रों को उपन्यास में लाकर समाज से विविध यथार्थ चित्र मुन्शी जी ने यहाँ अंकित किए हैं ।

"प्रतिशोध" में मुख्यतः दो घटनाओं का समावेश है । एक जीवन-साथी के चयन या विवाह की समस्या से संबंधित और दूसरी राजकीय शासन के कर्तव्यों से संबन्धित। दोनों घटनाओं में कर्तव्य और भावना के चयन का प्रश्न है । राजा को भावना के वशीभूत होकर विहार में रत होने की अपेक्षा कर्तव्य को ध्यान में रखकर लोक-कल्याण में रत होना अधिक मान्य है और सामान्य हृदय को वैवाहिक प्रश्न पर कर्तव्य-मात्र को ध्यान में रखकर रूढ़ियों का अन्धानुकरण कर भावना का नितान्त तिरस्कार करना सर्वथा अमान्य है । हमारे हिन्दू-समाज में विवाह एक पावन-यज्ञ है । इस यज्ञ में जन्म-जन्मान्तर से सम्बन्धित दो हृदयों का मधुर मिलन होता है । भावना से प्रेरित मिलन मधुर और स्थाई होता है, पर आज्ञाकारिता और कर्तव्य के नाम से रूढ़िवादियों द्वारा जो मिलन कराया जाता है वह कभी-कभी बड़ा विषाक्त सिद्ध होता है। क्या विवाह रूढ़ियों का बन्धन मात्र है ? क्या आज्ञाकारिता और कर्तव्य पालन के समूचे आदर्श दो असमान व्यक्तियों के मिलन से पूरे हो सकते हैं ? क्या विवाह का फल केवल वासना की पूर्ति, वंश की वृद्धि और परम्परागत वंश के आदर्शों के पालन मात्र से प्राप्त हो सकता है ? यह सम्बन्ध बड़ा पावन सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध के पूर्व दो अज्ञात हृदयों को एक दूसरे के भाव, विचार और मानसिक परिस्थितियों से अवश्य परिचय प्राप्त होना चाहिए। मुन्शी जी ने 'तनमन' और 'जगत' को लेकर इस प्रश्न का विस्तृत-विवेचन इस उपन्यास में किया है । 'जगत' और 'तनमन' बालपन से ही एक दूसरे से परिचित हैं । वे भावुकता में एक दूसरे से प्रतिश्रुत होते हैं । आगे चलकर दोनों ही ज्ञानार्जन, विवेक और शील के सहारे योग्य सिद्ध होते हैं । रूढ़ियों ने फिर भी दोनों को प्रेम के दृढ़ बन्धन में नहीं बँधने दिया । समाज के अंधविश्वासी दुराग्रही व्यक्तियों ने मानव-हृदय की अवहेलना कर जाति के छोटे से घेरे में बरबस 'तनमन' को एक शराबी, निकृष्ट और ऐयाश व्यक्ति के साथ बाँध दिया और इस प्रकार

अपने कठोर आतंक और अत्याचार से दोनों के कोमल-हृदयों को कुचल दिया। जाति प्रथा के कठोर बन्धनों की शिथिलता के लिए मुन्शीजी ने इस कथानक द्वारा थोड़ा सा संकेत दिया है। विशाल मानवात्मा के लिए ऐसी संकुचित दीवारें वयक्तिक और राष्ट्रीय हितों में बाधक ही सिद्ध होती हैं।

भारतीय-संस्कृति में जीवन के लिए विवाह एक आवश्यक वस्तु है। वैवाहिक सम्बन्ध से पलायन करना जीवन की अपूर्णता है। जीवन में असंतुलन इसी पलायन के कारण होता है और इसीलिए विवाह से शून्य मनुष्य विवेक और बुद्धि से पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण माना गया है। मुन्शी जी ने इस समस्या का समाधान भी 'अनन्तानन्द' और 'जगत' के बीच वार्तालाप में किया है। सभी समस्याएँ अनन्तानन्द के शास्त्रीय तर्कों और धार्मिक उपदेशों द्वारा सुलझाई जाती हैं। मुन्शी जी के आदर्शों का केन्द्रीभूत एक यही पात्र है। अपने शास्त्रीय और पाडित्यपूर्ण व्यावहारिक ज्ञान को साकार कराने में मुन्शी ज़ी ने ऐसा पात्र चुना है। भारतीय आदर्श, शिक्षा और महत्व के प्रचार के लिए मुन्शी जी का वह माध्यम सर्वथा उपयुक्त है।

विवाद समस्या के साथ राजा के प्रजा और राष्ट्र के लिए कर्तव्य पालन की समस्या को भी मुन्शी जी ने इस उपन्यास में उठाया है। राजा "जसुभा" नायिका "चम्पा" की रति क्रीड़ाओं में सदैव रत रहता है। वह "रेवाशंकर" आदि अपने सामन्तों के कथन-मात्र पर अपना निर्णय देकर राज्य का मिथ्या संचालन करता है। स्वामी "अनन्तानन्द" अपने "ज्ञान और महत्व" से उसे उद्‌बुद्ध करते हैं और इस प्रकार वह राज्य का सच्चे अर्थ में नृप सिद्ध होता है। राजा का पद बड़ा कठिन पद है। उसके ऊपर राज्य के असंख्य मनुष्यों का उत्तरदायित्य है। भावना-मात्र में बहकर प्रजा के कर्त्तव्यों से सर्वथा वंचित रहना राजा को शोभा नहीं देता। मुन्शी जी ने इस प्रकार इस कथानक में भारतीय राजाओं के सचवे आदर्श की ओर प्रकाश डाला है।

"बेरनी बसुलात" या "प्रतिशोध" उपन्यास का महत्त्व उसमें गृहीत सजीव पात्रों के चयन से है। कथा की रोचकता पात्रों के चरित्र-विकास से और अधिक बढ़ गई है। प्रत्येक पात्र अपना पृथक अस्तित्व रखता है। उसके जीवन के आदर्श उसके निजी व्यक्तित्व को प्रभावित करते रहते हैं। पात्र की यथार्थता पात्र के जीवन के निजी माप-दण्ड से प्रकट हो रही है। पात्र जिस-जिस वातावरण और परिस्थितियों में चलता है, उसके व्यक्तित्व का निर्माण भी वैसा-ही होता जाता है। "प्रतिशोध" उपन्यास के पात्र इसीलिए बहुत सजीव बन गए हैं। सभी पात्रों को हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक व जो स्वार्थ-परक, ईर्ष्यालु, विलासी और लोलुप हैं; और दूसरे वे जो परमार्थिक, आदर्शवादी, स्नेही और उदात्त हैं। पहले प्रकार के पाश्रों को हम निरे यथार्थवादी और दूसरे प्रकार के पात्रों को हम कोरे आदर्शवादी कह सकते हैं; लेकिन मुन्शीजी के आदर्श-वादी पात्र कल्पनापूर्ण न रहकर, सक्रिय कर्म में रत होते हैं और यथार्थवादी पात्र धरती के स्वार्थमय वातावरण से ऊँचे उठकर भूलों को अंगीकार कर, जीवन-मार्जन की ओर अग्रसर होते हैं। इस प्रकार यथार्थ और आदर्श का समन्वय मुंशी जी के इस उपन्यास का प्राण बन गया है। मुंशी जी जीवन के हर क्षेत्र में घुसकर मानव-मन की प्रत्येक मूल

प्रवृत्तियों के नग्न परिणामों को दिखाते हैं, पर बाद में संयम और आदर्शों की ओर जीवन को मोड़ देते हैं। "वेरनी वसुलात" के पात्र इसीलिए आदर्शोन्मुख यथार्थवादी पात्र हैं।

"वेरनी वसुलात" के प्रमुख पुरुष पात्रों में अनन्तानन्द, जगत, रघुभाई, श्यामदास, और रणुभा आदि हैं और स्त्री पात्रों में प्रमुख तनमन, गुणवन्ती, चम्पा, गुलाब, रमा और शिरीन आदि हैं। मुन्शी जी ने सभी पात्रों की जीवन रेखाएँ एक-दूसरे से भिन्न-भिन्न खींची हैं। प्रत्येक पात्र अपनी-अपनी विशेषताओं से ही पाठक के मन में अपने प्रति-आकर्षण या विकर्षण पैदा करता है। सबके ढांचे पृथक-पृथक हैं। महत्वाकांक्षा में डूबा हुआ "रघुभाई" अपने कठोर, नृशंस और निन्द्य कार्यों के लिए यदि प्रसिद्ध है, तो "श्यामदास" अपनी धूर्तता-प्रवंचना के लिए। "जगत" अपनी विद्वत्ता, कोमलता और कार्य-संलग्नता के लिए सबका ही आकर्षण प्राप्त करता है। "रणुभा" अपनी राजभक्ति और "चम्पा" के प्रति अपने शुद्ध प्रेम से पाठकों को अपनी ओर खींचता है। "अनन्तानन्द" अपने अनन्त गुणों के कारण सबकी श्रद्धा का पात्र बनता है। पुरुष पात्रों की तरह स्त्री-पात्र भी शिक्षा-दीक्षा, व्यक्तित्व, वातावरण और परिस्थितियों से अपना पृथक-पृथक अस्तित्व बनाती चलती हैं। "गुणवन्ती" अपने औदार्य और गुणों के लिए, "तनमन" अपनी कोमलता और स्नेह के लिए, "चम्पा" अपनी चपलता और अदा के लिए, "रमा" अपने भोलेपन के लिए और "शिरीन" अपनी सुबुद्धि के लिए पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। फिर भी, उपन्यास के समस्त पात्रों में से पाठकों की स्वाभाविक सहानुभूति "तनमन" और "जगत" के प्रति सबसे अधिक होती है। लेखक की दृष्टि भी इन दोनों के चरित्र-चित्रण पर सबसे अधिक रमती है; पर घटना के सत्य के लिए, सामाजिक समस्या के समाधान के लिए, लेखक को "तनमन" की जीवन-लीला बीच में ही समाप्त करनी पड़ती है। पाठकों को यह असह्य हो जाता है। सच बात तो यह है कि दुःखी अवस्था में भी "तनमन" के रहने से उपन्यास के पाठन की ओर जो सहज प्रवृत्ति पाठक की थी वह "तनमन" की समाप्ति से शिथिल अवश्य पड़ जाती है। लेखक भी चाहे "रमा" और "शिरीन" को लेकर आगे सिद्धान्तों का लम्बा विवेचन करके उपन्यास को "बैर की बसूली" की ओर बढ़ाने में समर्थ हुआ हो, पर वास्तव में उपन्यास की कोमलता "तनमन" के जीवन के साथ ही समाप्त हो जाती है। संभवतः समाज की अधिक से अधिक सहानुभूति प्राप्त करने के लिए ही मुन्शी जी को "तनमन" जैसे कोमल कुसुम पात्र की बलि देनी पड़ी हो।

"प्रतिशोध" के सभी प्रमुख पात्र अनन्तानन्द के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं और उनके सिद्धान्तों को शिरसा स्वीकार कर अपने जीवन का लक्ष्य बनाते हैं। उपन्यास के पृथक् आस्तित्व और व्यक्तित्व रखने वाले अच्छे बुरे सभी पात्रों को एक पात्र के व्यक्तित्व और सिद्धान्तों से प्रभावित करना आदर्श और धर्म की दृष्टि से चाहे उपयुक्त हो; पर कला की दृष्टि से ठीक नहीं जँचता। पात्रों के चरित्र-चित्रण का विकास जहाँ परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में होता है, वहीं वैज्ञानिक भी होता है; लेकिन जहाँ किसी आदर्श के लिए विभिन्न पात्रों को एक दिशा में मोड़ दिया जाता है, चरित्र-चित्रण की यह पद्धति

दोष-रहित नहीं। सभी पात्रों को जब "अनन्तानन्द" के गौरव, ज्ञान, महिमा और शील की दुहाई देते पाया जाता है, तब बात कुछ अति का अतिक्रमण करती प्रतीत होती है।

"प्रतिशोध" उपन्यास में इसी प्रकार कुछ अन्य भी ऐसी बातें हैं, जो कला की दृष्टि से उपन्यास के मूल्य में अभिवृद्धि नहीं करतीं। उदाहरण के लिए मुन्शीजी ने उपन्यास के प्रायः सभी प्रमुख पात्रों का निधन दिखाया है। "तनमन", "हरिलाल", "गुणवन्ती", "श्याम दास", "गुलाब", "कमला", राजा "जसुमा", "हुकतम राय" और "महाकौर" आदि सभी प्रमुख पात्रों की मृत्यु का वर्णन यहाँ मिलता है। यहीं नहीं, अपने आदर्श पात्र "अनन्तानन्द" को भी अन्त में मुन्शीजी ने स्वर्धाम भेज दिया है। ऐसा प्रतीत होता है मानों जिस तथ्य की व्यंजना करने के लिए मुन्शीजी ने जिस पात्र को चुना, कार्य-समाप्ति पर उसकी निरर्थकता जान उसे मृत्यु को सौंप दिया गया हो। भूजन्मा प्राणी के लिए मरण एक आवश्यक वस्तु है, पर साहित्य में इस प्रकार अति रूप में मरण दिखानादोष पूर्ण है। यदि किसी पात्र-विशेष के मरण से किसी घटना या किसी तथ्य की अभिव्यक्ति की जाय, पात्र की वह मृत्यु किसी सीमा तक साहित्य में क्षम्य भी है, पर अति इस क्षेत्र में भी निषिद्ध है। यद्यपि धार्मिक दृष्टि से दुष्ट और पापी पात्रों की हत्या उनके कर्मों के फल-स्वरूप समीचीन मानी जा सकती है; परन्तु श्रेष्ठ पात्रों का निधन इस दृष्टि से भी कृतित्व में नहीं दिखाना चाहिए। संभवतः प्रथम कृति के नाते लेखक से इस प्रकार का दोष अनजान में बन पड़ा है। दोष की दृष्टि से इसी प्रकार "गुलाब" और "श्याम दास" का अनुचित प्रेम, उसका परिणाम और उसका विस्तार—इस प्रकार के आदर्शपूर्ण उपन्यास में दिखाना ठीक नहीं जँचता। यद्यपि अपनी मूल प्रवृक्तियों के उभार में कामान्ध होकर मनुष्य हर प्रकार का हेय कार्य कर सकता है, फिर भी कलाकार के लिए, कुछ आदर्शों की रक्षा के लिए इस प्रकार का नग्न चित्र चित्रित करना ठीक नहीं मालूम पड़ता। शायद पूर्ण यथार्थवादी बनकर मुन्शीजी ने इस प्रकार के हेय और वीभत्स चित्रण से कोई हिचक नहीं दिखाई है। वैसे इस प्रकार के दृश्य उपन्यास में बहुत ही कम हैं। समग्र दृष्टि से उपन्यास की रोचकता में कोई कमी नहीं है।

"बेरनी बसुलात" में जहाँ तक कथोपकथन का प्रश्न है, वहाँ कथोपकथन प्रारम्भ में बड़े ही सरस, मार्मिक और अभिव्यञ्जनापूर्ण हैं। "तनमन" और 'जगत" की तुतलाहट-भरी बातें और बालपन की उनकी क्रीड़ाएँ किस पाठक को नहीं लुभातीं? "राम कृष्णदास", "गुणवन्ती" और "रघुभाई" के प्रारम्भिक आलाप सूक्ष्म होते हुए भी किसे प्रिय नहीं लगते? "जसुभा" और "चम्पा" की चपल बातें किसे अपनी ओर आकर्षित नहीं करतीं? भाव यह है कि पात्रों का वार्तालाप पूर्वार्द्ध में छोटा, पर सारगर्भित, सरल पर अभिव्यक्तिपूर्ण, धीमा पर प्राणवान् होता है; लेकिन उत्तरार्द्ध में यही वार्तालाप दार्शनिक उक्तियों से बोझिल, पाण्डित्य-प्रदर्शन से पूर्ण और तार्किक शैली पर प्रतिपादित मिलता है। पूर्वार्द्ध के कथोपकथन सरस, भावमय और हृदयग्राही हैं, पर उत्तरार्द्ध के कथोपकथन जटिल, ज्ञानमय और बुद्धिगम्य हैं। पूर्वार्द्ध के कथोपकथन छोटे हैं, पर उत्तरार्द्ध में ये ही विशालकाय बन गए हैं। कथोपकथन की दृष्टि से उपन्यास का पूर्वार्द्ध गतिमान है पर

उत्तरार्द्ध शिथिल है। उतरार्द्ध में "अनन्तानन्द", "शिरीन" और "जगत" में केवल एक विवाह की समस्या पर ही पाण्डित्यपूर्ण लम्बी चर्चा प्रारम्भ हो जाती है। "अनन्तानन्द" की अध्यक्षता में आयोजित सभा का कार्यक्रम भी तर्क-वितर्क पर आश्रित होने से अधिक लम्बा बन गया है। कला की दृष्टि से कथोपकथन अधिक लम्बे और दर्शन की ग्रन्थियों से जटिल नहीं होने चाहिए। संभवतः उत्तरार्द्ध के बुद्धि जीवी पात्रों के अनुरूप मुन्शीजी ने कथोपकथन का इतना विशाल वाक्जाल रचा हो।

समग्र दृष्टि से उपन्यास, कथानक की रोचकता, पात्रों की सजीवता, कथोपकथन की चारुता और शैली की मधुरता आदि से भरपूर है। चरित्र-विकास में लेखक ने हर जगह मनोविज्ञान पर ध्यान रखा है। उपन्यास में देश-प्रेम और देश-सेवा के भाव वर्तमान हैं। लेखक के सुधारवादी विचारों ने समाज की कमियों को दूर करने में सहायता भी दी है। भारतीय आदर्श, प्राचीन गौरव और विचारों की भव्यता का सुन्दर समन्वय उपन्यास में हुआ है। उपन्यास की कला को यथार्थ और आदर्श दोनों ने मिलकर और अधिक सजीव बना दिया है। लेखक की सरस और भावपूर्ण शैली के कारण उपन्यास अधिक लोकप्रिय बन गया है।

श्री कैलाश चन्द्र भाटिया

मुंशी जी के उपन्यासों में अँग्रेजी शब्द

मुंशी जी की मातृभाषा गुजराती है। गुजराती के अनन्य भक्त होते हुए भी आपका प्रेम तीन भाषाओं की ओर स्पष्ट दिखलाई देता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के उद्‌घाटन के लिए संस्कृत, संसार के ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन के लिए अँग्रेजी तथा देश की एकता को सुदृढ़ तथा अविच्छिन्न रखने के लिए हिन्दी का ज्ञान आप आवश्यक ही नहीं अनिवार्य मानते हैं। आपके साहित्य में भी इन तीनों भाषाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। जहां आप किसी पौराणिक उपन्यास का सृजन करते हैं, संस्कृत शब्दावली एवं तत्संबंधी विचारधारा से वह कृति ओत-प्रोत रहती है। जब आप आधुनिक समस्याओं को लेकर सामाजिक या राजनैतिक उपन्यास[1] का सृजन करते हैं तो लोक में प्रचलित बोलचाल की भाषा का प्रतिनिधित्व आपके उपन्यासों में प्राप्त होता है। संवादों की भाषा में स्वाभाविकता एवं सजीवता बनाये रखने के लिए यह परमावश्यक है कि पात्रों की भाषा स्वाभाविक हो। इस युग में अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी विचारधारा एवं अंग्रेजी संस्कृति का प्रभाव नगरों में विशेष दिखलाई पड़ता है जिसके फलस्वरूप नवयुवकों की भाषा खिचड़ी भाषा का रूप लेती जा रही है। विशेषकर कालेज के छात्रों की भाषा को विशुद्ध अंग्रेजी अथवा हिन्दी या गुजराती नहीं कहा जा सकता।

जनसाधारण में प्रचलित अँग्रेजी शब्दों का निस्संकोच प्रयोग लेखक ने किया है, उदाहरणार्थ वस्त्रों में जैकट, पतलून, सूट-बूट, टाई, हैट, कोट-पैंट, वाडिस, खेलों में क्रिकेट, टैनिस, हाकी, स्टिक, टूर्नामेंट, ओवर बाउण्ड्री, रैकट आदि लिए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त समाज में बहु प्रचलित अँग्रेजी शब्द जैसे सिगनलर, गार्ड, स्टेशन, ग्रैजुयेट, नम्बर, स्प्रिंग, साइन-बोर्ड, आफिस, टेबुल, बिस्कुट, कापी, फाइल, रिपोर्ट, डाक्टर, कलेक्टर, बाइसिकिल, होटल, मीटिंग, हैडमास्टर, कोट-बटन, स्टीमर, प्रेस, रोलर, डिग्री, कोर्ट ट्रंक, लैंप, ट्राम आदि सैकड़ों शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है।

---

१. अंग्रेजी शब्दावली के लिए भी मैंने मुंशी जी के सामाजिक तथा राजनीतिक उपन्यासों—'प्रतिशोध', 'स्वप्नद्रष्टी', 'अभिशाप' 'परदे की आड़ में', को लिया है, तो सभी श्रीनाथ आदर्श पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता बनारस से प्रकाशित हैं।

मध्यम श्रेणी के परिवारों के सदस्यों में आपसी बातचीत के मध्य अँग्रेजी शब्दावली का विशेष प्रचलन रहता है जिसके फलस्वरूप 'थैंक यू', 'अटेन्शन का मूड', 'ओ के', 'आल राइट', आदि प्रयोग भी स्थान-स्थान पर प्राप्त होते हैं और कभी-कभी तो लेखक अपने भावों को स्पष्ट करने के हेतु अप्रचलित अँग्रेजी शब्द का प्रयोग भी निस्संकोच कर देता है, जैसे सेन्सकूलोट[1]।

अँग्रेजी के शब्द ही नहीं व्याकरणिक प्रयोग भी अपनाये गये हैं, जो भाषा की शुद्धता की दृष्टि से खटकते अवश्य हैं पर संवादों को सजीव बनाये रखते हैं :—

बहुवचन का प्रयोग—कट्स ने कमाल कर दिया। आनीमेन्ट्स। फ्रेन्ड्स।

विशेषण का प्रयोग :

।अ। अँग्रेजी-संज्ञा के साथ :

डिबेटिंग सोसाइटी
सोशल गैदरिंग
सेकण्ड लैंग्वेज

।आ। हिन्दी संज्ञा के साथ :

अर्जेण्ट तार
रिवाल्विग कुर्सी
रिटायर्ड जीवन

क्रिया का प्रयोग :

रिसीव करना

अँग्रेजी प्रत्यय के साथ अँग्रेजी शब्द :

कालेजियन

हिन्दुस्तानी प्रत्यय के साथ अँग्रेजी शब्द :

पालिशदार दरवाजे

कहीं-कहीं भावों का उद्रेक करने के निमित्त अँग्रेजी शब्दावली का सफल प्रयोग हुआ है :

अधिकतम क्रोध के लिए—क्रोध का पारा १०८ डिग्री पर पहुँच गया।[2]

धीरे-धीरे के लिए —इंच-इंच कर।[3]

मिलन-स्थल के लिए—इनकी दुकान छोटे टाउनहाल का काम करती है।[4]

---

१. स्वप्नद्रष्टा—पृष्ठ १७७।

२. अभिशाप—तृतीय संस्करण, पृष्ठ १०४।

३. प्रतिशोध, वही, पृष्ठ ८३।

४. वही, पृष्ठ ६४।

जब काफी शब्दों के प्रयोग के बावजूद भी लेखक अपने विचारों को स्पष्ट होता नहीं पाता तो झट से एक अंग्रेजी शब्द का प्रयोग कर देता है :—जैसे, मधुर पक्षी की संगीतमय वाणी बक प्रकंपित निकलती है तो उसे 'ट्रिल' कहते हैं ।[१]

भावों एवं आन्तरिक हृदयस्थ विचारों को मूर्त रूप में खड़ा करने के लिए लेखक समानान्तर विदेशी घटनाओं का सहारा विशेषकर लेता है : —

"वाटर लू के रणक्षेत्र में पराजय से बचने के लिए वेलिंगटन जिस प्रकार ब्लूचर की राह देख रहा था, उसी प्रकार जसुभा इधर-उधर नजर दौड़ाने लगे कि उनकी दृष्टि जसुभा पर जा पड़ी ।"[२]

"ट्राय" की हैलेन के लिये अनेक राजवंश आपस में लड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो गये, वैसे ही उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए अनेक स्त्री-पुरुष आपस में लड़ा करते ।[३]

"नैपोलियन की भागी हुई सेना जिस भग्न हृदय से वापिस लौटी थी ठीक वैसे ही प्रोफेसर को जीतकर ले जाने के लिए आई हुई सेना भी वहां से वापिस लौटी ।"[४]

अँग्रेजी शब्दों के चमत्कारिक प्रयोग भी प्राप्त होते हैं, जहाँ केवल एक शब्द मात्र ही सारे वाक्य को समेटे हुए चलता है और यदि उस शब्द को वहाँ से हटा दिया जाय तो भावाभिव्यक्ति में रुकावट आती है, : जैसे,

"संसार को डगमगा देने के लिए आवश्यक "लीवर" किसी न किसी स्वरूप में मनुष्य खोजता है—बदलता है, कुछ प्राप्त करते हैं और दूसरे को निराश होकर छोड़ देते हैं ।"[५]

अँग्रेजी शब्दों का आलंकारिक प्रयोग भी दृष्टिगत होता है जिससे भाषा सजीव बन गई है, जैसे,

उपमा : डा० घनेशचन्द्र एक क्रूजर के समान जो एक व्यापारी जहाज को पकड़कर शत्रु के बंदर से बाहर निकाल रहा हो, मि० मारुति के कार्यालय की सीढ़ियों से नीचे उतरकर बाहर निकले ।[६]

जो साइनबोर्ड पर चित्रित नमूने के समान संसार रूपी पट पर चेतना-विहीन पड़े रहते हैं ।[७]

---

१. प्रतिशोध, वही, पृष्ट १४।
२. वही, पृष्ठ ५५ ।
३. परदे की आड़ में, पृष्ठ २३ ।
४. वही, पृष्ठ १२४।
५. प्रतिशोध, पृष्ठ ११.।
६. अभिशाप, वही, पृष्ठ ९४ ।
७. वही, पृष्ठ २८७ ।

उत्प्रेक्षा : मानों बैंडमास्टर ने अपनी छड़ी हिलाकर नया गान प्रारम्भ कर दिया हो, उसी प्रकार सभी स्त्रियाँ रोने लगीं ।[१]

उदाहरण : थोड़ी देर में मारुति कोट का बटन खोले मुस्कारते हुए, बन्दर में जैसे स्टीमर आये, उसी प्रकार आये।[२]

रूपक : अपने दोनों हाथ मुंडेरे पर रखकर समुद्र की सतह रूपी सिनेमा के पर्दे पर अपने भूत जीवन का वृत्तान्त उस पर देखने लगी।[३]

कभी-कभी अँग्रेजी शब्दावली को स्पष्ट करने के हेतु भी लेखक अलंकारों का आश्रय लेता है, जैसे,

तम्बू के दरवाजे के सामने 'सन्तरी' यांत्रिक खिलौने के समान पैंतरा भर रहा था।[४]

लेखक द्वारा कभी तो अँग्रेजी शब्द की आड़ में एक सम्पूर्ण रहस्यात्मक छाया रहती है, जैसे,

मेरा कर्त्तव्य 'लाइटहाउस' में रोशनी जलाकर दिशा दिखाना था वह मैंने कर दिया।[५]

अपना सामाजिक डायनामाइट बनाने का द्विविध प्रयोजन से प्रेरित हो रहा है।[६]

इस प्रकार मुंशी जी के इन उपन्यासों में सहस्त्रों की संख्या में प्रयुक्त अँग्रेजी शब्द जहाँ उनके अँग्रेजी-प्रेम का आभास देते हैं। वहाँ दूसरी ओर उपन्यासों के संवादों को स्वाभाविक, भावों को स्पष्ट एवं विचारों को मूर्त्तमान करने में भी सहायक हुए हैं।

---

१. अभिशाप, वही, पृष्ठ ८।
२. वही, पृष्ठ ६०।
३. प्रतिशोध, पृष्ठ १६५ + १६७।
४. वही, पृष्ठ १४४।
५. वही, पृष्ठ २४३।
६. स्वप्नद्रष्टा, पृष्ठ १०२।

डॉ० व्रजवासी लाल श्रीवास्तव

हिन्दी-गुजराती की वाक्य-रचना

(श्री मुन्शी के उपन्यासों पर आधारित)

हिन्दी-गुजराती एक ही भारतीय आर्य परिवार की दो भाषाएँ हैं, जिन्हें एक दूसरी की बहिन कहना ही उपयुक्त होगा। गुजराती का योगात्मक रूप आज भी अधिकांशत: प्रचलित है जबकि हिन्दी मुख्यत: वियोगात्मक हो चुकी है। इस प्रकार विभक्ति-चिह्नों के योग और वियोग का इन दोनों भाषाओं में प्रकट अन्तर है, जिसको मोटे तौर पर बतलाया जा सकता है। अन्यथा एक भाषा की अभिव्यक्ति को दूसरी भाषा में प्राय: उसी रूप में प्रकट किया जा सकता है। एक अर्थ के लिए दोनों भाषाओं के दो भिन्न शब्दों की बात को छोड़कर एक भाषा की वाक्य-रचना दूसरी भाषा के समान ही होती है। एक सीमित संख्या में ही ऐसे वाक्य होंगे, जिनकी रचना में दोनों भाषाओं में अन्तर आ जाता है। ऐसे वाक्यों पर प्रकाश डालना ही प्रस्तुत लेख का लक्ष्य है।

इस अध्ययन का आधार मुन्शीजी के उपन्यास हैं, जिनके हिन्दी-रूपान्तर भी आज सुलभ हैं। अनुवादकों के प्रमाद के कारण यह अवश्य है कि कतिपय स्थलों पर मुन्शीजी की मूल अभिव्यक्ति को सुरक्षित नहीं रखा गया है जबकि ऐसा करना किसी भी प्रकार से कठिन न था। यहाँ एक उदाहरण लेकर इस तथ्य को स्पष्ट किया जा रहा है। कहना न होगा कि इन प्रसंगों में अनुवादकों के प्रमाद एवं असावधानी के कारण मुन्शी के साथ अन्याय हुआ है।

(अ) प्रचलित पद-समुदाय की उपेक्षा—

अजिगते चार पांच वर्ष विताव्यां (मूल)[1]

अजीगर्त ने पांच वर्ष व्यतीत किए (अनुवादित) केवल पाँच वर्ष कहने से मूल की सुन्दरता नष्ट हो गई।

---

१. लोमहर्षिणी-गुजराती, गुर्जर ग्रंथरत्न १९५७ पृ० १२८, हिन्दी राजकमल ५४ पृ० १४१।

(आ) मूल पदों की उपेक्षा—

पछी ? पछी तो ऋचीक आवी ने जरुर ज भरतग्रामने जालीने भस्म करे (मूल)[1]

फिर क्या होगा ? ऋचीक दल-बल सहित आकर जरूर भरतग्राम को जलाकर भस्म कर डालेगा। (अनुवादित)

यहाँ मूल के "पछी तो" शब्दों का अनुवाद नहीं किया गया जिससे मूल की सुन्दरता तो नष्ट हुई ही प्रत्युत भाष भी अपूर्ण रहा। इस प्रकार अनुवादित हो सकता था—"फिर क्या होगा ? फिर तो……"

(इ) विराम चिह्नों के प्रति उपेक्षा—

अेमने प्रतापे नवुं प्रभास-अनुपम सौन्दर्यथी शोभतुं,- कौस्तुभ मणिमय तेजस्वी सागर माथी तरी आवतुं हतुं।" (मूल)

"उनके प्रताप से नया प्रभास अनुपम सौन्दर्य से शोभित था और कौस्तुभमणि के समान तेजस्वी सागर में से तिरकर आ रहा था। (अनुवादित)[2]

यहाँ अनुवाद में डैश का प्रयोग न करने से मूल भावों की सुरक्षा न हो सकी—मूलभाव नष्ट हो गया। इस प्रकार के संभ्रमात्मक अनुवादों को छोड़कर ही यह अध्ययन किया गया है।

इतना होते हुए भी—उपर्युक्त प्रकार के गिने चुने स्थलों को छोड़कर—अनुवाद सफल हुए हैं, किन्तु इस सफलता का श्रेय अनुवादकों को नहीं दिया जा सकता। इसका श्रेय हिन्दी-गुजराती की सहोदरता को ही मिलेगा, जिसके फलस्वरूप, जैसा कि ऊपर लिख चुके हैं, एक भाषा की प्राय: पदावली ज्यों की त्यों दूसरी भाषा में ग्राह्य हो जाती है। एक-दो उदाहरण देखिए—

(अ) केवल लिपिमात्र का भेद—

पदक्रम तथा शब्द दोनों भाषाओं के वाक्यों के एक से।

अेक विशाल पीपलानी छाया नीचे घासनी अेक झूंपडी हती। (मूल गुजराती)[3]

एक विशाल पीपल के (पेड़ की) छाया के नीचे घास की एक झौंपड़ी थी। (हिन्दी अनुवाद)

(आ) एक अर्थ के लिए दोनों भाषाओं के दो भिन्न शब्द किन्तु पदक्रम एकसा।

"सहस्रार्जुन क्या वहाणमां आवता हशे ?" युवके होडीवालाने पूछ्युं।

(मूल गुजराती)[4]

"सहस्रार्जुन किस पोत में आ रहे होंगे ?" युवक ने नाविक से पूछा। (हिन्दी अनुवाद) आदि आदि।

---

१. लोपामद्रा-गुजराती, गुर्जर संवत २००७ पृ० ५, हिन्दी राजकमल ५४ पृ० ९।

२. जयसोमनाथ, गुजराती, गुर्जर १९५० पृ० ३५२, हिन्दी, राजकमल ५६ ? पृ० ३४८।

३. लोपामुद्रा—गुर्जर सम्वत् २००७ पृ० २५, हिन्दी, राजकमल ५४, पृ० ४०।

४. भगवान परशुराम (गुजराती, गुर्जर ५७ पृ० ५, हिन्दी, राजकमल ५१ पृ० २५)।

अब दोनों भाषाओं के ऐसे वाक्यों पर विचार किया जा रहा है, जिनके पदक्रम में अन्तर आ जाता है। यहाँ विचार गुजराती से हिन्दी में परिवर्तन पर ही किया जायगा। दो भाषाओं की वाक्य-रचना में अन्तर दो रूपों में हो सकता है—बाह्य एवं आन्तरिक। अथवा दूसरे शब्दों में कह सकते हैं—रूपात्मक और भावात्मक। यहाँ पर बाह्य अन्तर पर ही प्रकाश डालना अभीष्ट है। फिर भी, यथास्थान आन्तरिक अन्तर की ओर भी संकेत कर दिया जायगा। यहाँ बाह्य अन्तर के कुछ विशेष रूपों का उल्लेख किया जा रहा है—

(अ) मिश्रित अथवा लम्बे वाक्यों में कर्ता का स्थान परिवर्तित हो जाता है, जैसे——

आजे अे विश्वामित्रनी कृपाथी × आमकरी शकतो हतो। (मूल)[1]

आज × केवल विश्वामित्र की कृपा से ही वह इस प्रकार विचरण कर सक रहा था। (अनुवाद)

आ यज्ञ करावमां × विश्वामित्रनुं अधः पतन अेमने स्पष्ट देखायुं। (मूल)[2]

इस यज्ञ कराने में उन्हें विश्वामित्र का अधः पतन × स्पष्ट दिखाई देने लगा। (अनुवाद)

(आ) वर्ग का स्थान प्रायः अपरिवर्तित रहता है। क्रिया का स्थान निम्न-लिखित रूपों में परिवर्तित हो जाता है——

(.) बल-प्रयोग की दृष्टि से दोनों भाषाओं के वाक्यों की भिन्न विधा——

पण नर्तकी तैयार न थी ने न थी तैयार वाजित्रवाला × । (मूल)[3]

लेकिन न तो नर्तकी तैयार है और न × बाजेवाले ही तैयार हैं । (हिन्दी अनुवाद)

(..) प्रश्नात्मक वाक्यों में प्रश्नसूचक क्रिया पर बल देने की भिन्न विधा—

केम छे तारा पिता × ? (मूल)[4]

तेरे × पिता कैसे हैं ? (हिन्दी अनुवाद)

---

१. लोमहर्षिणी (गुजराती, गुर्जर ५७ पृ० ४३, हिन्दी, राजकमल ५४, पृ० ५५)।
२. ,, ,, पृ० १३४ ,, ,, ,, पृ० १४७)।
३. वही जयसोमनाथ गुजराती पृ० सं० ३५७, हिन्दी पृ० सं० १५२ ।
४. वही लोपामुद्रा ,, पृ० २४ ,, ३९ ।

(...) गुजराती में लोप किन्तु हिन्दी में क्रिया का आगम-पद-समुदाय पर बल देने की भिन्न रीति के कारण—

"मंत्रोच्चार करी शके ते मनुज ×" राम कह्युं (मूल)[१]

"जो मंत्रोच्चार कर सके वही मनुज है" राम ने कहा । (अनुवाद)

(इ) विशेषण तथा क्रियाविशेषण पदों के क्रम में परिवर्तन, विशेषता दिखाने के लिए या बल देने के लिए प्रयुक्त भिन्नता के कारण—

×

. (.) तो मारी विद्या बधी भले बलीने भस्मथाय । (मूल)[२]

↑

↓

×

तो मेरी सारी विद्या जलकर भस्म हो जाय । (अनुवाद)

×

(..) अपरिचित कोई विश्वकर्मअे घडवा मांडेली...... (मूल)[३]

↑

× ↓

किसी अपरिचित विश्वकर्मा द्वारा निर्मित...... (अनुवाद)

×

(...) आर्यश्रेष्ठ ने हरेक रीते टपी जाय अेवा तेना जेवा...(मूल)[४]

↑

↓ ×

सबप्रकार से आर्यश्रेष्ठ की बराबरी करने वाले...... (अनुवाद)

(ई) क्रिया विशेषण तथा अव्यय के स्थान परिवर्तन—

भिन्न प्रकृति के कारण—

तारे क्यां |→हवे नृत्य करवुं छे ? (मूल)[५]

↑ |

| ↓

तुझे अब←| कहाँ नृत्य करना है ? (अनुवाद)

(उ) युग्म पदों का प्रयोग—

हिन्दी में युग्म पदों के दोनों पदों का प्रयोग होता है किन्तु गुजराती में एक ही पद प्रयुक्त होता है, जैसे—

---

१. वही भगवान परशुराम मूल पृ० सं० ५२ अनुवाद पृ० सं० ५२ अनुवाद पृ० सं० ७४ ।

२. वही जयसोमनाथ मूल पृ० सं० ५ अनुवाद पृ० सं० २० ।

३. „ „ „ ३४८ „ „ ३४३ ।

४. वही लोमहर्षिणी „ ५४ „ „ ४३ ।

५. वही जयसोमनाथ „ ३५३ „ „ ३४९ ।

(.) जहाँ-वहाँ में से गुजराती में वहाँ का ही प्रयोग होता है—

अेटलायां × अे वसतां हतां त्यां अेक नवी, अजब जेवी वात आवी। (मूल)[१]

इतने में जहाँ वे रहते थे वहाँ एक नई विचित्र बात हो गई। (अनुवाद)

(..) जब-तब में से तब—

(..) राम × वे महिनानो थयो त्यारथी अे कोनो अेने माटो झगड़ो शुरु थयो। (मूल)[२]

राम जब दो महीने का था तभीसे (तब) इस संबंध में झगड़ा शुरू हुआ कि वह किसका है। (अनुवाद)

(...) जो-सो (वही) में सो (वही)—

"× मंत्रोच्चार करी शके ते मनुज"। (मूल)[३]

"जो मंत्रोच्चार कर सके वही मनुज है"। (अनुवाद)

(ऊ) प्रश्नात्मक वाक्यों में प्रश्नसूचक पदों का प्रयोग—

प्राय: एक-दूसरे का विलोम होता है—

(.) केम छे तारा पिता ? (मूल)[४]

तेरे पिता कैसे हैं ? (अनुवाद)

(..) राक्षस छे के शुं ? (मूल)[५]

क्या वह राक्षस है ? (अनुवाद)

(ए) आज्ञावाचक वाक्यों का रूप एकसा रहता है। आग्रहपूर्ण—

विशेषरूपों का रूपान्तर हिन्दी में न के साथ होता है—

"चौला आवनी" गंगाअे कह्युं। (मूल)[६]

"चौला आ न" गंगा ने कहा। (अनुवाद)

(ऐ) निषेधवाचक वाक्यों में निषेध सूचक पदों का प्रयोग क्रिया पदों के साथ एक-दूसरे के स्थान पर होता है—

---

१. लोमहर्षिणी (वही) पृ० सं० मूल १२९, अनुवाद १४२।
२. " ५५ " ६९।
३. वही पाद टिप्पणी १०।
४. वही पादटिप्पणी ९।
५. लोमहर्षिणी (वही) मूल २४० अनु० १५२।
६. जयसोमनाथ (वही) मूल पृष्ठ २२६ अनु० २२८।

(i) मारे अहीं रहेवुं न थी ।

↑ ↑

↓ ↓
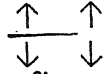
मुझे यहाँ नहीं रहना है ।

(ii) मने शिष्य तरीके नहीं स्वीकारे ।

↑ ↑

↓ ↓
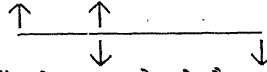
मुझे शिष्य रूप में स्वीकार करने को तैयार नहीं है ।

(ओ) पूरक-उपवाक्यों का प्रयोग ––

प्रायः एक-दूसरी का विलोम होता है—

(.) (छतां तेनु स्वरूप अेकदम आवुं गंभीर थई पडशे) (तेनी अेने कल्पना न हती)[1]

↑ ↑

↓ ↓
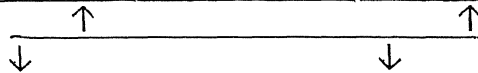
(तो भी उसे यह विश्वास नहीं था) (कि स्थिति इतनी गंभीर हो जायगी)

(अनुवाद)

(..) (पण ना × ऋषि विश्वामित्र अेमना अेक सहाध्यायीने अेम तो नहि तर छोड़े)

↑ ↑ अेवी मारी दृढ़ श्रद्धा छे ।[2]

↓ ↓ ↓
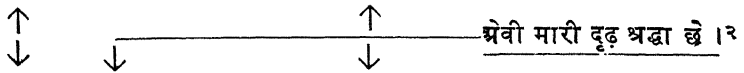
(किन्तु नहीं) मेरा बिश्वास है कि (ऋषि विश्वामित्र अपने एक सहाध्यायी का इस प्रकार तिरस्कार नहीं करेंगे)

(...)ने तेमना देखाव परथी × तेमनुं मृत्यु तरसमां आववानुं होय) तेम स्पष्ट लागतुं हतुं[3]

↑ ↑ ↑

↓ ↓ ↓
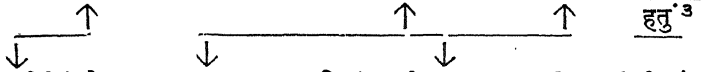
(उनको देखने से) ऐसा स्पष्ट जान पड़ता था कि (उनकी मृत्यु अत्यन्त निकट ही है ।)

(क) मानो का प्रयोग––

मानो के प्रयोग के साथ दोनों भाषाओं के उपवाक्यों की स्थिति विलोम हो जाती है––मानो के प्रयोग विशेष के कारण––

(.) (ते) मनुं (निमंत्रण सांभलीने देव प्रसन्न थई उतर्या होय) (तेम गर्जना शमी) । (मूल)[4] ।

↑

↓ ↓ ↓
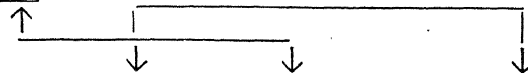
(गर्जनतर्जन इस प्रकार शान्त हो गया) मानों (उसका निमंत्रण सुनकर देव प्रसन्न होकर उतर आए हों ।)

१. लोमहर्षिणी (वही) मूल पृ० ४३ अनु० ५४ ।

२. ,, १४१ ,, १५४ ।

३. ,, १३१ ,, १४४

४. लोमहर्षिणी (वही) ५४, अनुवाद ६८ ।

(..) मानों का आभास-गुजराती में लोप हिन्दी में आगम—

(अने) (अे विचार ज अणे अत्यारे ऋषिना मनमां रमी रह्यो होय) (तेम अेमने सुखोर्मिनो अनुभव थयो) (मूल)[1]

(इस समय) (इस प्रकार उसे सुखोर्मि का अनुभव हुआ) मानो (इस समय यही विचार ऋषि के मन में आ रहा हो)।

(ख) रूपान्तर में कठिनाइयाँ—

गुजराती वाक्यों के कतिपय अंश ऐसे भी हैं जिनके रूपान्तर में कठिनाई प्रतीत होती है। फलस्वरूप हिन्दी में रूपान्तर करते हुए उनके मूल रूप में परिवर्तन करना पड़ा—जिस रूप में इन अंशों की अभिव्यक्ति गुजराती से हुई है वही रूप हिन्दी में नहीं लाया जा सका। इसका मुख्य कारण भाषा की वैयक्तिक विशेषता तथा अपनी प्रकृति है जो अपने मूल रूप से इतर उतारी नहीं जा सकती और रूपान्तर में अपनी चारुता खो देती है।

(अ) भिन्न-भिन्न वाक्यों में रूपान्तर—

(.) विस्मयादिबोधक का साधारण वाक्य में रूपान्तर (मानो का प्रयोग करके) अणे देव वरुणु नां तेज अेमना पर अेकाग्र न थतां होय। (मूल)[2]

मानो देव वरुण का तेज उन पर एकाग्र हो गया हो। (अनुवाद)

(..) साधारण वाक्य का विस्मयादिबोधक में रूपान्तर।

अेना बालपणनो अे धन्य दिवस हतो। (मूल)[3]

उसके बालपन का वह दिवस कितना धन्य था।

(...) विस्मयादिबोधक का प्रश्नात्मक वाक्य में रूपान्तर—

"सत्या। विश्वरथे कह्युं" तुं आमारी जेडे रहे तो।" (मूल)[4]

"सत्या" विश्वरथ ने कहा, "तू हमारे साथ न रहेगी ?" (अनुवाद)

"अमारी जेडे रहे तो" तो में जो उत्सुकता, उत्कंठा तथा प्रेम छलक रहा है वह "हमारे साथ न रहोगी ?" में नहीं है।

(आ) पदावृति का रूपान्तर एक पद में जिसके कारण मूल अभिव्यक्ति की सुन्दरता नहीं रहती, जैसे—

---

१. लोमहर्षिणी (वही) मूल १६७ अनु० १८१।
२. ,, ,, ,, १४० ,, ,, १५३।
३. लोहमर्षिणी (वही) मूल ५६, अनु० ७०।
४. लोपामुद्रा (वही) मूल २० ,, ,, ३७।

(.) अे मूंगो मूंगो फरतो त्यारे रामनी बोलवाचालबानी लक्षण स्मरीस्मरी पोतानी…[१] ।

वह जब चुपचाप घूमता तब राम की बोलचाल की रीति का स्मरण करके अपनी रीति… ।

(..) तो गुरु खुश खुश थई जाय (मूल)[२] ।

तो गुरु बहुत ही प्रसन होंगे ।

(इ) गुजराती के एक पद का हिन्दी में पदावृति में रूपान्तर, सुन्दरता तथा प्रयोग के लिए ।

(.) अेनी काली आंखोनी भभक ज्यां पड़ती…(मूल)[३] ।

उसकी काली-काली आँखों का तेज जहाँ बरसता…(अनुवाद) ।

(..) वातमां वखत चल्यौ जाय छे……(मूल)[४] ।

समय बातों ही बातों में बीत जाता है…(अनुवाद) ।

(ई) गुजराती के संक्षिप्त रूप का हिन्दी में सविस्तर रूपान्तर—हिन्दी में से ऐसे रूपों के अभाव के कारण—

(.) कल्पी चौला हमेशा हरखाती । (मूल)[५] ।

(इसकी कल्पना करके) चौला सदैव हर्षित होती रहती थी । (अनुवाद)

(..) भीमदेव महाराजे तेना माटे खास करावेला अंतःपुरमां गई । (मूल)[६]

वह उस अतःपुर में गई, जिसे भीमदेव महाराज ने विशेषरूप से उसी के लिए बनवाया था । (अनुवाद)

लोकोक्तियाँ एवं कहावतें—

गुजराती और हिन्दी की कहावतें एवं लोकोक्तियाँ भी किसी एक मूल स्रोत से ही निकली हैं और यही कापण है कि प्रायः कहावतें तथा लोकोक्तियाँ एक-सी ही हैं। अधिकांश की तो शब्दावली भी एक सी मिलेगी । किन्तु भाषा के विकास के साथ कतिपय कहावतों का रूप मार्मिकता की दृष्टि से विशेष निखर गया है। ऐसी ही एक-दो कहावतों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है ।

हिन्दी की एक कहावत है "चौबे जी गए थे छब्बे होने, दुबे भी न रहे ।" चौबेजी के स्वस्थ शरीर एवं मस्त जीवन का रूप जनमानस में इतना व्याप्त है कि उनके "दुबे

१. लोमहर्षिणी (वही) मूल १२६, अनु० १४० ।
२. लोपामुद्रा (वही) मूल ३७ अनु० ५२ ।
३. लोमहर्षिणी (वही) मूल ५१ अनु० ६५ ।
४. लोपा मुद्रा (वही) " ४ " १८ ।
५. जय सोमनाथ (वही) मूल १४ अनु० २४ ।
६. " " " ३४८ " ३४३ ।

खंड ३

रचनामृत

सोमनाथ

स्वप्न साकार

जब १६ फरवरी १९५८ को बहुत तड़के मैं वायुयान-द्वारा केशोद जाने के लिए सान्ताक्रुज हवाई अड्डे पर पहुँचा तो पूर्वी आकाश में अर्द्धचन्द्र शुक्र के साथ विनोद करता दिखाई दे रहा था। पृथ्वी पर क्षीण प्रकाश छाया हुआ था और जिस ध्येय से मैं जा रहा था उस पर भी। मुझे ऐसा लगा मानो मैं स्वप्न देख रहा हूँ। मैं सोमनाथ के पुर्नर्निमित मन्दिर में पूजा करने जा रहा था क्योंकि मेरा स्वप्न सत्य सिद्ध हो गया है।

लगभग एक घण्टे की उड़ान के बाद में केशोद पहुँचा। सत्ताईस मील मोटरकार से चलकर में वेरावल पहुँचा और वहाँ से उस डामर की सड़क द्वारा जो सात वर्ष पहले उपेक्षित और धूल-भरी रहती थी, प्रभास-पाटन पहुँचा। यह गाँव पहले नितान्त निर्जन-सा था; पर अब बिजली, नल, सड़क और कुंजों तथा मन्दिरों से एक सुन्दर तीर्थ बन गया है जहाँ लोग हजारों की संख्या में दर्शन करने आते हैं।

पुराने दुर्ग के पास से होकर बीच की बनी फाँक की राह उस मन्दिर के दर्शन किये जिसे मैंने एक बार स्वप्न में देखा था और जो अब मरकत-हरित समुद्र की पृष्ठभूमि पर शान के साथ खड़ा है—"महामेरु प्रासाद" नाम से यध्ययुगीय भारत की मन्दिर-निर्माण कला का प्रतिनिधित्व कर रहा है और १७५ फुट के शिखर के सिवा उच्च कोटि के अनुपात के साथ निर्मित हुआ है। यहाँ तक कि इधर ७०० वर्षों में ऐसा कोई निर्माण नहीं हुआ था, और इसने दूसरे युग के सौन्दर्य को पुनरुज्जीवित कर दिया है।

हमारे अध्यक्ष हिज़ हाईनेस जामसाहब हमारे साथ थे। उनके सच्चे विश्वास ने इस मन्दिर का निर्माण उसी योजना के साथ कराया जिस प्रकार सम्राट् कुमारपाल ने नवीनीकरण ११६९ ई० में कराया था और जिसके नष्ट-भ्रष्ट अवशेष को हमने १९५० ई० में तुड़वा दिया था।

हम मन्दिर के अन्तमर्गि की चौखट पर गये। वहाँ भगवान् सोमनाथ की मूर्ति ठीक उसी स्थान पर थी जहाँ वह परम्परागत कथा के अनुसार सृष्टि के आदि से या कम से कम खुदाई विभाग के प्रमाणों के अनुसार २,००० वर्ष से खड़ी थी। इस अवधि में इस मन्दिर ने करोड़ों भक्तों को आकर्षित किया। भारत के सभी भागों के राजा-महाराजाओं के शीश यहाँ झुकते रहे। भाव बृहस्पति जैसे साधु-संन्यासी और हेमचन्द्राचार्य जसे विद्वानों ने इसकी पूजा की। यहाँ गुर्जर साम्राज्य के निर्माता सिद्धराज जयसिंह अपने और अपने उत्तराधिकारी कुमारपाल के लिए पुत्रजन्म की मनौती मानने और मन्दिर के

प्रधान का आशीर्वाद प्राप्त करने आये थे। समय-समय पर यहाँ अगणित शूरवीरों ने इसकी रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया जिनमें से एक का स्मारक अब भी मौजूद है। ध्वस्त और निर्जन हो-होकर यह फिर उठता और खड़ा होता रहा है और लोगों के हृदयों में इसकी प्रेरणा जीवित रही है। और अब इस नये मन्दिर में सर्वप्रथम जिसने पूजा की वे थे स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति।

सोमनाथ मन्दिर

वह शिवरात्रि का दिन था जो बचपन से ही मेरे लिए पवित्रतम दिवस है। मेरे मन में ये सारी स्मृतियाँ जग रही थीं और मैं वहाँ विनम्र भाव से खड़ा था। मेरे सम्मुख वह लिंग था जो अनन्त का सांसारिक चिह्न है। यह रहस्यपूर्ण हरित प्रकाश में डूब रहा था मानो शिव ने तीसरा नेत्र उधार लिया हो, पर कुपित होकर नहीं, प्रेमपूर्वक। रजतपात्र से पवित्र जल विधिवत् गिर रहा था। मन्दिर के घण्टे उसी प्रकार बज रहे थे जैसे अपने महान् दिनों में बजा करते थे। पूजा करने वाले ब्राह्मणों के मुखों से वही ध्वनि उसी उच्चारण के साथ निकल रही थी। जो इस मन्दिर को शताब्दियों के प्रतिध्वनित करते रहे हैं—"पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः। और अनेक बातियोंवाले दीपक भगवान् के सामने घुमा-घुमा कर आरती होती थी। घण्टे-घड़ियाल और नगाड़ों की ध्वनि और आसपास के गाँवों और नगरों से आये हुए भक्त स्त्री-पुरुषों और बच्चों की हर्षपूर्ण ध्वनि मिलकर अद्भुत समाँ बाँधती थी।

मैं ऊपर चौथी मंजिल तक चढ़ा और वहाँ से मैंने समुद्र पर दृष्टिपात किया—ठीक दक्षिणी ध्रुव की ओर। मेरी बायीं ओर समुद्र-तट वृक्षों से आच्छादित था जिससे रेती का भूरापन ढककर तटवर्ती अंचल सुन्दर बन गया था। नारियलों की वृक्ष-पंक्ति जिसे मैंने पहले वन महोत्सव—१९५० ई० में लगाना आरम्भ किया था, बढ़ रही थी। मैंने जो कदम्ब लगाया था वह भी वर्द्धित हो रहा था यद्यपि वह आकार में छोटा ही रह गया। पवित्र स्थान 'देहोत्सर्ग' पर जहाँ श्रीकृष्ण ने शरीर त्याग किया था, एक सुदृढ़ पीपल-वृक्ष बढ़ रहा है। अर्द्धरात्रि की आरती का समय था जो शिव के लिए बहुत पवित्र माना जाता है। जामसाहब वहाँ मौजूद थे। भीड़ भी कम न थी। नृत्य हो रहे थे, भजन गाये जा रहे थे। सहस्रों कण्ठों से 'जय सोमनाथ' !' की ध्वनि उच्चारित हुई।

आखिर स्वप्न सत्य हो गया। मैं नहीं जानता कि महमूद गजवनी की १०२४ ई० की सोमनाथ-विध्वंस की कहानी ने मेरी आत्मा को कब चोट पहुँचायी थी। यह बहुत पहले हुआ होगा, क्योंकि मुझे स्पष्ट याद है कि पचास वर्ष से भी पहले जब मैंने ब्रिग-लिखित 'गुजरात के नगर' (सिटीज़ आफ गुजरात) नामक पुस्तक पढ़ी तो उस चोट से बहुत रक्तस्राव हुआ और मैंने छटपटा कर अपनी कालेज-पत्रिका में एक लेख "विनष्ट साम्राज्यों की कब्र गुजरात" शीर्षक से लिखा था।

सन् १९०८ के लगभग जब मैं बम्बई आया तो मैंने सोमनाथ की लूट के सम्बन्ध में प्राप्त सामग्री का अध्ययन किया और उस पर दो लेख 'सोमनाथ-विजय' शीर्षक लिखे जो बाद में 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' (बम्बई की तत्कालीन मुख्य अंग्रेजी पत्रिका) में छपे। मैं

नहीं कह सकता कि वह मेरे हृदय में लगे घाव की प्रतिक्रिया थी या नहीं, क्योंकि १९१५ और १९२२ के बीच मैंने अपनी इतिहास-त्रयी की सृष्टि की जिसमें मैंने चौलुक्य-कालीन गुजरात की गौरव-गाथा की पुनर्रचना की। इस साहित्यिक क्रियाशीलता के बीच, यदि मैं भूलता नहीं तो, मुझे गुजरात के युद्ध नारे—'जय सोमनाथ' की रचना का नहीं तो उसे सर्वप्रिय बनाने का काम करना पड़ा।

यद्यपि मैंने स्वप्न में इस मन्दिर का पुनरुद्धार अनेक बार देखा, पर दिसम्बर १९२२ में ही मैं पहले-पहल उस मन्दिर के दर्शन कर सका जिसका ११६९ ई० में नवीनीकरण हुआ था और जो औरंगजेब के फरमान से १७०७ ई० में इतना ध्वस्स हो चुका था जिसकी मरम्मत नहीं हो सकती थी। इस प्रकार भ्रष्ट, ज्वलित और ध्वस्त होकर यह अब तक दृढ़ता-पूर्वक मानो हमारे अपमान और कृतघ्नता के स्मारक के रूप में खड़ा था। मैं उस दाहक लज्जा का वर्णन मुश्किल से कर सकता हूँ जिसका अनुभव मैंने उस प्रभातकाल में किया जब मैं क्वचित-कालीन पवित्र सभामण्डप के टूटे-फूटे फर्श पर गया जिस पर टूटे स्तम्भ और पत्थरों के टुकड़े यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे। मेरी अपरिचित पदध्वनि सुन कर छिपकलियाँ अपने बिलों से बाहर निकलतीं और उनके अन्दर जाती थीं। और लज्जा की हद तब नहीं रही जब मैंने देखा कि उसी स्थान पर एक इन्स्पेक्टर का घोड़ा बँधा है; और वह भी वहाँ मेरे जाने पर हिनहिना कर मानो अपनी पवित्रता-ध्वंसक धृष्टता का प्रदर्शन कर रहा था।

सूर्योदय के थोड़े समय पहले जब मैं उस ध्वस्त आड़बन्द के पास इधर-उधर टहल रहा था तो सदियों की कृतघ्नता ने मुझे मानो डंक मार दिया। फिर उस दिवास्वप्न में मैंने मंदिर को उस रूप में देखा जैसा वह १०४० ई० में था जब कि उसका उच्च शिखर आसमान को छूता था, शक्तिशाली आचार्य और राजा उसकी पवित्र चौखट पर अपने विनम्र शीश नवाते थे। मेरे कानों में मन्दिर-नर्तकियों के घुँघरुओं की रुन-झुन ध्वनि और उनके मृदंग के ताल पर आह्लादपूर्वक गाने का स्वर गूँज उठा। मैंने देव-दर्शन के लिए उत्सुक बहुसंख्यक भीड़ देखी जिनके हृदयों में आशा और आत्मा में विनम्रता भरी देती थी; और मैंने आक्रमणकारी को निरीह पुजारियों के रक्त से रंजित उसकी तलवार को और फिर तीन खण्डों में भंजित मूर्ति को देखा। इससे मैं थरथरा कर काँप उठा।

इस स्वप्न से मन्दिर-नर्तकी चौला साकार हुई जो १९३५ में मेरे 'जय सोमनाथ' में प्रकाशित हुई। इस पात्र का अधिकांश भाग पहलगाम—(काश्मीर) में लिखा गया जब कि मेरे सामने शेषनाग चोटी का एक-एक खण्ड अनन्त समृद्धि के साथ नाच रहा था।

मैं जब-कभी इस पर विचार करता हूँ तभी भगवान् शंकर के समान नाचने वाली अपनी स्वप्न-शिशु चौला को देखता हूँ जिसके बारे में मैं आपको कुछ बताऊँगा।

नर्तकी चौला

वह सं० १०८२ विक्रमी (१०२४ ई०) की कार्तिकी पूर्णिमा थी। यात्रियों के दल के दल प्रभासपाटन की ओर जा रहे हैं जिससे वे भगवान् सोमनाथ के प्रिय पूर्णिमा के

त्योहार में सम्मिलित हो सकें और गंगा, यमुना तथा सरस्वती की तिहरी पवित्रता से संयुक्त हिरण्य के जल में स्नान कर सकें। मन्दिर के स्वर्णिम गुम्बद स्वच्छ आकाश ही पार्श्व-भूमि में चमचमा रहे हैं। सैंकड़ों ब्राह्मणों के कण्ठ से उच्चारित पवित्र स्तोत्रों से वायुमण्डल गुंजायमान है और मन्दिर-नर्त्तकियाँ प्रभात से अर्द्धरात्रि तक भगवान् शंकर के सामने नाचती हैं अतः हर हृदय में आह्लाद भरा हुआ है। मंदिर के अध्यक्ष हैं गंगसर्वज्ञ जो उस युग के पाशुपत सम्प्रदाय के महान् आचार्य थे।

मन्दिर के पास ही भगवान् सोमनाथ को समर्पित छः सौ नर्तकियाँ रहती थीं। उनके लिए भगवान् के सामने नाचना स्तुति भी है और पूजा भी। उन नर्तकियों में प्रमुख गंगा थी जो उन सबकी अध्यक्षा और संरक्षिका थी। यह एक बुद्धिमती स्त्री थी जिसकी अवस्था पचास के लगभग थी। किसी समय वह मन्दिर की सुन्दरतम नर्तकी थी।

त्योहार का दिन आने पर गंगा की पुत्री चौला जो अठारह वर्ष की थी और जिसका शरीर सुन्दर तथा मन शुद्ध था, अपने प्रथम नृत्य की तैयारी नयी-नवेली दुलहिन की-सी अधीरता के साथ करती है। उसका मन विलक्षण कल्पनाओं से भरा है। आज उसे भगवान् शंकर के समक्ष नाचने का सुअवसर मिलेगा। फिर तो वह शंकर-पत्नी पार्वती के समान, जिसे उन्होंने प्रेम किया था, हो जायगी—नहीं, वह अपने हृदय की सारी उत्कण्ठा गान, थिरकन और इंगित के रूप में उँड़ेल देगी और इस प्रकार अपने भगवान् और स्वामी को बस में कर लेगी जोकि पार्वती को प्राप्त सफलता से भी अधिक होगी।

वर्षों तक चौला ने अपना हृदय इस सर्वोच्च प्रयत्न में लगा दिया था। उसने नृत्य की अठारहों शैलियाँ सीख ली थीं, बारहों मुद्राएँ और सप्त संगीत। अब वह क्षण आ रहा है जब शक्तिशाली भगवान् सोमनाथ उसे अपने दुलार के रूप में अपनायेंगे।

सन्ध्या के समय सभा-मण्डप देवताओं की सभा के समान दिखाई देता है। प्रति-दिन सुदूर गंगा की धारा से लाया गया जल सुनहरे जलपात्र से भगवान् के बिल्वपत्रावृत लिंग पर टपकता है। रत्नजटित छत से लटकते असंख्य दीपों का प्रकाश मण्डप को इन्द्र-धनुष के रंग प्रदान कर रहा था।

गुजरात का नवयुवक चौलुक्य राजा अपने लवाजमे के साथ अपनी भूमि के रक्षक देवता के मन्दिर की वार्षिक यात्रा के लिए वहाँ उपस्थित है।

श्रद्धेय स्वामी गंगसर्वज्ञ प्रार्थना और आरती सम्पन्न कराने में लगे हैं।

जब यह रस्म पूरी हो लेती है तो वे कहते हैं—"अब नृत्य आरम्भ होने दो।"

ज्ञानी पुरुष गंगसर्वज्ञ शीघ्र उस पवित्र स्थल के छोटे द्वार के सामने स्थित खुले स्थान में लजीली चौला को नूपुर ध्वनि के ताल के साथ प्रवेश करते देखते हैं। तब उनका मन अपने बचपन के साथ-साथ गंगा के बचपन की ओर जाता है जब उनका जीवन महान् प्रेम के दिव्य रूप में परिवर्तित हुआ था और जिसके फलस्वरूप चौला का जन्म हुआ था।

चौला उस पवित्र स्थल के सम्मुख आकर गंगसर्वज्ञ की मुस्कराहट देखकर प्रोत्साहित हो नमन करती है। फिर वह अपना नत्य आरम्भ करती है जो हिमवान् की पुत्री पार्वती

की उस घोर तपस्या का द्योतक है जिसे उन्होंने महान् योगी शंकर को प्राप्त करने के लिए किया था। किन्तु चौला की स्थिति तपस्या की नहीं, बल्कि मनोनीत वधू की है। उसकी पदगति आह्लादमय अधीरता से पूर्ण है। वह सौन्दर्य, लज्जालुता, हिचक, आशा, भय, निराशा और सबसे बढ़कर उस लालसा से पूर्ण है जो प्रेमी के साथ एक होने की उत्कण्ठा से भरी अभिव्यक्ति प्रकट करती है।

थोड़ी ही देर में चौला अपने आपको भूल जाती है। वह तो अब साक्षात् पार्वती ही बन गयी है। वह आत्मविभोर होकर भगवान् को आत्मसमर्पण करने का भाव व्यक्त करती है। उपस्थित मण्डली मानो उसकी मोहिनी से मंत्रमुग्ध हो लावण्य और तालमेल की इस मायावी मूर्ति को देखती रहती है। वह मानो हवा में नाचती है। फिर सर्वोच्च क्षण आ पहुँचता है। उसका प्रेम और भक्तिभाव स्वर एवं इंगित में साकार हो उठता है और उसकी पद-गति उन्मत्तता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। फिर प्रशंसा-प्रवाह के वशीभूत होकर वह गिर पड़ती है। संगीत बन्द हो जाता है। मण्डली भयान्वित हो चुपचाप देखती रह जाती है।

गंगसर्वज्ञ अपनी जगह से उठ खड़े होते हैं और मूर्च्छाग्रस्त चौला को गोद में भर लेते हैं। वे बोलते हैं: "सर्वेश्वर भगवान्, इस नन्ही नर्तकी को अपनी बना लो। इसके पश्चात् प्रति सोमवार को आपके सम्मुख यही नृत्य किया करेगी।"

अर्द्ध-चेतन चौला बड़बड़ा उठती है, "तुम्हारी, तुम्हारी भगवान्! इस जीवन में, और सदैव।"

× × × ×

उसके कुछ ही देर बाद भीमदेव के मंत्री दामोदर मेहता यह समाचार लाते हैं कि सुलतान महमूद गजनवी की सेनाएँ चढ़ती आ रही हैं और वे गुजरात पर आक्रमण करने के लिए तुल गयी हैं। उसका इरादा सोमनाथ मन्दिर को उसी प्रकार नष्ट कर देने का प्रतीत होता है जिस तरह उसने थानेश्वर और मथुरा के मन्दिर नष्ट किये हैं।

"क्या यवन सर्वोच्च भगवान् का झण्डा नीचे गिराने का साहस रखता है? कितनी बड़ी धृष्टता है? "गंगसर्वज्ञ ने उच्च स्वर से कहा।

"महमूद यमराज से भी अधिक भयंकर है।" दामोदर मेहता ने उत्तर दिया।

"मैं उस म्लेच्छ का सामना करने के लिए तैयार हूँ। यदि वह गुजरात आयेगा तो उसे मृत्यु-मुख में घुसना होगा। मैं दिखा दूँगा कि हम किस धातु के बने हैं।' भीमदेव ने गर्वपूर्वक कहा।

"मेरे बेटे, सत्य ही विजय होती है। भगवान् तुम्हें सफलता देंगे।" गंगसर्वज्ञ ने आशीर्वाद देते हुआ कहा।

आनन्दोल्लास समाप्त होने पर भीमदेव अपनी राजधानी में लौटने के पहले देवता के अन्तिम दर्शन करने के लिए आते हैं और वहाँ देखते हैं कि चौला फर्श पर सिर टेके भगवान् की प्रार्थना कर रही है। राजा मन्दिर की इस नर्तकी के सौन्दर्य और आकर्षण से खिचकर उस समय उसका पीछा करते हैं जब वह प्रार्थना के पश्चात् जगमगाते चन्द्र-

प्रकाश में समुद्र-स्नान करने जाती है। जब चौला जल से बाहर निकलती है तो कापालिक सम्प्रदाय का मुखिया उसे पकड़ लेता है। इस सम्प्रदाय की भयंकर क्रिया पद्धति के अनुसार त्योहार की अर्द्धरात्रि को भैरव को एक मनुष्य की बलि दी जाया करती है।

भीमदेव कापालिक को मारकर चौला को बचा लेते हैं जो अब मूर्छित हो चुकी है। जब वह होश में आती है तो वे उसे अपना परिचय देते हैं।

"चौला, मैं अब म्लेच्छों से लड़ने के लिए युद्ध में जाता हूँ।" युवक राजा कहता है।

"म्लेच्छों का नाश करके यहाँ आइएगा। मेरे भगवान् सोमनाथ आपकी रक्षा करें। चौला कृतज्ञता-भरे स्वर में कहती है।

"क्या तुम मेरे लिए प्रतीक्षा कर सकोगी ?" राजा भावोद्वेगपूर्वक कहता है।

"जब आप लौटेंगे तो मैं निश्चय ही अपने भगवान् के चरणों में होऊंगी।"

राजा इस उपेक्षापूर्ण उत्तर से अपमान अनुभव करते हैं।

दूसरे दिन जब कापालिक मूखिया की लाश स्नान के घाट पर मिलती है तो उसे भावी अनिष्ट का सूचक माना जाता है। क्या यह म्लेच्छ की विजय का पूर्व-अपशकुन है ? कम से कम गंगसर्वज्ञ के मुख्य शिष्य शिवराशि का यही खयाल है कि यह ऐसे ही अनिष्ट का पूर्व-लक्षण है।

× × × ×

सोमनाथ का पतन

मुझे अपने स्वप्न-शिशु चौला की कहानी पूरी करनी चाहिए, जिसने अपना जीवन भगवान् सोमनाथ को समर्पित कर दिया था।

जबकि गुजरात प्रतिरक्षा की तैयारी में लगा था, सुलतान महमूद गजनवी सेना-सहित मरुस्थल पार कर रहा था। इसके पश्चात् घोघा चौहान का प्रसंग आया—किस प्रकार वह ९० वर्षीय योद्धा अपने बहुसंख्यक पुत्र-पौत्रों के साथ आक्रमणकारी की राह रोकने में काम आया। यदि मुझे ठीक स्मरण है तो टॉड ने यह लिखा है कि जिस स्थान पर घोघा बाप्पा लड़ते हुए मरे थे वह 'घोघादेव की स्थली' नाम से प्रसिद्ध था। मैं चाहता हूँ कि मेरा यह पत्र पढ़नेवालों में से कोई मुझे बताये कि वह स्थान कहाँ है क्योंकि वह स्थान शताब्दियों की वीरता का सार-प्रतीक है। पर मुझे अपनी कहानी कहनी है।

घोघा चौहान के पौत्र सामन्त को सोमनाथ के मुख्य पुजारी गंगसर्वज्ञ ने, उसके पितामह को यह खतरनाक सूचना देने के लिए भेजा। पर जब वह अपने घर की गढ़ी के निकट पहुँचता है तो वह देखता है कि गढ़ी तो सुनसान है और मनुष्यों और पशुओं की लाशों से दुर्गन्ध आ रही है। सुलतान उधर से गुजर चुका था।

कुछ कठिनाई के साथ सामन्त अपने पुराने कुल-पुरोहित नन्दीदत्त से मिल सका। नन्दीदत्त ने उसे यह भीषण घटना सुनायी कि घोघा बाप्पा अपने चौहान वीरों के साथ किस शूरता से काम आये।

नन्दीदत्त ने बताया–"हम पन्द्रह दिन लड़ाई की तैयारी करते रहे। गढ़ी की मरम्मत की गयी। नये हथियार गढ़े गये। भाट और चारणों ने वीररस से विजय-गान सुनाये। सूर्य और चन्द्रवंश के वीरनायक अपने भव्य ललाटों पर कुंकुम लगाकर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये। ढोल दमामे और तुरही के निनादों से आकाश गूंज उठा। मैं चण्डी स्तोत्र का पाठ करने लगा।

"हम किले की दीवार पर खड़े होकर म्लेच्छों की सेना को क्षितिज पर विशाल सर्प के रूप में देख रहे थे। मैं भयभीत हो गया। ऐसी सेना मैंने पहले कभी नहीं देखी थी। मैंने घोघा बाप्पा की ओर देखा। उनकी आँखों से ज्वाला निकल रही थी और वे अपना दाहिना हाथ भाले पर फेर रहे थे।

"मैंने ऐसी सेना पहले कभी नहीं देखी थी।" मैंने बाप्पा से कहा।

"...बाप्पा ठहाका मार कर हँस पड़े–'जिसकी रक्षा भगवान् सोमनाथ का त्रिशूल करता है, उसको कौन क्षति पहुँचा सकता है ? उन्होंने कहा। फिर वे मेरी ओर मुँह करके बोले–ब्रह्मदेव, आप हमारे कुलगुरु हैं। आपके आशीर्वाद से हम सुदृढ़ बने हैं। मुझे वचन दीजिए कि मैं जो चाहता हूँ वही करेंगे।'

"मैंने वचन दिया। बाप्पा ने कहा–'मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा को कोई नहीं बदल सकता। मैं म्लेच्छ को तिल-भर भूमि देने के पहले मर जाना पसन्द करूँगा। यदि मैं मर जाऊँ तो मेरी चिता अपने हाथों जला दें और मेरे बेटे सज्जन तथा पौत्र सामन्त से कह दें कि वे मेरा श्राद्ध गया में करें।'

"मैंने वचन दिया। बाप्पा ने अपनी सिंगी बजायी और अपना दल बटोरने लगे। होनहार को कौन टाल सकता था।

"किन्तु महमूद ऐसा चतुर था कि वह अपना समय और शक्ति सीमा की एक गढ़ी में व्यर्थ गँवाना नहीं चाहता था, इसलिए वह उसे एक ओर छोड़ते हुए आगे बढ़ा।" नन्दीदत्त ने इसके बाद अपनी राम कहानी इस प्रकार जारी रखी–

"घोघा बाप्पा का क्रोध भड़क उठा। उनका हाथ तलवार की मूठ पर फिरने लगा। उनकी आँखें भूखे शेर की तरह चमकने लगीं। उन्होंने गर्जन करते हुए कहा–'म्लेच्छ, तू मुझे छोड़ जाना चाहता है ?' हम उनके इस प्रकार तड़प उठने का अर्थ समझते थे–'मैं नब्बे वर्ष से इस मरुस्थल का स्वामी हूँ। मेरी आज्ञा के बिना इधर से चिड़िया पर नहीं मार सकती। क्या मैं इस म्लेच्छ को यों ही रास्ता दे दूँगा और उस मन्दिर को भ्रष्ट होने दूँगा जिसकी पूजा मैंने जीवन भर की है! तुम चौहान वंश के कलंक!' उन्होंने अपने पुत्रों की ओर देखकर कहा–"तुम अगर पीछा रहना चाहते हो तो रहो और कायरता का कलंक सहन करो। आज यवन हमसे बच निकला है। भगवान् सोमनाथ ने हमें मरुस्थल का रक्षक नियुक्त किया है। ऐसी अवस्था में एक क्षण के लिए भी जीवित रहना लज्जाजनक है। भगवान् ने हमें यहाँ भेजा है, अब वह हमें वापस बुला रहा है।' बाप्पा ने अपनी तलवार म्यान से बाहर निकाल ली और चिल्ला उठे–'शाबाश। भगवान्, शाबाश।'

"सभी चौहानों ने अपनी-अपनी तलवारें निकाल लीं। राजपूतनियों ने विजय के प्रतीक के रूप में अपनी चूड़ियाँ बदल लीं। मैंने शिव-कवच का उच्चारण किया। सभी दरवाजे की ओर दौड़ पड़े। ढोल बज उठे। घोड़े हिनहिनाने लगे, ऊँट भलभलाने लगे। घोघा बाप्पा ने सुनहला जामा पहना और केसरिया साफा बाँध लिया। उनका शरीर फूलहारों से सुसज्जित हो उठा।

"जब बाप्पा दरवाजे तक पहुँच गये तो मुझसे बोले—'नंदीदत्त, मेरे राज्याभिषेक के समय तुम्हारे पिता ने मुझे केसर-तिलक लगाया था। तूमने मुझे स्वर्ग जाते समय पुष्प-माला पहनायी। अब मुझे एक वचन और दो—जब मेरे चौहान वीर लड़ते-लड़ते युद्ध-भूमि में काम आ जायँ तो उनकी स्त्रियाँ को विधिवत् अग्निदेव की भेंट कर दो।' इसके बाद वे झरोखे में खड़ी अक्षत और कुंकुम बरसानेवाली युवतियों को सम्बोधन कर इस तरह बोले जैसे उन्हें विवाह-भोज में सम्मिलित होने का निमंत्रण दे रहे हों—'मेरी बहू-बेटियो! क्या तुममें हमारे साथ कैलास आने का साहस है?' और सभी युवतियों के मुख-मण्डल आनन्द से चमक उठे और आँखों में आँसू आ गये।

"चौहान वीर गढ़ी से बाहर आ गये और आगे बढ़कर महमूद गजनवी की विशाल सेना के एक भाग पर टूट पड़े। वे 'जय सोमनाथ' का नारा लगाकर वीरगति को प्राप्त हो गये।"

नंदीदत्त अपने वर्णन को जारी रखते हुए बोले—"गढ़ी में अकेला मैं ही रह गया था और मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना था। वत्स! मैंने काँपते हाथों से अपना कर्त्तव्य पूरा किया। मैंने मन्दिर के प्रांगण में विशाल चिता रचायी। फिर स्त्रियों के पास आया। वे स्त्रियाँ जिनके विवाह के समय मैं सदा उनके पतियों के साथ था, जिनके पुत्र-जन्म के समय मैंने उनके पुत्रों को आशीर्वाद दिया था और जब वे बड़े हुए तो उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाया था! वे ही स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र और चमचमाते आभूषण धारण किये आज मेरे निकट आयीं। मैंने उनके मस्तक पर कुंकुम लगाया। फिर उन्होंने अपने कुलदेवता सूर्य की और अन्त में मेरी पूजा की। मेरी पत्नी और पुत्रवधू मेरे चरणों में गिर पड़ी। उन स्त्रियों के कण्ठों से गाने की मधुर ध्वनि आकाश-मण्डल को गुंजा रही थी और उन्होंने गाते-गाते ही चिता का आरोहण किया। मैंने उनके गुरु और पिता के रूप में उनका अग्नि-संस्कार कर कहा—'शोक की बात है कि यह मुझे ही करना पड़ा।' चिता की आग चारों ओर से आगे बढ़कर धू-धू करके जलने लगी। हे भगवान्! और फिर सारा सौंदर्य, वह सारी शूरवीरता उसमें जलकर राख हो गयी।'

महमूद के आने की सूचना से अविचलित गुजरात के राजा भीमदेव ने यह निश्चय किया कि खुले प्रदेश की प्रतिरक्षा का विचार छोड़कर प्रभास पाटन की रक्षा की ओर ही मुख्य रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाय। मन्दिर की रक्षा के लिए उत्तरदायी भीमदेव को गंगसर्वज्ञ ने आशीर्वाद दिया। भीमदेव ने विनम्रतापूर्वक कहा—"मैं भगवान् की इच्छा का साधनमात्र हूँ। भीषण शत्रु हमारे द्वार तक पहुँच गया है और यदि भगवान् की इच्छा हो गयी तो वे उसे खदेड़ बाहर करेंगे।"

श्रद्धेय गंगसर्वज्ञ ने कहा—"देखो वत्स ! तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करो, फिर भगवान हमारी भलाई का निर्णय स्वयं करेगें। मैं एक बात जानता हूँ। सृष्टि के पहले सर्वेश्वर भगवान् शिव इस लिंग के रूप में प्रकट हुए थे और प्रलय-काल तक यहीं रहेंगे। कोई इसको बदल नहीं सकता। मेरी चिन्ता न करो। मैं सदा भगवान के साथ रहूँगा। मैं यहाँ चट्टान की भाँति अटल खड़ा रहूँगा। फिर म्लेच्छ चाहे जो करें।"

भीमदेव ने शीघ्र ही सोमनाथ की प्रतिरक्षा की व्यवस्था संगठित की। बूढ़े स्त्री-पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को समुद्र-मार्ग से खम्भात भेज दिया। सभी स्त्रियों में गंगा ही वृद्ध गंगसर्वज्ञ की देखरेख के लिए रह जाती है। उसी प्रकार चौला भी भगवान को छोड़कर नहीं जाती क्योंकि उसे प्रतिदिन उनके सामने विधिवत् नृत्य करना है। अकेली रह जाने पर वह भीमदेव के सम्पर्क में आती है और उनका साहस, साधन-सम्पन्नता और दृढ़ निश्चय देखकर वह अनुभव करने लगती है मानो उसके दैवी भगवान मानवीय रूप धारण करके आ गये हैं।

आक्रमणकारी से अब प्रभास पाटन का दुर्ग घिर जाता है। फिर किले की दीवारों पर चढ़कर देखा जाता है कि हरे साफे और लाल दाढ़ीवाला सुलतान एक स्थान से दूसरे स्थान जाता, सेना की व्यवस्था करता और दुर्ग पर आक्रमण के बाद आक्रमण का फिर संगठन करता है; पर फिर भी उसे सफलता नहीं मिलती। प्रतिरक्षा के समय भीमदेव अपने शौर्य की विलक्षणता प्रदर्शित करते हैं।

इस वीर प्रतिरक्षक की शौर्यपूर्ण उन्मत्तता से चौला की कल्पना को प्रेरणा मिलती जाती है। वह एक मनमोहक संसार में विचरती है। उसके लिए प्रभास का दुर्ग ही कैलास है और भीमदेव ही भगवान शंकर हैं जो त्रिपुरासुर का वध करने के लिए स्वयं तयार हैं। वह भगवान की स्वत:न्यस्त वधू रही है। वह शौर्यपूर्ण कृत्यों के जादू से प्रभावित होती है और भीमदेव को अपना भगवान मानती है। वह स्वयं को तथा राजा भीमदेव को 'पार्वती और परमेश्वर' मानने लगी है।

×　　　　×　　　　×

इस बीच घोघा बाप्पा का पौत्र नवयुवक सामन्त जो कष्ट-सहन की दृष्टि से अतिवयस्क हो चला है और जो गम्भीर निराशा से बुद्धिमत्ता का पाठ सीख चुका है, नन्दीत्तट को साथ ले दुर्ग लौटता है। वह भीमदेव को बतलाता है कि आवश्यकता पड़ने पर अनहिलवाड़ की रक्षा के लिए उसने क्या व्यवस्था की है और उसने भोज परमार को कुमक भेजने के लिए किस प्रकार राजी कर लिया है।

"सामन्त, तुम मनुष्य नहीं, देवता हो।"

"यदि मैं मनुष्य होता तो मैंने इतने कष्ट झेले हैं कि अब तक कितनी ही मौतें देखनी पड़ गयी होतीं।" सामन्त विषादमय मुस्कराहट के साथ कहता है।

सामन्त के हृदय में यदि कोई कोमल स्थल रह गया है तो वह है नर्तकी चौला के लिए जिसने एक बार उसे भगवान का पादोदक देकर बहिन के रूप में आशीर्वाद दिया था। इसलिए वह देखकर क्रुद्ध होता है कि युवक राजा उसकी इस एकमात्र स्नेहपात्रा के भोले-

पन और श्रद्धा का लाभ ले रहा है। वह भीमदेव की निन्दा करता है कि वह उसके हृदय से खेल रहा है क्योंकि उच्चवंशीय राजा होकर वह मन्दिर की नर्तकी को गुजरात की रानी तो बनाने से रहा। भीमदेव सामन्त के भ्रम का निवारण करता है और बताता है कि वह चौला से गहरा प्रेम करता है और सामाजिक भिन्नता के होते हुए भी उससे विवाह करेगा।

गंगसर्वज्ञ भी भीमदेव के प्रस्ताव को स्वीकार करता है। चौला तो श्रद्धा से आत्मविभोर होकर यह अनुभव करती जाती है कि राजा इस पार्थिव शरीर में स्वयं भगवान शंकर हैं और वे उससे विवाह-बन्धन में आबद्ध हैं।

दूसरे दिन महमूद के आदमी दुर्ग पर आक्रमण करके उसका ताँता बाँध देते हैं, परंतु वे अपने प्रयत्न में विफल हुए। शिवराशि गुरु से ऊबकर सुरंग द्वारा बाहर जाकर आक्रमणकारी से सम्पर्क स्थापित करता है और उसी राह उसके आदमियों को अन्दर लाता है। एक स्वपक्षत्यागी मुख्य व्यक्ति दुर्ग के द्वारों में से एक को शत्रुओं के लिए खोल देता है और वे भयानक शोर के साथ किले में घुस आते हैं। भीमदेव अपने आखिरी दम तक लड़ता और यह प्रयत्न करता है कि शत्रुओं का उमड़ता हुआ दल रोके, पर वह सफल नहीं होता। उसके सभी योद्धा एक-एक करके काम आ जाते हैं। वह स्वयं घायल होकर अचेत हो जाते हैं।

गंगसर्वज्ञ जानते हैं कि अन्त आ गया है। अचेत भीमदेव को सामन्त की देखरेख में रखकर वे उसे एक नाव तक उठवाकर ले जाते हैं। नाव चौला-सहित कच्छ के कण्ठकोट स्थान के लिए रवाना कर दी जाती है। गंगसर्वज्ञ भगवान की इच्छा का गहरा अर्थ समझते हैं। महारुद्र अब विनाश पर तुल गये हैं, अब उन्हें उनकी इच्छा के प्रति आत्म-समर्पण करना है।

महमूद अपने चुने हुए योद्धाओं के साथ मन्दिर में पहुँचता है और वहाँ उसकी शानदार चमचमाहट से आश्चर्यचकित रह जाता है। शिवराशि अपने को बचाने के लिए मन्दिर की सम्पत्ति उसे देने का प्रस्ताव करता है। सुलतान क्रोधपूर्वक गर्ज कर कहता है—"काफिर, महमूद मूर्तियों का सौदा नहीं करता। वह उन्हें तोड़ता है।" वह द्रोही शिवराशि को एक ओर ढकेल देता है और मन्दिर के भीतरी भाग में घुस जाता है। वहाँ लिंग के सम्मुख श्रद्धेय गंगसर्वज्ञ अविचल भाव से खड़े हैं।

"हट जाओ!" महमूद आदेश करता है।

"भगवान और मैं-दोनों एक, अपरिवर्त्तनीय और अनन्त हैं।" गंगसर्वज्ञ शान्त भाव से उत्तर देते हैं।

महमूद की तलवार चमकती है। उस सर्वोच्च मानव का सिर धड़ से अलग हो भगवान की उस मूर्ति के पास लुढ़क पड़ता है जो उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय थी।

आक्रमणकारी क्षण भर लिंग के सामने विस्मित होकर खड़ा रहता है और फिर अपने वाहक साथी से गदा लेकर ऐसा प्रबल प्रहार करता है कि उसके तीन टुकड़े हो जाते हैं। विश्व की ज्योति बुझ जाती है।

भोज की सेनाओं का सामना होने के भय से महमूद कच्छ होकर भाग निकलता है जिससे उसके बहुत-से आदमी, घोड़े और अन्य सामग्री रास्ते में नष्ट हो जाती है।

आक्रमणकारी के देश से चले जाने पर भीमदेव गुजरात के जीवन को पुर्नस्संगठित करते हैं और ऐसी योजना बनायी जाती है कि पुराने की जगह पहले से भी अधिक शानदार मन्दिर का निर्माण किया जाय

चौला अब खम्भात के राजमहल में रहती है, पर उसकी दशा करुणाजनक है। उसका संसार लुप्त हो गया। वह अब जीवित नरक में वास करती है। उसका हर क्षण गूढ़ अपराध की भावना की मनोवेदना से भरा है। वह भगवान शिव की स्वतःन्यस्त वधू बनी थी, वह क्षण भर की मूर्खता थी, उसने उन्हें नश्वरपार्थिव शरीर में देखा, अब वह उससे गर्भस्थ शिशु प्राप्त कर चुकी है। उसके लिए अब अनन्त की बधू बनने की मुग्धता स्वप्नवत् विलीन हो चुकी है। उसके लिए आत्मसमर्पण करनेवाली नर्तकी का उन्मत्तता-पूर्ण आनन्द गायब हो चुका है। अब वह देवत्वपूर्ण नहीं रह गयी है बल्कि एक ऐसी स्त्री है जो किसी पुरुष से प्राप्त सन्तान का भ्रूणभार ढो रही है—ऐसी रानी जो औपचारिक अस्तित्व में समाप्त हो चुकी है और अब कभी मन्दिर की स्वतंत्र नर्तकी न बन सकेगी—अर्थात् अब वह एक घृणित प्राणी बन चुकी है। उसके जीवन के सभी प्रकाश बुझ चुके हैं और अब वह एक ऐसे जगत में रहती है जो शीत से जम चुका है, और वह हर मानव-सम्पर्क से डरती है।

महीनों बीत जाते हैं। चौला के पुत्र पैदा होता है। खम्भात के राजकुमार के जन्म के इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता है, किन्तु माँ का हृदय टूट चुका है। वह अपने ही जाये बच्चे की ओर देखना नहीं चाहती। वह मरना चाहती है; पर एक पिशाचनी के रूप में इस आशा पर जीवित रहती है कि मन्दिर पुर्नर्निमित होने पर वह अपने भगवान के सामने एक बार, एक ही बार फिर नाचेगी।

अंततः चौला को यह सुखद समाचार दिया जाता है कि सोमनाथ का नया मन्दिर बनकर तैयार हो गया है और शीघ्र ही सब मित्र राजा एकत्रित होकर नये लिंग की स्थापना करेंगे। वह तत्काल प्रभास को प्रस्थान कर देती है—न अपनी परवाह करती है, न बच्चे की। वह तो हर घड़ी अपने लिए उस आनन्दपूर्ण वस्त्र का ताना-बाना बुनने में लगी है जिसे वह भगवान सोमनाथ के लिंग की पुर्नस्थापना के दिन पहनेगी। सामन्त भी इस अवसर पर प्रभास पाटन आता और उससे—अपनी दत्तक बहन से भेंट करता है जोकि उसे जीवन से बाँध रखने वाली एकमात्र शृंखला है।

अन्तिम नृत्य

× × × ×

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा—प्रभास में फिर भारी भीड़ होती है। नया मन्दिर मित्र-राजाओं की उपस्थिति में नये लिंग की स्थापना के बाद 'जय सोमनाथ' के जयनाद से एक बार फिर प्रतिध्वनित होता है।

आज प्रात:काल ही चौला न भीमदेव से अनुरोध करती है कि वे उसे स्थापना के पश्चात् भगवान के सम्मुख नृत्य करने का आदेश दें। राजा क्रुध हो जाते हैं और ऐसी आज्ञा देने से कठोरतापूर्वक इन्कार कर देते हैं। चौला गुजरात की रानी है, वह अब मन्दिर की नर्तकी नहीं है इसलिए अब नाच नहीं सकती, और वह भी सार्वजनिक स्थान में तो बिल्कुल नहीं।

एक क्षण के लिए चौला का दिल बैठा जाता है—जिस एकमात्र आशा के लिए वह अब तक जीती रही है वह समाप्त हुआ चाहती है। तब वह सामन्त की सहायता लेती है।

मन्दिर के नये सभामण्डप में लिंग-स्थापना की रस्म नये सर्वज्ञ के द्वारा संचालित होती है जिसमें पहले प्रार्थना और मंत्रोच्चार होते हैं। यह समाप्त होने पर नये सर्वज्ञ एक नृत्य के लिए आदेश देते हैं। एक क्षण बीतता है, दो क्षण बीतते हैं और फिर तीन क्षण व्यतीत हो जाते हैं। राजागण एक दूसरे की ओर देखते हैं नये मुख्य पुजारी गंगसर्वज्ञ की भवें अधीरता से तन जाती हैं। नर्तकी कहाँ है ?

फिर नूपुर-ध्वनि सुनाई देती है। मृदंग की आवाज गूँज उठती है। नर्तकी सभा-मण्डप में स्वर्गीय अप्सरा की आभा के साथ प्रवेश करती है। उसके हीरक-जड़े परिधान सहस्रों प्रतिबिम्ब फेंकते हैं। उसका मुख-मण्डल एक आवरण से ढका है।

वह धीरे से आगे बढ़ती है जैसे चलने में कष्ट हो रहा हो। किन्तु शीघ्र ही उसके पाँव मृदंग के ताल पर थिरक उठते हैं। गायक अपना वह गान आरम्भ करते हैं जिसमें पार्वती की तपस्या का वर्णन होता है और नर्तकी भी अपने क्षीण, प्रकम्पित और कठिनाई से श्रव्य स्वर में उसमें भाग लेती है।

गाना आगे बढ़ता है। मृदंग की थाप जोर से प्रतिध्वनित होती है। नर्तकी गाते-गाते अपने हाथ इस प्रकार उठाती है जैसे वह फूलों और बिल्वपत्रों की माला गूँथ रही हो।

नुपुर-ध्वनि करते हुए वह पूजा के लिए आगे बढ़ती है। वह गर्भगृह के द्वार पर पहुँचते हुए हाथ जोड़कर झुकती और फिर मूर्ति के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करती है। इसके पश्चात् एक-एक कदम और इंगित के द्वारा पूजा करती है।

राजागण, जो अब तक इस अज्ञात नर्तकी का मुख-मण्डल देखने के लिए अधीर हो उठे थे, अब अपनी अधीरता भूल बैठते हैं। गायक नर्तकी को अपूर्व भावपूर्ण प्रेरणा के साथ नाचते देख गाना बन्द कर देते हैं। केवल मृदंग उसकी नूपुर-ध्वनि करने वाले पगों का साथ देते हैं। सारी सभा पर जादू का जाल-सा तन जाता है। कोई भी नहीं कह सकता कि वह कोई नृत्य है या किसी अनंत प्राणी का तरंगण ! सभी टकटकी बांधकर उस आश्चर्यजनक नर्तकी की ओर देख रहे हैं।

जिस प्रकार नवेली वधू अपने प्रेमपात्र से मिलने के लिए अधीर हो उठती है, उसी भाव से नर्तकी अपनी पूजा समाप्त करती है। फिर अपने कदम और नृत्य से वह भगवान् शिव से प्रार्थना करती हुई मुग्धता के तालपर थिरकती हुई फिर-फिर विनय

करती है। नर्तकी के अंग-अंग से लावण्य की धारा फूट पड़ती है और नूपुर की क्षीणतर ध्वनि शोक-पर्यवसायी प्रतीत होने लगती है।

भीमदेव चित्रलिखे-से होकर उस आकृति, उसके नृत्य और उसके इंगित की ओर आँखें फाड़-फाड़ कर देखते हैं। उन्हें वे कुछ परिचित-से लगते हैं। मुख्य पुजारी के हृदय में एक अज्ञात भय समा जाता है।

नर्तकी भगवान् को प्रसन्न करने के लिए एक अन्तिम प्रयत्न करती है, उसके नृत्य में परेशानी की अथाह गहराई है। उसके नूपुर जैसे रो रहे हों–सिसकियाँ उठती हैं; जो लोग उसे देखते और सुनते हैं वे रो पड़ते हैं।

नर्तकी फिर गर्भगृह के द्वार पर आती है—भगवान् पर प्रभाव डालने का अंतिम प्रयत्न करती है और अपना सिर फर्श पर पटक देती है मानो वह निराशा की साक्षात् मूर्ति बन गयी है। उदात्त आत्मसमर्पण के इंगित के साथ वह मूर्ति के सामने पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। नृत्य की गति धीमी पड़ जाती है। नर्तकी का सिर फर्श को छू-सा लेता है। मृदंग और नूपुर की आवाज भी बन्द हो जाती है।

नर्तकी फिर कुछ-कुछ उठती है, पर फिर साष्टाँग करती है जैसे उसमें सहसा जीवन आ गया हो। वह खड़ी हो जाती है और उसके नूपुर मुग्धतापूर्ण आनन्द से तीव्रता-पूर्वक बजने लगते हैं। उसके भगवान् उसपर प्रसन्न हो गये दीखते हैं। बड़े प्रयत्न से वह इस प्रकार नाच उठती है जैसे हवा में उड़ रही हो, वह आनन्द-विभोर होकर चक्कर काटती है। उसके नूपुर विजय-गर्व से बज उठते हैं। सभी उपस्थित लोग आश्चर्यस्तब्ध रह जाते हैं और नर्तकी ज्यों-ज्यों नृत्य के उत्कर्ष-बिन्दु की ओर पहुँचती है, वे उसकी ओर अधिक उत्सुक दृष्टि से देखते हैं और नर्तकी का मुखावरण सहसा गिर पड़ता है।

नर्तकी के दुर्बल किन्तु सुन्दर मुख-मण्डल पर एक अनन्त सुख की आभा थी। उसकी आँखों में अमर प्रेम की दीप्ति थी। मृदंग बन्द हो जाता है और नूपुर-ध्वनि अब नहीं सुनाई देती।

नर्तकी का सिर गर्भगृह के द्वार पर एक ओर को झुक जाता है। उसका सुन्दर शरीर अब तक एक गठरी का ढेरमात्र रह गया है। भीमदेव के हाथ में तलवार चमक उठती है, किन्तु गंगसर्वज्ञ हाथ उठाकर उन्हें रोकते और नर्तकी की ओर दौड़ पड़ते हैं।

इस सर्वोच्च क्षण में चौला अपने भगवान् की सेवा में अपना सब-कुछ समर्पित कर देती है। उस भयभीत सभा में, जो अब शान्त हो चुकी थी, एक योद्धा की केवल सिसकी सुनाई दी जो अब सभामण्डप से बाहर भागकर अन्धकार में विलुप्त हो गया।

[कुलपति के पत्र संख्या १५० व ५१]

साहित्य, संस्कृति और कला

साहित्य सर्जना के पहिले अनुभूतियों का उद्वेलन और रूप-ग्रहण

अपनी साहित्यिक गतिविधियों में बढ़ते हुए जब कभी मुझे किसी सचमुच के सृजनात्मक प्रयत्न में सफलता मिलती थी तो मुझे एक विशिष्ट अनुभव होता था। पहले तो मेरा मस्तिष्क किसी पात्र अथवा स्थिति पर केन्द्रित हो जाता था; फिर विचार, संवेग तथा इच्छा-शक्ति का उसके साथ एक स्वर से स्पन्दन होने लगता था; इससे सृजनात्मक एकाग्रता की प्राप्ति होती थी। रचना ऐसे में सदा ही एक आशातीत उपलब्धि, एक सन्तोषप्रद सृष्टि होती थी—मुझे कुछ भिन्न ही अनुभव होता था, पहले से कहीं अच्छा—जैसे कि मैं अपने निकट अधिक पहुँच जाता होऊँ।

तीव्र इच्छा अथवा अविरत व्यापृति के द्वारा जब मैं सृजनात्मक मनःस्थिति में पहुँचता था और ऐसा प्रायः होता रहता था—तो किसी सजीव पात्र अथवा किसी रोचक स्थिति का जन्म शब्दों के माध्यम से हो जाता था। कभी-कभी, साहित्यिक गतिविधियों से बिलकुल अलग, कोई स्पष्ट अनुभूति अथवा कोई प्रबल माँग उसी रूप में होती थी और मुझे उसे स्वीकार करना पड़ता था अथवा उसकी आज्ञा-पालन करना पड़ता था, मेरे लिए कोई दूसरा चारा न रहता था।

मैं प्रायः इन अनुभूतियों का श्रेय अपनी संवेदनशील प्रकृति अथवा अपने आरम्भिक वातावरण को देता था। मुझे संसार या सांसारिक व्यवहार त्याग देने का मोह कभी नहीं हुआ; मैं अनुभव करता था कि दैनिक जीवन में ही आत्मा की झांकी मिलेगी।

ऐसा ही एक और अनुभव जो मुझे बिलकुल आरंभिक दिनों से प्रायः होता रहता था—यों था : मैं किसी विचार से अभिभूत हो उठता था जो उस समय मुझ पर अधिकार कर लेता था। मेरे अस्तित्व के प्रत्येक तन्तु से उसकी अभिव्यक्ति की व्यग्रता प्रकट होती थी। मेरी इयत्ता उसी विचार में विलीन-विसर्जित हो जाती थी। इस गतिशील एकता का आवाहन करना मैंने सीख लिया। तब यह उद्दीप्त विचार शब्दों में मूर्त्त हो उठता था; जो प्रायः जीवन को किसी भिन्न धारा में प्रवाहित करता था; कभी-कभी शब्दों में व्यक्त प्रतिमा जीवन में सच्ची उतरती थी—यद्यपि ऐसा वर्षों बाद होता था।

बिलकुल आरम्भिक दिनों में जितका मुझे स्मरण है, मुझे एक दूसरी अनूभूति हुई। तीव्र अवसाद, संवेगों का तनाव और पराजय की सूक्ष्म चेतना—इनके बाद सदा ही एक भिन्न व्यक्तित्व का आकस्मिक विकास हो उठता था। यह व्यक्तित्व कहीं से उठता था, मुझ पर छा जाता था और ऐसे निर्णय देता था, जिनका मुझे पालन करना ही पड़ता था।

मेरे संवेगों में उथल-पुथल होती रहती थी। मैं किसी ऐसी वस्तु से पराभूत हो जाता था जो मेरे चेतन मस्तिष्क को चुनौती देने और उससे परे होने का प्रयास करती थी। इस प्रकार मुझे परोक्ष सत्ता का धुंधला आभास हो जाता था।

: 'मेरी बेचैनी' से :

× × ×

कला और साहित्य का उद्देश्य

साहित्य तथा कला में वस्तुवाद की विभीषिका

कला और साहित्य का वास्तविक लक्ष्य है––सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् (एक शब्द में 'सम्पूर्ण सौन्दर्य') का अनुभव, अन्तदर्शन और सृजन। इसकी उपलब्धि केवल पत्थर और रंग के माध्यम से नहीं किन्तु व्यक्तित्व और तदुपरान्त सम्पूर्ण जीवन के माध्यम से होती है। और इस उद्देश्य को सिद्ध करना चाहिए कला और साहित्य की सुन्दर कृतियों के अध्ययन से, सुन्दर विचारणाओं के मनन से, सुन्दर जीवन-वृत्तों के मूल्यांकन और उनके सहारे जीवन के सौन्दर्य की और अपनी प्रवृत्ति से तथा जीवन-सौन्दर्य की अनुभूति से 'सम्पूर्ण सौन्दर्य' में निवास करने की ओर अपनी प्रगति से। यही रूपान्तरण की प्रक्रिया है।

वस्तुवाद एक ऐसी प्रक्रिया है जो कला और साहित्य की कुरूप कृतियों से आपको कुरूप विचारों की ओर कुरूप विचारों से कुरूप जीवन-वृत्तों की ओर, कुरूप जीवन-वृत्तों से 'सम्पूर्ण कुरूपता' की ओर अग्रसर करती है। और जब कुछ वर्ग निश्चयपूर्वक ऐसी कुरूपता पर आधारित अपनी नीतियों और योजनाओं के प्रति अन्ध-भक्ति के लिए प्रेरित करते हैं तो वे आत्मा का जीवन नष्ट कर देते हैं तथा लोगों और देशों को विनाश की ओर ले जाते हैं।

: 'जो मैं विश्वास करता हूँ' से :

× × × ×

साहित्य की मूल-प्रेरणा : अनुभूति

अनुभूतिहीन साहित्य प्रचार या प्रशस्ति मात्र होगा

साहित्य तभी वास्तविक हो सकता है जब उसमें प्रगाढ़ मानवीय भाव हों; उनका उद्‌भव गहन मानव-अनुभूतियों से हुआ हो। साहित्यिक कला का मुख्य विषय महत्वाकांक्षी मनुष्य है; उसके जीवन की संगतियाँ और संघर्ष, उसके जीवन के सौन्दर्य और क्लेश, उसके एक मात्र लिखने योग्य विषय हैं। फॉकनर ने कहा था कि मनुष्य को सहन-शक्ति तथा स्थिरता प्रदान करने के लिए कवि का स्वर चट्टानों और स्तंभों का स्वर हो सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक विषय या तो प्रचार है या प्रशस्ति। उसमें उस आत्मा का

अभाव होता है जो सार्वकालिक सर्वकालीन और सार्वभौमिक प्रभाव की क्षमता रखती हो।

जब गांधी जी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया तो हमारे एक गुजराती कवि ने "भंगिनी बंगड़ी" (भंगिन की चूड़ियाँ) शीर्षक कविता लिखी पर सम्भवतः उस कवि ने जीवन में कभी किसी भंगिन से बात भी नहीं की होगी। आज बीसों कविताएँ और कहानियाँ ग्राम्य-सौन्दर्य पर लिखी जा रही हैं पर उनके रचियता बम्बई, अहमदाबाद अथवा कानपुर जैसे भीड़-भाड़ वाले शहरों में अट्टालिकाओं में बैठकर उस जीवन का चित्र खींच रहे हैं।

('क्रिकेट-प्रेमी theatricals' से)

× × × ×

वन महोत्सव का सांस्कृतिक महत्त्व

जब मुंशी जी को वनमहोत्सव का विचार सूझा

सन् १९५० से जब वह मेरे जीवन का एक अंग बना, वनमहोत्सव का कैसा विकास हुआ है। उस समय में बम्बई की यात्रा पर था और केन्द्रीय मंत्री के रूप में अपना पहला भाषण लिख रहा था। अचानक, मेरे सामने वृक्ष आ गये (वे वृक्ष जिनके विषय मे वैदिक ऋषियों ने गाया था) "देवता, जलाशय, पौधे वनवृक्ष हमारी प्रार्थनाएँ स्वीकार करें" नैमिषारण्य के वृक्ष, जिनकी छाया में हमारी संस्कृति का जन्म हुआ था। वे वृक्ष जिन्हें लगाने से लगाने वाले को प्रतिवृक्ष १० पुत्रों का धर्म-लाभ होता है। वे वृक्ष जिन्हें शकुन्तला नित्य प्रति भोजन करने के पूर्व सींचती थी, जिनकी कोपलों को वह इसलिए न तोड़ती थी कि कहीं उनकी भावनाओं को चोट न पहुँचे। वह वट-वृक्ष, जिसका सावित्री के आर्शीवाद पाने के लिए सुन्दर पति पाने के लिए, पति से पहले मृत्यु पाने के लिए, पुत्र-पौत्र पाने के लिए लाखों स्त्रियाँ युग-युग से जिसकी पूजा करती रही हैं। वृन्दावन और नन्दवन के वृक्ष तथा कुंज।

फिर कल्पतरु आता है (इच्छा-वृक्ष) हमारी समृद्धता का प्रतीक; देवदारु वृक्ष जिसे घायल होने पर भगवान शंकर का दत्तक पुत्र बनने का सौभाग्य मिला-जिसकी परिचर्या पार्वती ने स्वयं की; बेल वृक्ष जो शिव को पवित्र है; अक्षयवट जिससे कूदकर पापी भी मुक्त हो सकता है; बोधिवृक्ष जिसकी शान्तिपूर्ण छाया-तले बुद्ध भगवान को 'बोध' प्राप्त हुआ; पीपल, लाखों लोग ब्रह्मा, विष्णु, महेश की प्रतिमा के रूप में जिसकी पूजा करते हैं। पारिजातक और तुलसी जिन्हे श्रीकृष्ण का स्नेह प्राप्त हुआ और असंख्य घरों में जिनकी पूजा होती है। गीता में कहे हुए श्रीकृष्ण के शब्द मुझे स्मरण आये: "वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ।"

और मैंने वनमहोत्सव मानने के लिए, देश के नाम अपील लिखी। जनता पर इसकी आश्चर्यजनक रूप से प्रतिक्रिया हुई। उसके हृदय का एक मूक तार छू गया था।

('वन का मोह' से)

× × ×

भारतीय संस्कृति के तीन मूल मन्त्र

हमारे सांस्कृतिक मूल्यों के स्थायित्व की नींव

अब हम भारत को लें। लगभग तीन हजार वर्षों से भगवद्गीता में निहित मूल्य मान्य रहे हैं। प्रत्येक पीढ़ी में, महानतम सृजनात्मक शक्ति से युक्त व्यक्तियों को इन मूल्यों के लिए जीने में आत्म-परितोष मिला है। इसमें उन्होंने बल और आनन्द पाया है। उदाहरण के लिए पिछली शताब्दी को लीजिए। पाश्चात्य वस्तुवाद के विनाशकारी प्रभाव के बावजूद, देश के महान निर्माताओं—जैसे श्री रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक, श्री अरविन्द और गाँधी जी—ने तथा पीछे लाखों साधारण लोगों ने इन मूल्यों के लिए जीने में आत्म-परितोष पाया है। यही कारण है कि बदलती हुई परिस्थितियों, दुःखद परिवर्त्तनों और विविधा संस्कृति के बावजूद भारत की जीवन-शक्ति कभी नष्ट नहीं हुई; ये मूल्य सदा ही हमारे लिए सार्थक और सोद्देश्य रहे हैं।

अपने सबसे बुरे ऐतिहासिक युगों में, भारतवर्ष ने अपने पुनरुत्थान के दर्शन भक्ति-आन्दोलन के रूप में किये, जिसका उद्गम हमारे आधारभूत मूल्यों में था। इसी तरह पिछले १५० वर्षों में हमने आधुनिक पुनरुत्थान देखा है, साहित्य और कला के नवीन दर्शन का उत्साहपूर्ण पुनर्जन्म देखा है, राजनैतिक संघटन में महान प्रयोग देखे हैं, स्वतंत्रता की प्राप्ति देखी है और अपने आधारभूत मूल्यों को विश्व-जीवन के मंच पर प्रतिष्ठित करने के अपने नैतिक प्रयत्न देखे हैं। ये सब हमारी संस्कृति की उपज हैं।

वह मूल विचार क्या है जिसने हमारी संस्कृति की जीवनशक्ति को युगों से अक्षुण्ण बनाये रक्खा है? बीज रूप में इसका आधारभूत स्वरूप क्या है?

यह विचार मानव-व्यक्तित्व के चरम समग्रत्व की, जीवन के उद्देश्य और लक्ष्य के रूप में पुष्टि करता है।

विस्तार में न जाकर मैं इस विचार के तीन मुख्य पहलुओं का उल्लेख करूँगा।

(१) मनुष्य शक्ति और गौरव का निश्चित केन्द्र है, स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उसे वह शक्ति प्राप्त है जिससे वह इसी जीवन में आत्म-दर्शन कर सकता है, जिसे हम समाधि, निर्वाण, मोक्ष, कैवल्य या किसी नाम से भी पुकारें।

(२) नैतिकता से रक्षित और पोषित जीवन, उस नैतिकता से जो सनातन तत्त्व-सी निश्चित और निर्धारित है और जिसके विविध पहलुओं में सत्य और अहिंसा भी सम्मिलित हैं।

(३) मनुष्य का उच्चतम सौभाग्य है 'सनातन' (या आप चाहें तो उसे ईश्वर भी कह सकते हैं) में आस्था, और उसके दैवी उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बनने की उसकी तत्पर आकांक्षा।

('हमारी पैतृक सम्पत्ति : कार्यन्वय में' से)

× × × ×

पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी की सांस्कृतिक झाँकी

वृन्दावन, चैतन्य और अकबर

पन्द्रहवीं शताब्दी में देहली की सल्तनत उत्तर भारत के पवित्र स्थलों में विनाश का प्रसार कर रही थी। फिर भी, वृन्दावन में जहाँ श्रीकृष्ण ने गोपियों के साथ अपना बचपन बिताया था, भारतवर्ष का हृदय स्पन्दित था। जहाँ भी राधा-कृष्ण के गीत गाये जाते थे—और वे भारत के प्रत्येक भाग में गाये जाते थे—अथवा, जहाँ भी विष्णु की उपासना की जाती थी और भगवतगीता या भागवत का पाठ किया जाता था, वृन्दावन इस जीवन में प्राप्त आनन्द और उस जीवन में प्राप्य मुक्ति का, जीवित प्रतीक था।

पीढ़ी दर पीढ़ी यात्री लोग देश के प्रत्येक भाग से वहां आते थे, उत्तर भारत में विशेषतः (भाद्रपद के पवित्र महीने में : पश्चिम भारत में श्रावण), जब श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

१४वीं शताब्दी में नवद्वीप (नादिया) में, जो बंगाल में विद्या का प्राचीन केन्द्र था, उत्तरकालीन बौद्ध धर्म के कुछ वर्गों ने मोक्ष के एक साधन के रूप में प्रेम की प्रतिष्ठा की। देश का वह भाग भी एक श्रेष्ठतम भारतीय कवि चंडीदास के भावमय प्रेम-गीतों से गूंज उठा।

सिकन्दर लोदी के शासन-काल में माधव का शिष्य माधवेन्द्रपुरी नामक एक दशनामी सन्यासी, जिसके कानों में चंडीदास के गीत गूंज रहे थे, वृन्दावन आया। यमुना के किनारे, राधा और श्रीकृष्ण के स्वर्गिक प्रेम से पवित्र कुंजों में वह विद्वान साधु किसी वियोगिनी बाला की भाँति गीत गाता हुआ और अपने प्रेमी को खोजता हुआ घूमता था।

माधवेन्द्र के तीव्र प्रेम ने उनके ज्ञान और भक्ति को मिश्रितकर एक ज्वाला का रूप दिया जिससे बंगाल के भक्तिवादी वर्गों को नया जीवन मिला। उन्होंने वृन्दावन में एक मन्दिर बनवाया जो बंगाल के भक्तों के लिए आकर्षण का केन्द्र बन गया।

विश्वम्भर अथवा निमाई (प्यार का नाम) का जन्म फरवरी १४८६ में एक पवित्र और विद्वान ब्राह्मण-परिवार में नादिया में हुआ था। जग वह बड़े हुए तो सुन्दर, तेजस्वी तथा प्रतिभाशाली युवक होने के कारण उन्हें सबसे प्रशंसा मिली। विवाहित होकर उन्होंने घर बसाया और एक टाल चलाने लगे।

कुछ वर्षों बाद, जब निमाई अपने पिता की अन्त्येष्टि-क्रिया के सम्बन्ध में गया गये तो ईश्वरपुरी नामक एक माधवेन्द्र के शिष्य ने उन्हें भक्ति के रहस्यों में दीक्षित किया। निमाई उसकी गहराइयों में प्रवेश कर गये; धुँधले स्वप्नों ने उनमें श्रीकृष्ण का प्रेम जागृत कर दिया। अभिमान और संसार के प्रति मोह का उन्होंने त्याग कर दिया। उन्होंने कहा—"मुझे छोड़ दो। में दुनियाँ का नहीं हूँ। मैं वृन्दावन जाऊँगा और अपने प्रभु से भेंट करूँगा।

प्रेम-विह्वल, भग्न-हृदय किशोरी की भाँति श्रीकृष्ण के लिए तड़पते हुए वह अपने स्वामी के गीत गाते थे, उनके लिए नाचते थे, विरह-व्यथा से आक्रान्त होकर अचेत हो जाते थे, उन्हें प्राय: अधिक आत्मानंदवश मूर्च्छा आ जाती थी। उनकी माता ने सोचा-वह पागल हो गये हैं। किन्तु भक्तों ने अधिक समझदारी दिखाई। उन्होंने कहा—"वह एक देवता थे।"

भक्तों का एक समूह शीघ्र ही इस युवक, देवता-सदृश साधु के चारों ओर एकत्र हो गया और उसके साथ स्थान-स्थान का भ्रमण करने लगा। यह साधु भक्तिपूर्ण कीर्त्तनों का आयोजन भी करते थे, जिनमें वह और उनके अनुयायी संगीत के सहारे अविरल रूप से नाचते और गाते थे। निमाई अपने प्रभु के चरणों में उन्मत्त हो उठते थे और उनके अनुयायी उनमें स्वयं श्रीकृष्ण का दर्शन करते थे।

निमाई ने कृष्ण चैतन्य के नाम से १५१० ई० में सन्यास ले लिया और अपने अनुयायी लोकनाथ को वृन्दावन को भक्ति का केन्द्र बनाने के लिए भेजा। पुरी में थोड़ा रुक कर, उन्होंने सम्पूर्ण भारत की एक यात्रा की, जिसमें उन्होंने श्रीकृष्ण से सम्बन्धित मन्दिरों और पवित्र स्थलों के दर्शन किये। वह जहाँ भी गये, उनके प्रेरक व्यक्तित्व और श्रीकृष्ण के प्रति तीव्र प्रेम ने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के हृदय में भक्ति की ज्वाला प्रज्ज्वलित करदी।

जहाँ भी वे गये, लोगों ने उनका अनुगमन किया। वेदान्त में संलग्न विद्वान उनके भक्त बने; धनिकों ने उन्हें तथा उनके दल को सभी सुविधाएँ प्रदान कीं और राजाओं ने जहाँ भी उन्होंने विश्राम किया, वहाँ मन्दिर बनवाये।

अन्त में, अपनी माता की आशाओं का आज्ञा-पालन करते हुए, वह जगन्नाथ पुरी में रहने के लिए गये। समय-समय पर उनके अनुयायियों के जत्थे भारतवर्ष के सभी भागों से आकर वहाँ एकत्र होते थे। नगर के मार्गों पर से गुजरने वाले चैतन्य के कीर्त्तन के जत्थे बड़े आकर्षण की वस्तु बन गये।

× × ×

गौंड के नवाब के दो प्रमुख अधिकारी सकर मलिक और दबीर खां एक बार चैतन्य से उनकी यात्रा में मिले और इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने पद, धन और धर्म का त्याग कर दिया। स्वामी का आदेश पाकर वे सनातन और रूप के नाम से वृन्दावन में रहने के लिए आ गये।

लगभग १५०९ ई० में वल्लभाचार्य गोस्वामी ने, जो भक्त की अपेक्षा ज्ञानी थे वृन्दावन में श्रीनाथ जी के मन्दिर की नींव डाली। उन्होंने पुष्टिमार्ग-सम्प्रदाय को जन्म दिया जिसने बाद में चलकर उन आठ महान कवियों को प्रेरणा दी, जिनमें प्रमुख अमर कवि सूरदास थे।

२७ अप्रैल १५२६ ई० को बाबर ने दिल्ली को अपने नवविजित साम्राज्य की राजधानी बनाया और भारतवर्ष के पवित्र स्थलों को अपेक्षाकृत शान्ति मिली।

१५५६ में महान अकबर मुगल सम्राट् हुआ और भारतवर्ष में एक नया युग

आरम्भ हुआ। वह विदेशी एक राष्ट्रीय शासक बन गया। उसने ऐसी उदार परम्पराएँ प्रतिष्ठित कीं जिनसे भक्ति-पुनरुत्थान समय पाकर वसन्तकालीन वैभव से परिपूर्ण हो उठा।

अद्वितीय नीतिज्ञता के साथ अकबर ने हिन्दुओं की वे अक्षमताएं दूर कर दीं, जिनके नीचे वे पिस रहे थे। वह वृन्दावन गया और उसका प्रिय सेनापति मानसिंह गोस्वामी रूप और सनातन के भतीजे जीव गोस्वामी का शिष्य हो गया। उसी की प्रेरणा से गोविन्द जी के मन्दिर का निर्माण हुआ। चैतन्य कितनी बड़ी शक्ति थे इसके प्रतीक के रूप में और अकबर की महानता के जीवित प्रमाण के रूप में यह मन्दिर अब भी अक्षत खड़ा है।

('स्वामी जगन्नाथ' से)

अध्यात्म और चिन्तन

क्या ईश्वर जैसी कोई चीज़ हैं ?

(मुंशी जी की व्यक्तिगत अनुभूति, जिसने उन्हें अर्जुन की भांति उसका 'निमित्त मात्र' बनने की प्रेरणा दी ।)

मुझे एक दूसरा अनुभव हुआ। चिन्ताएँ मुझे व्यथित करती थीं, अधैर्य और भय-अशान्ति तथा तनाव उत्पन्न करते थे; जिन्तु जब मैं प्रेरणा का आवाहन करता था और वह सुलभ हो जाती थी तो चिन्ताओं और अधैर्य का बहुत अंशों में उन्मूल हो जाता था। यह आवाहन या तो प्रार्थना का या एकाग्रता का रूप लेता था या किसी ऐसी वस्तु का जो मुझसे श्रेष्ठ होती थी, और वह सदा कोई अकल्पित समाधान प्रस्तुत कर देती थी। यह 'कोई वस्तु'—मैंने अनुभव किया—अवश्य ही ईश्वर होगी।

ईश्वर की इच्छा के प्रति स्वयं को समर्पित कर देने का मेरा स्वभाव बढ़ा; क्योंकि इससे शान्ति, शक्ति और हर्ष मिलता था। इससे ऐसी स्थितियाँ बनती थीं, जिनमें मुझे अनुभव होता था कि ईश्वरेच्छा अभिव्यक्त हुई है। जब यह अभिव्यक्ति होती थी तो मेरी कामनाओं और उनकी पूर्ति का अन्तर लुप्त हो जाता था। मैंने पाया कि जीवन संघर्ष नहीं है, पूर्ति है। द्वित्व ने एकत्व को जन्म दिया। मेरी स्वतंत्र विचार-धारा और मेरा भाग्य-दोनों एक में विलीन हो गये।

इस अनुभव को मैं ईश्वर का सामीप्य कहता था, और इससे मेरे मन में ईश्वर का (निमित्त) साधन बनने की इच्छा स्फुरित हुई, उसी अर्थ में जिसमें श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—'निमित्त मात्रं भव सव्य-साचिन्।''

मुझे ईश्वर की एक असाधारण और युक्ति-युक्त परिभाषा का स्मरण आ रहा है, जो जुंग ने अपनी एक पुस्तक में दी है। उनके अनुसार ईश्वर हमारी अपनी अभिलाषा है, जिसे हम स्वर्गिक श्रद्धाएँ समर्पित करते हैं; एक ऐसा अन्तर्मुखी प्रतिरूप है जिसके चारों ओर भावना का सन्निवेश होता है। इस प्रकार बुद्धि अनुभूति को देखती है। ऊँचे धरातल की ओर ले जाने वाली अनुभूति आत्म-वंचना से अधिक कुछ नहीं है। आत्मा के सम्बन्ध में बुद्धि बहुत कम सहायक है। वह केवल मनुष्य में धुन उत्पन्न कर देने की क्रिया करती है। ईश्वर को अभिलाषा कह कर मैं अधिक बुद्धिमान् नहीं बन जाता, निश्चय ही पहले से अच्छा नहीं बनता। और ईश्वर अभिलाषा नहीं है। कभी-कभी, केवल उसकी अभिलाषा ही नहीं की जाती बल्कि उसका आभास होता है, उसका प्रत्यक्ष-बोध होता है, उसकी प्राप्ति होती है और अधिक शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों को उसकी

अनुभूति होती है। उससे हमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति होती है, जो पोषण करती है, शक्ति देती है और निर्माण करती है।

किन्तु यह आनन्द ऐसी खोज के बाद ही मिलता है जो विनम्रता से आरम्भ होती है और बुद्धि की दृष्टता को पार कर जाती है।

इस आनन्द के कई स्वरूप हैं : स्वतंत्रता, प्रकाश, सौन्दर्य, प्रेम और सौख्य। इसलिए जो उत्कंठा इसकी खोज करती है, उसे आधारभूत महत्वाकांक्षा कहना अधिक समीचीन होगा, क्योंकि वह मनुष्य को शेष सभी सृष्टि से विशिष्ट सिद्ध करती है। सम्पूर्ण इतिहास में मनुष्य की इस उत्कंठा का दमन कभी नहीं हुआ।

कोई भी साधन प्रयोग में लाए जायं, यह उत्कंठा नष्ट नहीं की जा सकती। क्योंकि वैसी दशा में, मनुष्य या तो कुंठित हो जाएगा या राक्षस बन जाएगा, और यदि इन दो में से कोई स्वरूप उसे मिला तो क्रमशः ह्रास होते-होते वह कीट रह जाएगा। किन्तु यह विकास नहीं है, उसका अन्त है।

इस महत्वाकांक्षा का पोषण करना; सम्बन्ध की सीमाओं—क्रोध और भय—से ऊपर उठकर इसे शक्ति देना; ईश्वर के सामीप्य की निरन्तर अनुभूति के द्वारा स्वयं का रूपान्तरण करना; ईश्वर के मात्र साधन-रूप में काम करना और इस प्रकार स्वयं को अधिक विस्तृत 'स्व' में रूपान्तरित करना; और ऐसे रूपान्तरण के द्वारा स्वयं जीवन को ही रूपान्तरित कर देना : मनुष्य के भाग्य को अनुभव करने का यह एकमात्र ढंग है। यह आत्म-परितोष है। वास्तविक विकास का यह मार्ग है।

यह सच्चा धर्म है और इसके बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता।

('मेरी बेचैनी' से)

हमारे देवता 'हर हर महादेव' और 'श्रीकृष्ण शरणं मम'

शिव की पूजा की प्रवृत्ति पर भी मैंने विचार किया। यह देवता 'ईशन' थे, महादेव थे उस ब्राह्मण युग के; मोहनजोदड़ो के पशुओं के स्वामी 'पशुपति' थे, श्रेष्ठतम ईश्वर थे, जिन्हें विष्णु के 'अवतारों' तक ने पूजा, नाग, भारशिव, वाकाटक, राष्ट्रकूट, चालुक्य और परमार वंशों के विजेताओं के वे 'कुलदेवता' थे; कालिदास-जैसे कवियों के प्रिय 'इष्टदेवता' थे। वे शिव ही थे जिन्होंने वीर राजपूतों और साहसी मराठों को आगभरी प्रेरणा दी, जिन्होंने कैलाश और केदारनाथ से दक्षिण में रामेश्वरम् तक सैकड़ों और हजारों गांवों को सान्त्वना तथा शक्ति दी और अब भी देते हैं। मार्गों के किनारे बिना सीमेंट के पत्थरों से बने अनगढ़ मन्दिरों में उनकी पूजा होती है; तांबे के पात्र में प्रतिष्ठित घरेलू मूर्त्तियों में उनकी पूजा होती है; सोमनाथ और काशी-विश्वेश्वर-जैसे मन्दिरों में उनकी पूजा होती है; अमरनाथ में स्थित एक हिम-प्रतीक में उनकी पूजा होती है; उनके निवास-स्थान कैलाश के एकान्त और गरिमामय सौष्ठव में उनकी पूजा होती है। किन्तु उनका मन्दिर सदैव निर्धनों और धनिकों के लिए समान रूप से खुला रहता है। उनका आराधक कैसा ही पापी क्यों न हो, उनके चरणों पर सिर धर सकता है और इस जीवन में शुद्धि तथा अगले जीवन में मुक्ति पा सकता है।

जब वीरत्व ने भारत का हृदय आन्दोलित किया, शिव उसकी सहायता को आये; जब उसका वीरत्वपूर्ण उत्साह भंग हुआ तो भारत श्रीकृष्ण की ओर—उनके नृत्य और वंशी के संगीत के प्रेम की ओर मुड़ा। जब हमने विजय पायी और प्रतिरोध किया तो 'हर हर महादेव' का शब्द हमारे ओठों पर रहा, (जब हमें अपनी आत्मा की रक्षा करनी हुई तो हमने प्रार्थना की) "श्रीकृष्ण शरणं मम", श्रीकृष्ण मेरे शरण-दाता हैं।

('कुलपति-शिविर' से)

बद्रीनाथ की तीर्थ भूमि—जो चिर पहचानी सी लगती है और नारद—जो इस भूमण्डल—ख मण्डल पर सदा मस्त मौला घूमा करते हैं।

बद्रीनाथ में मैंने अनुभव किया जैसे कि मैं अपने ही पुराने, बहुत पहले के घर में आया होऊँ—शायद यह स्थान मुझे पूर्व जन्म में अत्यन्त ही प्रिय रहा होगा क्योंकि मुझे यहां की प्रत्येक वस्तु जानी-पहचानी लगी।

यज्ञोपवीत के दिन मैंने जो मुख्य बातें सीखनी आरम्भ की, उनमें एक थी—ऋग्वेद का प्रसिद्ध पुरुष सूक्त। चूंकि नारायण ऋषि उक्त मंत्र के द्रष्टा हैं, इसलिए उसी समय से में उनसे परिचित हूं। वह उत्तराखण्ड के प्रधान देवता भी हैं, वैदिक और महाकाव्य-साहित्य में अन्य सभी देवताओं से अधिक उनकी अभिवन्दना की गयी है। ऐतिहासिक रूप से वे प्रथम मानव समझे जाते हैं, जिन्हें विष्णु का अवतार स्वीकार किया गया। लेकिन यहां मैं संशयपूर्वक ही कुछ कह रहा हूं, ऐसे मामलों का अधिकारी जानकार मैं नहीं हूं।

सबसे पहले बद्रीनाथ आने वाले व्यक्ति मनु थे। उनकी रक्षा के लिये मत्स्यावतार के रूप में विष्णु ने उनके पोत को बाढ़ के पानी के ऊपर स्थित रक्खा था। मनु अपने साथ सात ऋषि भी लाये थे—जो अब स्थायी रूप से सप्तर्षि-मंडल में स्थित हैं। उनमें एक मेरे आदि पूर्वज भृगु थे, यदि उन्होंने स्वर्ग से धरती पर अग्नि लाने की चतुरता न दिखाई होती तो सभी लोग ठंडक से मर जाते। प्रलय-काल से जो लोग बचे और यहाँ बसे, उन्होंने भृगु की लाई हुई अग्नि से उष्णता पाई और प्रसन्नतापूर्वक नये सिरे से जीवन आरम्भ किया। यहाँ से मानव-जीवन के सुख-दुःख की गाथा आरम्भ हुई। सम्भवतः अब आप बद्रीनाथ में मेरी सहज-जात रुचि की कल्पना कर सकते हैं।

नारायण ऋषि अपने अभिन्न साथी नर के साथ यहां रहते थे, और देवर्षि नारद उनकी सेवा करते थे। सभी ऋषियों में, नारद मुझे कहीं अधिक आकर्षक लगते हैं। जैसा कि आप जानते हैं, वह एक हाथ में वीणा दूसरे में करताल लिये, समस्त ब्रह्मांड में और वायु-मंडल में घूमते रहते हैं। उनके पावों के घुँघरू मन्द-मन्द बजते रहते हैं। कभी-कभी हर्षपूर्ण मनःस्थिति में होने पर, मैं नींद में उनका संगीत सुनता हूं। वह युग-युग से ईश्वर का गुणगान किया करते हैं। जब-तब वे गद्यमय विष्कम्भक को भी सहज ही अपना लेते हैं। वे देवताओं के भ्रमणशील दूत के रूप में कार्य करते हैं। कभी-कभी शरारतभरी गैर जिम्मेदारी से वे दो देविताओं में अनबन कराने की क्रीड़ा में भी निरत हो जाते हैं।

किन्तु यदि उनकी ये क्रीड़ाएं न हों तो स्वर्गलोक की आनन्दहीन एकरूपता में जीवन स्फुरित कर देने वाली कोई वस्तु ही न रह जाय। उस स्वर्ग में जहां न जन्म होता है, न मृत्यु होती है, जहां विवाह सदा के लिए स्थायी अमिट होते हैं, तलाक भी नहीं हो सकते।

जैसा मैंने कहा, नारद मुनि के साथ मुझे कोई घबराहट नहीं होती किन्तु अपने सुप्रसिद्ध ऋषियों में से कुछ दूसरों के साथ ऐसा नहीं हो पाता। यदि उनसे मैं कभी मिलता तो निश्चय ही मैं घबरा जाता; वे इस बात का ध्यान रखते कि मुझे मेरी कमियों के विषय में याद दिला दी जाय और मुझे निरन्तर यह भय बना रहता कि कहीं ये मुझे शाप न दे दें, जैसा कि वह आवश्यकता से अधिक करते रहते हैं; और यह बात सभी को विदित है। आप शकुन्तला के विषय में जानते ही हैं। यदि नहीं जानते तो अधिक अच्छा है कि आप कालिदास को पढ़ें। एक बार दुर्वासा ऋषि शकुन्तला के द्वार आये तो प्रेम-विह्वल अवस्था में वह उनका स्वागत करना भूल गयी। और उस बेचारी प्यारी लड़की के जीवन को उन ऋषि महोदय ने कैसा कष्टमय और कितना कंटकाकीर्ण बना दिया।

लेकिन नारद बिलकुल भिन्न हैं। मैं जानता हूं कि यदि उनसे मेरी भेंट हो तो मैं उनकी अनुमति लिये बिना ही उनसे वीणा लेने की इच्छा करूं और उसे बजाने लगूं। मैं जानता हूं कि वह बुरा नहीं मानेंगे, और मानेंगे भी तो मुझे शाप नहीं देंगे। वास्तव में नारद की रचना इसलिए हुई थी कि वह धरती पर हम लोगों को कुछ अधिक विनोदी बनने में सहायता करें।

मुझे आशा है कि आप मेरी बात को हल्का नहीं समझेंगे, मैं यह बात नितान्त गंभीरता पूर्वक कह रहा हूं। दूसरे देशों के देवता और ऋषि गम्भीर और चिन्तामग्न होते हैं, वे हमारी दुनियां से परे किन्हीं संसारों से प्रेम करते हैं। यह बात भारत के देवताओं और ऋषियों पर लागू नहीं होती। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमें दी गयी शिक्षाएं कहती हैं—यह सारी सृष्टि स्वर्गिक खेल (विनोद) है। यदि हम स्वयं ही विनोदी नहीं होंगे तो उस "स्वर्गिक" (ईश्वर) को कैसे पा सकेंगे?

('हमारा कालेज' से)

पिण्ड दान

दिवंगत व्यक्तियों की स्मरण-प्रतिमाएँ

जब मैं ब्रह्मकपाल गया तो मुझे बरबस अपने उन प्रियजनों की स्मृति हो आयी जो मुझे सदा के लिए छोड़ गये हैं। इसलिए मैंने तत्पर हृदय से सबको पिण्डदान दिया, अपनी दिवंगता पत्नी और माता-पिता को, परिवार के दोनों पक्षों में आने वाले अपने पूर्वजों को, अपने निकट सम्बन्धियों और उनके पूर्वजों को, अपने सभी गुरुओं और उनके पूर्वजों को और समान रूप से अपने सभी स्वर्गीय मित्रों तथा शत्रुओं को। जब मैंने पिण्डदान किया तो वे प्रतिमारूप में मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठे, वह सरल नारी जिसने मेरी पूजा की थी और मरते समय भी जिसके होठों पर मेरा नाम था, पूजनीया माता जिन्होंने मुझे प्यार किया था और जो केवल मेरे लिए जीती थी, पिता जिन्हें मुझसे बड़ी-

बड़ी आशाएं थीं किन्तु किसी भी आशा के पूर्ण होने के पहले ही जो स्वर्ग सिधार गये थे, रुष्ट चाचा जिन्होंने कुलदेवता को चन्दन के टुकड़ें से पीटा था, क्योंकि वह सन्तानहीन थे, बाबा जिन्होंने कैप्टेन ग्राण्ट्रम (बाद में जिसे १८५७ के विप्लव में प्रसिद्धि मिली) की नौकरी छुड़ा दी थी। वह धृष्ट अंग्रेज उन्हें 'धूर्त्त अधिवासी' कहता था। वह बुद्धिमान पूर्वज जिन्होंने सुन्दर फारसी में 'विवेक-सार' नामक विस्तृत ग्रन्थ लिखा था और अपने शब्दों के अनुसार जो 'अज्ञान के एक कण' से अधिक नहीं थे, अपने उन 'उस्ताद' की तुलना में जो कि 'ज्ञान-सिन्धु' थे, दूसरे पूर्वज जो 'बादशाहे-आलम' (संसार के स्वामी) के जन्म-दिन पर उन्हें एक कविता समर्पित करने के लिए दिल्ली गये थे और कुछ आनों का शानदार पुरस्कार पाया था, वह गुरु जो एक साथ ही मुझे घृणा और प्यार दोनों करते थे और दुर्भाग्यवश जिनका कोई वंशज न था जो उन्हें पिण्ड-दान देता इन सबका तर्पण मैंने किया। कैसा विचित्र सम्मिश्रण है।

मैं उन सबकी सेवा करने के लिए उत्सुक था, चाहे वे कहीं हों—और मैंने उनकी ओर से उनके लिए देवताओं से प्रार्थना की।

('हमारा कालेज' से)

परिवर्त्तनशील जीवन के प्रत्येक अंश से संतोष

मृदुता, मधुरता, नम्रता और शान्ति के परिवेश में वहीं उत्साह, वही स्फूर्ति

मैं अपने जीवन-काल के किसी भी अंश से असन्तुष्ट नहीं हुआ हूं, वह चाहे जैसा रहा हो। मुझे कभी भी अपनी इच्छाओं और अपने व्यवसायों का खेदपूर्वक त्याग नहीं करना पड़ा और न मैं अपने जीवन की पुरानी आदतों से निराशापूर्वक चिपटा रहा।

हां, एक बात में कोई सन्देह नहीं है। बीतने वाले प्रत्येक घंटे से मुझे समान रुचि का अनुभव होता है और विकास के लिए जो संघर्ष मैं करता हूं, उसमें शिथिलता नहीं आयी। तीस वर्ष पहले घास, वृक्ष और पक्षी मुझे भिन्न सन्देश देते थे। वे मुझसे प्रेम की, विजय की, अनसोची उपलब्धियों की ओर बढ़ती हुई शक्ति तथा सफलता की बात कहते थे। इसके बाद, भाव-संवेदनों का उद्भव सूक्ष्मतर अनुभूतियों और तीव्रतर रोमांचों से होने लगा। निराशाओं और निरुत्साहों का अनुभव अधिक गहराई से होने लगा। उस समय यदि मेरे व्यक्तिगत लक्ष्यों की प्राप्त तुरन्त नहीं होती थी तो में अत्यन्त अधीर हो उठता था।

तब जो संसार मेरे आस-पास था वह रहस्यात्मक भी था और आश्चार्यजनक भी अंशत: वह एक मिट्टी का भारी ढींका था जिसे मुझे उठाना था और अंशतः निराशाओं क्लेशों, विपत्तियों का स्थल। आज दुनियां अधिक मोहक है। अपने रक्त में उबाल लाने के लिए अब मैं असाधारण सौंदर्यों की प्रतीक्षा नहीं करता। मुझ पर मधुरतर प्रकार के सौन्दर्य का प्रभाव होता है। पहले चांदनी रातों पर निगाह पड़ते ही मेरे मन में तूफानी खुशियों के अभाव पर एक कसक और हूक-सी उठती थी। अब चांदनी रातें स्वयं ही मेरे लिए अकथ आकर्षण की वस्तु हैं, कोई संगी मेरे पास हो या न हो। वर्षों पहले सेफो

(Sappho) के गीत और मीरा के भजन, गेटे : (Goethe) का वर्टर (Werter) और शैली (Shelly) का एपिपसाईकीडिग्रांन (Epipsychidian) मुझ में रागात्मकता की आग उत्पन्न कर देते थे और मैं संवेगों की शक्तिशाली विद्युत-धारा से अभिभत हो उठता था। ये कविताएं अब भी मुझे द्रवित करती हैं, किन्तु उनकी 'अपील' भिन्न होती है, आग में उतनी उष्णता नहीं होती, प्रांजलता होती है।

अब मैं कहीं अधिक विस्तृत अनुभव-क्षेत्र के साथ संसार में संचरण करता हूं और प्राय: अनाशक्त दर्शक बन पाने की क्षमता भी मुझ में आ गयी है। मैं संसार के सम्मुख अपेक्षाकृत कम मांगें रखता हूं। संवेग, जो अब अधिक सूक्ष्म और कोमल हैं, मुझे मधुर मन्द संगीत के जादू से पुलकित कर देते हैं। मैं पहले की भांति केवल अपने से सम्बन्धित सृष्टि पर दृष्टिपात नहीं करता, प्रायः संसार की समस्त गतिविधियां मुझे दृष्टिगत हो जाती हैं, मैं कभी-कभी राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं के पीछे रूपांतरण की अनन्त प्रक्रिया देखता हूं। मैं उन शक्तियों को भी भांप लेता हूं जो व्यक्तित्व के झाग और फेन के पीछे प्रबल धारा में प्रवाहित होती हैं।

('तब और अब' से)

सुख का रहस्य

इच्छाओं का परिहार ही संतोष का मूल है

लोगों में एक अन्धविश्वास है कि धनाभाव का अर्थ होता है—यथार्थ आवश्यकता किन्तु ऐसा नहीं है। मैं यह बात अपने अनुभव से कहता हूं। १९०२ से १९१६ तक म निर्धन रहा, विकट रूप से निर्धन रहा। लेकिन इससे मैं दुःखी नहीं हुआ। जब मेरे पास धन नहीं था, मैंने वे वस्तुएं त्याग दीं जिन पर धन व्यय होता था। जब मैं जेल गया गया, मैंने उन वस्तुओं को त्यागने का निश्चय कर लिया, जिस पर धन की आवश्यकता थी और मुझे कभी उनका अभाव नहीं रहा। यह मेरे लिए एक शिक्षा थी। जब तक अपने मार्ग में आने वाली वस्तुओं के लिए मैं आत्मा से तैयार रहता हूं—वे वस्तुएं चाहे जो हों, चिन्ता न करते हुए—तब तक मैं सुखी हूं, चाहे मेरे पास धन हो या न हो।

('तब और अब' से)

असफलताएँ ही सफलता की सीढ़ियां हैं

इन सीढ़ियों पर चलकर सफल[illegible] प्राप्ति और ईश्वर का अनुभव

महत्व सुरक्षा, सफलता और सन्तोष का नहीं वरन् उन अविरत प्र[illegible]नों का है, जो हम करते हैं और उन असफलताओं का है, जिन्हें झेलकर हम आगे बढ़ते हैं। ये आत्मिक तत्परता की प्रशिक्षण-संस्थाएं हैं इस प्रतिक्षण के बाद जो सफलता हमें मिलती है, उसके लिए हम अपने आप को श्रेय नहीं देते। तब हम नम्र बन जाते हैं। हम उसमें ईश्वर का हाथ देखते हैं। हम उसके उद्देश्य और लक्ष्य का अनुभव करते हैं।

('तब और अब' से)

अहिंसा की व्याख्या

प्रेमपूर्ण दृष्टिकोण का नाम अहिंसा है

किसी की हत्या न करने का नाम अहिंसा नहीं है। यह एक ऐसी मानसिक वृत्ति का विकास है जिसमें घृणा का स्थान प्रेम ले लेता है। डाक्टर, जो अपनी माता को मर्मान्तिक मरण-व्यवस्थाओं से मुक्त करने के लिए विष दे देता है और गांधी जी, जिन्होंने बन्दरों के विनाश के लिए तथा अरक्षित काश्मीर की रक्षा में सेना भेजने के लिए अपनी स्वीकृति दी थी, हिंसा के दोषी नहीं हैं।

('किशोरलाल' से)

ज्ञान, विज्ञान और समसामयिक विचार-धारा

समाज-विज्ञान की सीमाएँ

चेनन मानव की प्रतिक्रियायें प्रयोगशाला की सर्वत्र एक जैसी परिस्थितियों का विषय नहीं बनाई जा सकतीं।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि समाज-विज्ञान से मानव की ज्ञान-वृद्धि हुई है। अनेक सामाजिक त्रुटियों के यथार्थ मूल्यांकन की ओर तथा सामाजिक न्याय के लिए उठाये गये अनेक कदमों की स्वीकृति की दिशा में, वह हमें आगे ले गया है। अपनी उचित सीमाओं में वह अत्यंत मूल्यवान है। किन्तु उसके महन्तों में नम्रता के दर्शन दुर्लभ हैं। उसके ढांचों का निर्माण करते समय न तो ये मानवीय दुर्बलताओं अथवा मानवीय संवेगों के लिए कोई रियायत करते हैं और न उन सृजनात्मक महत्वाकांक्षाओं के लिए ही, जो मनुष्य को उच्चतर तथा श्रेष्ठतर वस्तुओं की ओर ले जातीं हैं। उनमें से बहुतों के लिए यह अनुभव करना कठिन है कि 'पदार्थ' की प्रतिक्रियाओं के समान मनुष्य की प्रतिक्रियाओं के संबंध में कोई पूर्वघोषणा नहीं की जा सकती और जहाँ तक मानव तथा समाज का सम्बन्ध है उसके लिए एक जैसी प्रयोगशालीय स्थितियाँ कभी भी नहीं जुटाई जा सकतीं।

('कपास, नाटक और कन्ट्रोल' से)

संस्कृतनिष्ठ हिन्दी कृत्रिम भाषा नहीं

हिन्दी की भाव-प्रेषणीयता अंग्रेजी से अधिक

हम कत्यूर राजाओं की पुरानी राजधानी गरुड़ गये। किन्तु इस बार आकाश पर बादल थे और हम घाटी में बरफ़ नहीं देख सके। गांव का मुखिया शुद्ध हिन्दी बोलता था और हमारी उपलब्धियों में उसकी सहज पैठ थी। यदि वे लोग जो यह कहते हैं कि शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (बाजारू किस्म की हिन्दी नहीं) एक कृत्रिम भाषा है, इन भागों में आएँ और इन मुखियों की भाषा सुनें, तो उन्हें आश्चर्य होगा। उन लोगों की बोलचाल की भाषा बनकर हिन्दी ने इतनी सामर्थ्य और प्रेषणीयता अर्जित करली है कि हम अँग्रेजी बोलने वालों में से बहुतों को उससे ईर्ष्या होगी।

('हिमालय की ओर' से)

तीर्थ भूमि उत्तर प्रदेश

जिसके आकर्षण ने मुंशी जी को वहाँ का राज्यपाल पद स्वीकार करने को प्रेरित किया।

उत्तर प्रदेश में पन्त जी, जो मेरे घनिष्ठतम मित्रों में से एक हैं, एक मैत्रीपूर्ण मंत्रिमंडल का नेतृत्व कर रहे थे। उनमें से कुछ लोग निकट के मित्र भी थे। मोतीलाल जी, मालवीय जी, पंडित जी और टंडन जी, जिन्हें मैं अच्छी तरह जानता था, इसी राज्य के थे। कुछ मौलिक कमजोरियाँ वहाँ थीं पर शासन-तंत्र की दृष्टि से वह समर्थ था, राजनीति की दृष्टि से वह ठोस था। लखनऊ संस्कृति, काव्य और संगीत का नगर था। अनेक विश्वविद्यालय कुलपति के रूप में मुझ पर दावा रक्खेंगे। उत्तर प्रदेश विद्या, संस्कृत और हिंदी का घर था। गंगा और यमुना की भूमि, उनके पवित्र तटों के सहित, मेरे लिए आश्चर्यजनक रूप से अभिरुचि की वस्तु थी। वहाँ अयोध्या और मथुरा थी, जहाँ भगवान ने स्वयं जीवन धारण किया था। वहाँ पितृभूमि का प्रवेश-द्वार प्रयाग था; वहाँ विश्व-इतिहास का प्राचीनतम विद्या-केंद्र बनारस था। वहाँ नंदादेवी और परशुराम के विशाल रजत-हिमशिखर थे; और काशी-विश्वेश्वर तथा बद्री-केदारेश्वर वहाँ असंख्य हृदयों पर अपना अधिकार किये अगणित युगों से सिंहासनारूढ़ थे। कभी उसमें आर्यावर्त्त अपने सस्पंद हृदय-रूपी नैमिषारण्य के साथ सम्मिलित था, जहाँ पर उस सब का जो मनुष्य की महत्वाकांक्षा के क्षेत्र में शुभ, उदार और सत्य है, उद्भव हुआ था। और वहाँ हिमालय भी था-देवतात्म-नगाधिराज।

('जानू की मृत्यु' से)

सृजनात्मक शक्ति का विकास

मस्तिष्क खुला न रखने पर प्रगतिशील भी रूढ़िवादी हैं

इसलिए विश्वविद्यालयों का उद्देश्य होना चाहिए—विद्यार्थियों को जीवन की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति 'सृजनात्मक शक्ति' प्रदान करना। क्योंकि, नवयुवकों को विशेष-कर आप-जैसों को जो जीवन-क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं—प्रत्येक कदम पर इस शक्ति की आवश्यकता पड़ेगी।

यदि आपने अपने विश्वविद्यालय के जीवन में इस सृजनात्मक शक्ति को विकसित करने की पद्धति नहीं सीखी तो आपको इसे शीघ्र-से-शीघ्र सीखने की चेष्टा करनी चाहिए। यदि आपने इसे प्राप्त कर लिया है तो आप अपने जीवन में सफल होंगे और यदि नहीं किया तो असफल होंगे।

यदि आप मुझसे पूछें कि आप जीवन में सफल होंगे या नहीं तो मैं बदले में आपसे एक प्रश्न पूछूंगा : क्या आपने अध्ययन, जिज्ञासा, आत्मानुशासन और सेवा के द्वारा सत्य की उपलब्धि करने का धैर्य रहित उद्योग विकसित कर लिया है, जो सृजनात्मक शक्ति की पहली सीढ़ी है ? यदि नहीं तो क्या आप उसे यथा सम्भव शीघ्रता से प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हैं ?

यदि यह तत्परता दब गयी तो आपका विकास रुक जाएगा, उत्साह का ह्रास होने लगेगा और आपको कभी भी सृजनात्मक शक्ति न प्राप्त होगी । और यह बात केवल आप पर नहीं, बूढ़े या जवान हम सब पर लागू होती है ।

यदि आप इस शक्ति का विकास करना चाहते हैं, तो आपको मानसिक रूप से निरन्तर ईमानदार रहना पड़ेगा । सत्य के लिए अपना मस्तिष्क खुला रखना साधारण बात नहीं है । उसके लिए किसी प्रश्न पर सभी पहलुओं से विचार करने की क्षमता आवश्यक होती है । उसके लिए हममें दृढ़तापूर्वक तथ्यों का सामना कर सकने की शक्ति आवश्यक होती है । उसके लिए ऐसी शक्ति की आवश्यकता होती है जिससे हम व्यक्तियों तथा वस्तुओं के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं पर पुनर्विचार कर सकें, चाहे हमारे मान्य विश्वासों को आघात लगे; हममें ऐसा साहस हो कि हम अभिमान, स्वार्थ और प्रतिष्ठा को बलिदान कर सकें जब भी वे हसारे सत्यान्वेषण में बाधक बनें ।

सृजनात्मक शक्ति का विकास या उसकी सुरक्षा कभी सम्भव नहीं यदि हम दूसरों के विश्वास ज्यों-के-त्यों उधार ले लेते हैं । अधिकतर हमारे विश्वास वे होते हैं जो हम अपने परिवार के सदस्यों, मित्रों, धर्मोपदेशकों, राजनीतिज्ञों, समाचारपत्रों के लेखों या सस्ते नारों से पाते हैं ।

जब हमारा मस्तिष्क ऐसे उधार लिये विश्वासों में विश्राम करने लगता है तो उसकी गति समाप्त हो जाती है । अधिकतर लोग २५ वर्ष की आयु के होकर इस शक्ति का विकास करना बन्द कर देते हैं । बाद में वह कभी कुछ नहीं सीखते क्योंकि उन्हें अपने मस्तिष्क खुले रखने की कभी शिक्षा नहीं मिली या उनके मस्तिष्क इतने आलसी हैं कि किसी अविरत अन्वेषण में व्यस्त नहीं हो सकते ।

यह धारणा मत बनाइए कि केवल धार्मिक रूढ़िवादियों अथवा वयोवृद्ध व्यक्तियों के मस्तिष्क ही बन्द हैं । पाश्चात्य वस्तुवाद में विश्वास करने वाला शायद ही कोई व्यक्ति दिखे जो उच्चतर सत्य का अन्वेषी बनना स्वीकार करे । अधिकांश लोग जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने का दावा करते हैं, आत्मा के सत्यों के लिए अपने मस्तिष्क के द्वार बन्द कर चुके हैं । सर्वाधिकारशील (टोटेलिटेरियन) राज्यों के अधिकांश लोग या वे लोग जो सर्वाधिकारवादी आदर्श स्वीकार करते हैं, अपने विश्वासों से तिल भर हटने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं ।

प्रजातांत्रिक देशों में भी जन-प्रचार के आयुध इतने शक्तिशाली हैं कि वे हमारी स्वतः चिन्तन की शक्ति नष्ट कर देते हैं और अपनी विचार-पद्धति पर स्थिर रहने का

हमारा साहस समाप्त कर देते हैं। सत्य में हमारा विश्वास हमें गांधी जी ने पुनः प्रदान किया। दुर्भाग्यवश, हम लोगों में से बहुत लोग जो उनके अनुयायी होने का दावा करते हैं, इस बात का अनुभव नहीं कर पाते कि जो कुछ उन्होंने कहा है उस पर विश्वास करना और, जैसा वह हम लोगों से चाहते थे। हमें स्वयं सत्य का अन्वेषण करना—ये दो भिन्न बातें हैं।

इसलिए, हमें अपने जीवन में प्रतिदिन विश्वासों, पूर्वग्रहों और भयों पर प्रगतिशील विजय पाने के लिए चेष्टा करनी चाहिए। तभी हम उन्नति कर सकते हैं अथवा वस्तुओं को उनके उचित सन्दर्भों में परख सकते हैं और सृजनात्मक शक्ति का विकास कर सकते हैं।

('अध्यापक का कार्य' से)

प्रशिक्षित ग्राम भक्त शिक्षकों की आवश्यकता

श्रम-साध्य कृषि-कार्य के प्रति व्याप्त भय-भावना का परिहार

यदि भारत को कृषि-प्रधान देश रहना है—और उसे रहना पड़ेगा—तो प्रारम्भिक पाठशाला के शिक्षक से लेकर अनुसन्धान के प्रोफेसर तक सभी स्तरों के ऐसे अध्यापकों की हमें आवश्यकता होगी जो ग्राम-निर्माण में प्रशिक्षित हों। उन्हें गांव के मूल्यों और सामर्थ्यों में आस्था भी होनी चाहिए और ग्राम्य जीवन के दर्शन के इन मूल तत्वों की जानकारी भी उन्हें होनी चाहिए। भूमि केवल हमारे शारीरिक जीवन की ही आधार-शिला नहीं है, अपितु मस्तिष्क और आत्मा की भी है। ग्राम्य वातावरण का उत्थान इस प्रकार करना है जिससे मस्तिष्क तथा चरित्र के बलशाली गुणों के विकास को प्रोत्साहन मिले। ये बातें गणराज्य के लिए आवश्यक हैं।

इन मूल तत्वों पर अधिकार पाने में समर्थ होने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक का पालन-पोषण ग्राम्य वातावरण में हुआ हो और उसकी जड़ ग्रामीण-वर्ग में ही हो। उसे अपने महान् उद्देश्य को गहराई के साथ अनुभव करना चाहिए और प्रयत्न-पूर्वक सबसे अच्छे नवयुवकों को गांव छोड़ने से रोकना चाहिए। इस सच्चे खतरे से वह तभी संघर्ष कर सकता है जब वह उस भय को जीत ले, जो उसके अपने हृदय में तथा दूसरों में खेती के कठिन परिश्रम के प्रति है; और जब वह 'गन्दे हाथों का महत्व' स्वयं समझे तथा दूसरों को समझाए।

मैंने उत्तर प्रदेश में ग्रामीण क्षेत्रों में कई स्कूलों और कालेजों का निरीक्षण किया है; और प्रायः देखा है कि वहां गांव के प्रति विरक्ति को प्रोत्साहन देने के लिए सभी कुछ किया जा रहा है। अध्यापक ग्राम-संस्कृति, मौसम के गीतों अथवा धरती के छन्दों में रुचि लेते नहीं प्रतीत होते। ग्रामीण कला अथवा संगीत का पोषण करने के लिए उनके पास पुस्तकें या पत्रिकाएँ भी नहीं हैं। मुझे शायद ही कोई प्रोफेसर मिला हो जिसने सहानुभूति पूर्वक ग्राम का अध्ययन किया हो, जो गाय, पालतू पक्षियों, लोकगीतों और ग्रामीण

त्यौहारों पर उसी उत्साह से बातचीत कर सका हो, जिस उत्साह से उसने तुलसीदास या उद्योगों के राष्ट्रीयकरण पर चर्चा की हो ।

हमारी पाठ्य पुस्तकें यह नहीं सिखातीं कि धरती से भक्तिपूर्वक व्यवहार करना चाहिए और उसे लूटने की मनोवृत्ति न रखनी चाहिए । भूमि-सुधार का उल्लेख कभी इस रूप में नहीं किया जाता कि वह हमारे लिए सर्वोपरि उत्तरदायित्व है, नैतिकता है और धर्म है । भूमि-प्रेम की, वृक्षों के रक्षण की, सुधरे हुए बीजों के महत्व की, पशुओं ग्राम गीतों-नृत्यों-त्यौहारों की और जिससे धरती अधिक उपजाऊ बनी रहे उस कला की, बिलकुल उपेक्षा कर दी जाती है ।

शिक्षा का हमारा सारा ढांचा आवश्यकता से अधिक शहरीपन से ग्रस्त हो चुका है और यह हमें अन्ततः विपत्ति की ओर ले जाएगा । यह बिलकुल स्वाभाविकहै कि ग्रामीण विद्यार्थी जो ऐसी परिस्थितियों में प्रशिक्षित होता है, कुंठा अनुभव करता है और शहर चला जाना चाहता है ।

इसलिए ग्रामीण क्षेत्र के प्रत्येक अध्यापक का उद्देश्य होना चाहिए कि वह 'पृथ्वीपुत्र' (जैसा कि अथर्ववेद के प्रसिद्ध पृथ्वी-स्तोत्र') में कहा गया है बने । उसके पास छोटा-सा निजी खेत या उद्यान होना चाहिए । प्रत्येक स्कूल में शिशुगृह होने चाहिए, जहां विद्यार्थी अपने लिए स्वयं पौधे उगा सकें । अध्यापक और विद्यार्थी को प्रत्येक प्रकार से अपने आपको चिर नूतन किन्तु अत्यन्त पुरातन माता-धरती में निरत होना सीखना चाहिए ।

'गन्दे हाथों का रहस्य' इस प्रकार हमारे गाँवों की रक्षा कर सकता है ।

('लैंड स्कूल' से

अन्य-प्रसंग

ताज पर जब चांदनी छिटक जाती है तो लगता है कि संगमरमर की श्वेतिमा मानो पिघल कर स्वर्गीय काव्य बन गई है ।

चांदनी रात में ताजमहल का सौन्दर्य वर्णनातीत हो जाता है । वह विवधि वर्णों और स्वरूपों का जगमगाता हुआ रत्न बन जाता है । वह संगमरमर का काव्य नहीं है—जैसा कुछ लोगों ने कहा है; वरन् वह संगमरमर है जो पिघल कर स्वर्गिक काव्य बन गया है । वह मुमताज़ की जीवित प्रतिमा है, एक ऐसी प्रतिमा, जिसे कीड़े नहीं खा सकते, जिसे मोरचा नहीं लग सकता ।

एक बार जब हम विशेष रूप से ताज देखने आये तो, हमने उसे दोपहर ढले देखा किन्तु हमें लगा कि दिन भर की थकावट के बाद धूप में निकट से संगमरमर की दीवालें देखना कोई सुखद अनुभव नहीं है । ताजमहल को उचित अन्तर से ही देखना चाहिए ।

एक बार मैंने वायुयान से उसके ऊपर चक्कर लगाया और आकाश से उसकी

प्रशंसा की। इस बार मैंने उसे बार-बार देखा (अपने मित्र श्री होमी मोदी मु (भसे पहले उत्तर प्रदेश के राज्यपाल, के साथ ताज देखने का मेरा यह दूसरा अवसर था। मेरे यह मित्र अब आगरे में होते हैं तो शाहजहां के भूत की भाँति हर रात ताजमहल के चक्कर काटना पसन्द करते हैं। और एक बार जब वह मुझे १० बजे राज को वहाँ ले गये और हम एक हरीकेन लालटेन के प्रकाश में जमीन तले के मकबरे की सीढ़ियाँ उतरे, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि दूसरे ही दिन मेरा भूत भी यहां आ जाएगा।

ममी और मैंने उसे ढलती रात के पीले और खंडित चांद के घटते बढ़ते छाया-प्रकाश में देखा। इस परियों के महल का समूचे दृश्य पर प्रभुत्व था। एक ओर यमुना नदी, दूसरी ओर वृक्षों तथा पानी के हौजों के बीच पत्थर के रास्ते।

मैंने उसे बार-बार देखा। विभिन्न बिन्दुओं से, दूर से और निकट से, बाजुओं से, अंधेरे प्रवेश-द्वार के नीचे से और आगरा किले की बालकनी से, जहां शाहजहां अपनी सुन्दर पत्नी के प्रति अपने उत्कट प्रेम को मूर्त्त करने वाले इस जीवित सौन्दर्य-स्वप्न की ओर निहारता हुआ दिन पर दिन बैठा रहता था। द्वार के समीप जड़े हुए छोटे-से शीशे में मैंने ताज का प्रतिबिम्ब भी देखा; जैसे 'चरम सौन्दर्य' का सुदूर लघु-स्वप्न आत्मा की खिड़की से झांक रहा हो।

वास्तव में, ताज एक विशाल सृष्टि है, किन्तु न तो वह सेंट पीटर्स की भांति रोबीली है और न मिलान के गिरजाघर की भांति आतंकपूर्ण है। उसमें विस्मयकारिता नहीं है और न आतंक-भावना। उसकी आनुपातिक अन्विति उसे केवल 'प्यारी सृष्टि' बनाती है। मैंने उसकी पूर्ण सूक्ष्मताएं भी देखीं, श्रमपूर्वक तराशे गये पर्दे भी देखे, उनकी आकृतियां देखीं, पत्थर में बने चमकीले रंग वाले फूल देखे, प्रकाश के सहस्रों किरणों से मेहराबों को प्रकाशित करने वाली जगमगाती मणियां देखीं।

हम तहखाने के अन्दर उतरे। बीचोबीच में नूरजहां के भाई की पुत्री सम्राज्ञी मुमताज़ महल की कब्र है। उसकी बगल सम्राट् की कब्र है, जो मृत्यु में उन दोनों को एक कर रही है जो जीवन में एक थे। ताज, वस्तुतः सौन्दर्य की मूर्त्ति है, उस सौन्दर्य की, जिसका नाम अमर-प्रेम है।

('आगरा : एक विगत साम्राज्य की समाधि' से)

झांसी की रानी

सन् सत्तावन के विद्रोह की एक झांकी

इन शहीदों की पंक्ति में अन्तिम नाम आता है महान नायिका झांसी की रानी लक्ष्मीबाई का। उनके विषय में बिना भावुकता के कुछ लिखना और कहना असम्भव है। यद्यपि वह ब्राह्मण घराने में जन्मीं थीं और लाड़ से पाली गयी थीं, फिर भी उन्होंने इस विप्लव का नेतृत्व करके उस महान शक्ति और सैन्य-संचालन का परिचय दिया जो विरले ही पुरुष अथवा नारी में पायी जाती है।

श्री मूंगालाल का दान

भारतीय विद्याभवन की नींव कैसे पड़ी ?

तेईस जुलाई को जब हमारी ट्रेन ललितपुर से बम्बई की ओर बढ़ी, मुझे अपने मित्र मूंगालाल का अभाव नये सिरे से अनुभव हुआ। मूंगालाल अपनी तरह का एक ही व्यक्ति था :—नाटा, खामोश और मामूली-सा दिखता हुआ व्यक्ति, जिसके कपड़े देखने पर लगता था कि इन्हें धोबी के घर जाने का सौभाग्य नहीं मिला, जिसकी धोती इतनी चौड़ी नहीं होती थी कि घुटने ढक सकें। किन्तु उसकी आत्मा एक नम्र और संकोची देवदूत की थी, निश्च्छल और सम्भ्रान्त देवदूत की, जो मनुष्यों के इस विचित्र संसार में विनयपूर्वक घूम रहा हो। बम्बई के सट्टा-बाजार के चक्कर में वह कैसे फंस गया, यह बात मेरे लिए सदा एक रहस्य रही।

१९३७ में मेरी सांस्कृतिक गतिविधियों में अवरोध आ गया। वह समय अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण और व्यस्त था, जिसमें जेल जाना और चुनाव लड़ना मेरा प्रमुख व्यवसाय बन गया था।

एक दिन मूंगालाल आये। हमारे सोलहवीं शती के महान गुजराती सन्त नरसिंह मेहता जब श्रीकृष्ण से सहायता के लिए प्रार्थना करते थे, तो शामलशाह सेठ इसी तरह आते होंगे।

कई वर्ष पहले मैंने मूंगालाल को एक मुकदमे में जिताया था। तब से मेरी उनसे भेंट नहीं हुई थी। उन्होंने संकोच और व्यग्रता के साथ रुक रुककर अस्पष्ट शब्दों में (जिनमें ठेठ मारवाड़ी स्वराघात था, और इसलिए समझने में कठिनता होती थी) अपना अभिप्राय मुझे बताया :—

"अनेक बार मैंने धन कमाया है और गंवा दिया है। अभी मैंने छः लाख पाये हैं। अबतक मैंने कभी दान-पुण्य नहीं किया, अब मैं यह सारी राशि दान कर देना चाहता हूँ और सो भी जल्दी-से-जल्दी। यदि मैं विचार करूंगा तो लोभ को जीत न सकूँगा और सम्भव है कि दान में देने के पहले ही यह धन मैं गंवा दूँ। कृपया मेरी सहायता कीजिए। लोगों ने मुझे सभी प्रकार की राय दी है कि इस धन को ऐसे व्यय किया जाय। किन्तु एक समय आप मेरे एडवोकेट थे। कृपया आप मुझे बताइए कि इस धन का मैं क्या करूँ ?"

जब कोई व्यक्ति मुझसे पूछता है—"मैं अपने फालतू धन का क्या उपयोग करूँ ?" तो उसका आलिंगन कर लेने के अपने भावावेग को मैं नहीं रोक पाता। इस बार मुझे ऐसा नहीं करना पड़ा। मूंगालाल को देखने से ऐसा विश्वास नहीं होता था कि इनके पास छह लाख रुपये हो सकते हैं। इस प्रस्ताव के समय उनकी पूरी पूरी गम्भीरता के बिना यही समझता कि यह एक मजाक है।

मैंने शीघ्र ही कुछ विचार किया। १९३२ से, जब मैंने विलासपुर जेल में कृषि पर लिनलिथगो-रिपोर्ट पढ़ी, मैं बैलों और गायों की नई नस्ल का निर्माण करने

के 'स्वप्न' देखने लगा था—बलवान 'नदी' और उदार 'कामधेनुएँ'। ऐसी बात नहीं हैं कि मुझे पशु-पालन के सम्बध में कोई विशेष जानकारी थी। गौमाता के सम्बन्ध में भी उससे अधिक जानकारी मुझे न थी, जो जन्म से उसका दूध पीते-पीते मुझे मिली थी। किन्तु अपने 'स्वप्नों' से प्रेरित होकर मैंने दो मुकदमों में सम्बन्धित पक्षों की, पुराने ढांचे की गोशालाओं को पशु-उन्नतिम्-केद्रों के रूप में परिवर्तित करने में सहायता की थी।

मैंने पूछा, "गायों के लिए कुछ किया जाय तो कैसा रहे ?" मूंगालाल गौमाता के भक्त पुजारी-जैसे दीखने लगे। बोले—"जरूर, जरूर! मैं अपना धन अवश्य ही गायों के लिए दूंगा। मैं फिर आपसे मिलूंगा।" और वह चले गये।

अपनी बातचीत के विषय में मैं लगभग बिलकुल ही भूल गया। उस समय तक भली परियाँ धन के थैले लेकर मेरे पास न आती थीं और 'मारवाड़ी साफा' पहिन कर आने वाली तो कोई भी नहीं थीं। अब मेरी जानकारी अधिक हो गई है : स्वेच्छा-दान का जहाँ तक सम्बन्ध है, मारवाड़ी को कोई नहीं परास्त कर सकता।

यद्यपि मूंगालाल से फिर भेंट होने की मुझे कोई आशा न थी, फिर भी एक पखवारे के भीतर-भीतर वह फिर आये—संकोचशील, घबराये, पहले की तरह रुक-रुक कर बोलते हुए। वह बोले "श्रीमान् जी, एक कठिनाई आ गई है। जब मैं पिछली बार आपसे मिला था, तब से टाटा के रुके हुये भुगतान का मूल्य बढ़ गया हैं। छह लाख के आठ लाख हो गये हैं। इस फालतू दो लाख का मैं क्या करूँ ?"

मैंने मन में कहा। यह व्यक्ति निश्चय ही मुझे टांग पकड़ कर घसीटना चाहता है। किन्तु किसी शुभ विचार को निरुत्साहित क्यों किया जाय, भले ही यह मेरे साथ किया गया मजाक हो। "संस्कृत कैसी रहेगी ? संस्कृत के अध्ययन के लिए एक विद्यालय खोल सकते हैं।"—मैं बोला। "संस्कृत। हाँ, यह बिलकुल ठीक रहेगा।"—और जाते समय मूंगालाल बुरी तरह मुसकरा रहे थे।

मुझे पूरा विश्वास था ये कि आठ लाख मूंगालाल की कल्पना में ही हैं। किन्तु कुछ ही बाद वह फिर आये, इस बार सबेरे-तड़के।

वह बोले, "आज सोमवती अमावस्या है। आज जो कोई एक रुपया दान देता है, उसे स्वर्ग में दस हजार रुपये का पुरस्कार मिलता है। मैंने एक ज्योतिषी से पूछा है। बारह बजे दोपहर के बाद मुहूर्त टल जायगा। ये आठ लाख लीजिए—६ लाख गायों के लिए और दो लाख संस्कृत केलिए।

यह मेरी विवेक बुद्धि पर एक आकस्मिक आघात था, किन्तु इसे झेलकर मैंने पूछा—धन कहां है ? मूंगालाल ने उत्तर दिया "मेरे दलाल के पास। हमें उससे केवल इतना कहना है कि वह मेरे शेयर बाजार में बेच दे। फिर आप प्राप्त धन ले लीजिए।"

मैं नहीं चाहता था कि मेरे ग्रह मुझे आठ लाख से वंचित कर दें। मूंगालाल ने टेलीफोन उठाया, दलाल को बुलाया और शेयर बेच देने का आदेश दिया। मैंने

उनसे रिसीवर ले लिया और दलाल से कहा कि वह छह लाख को कुछ नामों के लिए सुरक्षित रखें, जो ट्रस्टी कहलाएंगे—सरदार वल्लभभाई पटेल उनमें से एक थे—और दो लाखकुछ और नामों पर रहेंगे। मूंगालाल और मैं दोनों ट्रस्टों में ट्रस्टी थे। जब मैंने सरदार को फोन पर इसकी सूचना दी, वह केवल हंस दिये।

मूंगालाल ने दलाल को आदेश दिया कि उक्त नामों की रसीदें मेरे पास बारह बजे से पहले ही पहुँच जायं।

('विनयशील देवदूत' से)

दक्षिण अमरीका के एक जानवर की मृत्यु

जिसे मानव की बर्बरता ने असहाय जीवन और दुःखपूर्ण मृत्यु के लिए विवश किया

नैनीताल वैसा ही रमणीक है, किन्तु अपने एक मित्र से मैं वंचित हो गया हूँ। बेचारी गरीब लामा मर गई है। मैंने दक्षिण अमरीका के इस जानवर के विषय में आपको लिखा था। इसकी गर्दन ऊँट-जैसी होती है और शरीर अधिक बढ़ी हुई भेड़-जसा। यह भारी किन्तु पतली टांगों वाला जानवर होता है जिसका रोष प्रकट करने का एकमात्र ढंग होता है :—अपने रखवाले की ओर थूकना।

आज से १६ वर्ष पहले यह मादा-लामा लखनऊ अजायबघर में और वहाँ से गर्मियों में नैनीताल के राजभवन में बिना किसी साथी के अकेले आयी थी। दर्शक उसे देखने आते थे, वह खड़ी रहती थी और उन सबके प्रति दबी-दबी सी देखती रहती थी, अपने रखवाले की थपकियों के अतिरिक्त और सबके प्रति उदासीन। पशुओं को पशु-जगत से विलग करने वाली मनुष्य की बर्बरता का दयनीय शिकार। बेवकूफ लड़कों के घूरने की सामग्री।

गत वर्ष लामा कमजोर थी। उसे अत्यन्त कष्ट था। इस वर्ष जब मैंने उसे देखा, वह घास के एक बिस्तर पर पड़ी हुई थी। अपनी पतली टाँगों पर खड़े होने की शक्ति उसमें न थी। मैं प्रतिदिन उसे देखने जाता था, वह केवल अपना सिर उठाती थी और अपने संसार को (जिसमें एक जब-कब आने वाला दर्शक और उसका रखवाला भर थे) देख लेती थी। उसके शून्य मस्तिष्क में क्या विचार उठते थे, इसका अनुमान कठिन था।

कुछ दिन बीते, वह घास पर लेटी रहने लगी, अपना सिर उठाने में असमर्थ, उसकी गर्दन सीधी और स्थिर। दूसरे दिन वह कुछ खा नहीं सकी, तीसरे दिन उसको सांस लेने में कठिनता होने लगी। उस रात वह मर गयी। बेचारी असहाय जीव, अपने जाति-बन्धुओं से दूर, लगभग २० वर्ष पहले अपने देश के वनों में जब वह पकड़ी गयी थी तब से जेल के सीखचों में बन्द रहने वाली।

उसके एकाकीपन, क्लेशपूर्ण इतिवृत्त की प्रतिमूर्ति–सदृश उसके जीवन और उसकी दर्दनाक मृत्यु से मैं उदास हो गया।

एक आँसू गिराने वाला व्यक्ति केवल उसका रखवाला था जिसने उसे प्यार किया था। उसकी प्यारी लामा उसकी ओर थूकने के लिए अब नहीं आएगी।

('लामा का अन्त' से)

हुक्के की महिमा

तम्बाकू पीने का सुन्दरतम ढंग : विदाई-समारोहों में उपयोग

पूसा इंस्टीच्यूट ने मुझे विदाई देने के लिए ११ मई को एक समारोह आयोजित किया। जैसे हल्केपन की बात कभी किसी मंत्री (मिनिस्टर) ने शायद न कही हो, वैसे हल्केपन से मैंने उस समारोह को 'हुक्का-पार्टी' की संज्ञा देकर लोगों को आघात पहुँचाया।

जब मेरी ओर के गाँवों में जाने वाला अतिथि अपने आतिथेय से विदाई लेता है, तो ऐसी पार्टियाँ आयोजित की जाती हैं। दैनिक परिश्रम की थकावट विस्मृत हो जाती है। आपमानों ओर घृणा की स्मृतियाँ विलीन हो जाती हैं। आतिथेय और अतिथि को, जो एक ही हुक्के के साझीदार बनते हैं, ऐसा लगता है कि धरती पर उन लोगों की अपेक्षा कोई भी अधिक सज्जन नहीं है। हुक्के की गुड़गुड़ के स्वर्गिक संगीत में अपने विचारों को मिलाते हुए दोनों पूर्ण आत्म-सन्तोष के साथ पिछली उपलब्धियों की चर्चा करते हैं और भविष्य की ओर स्वर्णिम आशावादिता से देखते हैं। हुक्के की प्रेरणा से वे थोड़ी देर के लिए सुन्दरतर पृथ्वी की सृष्टि कर लेते हैं; भूत, भविष्य और वर्तमान ईश्वर ने जैसी रचना की उससे सुन्दर तो अवश्य ही। यह मेरे लिए इसी प्रकार का 'विदाई हुक्का-समारोह' था।

यद्यपि मैंने कभी भी बीड़ी, सिगरेट या सिगार नहीं पिया, फिर भी मैंने हुक्के का सदैव अत्यधिक आदर किया है। तम्बाकू पीने के माध्यमों में यह सबसे अभिजात है। "इसमें कुछ भी सामान्य कोटि का अशिष्ट, अरुचिकर अथवा अप्रिय नहीं है। उसकी राख से दरी नहीं नष्ट होती, फेंका हुआ धुवां दूसरे लोगों की आँखों में नहीं जाता, निकोटीन के स्पर्श से ओठ नहीं बरबाद होते। उसका सुन्दर-सुकोमल स्वरूप पीनेवाले के व्यक्तित्व में सौन्दर्य, महत्ता और गरिमा की वृद्धि करता है; और पीते समय उसका रागमय शब्द वायु-मंडल के एक संगीत का स्मरण कराता है।"

('सांड़' से)

व्यक्तिगत जीवन के संस्मरण

मां का स्मरण

१८९७ ई० में पिता जी मेरा उपनयन-संस्कार बड़ी धूम-धाम के साथ करना चाहते थे, इसलिए मुझे भड़ौच बुलाया गया। उस समय तक पारिवारिक सम्पत्ति का बँटवारा हो चुका था जिससे हमारे हिस्से में जो जायदाद आयी, उसकी मरम्मत करनी थी और रंग-रौगन लगाना था। सजावट का सामान-फर्नीचर भी नया खरीदना था और यज्ञोपवीत संस्कार के सिलसिले में भोजन, नृत्य आदि की व्यवस्था करनी थी। इसी समय मैंने देखा कि माँ में कैसी आश्चर्यजनक शक्ति थी, क्योकि इन सबका प्रबन्ध उस पर छोड़ा गया था। जब वह मेरे पिता के घर आयी थी तो वे केवल १२) मासिक पाते थे, परन्तु माँ एक-एक पाई का हिसाब रखती थी और एक हाथसिली नोटबुक में खर्च लिखती थी। मासिक और वार्षिक आमदनी और खर्च की तुलना समय-समय पर की जाती थी। छोटी-सी दैनिक बहियाँ और खाते तथा कागजात, कुँडलियाँ और पुर्जियाँ एक गठरी में रखी जाती थीं। उससे माँ उसी तरह अलग नहीं होती थी जैसे कि पानदान से, जो कि उसका अभिन्न साथी था। माँ कुछ बहुत लिखा करती थी। उसने महान् कवि प्रेमानन्द के आख्यानों की नकल लिखकर तैयार कर ली थी; विभिन्न अवसरों के लिए उपयोगी धार्मिक गान-स्तोत्रादि लिखकर संग्रह कर लिये थे और याददाश्त की बातें—स्मृतिपत्र, हिसाब, कविताएँ, उपदेश और अंग्रेजी उपन्यासों के सारांश भी जो उसने उसने पिता जी से सुन रक्खे थे। उसने चित्रों पर से पेंसिल से खाके भी खींच रखे थे। पेंसिल और कागज उसके मित्र, मार्गदर्शक और प्रेरक थे और उसने उन्हें मेरे लिए पैतृक देन के रूप में छोड़ा।

उन दिनों वह अपनी स्मृति की बातें लिखा करती थी जो उसकी १९३६ ई० में मृत्यु होने के बाद मुझे मिलीं। इस दिलचस्प अभिलेख में उसने अपने आरंभिक अनुभव लिखे थे। इसमें हम उसके जीवन की ज्योतिवत् शुद्धता देखते हैं। वह अपवाद रूप से ऐसी भली थी कि भलाई का वृत्त अपने चारों ओर निरन्तर बढ़ाती जा रही थी।

माँ ने हर चीज की व्यवस्था सावधानी और दूरदर्शिता के साथ थी। इन्तजाम करते समय वह कभी हुक्म नहीं चलाती थी, न क्रोध करती और न चिड़चिड़ेपन या अधिकार का प्रदर्शन करती; सदा कृपालु और सहानुभूतिपूर्ण होती थी। बातचीत करते समय वह कभी आवाज ऊँची नहीं करती थी। उसके शब्द लाड़भरी आवाज में निकलते थे और लोग खुशी-खुशी उसकी आज्ञा का पालन किया करते थे।

जो कोई उसके सम्पर्क में आता, उसी का हो जाता था क्योंकि प्रत्येक का यही खयाल होता था कि वह उसे सबसे अधिक समझती है। वह भी उसकी देखभाल करती और उसे सुखी करने का प्रयत्न करती थी। उसके पास पौराणिक कहानियों का अक्षय भण्डार था जिसका वर्णन वह बड़े दिलचस्प ढंग से किया करती थी। कभी-कभी वह मिलने के लिए आनेवालों को 'योगवाशिष्ठ' अथवा 'दशमस्कंध' पढ़कर सुनाया करती थी। जो कोई उससे मिलने आता, उससे वह बड़े तपाक और खुले दिल से मिलती। वह उन दुर्लभ प्राणियों में से थी जो दूसरों की भलाई में सुख प्राप्त करते थे।

एक बात ऐसी थी जिसके प्रति वह छुई-मुई की सी प्रकृति रखती थी, वह अपमान की बात सहन नहीं कर सकती थी। परन्तु अप्रतिष्ठित होकर भी वह क्रोध प्रकाशित नहीं करती थी, किन्तु उसकी आँखों में आँसू भर आते थे और उसे यंत्रणा का अनुभव होता था। उसके प्रति रुखाई का व्यवहार करना लोगों के लिए कठिन था। मेरी भयानक रुखिबा माँ को सदा 'मिठबोली' कहा करती थी। माँ में जबान की ही मिठास नहीं थी, स्वभाव में भी मृदुता थी।

माँ की मृत्यु के बाद जब मैंने उसकी गठरी खोली तो उसमें एक उपदेश की पुस्तक मिली जिसमें लोगों के साथ व्यवहार करने के बारे में सार पूर्ण बातें लिखी थीं। यह पाठ उसने अपने लिए तब तैयार किया था जब मुंशी-घराने का महाभारत चल रहा था। उसमें उसने इस प्रकार लिखा था :—

"बुद्धिमान मनुष्य झगड़ा रोकने की कोशिश में अपने को नियंत्रित करके विरोधी को खुश करता है। अगर विरोधी इससे न भी प्रसन्न हुआ, तो उसे सहमत करने के लिए कोई और उपाय करना चाहिए। बुद्धिमान और विद्वान सच्चाई से प्रसन्न होते हैं, पर यह जानना चाहिए कि सच बोलने का मौका कौन-सा है। ऐसे अवसरों पर उस बात का विचार कर लेना चाहिए। कि ऐसी सच्चाई के कहने से किसी का नुकसान तो नहीं होता, क्योंकि दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है।"

माँ ने ये उपदेश दूसरों से उधार नहीं लिये थे, वे उसी के और उसने उन्हें अपने लिए लिखा था। मुझे संदेह है कि उसके जीवन-काल में ये (उपदेश) किसी और को दिखाये गये होंगे।

उसमें ऐसी मिठास न होती तो वह अधीर और गुस्सैल मुंशियों को सीधा नहीं बना सकती थी।

एक बार उसकी पुत्र-बधू ने उसके बारे में लिखा था—"जिस तरह चन्द्रमा सूर्य की भयानक गर्मी को सोख लेता है और सारे जगत में अपनी चन्द्रिका फैलाता है, इसी तरह जीजी (माँ) मुंशियों के अतिक्रोध को मिठास के साथ सहन कर सारे परिवार में शान्ति और मधुरता का प्रसार करती हैं।" पुत्रवधू की ओर से इसे सचमुच प्रशंसा ही कहा जाएगा।

मुझे याद है कि मैं अपने आरंभिक दिनों में यह समझता था कि माँ मुझे काफी प्रेम नहीं करती—क्योंकि वह कभी अपनी भावनाओं का प्रकाश अतमानन्दी या उग्र रूप में

नहीं करती थी । जब मैं बड़ा हुआ तभी मैं इस बात का अनुभव कर सका कि मेरा खयाल कैसा बेवकूफी भरा था और माँ का प्रेम मेरे प्रति कैसा गहरा और दृढ़ था ।

पुरानी और उपेक्षित हवेली में माँ ने नयी दुनियाँ का निर्माण कर लिया था—पुराने रंग-रौगन कुरेदकर नया रंग दीवारों पर पोता गया। सूरत से दरी—गलीचा, तकिये और झाड़फानूस मंगाये गये । मजदूर काम ठीक करने के लिए इधर-उधर दौड़ते फिरते थे । पंडित और ज्योतिषी आते रहते थे और सर्वत्र चहल-पहल थी ।

('उपनयन संस्कार' से)

भड़ौच के एक अध्यापक

मनोरंजक संस्मरण

जिस तिथि को मेरा उपनयन-संस्कार करने का निश्चय हुआ था उससे एक महीना पहले मैं भड़ौज आया और गुजराती स्कूल में भर्ती हुआ । मेरे अध्यापक एक अफीमची थे जो पढ़ाने के अधिकांश समय में सोया करते थे और विद्यार्थी खेलते रहते थे ।

एक दिन शाम को वे पूरे समय सो चुके थे; पर तब उन्होंने न तो कोई पाठ पढ़ाया था और न उपस्थित विद्यार्थियों की हाजिरी ली थी ।

उन्होंने अपनी आँखें जोर से खोलीं और फिर वह जोर से चिल्लाकर बोले—"लड़को, खड़े हो जाओ ।" हम सब खड़े हो गये ।

"बैठ जाओ ।" वह फिर चिल्लाकर बोले । हम सब बैठ गये ।

"जिन-जिनकी शादी हो चुकी है वे खड़े हो जायँ ।" एक लड़का खड़ा हुआ । लड़के की ओर उँगली उठाते हुए विद्वान् अध्यापक ने उसी स्वर में कहा—"उधर बैठो—नम्बर एक—तुम सबसे पहले बैठो ।" लड़का पहले स्थान पर बैठ गया ।

"अब वे उठकर खड़े हो जायँ जिनकी सगाई हो चुकी है ।"—अध्यापक महाशय ने कहा । हममें से कुछ खड़े हो गये । "चलो, आओ; आगे बढ़ो ।"

"जिन-जिन की सगाई न हुई हो वे खड़े रहें ।" उन्होंने कर्कश स्वर में कहा—कुछ अभागे खड़े रहे । अध्यापक ने उनको कड़ी नजर से देखा और बोले—"तुम लोग आखिरी बेंचों पर जाओ······सबसे अन्त में; मूर्ख कहीं के ! तुम इतन बड़े हो गये पर अभी तक तुम्हें कोई ऐसा नहीं मिला जो तुम पर अपनी लड़की सौंपने का विश्वास करे—सबसे पीछे जाओ ।"

जिन बेचारों की सगाइयाँ नहीं हुई थीं वे सिर झुकाये पीछे की ओर चले गये । हम भाग्यवानों ने उन बेचारों की ओर घृणा की दृष्टि से देखा और हमारे नाम बाकायदा रजिस्टर में दर्ज किये गये ।

('उपनयन संस्कार' से)

गांधी जी का नैतिक प्रभाव

गांधी जी का नैतिक प्रभाव ऐसे लोगों के अर्धचेतन मन में गहराई तक प्रवेश कर चुका था जिन्होंने न तो गान्धी जी को देखा था और न जिन्हें गान्धी जी के नाम के अतिरिक्त उनके विषय में कोई जानकारी ही थी ।

१९३२-३३ में जब मैं बम्बई प्रान्त की बीजापुर जेल में था, राजनीतिक बन्दियों की एक प्रकार की 'वार्डेनशिप' मुझे मिली । स्वभावतः, उनमें से लगभग २०० व्यक्तियों की सनकें मेरे लिए कसौटी सिद्ध हुईं । सबसे बुरा व्यक्ति उत्तर भारत का एक लगभग २५ वर्षीय निरक्षर युवक था, जिसकी प्रिय क्रीड़ा थी—अपना सिर झुकाना, कुपित साँड़ की भाँति किसी राजनैतिक बन्दी पर आक्रमण करना और अपना सिर उसकी टाँगों के बीच डालकर उसे धरती से ऊपर उठाने की चेष्टा करना । यदि उसे अपने इस उद्देश्य में सफलता नहीं मिलती थी तो भी उस दूसरे व्यक्ति का गिरजाना निश्चित था । मैंने अधिकारियों से वादा किया था कि मैं अपने साथी-बन्दियों में अनुशासन रक्खूंगा पर यहाँ मेरा विवेक अपनी कसौटी पर था । मैंने इस दुर्दमनीय युवक को एक दिन बुलाया और अपनी पूरी गम्भीरता से कहा,—"मैं तुम्हारे इस आचरण के ससम्बन्ध में गांधी जी को लिख रहा हूँ । तुम्हारा आचरण किसी भी अंश में गांधीवादी नहीं है ।"

"और बापू क्या करेंगे ?" उसने पूछा ।

"वह निश्चय ही अनशन करेंगे ।" मैंने कहा ।

"अनशन ! कितने दिनों के लिए ?"

"जब तक तुम अपना आचरण नहीं बदल दोगे ।"

"और यदि मैं बदलूं ही नहीं ?"

"तो शायद वह आमरण अनशन करें ।" मेरा कुछ क्रूर-सा उत्तर था ।

नवयुवक की स्थिति दयनीय-सी हो गई । वह उस समय तो चला गया, किन्तु दूसरे दिन प्रातःकाल आया और बोला, "कृपया आप गान्धी जी को न लिखिए । मैं अब कभी ऐसा न करूँगा ।"

इस बालक के लिए गान्धी जी एक नाम से अधिक और कुछ भी नहीं थे, किन्तु वह नाम उसे ईश्वर की भाँति प्यारा था । उसने फिर कभी शैतानी नहीं की ।

('गान्धी जी की झाँकियाँ' से)

गांधी जी की महानता

जब मुंशी पर देश-द्रोह का कलंक लगाया गया

१९३१ में कराँची-कांग्रेस के बाद एक छोटी-सी घटना से मैं उनके निकटतर सम्पर्क में आया। मैं १९३० में फिर कांग्रेस में आ गया था और शीघ्र ही जेल भेज दिया गया था। जब गांधी जी १९३१ में जेल से छूटे, मुझे आशा थी कि वह मेरी सेवाएँ उसी भाव से स्वीकार कर लेंगे, जिस भाव से मैंने वे अर्पित की थीं।

किन्तु १९३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के समय उत्पन्न हुई ईर्ष्याओं से प्रेरित होकर विभिन्न दयालु मित्रों ने यह अफ़वाह फैलानी शुरू की कि जब संघर्ष प्रगति पर था, मैंने और मेरी पत्नी ने ब्रिटिश-हित में काम किया था। वे दिन बड़ी तनातनी के थे और किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसी अफवाह उसके शत्रुओं का सबसे बड़ा शस्त्र थी। किसी ने क्षण भर रुककर यह नहीं सोचा कि वकालत और सामाजिक जीवन की अपनी स्वाधीन स्थिति त्यागकर किसी विदेशी शक्ति का एजेंट बनने से मेरा क्या लक्ष्य सिद्ध होता था। जहाँ भी मैं गया, मैंने पाया कि अफवाह वहाँ पहले ही फैलाई जा चुकी थी। सामाजिक-जीवन के विविध क्षेत्रों में जो जंगल है, उसके विधान का यह मेरा पहला अनुभव था। उस समय का अपना दुःख मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता।

गान्धी जी जेल से छूटे तो कुछ ही घंटों के अन्दर उन्हें भी यह बात बता दी गयी। मैंने उनके रुख में एक परिवर्त्तन पाया और इस विषय पर उनसे बातचीत करने के लिए मैंने शीघ्र ही एक अवसर पा लिया।

एक जाड़े की सुबह प्रातःकाल ५ बजे हम हार्नबी वेलर्ड पर घूमने गये, मैं उसे कभी नहीं भूलूंगा। मैंने उनसे बताया कि मेरे विरुद्ध ऐसा अभियोग लगाया गया है। उन्होंने उत्तर दिया कि उन्होंने भी अफवाह सुनी थी और उस पर विश्वास नहीं किया था। मुझे असीम सन्ताप हुआ। मैं गान्धी जी के पास एक अदम्य आन्तरिक प्रेरणा के वश आया था। मैंने किसी पुरस्कार की आशा न की थी और अब बिना कोई गलती किये मैं 'देशद्रोही' की संज्ञा पा चुका था।

मुझे स्मरण है कि उनसे बोलते समय मेरा स्वर संवेग के कारण अवरुद्ध हो गया था; मुझे पूरा विश्वास है कि मेरी आँखों में आवेश से आँसू आ गये थे। मैंने गांधी जी से कहा कि मैं ऐसी बदनामी की छाया में कांग्रेस में काम नहीं कर सकता और मैं राजनीति से दूर, अपने पुराने जीवन में फिर जाना चाहता हूँ।

गांधी जी में सहानुभूतिपूर्ण विवेक की अद्भुत क्षमता थी। उन्होंने अत्यन्त मधुरता के साथ मुझे सान्त्वना दी। उन्होंने कहा, "राजनीति में ऐसे अपवाद अस्वाभाविक नहीं हैं। हम सबको इन्हें सहना और झेलना पड़ा है। हाँ, इस मामले में मैं इसका प्रतिवाद करा दूंगा।"

उस निर्जन सड़क पर, जहाँ समुद्र हमारे चरणों तले गरज रहा था और ऊपर सितारे देख रहे थे, मैंने पहली बार अनुभव किया कि सचमुच वे कितने महान थे!

उस सुबह जब हम अलग हुए, वे केवल मेरे राजनैतिक नेता ही नहीं रहे थे, मेरे जीवन में एक 'मानव' के रूप में प्रविष्ट हो चुके थे ।

('गांधी जी की झाँकियाँ' से)

शीर्षासन का एक मजेदार उपयोग

भद्रता दिखाने के वचन का पालन 'डिक्टेटर' और कैसे करते ?

दावा किया जाता है कि शीर्षासन में (सिर पर खड़े होने के अभ्यास में) मानसिक कथान-निरोधक शक्ति है ।

इससे सम्बन्धित एक कथा है । १६३० के सविनय अवज्ञा-आन्दोलन के दिनों में मैं नासिक जेल में था । बम्बई युद्ध-समिति के लगभग ८० डिक्टेटर (उस समय उन्हें यही कहा जाता था) उसके एक वार्ड में थे । सुपरिंटेण्डेण्ट ने एक बार उनसे कहा कि जब वह निरीक्षण करने आते हैं, उस समय उन लोगों का इधर-उधर घूमना ठीक नहीं । सम्भव है कभी कुछ दर्शक लोग उनके साथ आएँ यदि उन लोगों में सामान्य भद्रता का भी अभाव दिखा तो किसी आगन्तुक पर क्या प्रभाव पड़ेगा ! उन्होंने पूछा—"क्या आप लोग इतनी कृपा करेंगे कि जब मैं निरीक्षण के लिए आऊँ तो आप लोग एक लाइन में खड़े हो जाया करें ?" मेरे डिक्टेटर मित्रों ने बड़ी तत्परता से, पंक्तिबद्ध होकर प्रस्तुत होने का वाद कर दिया ।

दूसरे दिन भंडारी महोदय वार्ड में आये । इस बात पर वह बड़े प्रसन्न थे कि वह डिक्टेटर लोगों में कुछ अनुशासन ला सके थे । साठ डिक्टेटर, जैसा उन्होंने वादा किया था, एक पंक्ति में खड़े थे; केवल उनके सिर धरती पर थे और उनके पैर सीधे आकाश की ओर । यह शीर्षासन-परेड थी, जिसे उन्होंने बड़े उत्साह के साथ किया । बेचारे सुपरिंटेण्डेण्ट ने भयसहित उनसे याचना की कि वे ऐसी भद्रता न दिखाया करें ।

('कुलपिति-शिविर' से)

भारतीय नारियों की प्रगति

वे कभी 'गुलाम' नहीं रहीं : मुंशी जी की माता का उदाहरण

हमारी नारियाँ कभी भी गुलाम नहीं रही हैं और हमने उन्हें ऐसा समझा, क्योंकि ऐतिहासिक अनुदृष्टि के अभाव में हमारी दृष्टि विकृत हो गयी थी । अंग्रेज स्त्रियों अथवा स्वयं अपनी पूर्ववर्ती वंशगत नारियों की भाँति वे परिवार और जाति की सुरक्षात्मक प्राचीर का त्याग कर सकें, यह उनके लिए सम्भव न था। ऐसे समय में जब भारत के शासक बिना कोई विचार किये नारियों के अपहरण और बलात्कार को अपना जन्मजात अधिकार मानते थे, और क्या हो सकता था ?

मैं आपको एक उदाहरण दूँगा—अपनी माता का, जो लोग गुजराती अथवा हिन्दी में मेरी 'आत्म-कथा' पढ़ चुके हैं, वे उनसे परिचित हैं ही।

१८५५ ई० में उनका जन्म हुआ बचपन से ही वह मतृविहीन रहीं और किसी ने उनका ध्यान नहीं रक्खा । अल्पवय में ही उनका विवाह हुआ और १३ वर्ष की आयु में वह मेरे पिता के घर आयीं। लिखना-पढ़ना उन्हें कम आता था किन्तु महाभारत और रामायण की सभी कहानियों की न केवल जानकारी ही उन्हें अच्छी तरह थी, बल्कि कहानियों के अनेक 'आख्यानों' (गुजराती पद्य-संस्करण) की सहस्रों पंक्तियाँ उन्हें स्मरण थीं । हिन्दूत्व के नैतिक और धार्मिक मूल तत्त्वों में उन्हें दृढ़ आस्था थी; ईश्वर, शंकर के रूप में, उनके जीवन की जीवित शक्ति था । खाना पकाने में कुशल थीं, मितव्यय और ध्यान के साथ गृह-कार्य चलाती थी। उत्सव, समारोह, भोज आदि कर्मकांडों की कला में वह पूर्ण निष्णात थीं । विवाह होने के उपरान्त वह प्रतिवर्ष आय-व्यय का ब्यौरा रखती थीं, यद्यपि उनकी पद्धति कुछ विशिष्ट थी, बिलकुल मौलिक थी ।

पिताजी की मृत्यु के बाद उन्होंने आयी हुई निर्धनता के बावजूद, न केवल अपने एकलौते पुत्र का बल्कि अपनी पुत्री के दो अनाथ बच्चों का भी पालन-पोषण किया। लम्बी और गम्भीर बीमारियों में उनकी परिचर्या की; पुत्र को कालेज भेजा; नातियों को शिक्षा दी, उनके विवाह किये और अपने एक चचेरे भाई के मातृविहीन बच्चों का पालन-पोषण किया। और यह ऐसी आय के सहारे जो ३५० रुपये प्रतिवर्ष से अधिक नहीं थी और उसमें से भी ८४ रुपये एक पुराने स्वामिभक्त नौकर को मिलते थे ! वह उन सब स्त्रियों की पथदर्शिका, चिन्तक और मित्र थीं जो उनका निर्देशन और सहानुभूति पाने आती थीं । वह कुछ आयुर्वेदिक ओषधियाँ जानती थीं जो आवश्यकता पड़ने पर लोगों को दिया करती थीं। जाति में यदि कहीं प्रसव में कठिनाई की सम्भावना होती थी तो उनकी खोज होती थी।

आधुनिक मानदंडों से उन्हें सामाजिक कार्यकर्मी नहीं माना जायगा, क्योंकि उन्होंने किसी सभा में भाग नहीं लिया, भाषण नहीं दिये और समाचार पत्रों में उनके

सम्बन्ध में कुछ भी प्रकाशित नहीं हुआ। वह अपने परिवार की और अपने पास आये हुओं की अनायास, निराडम्बर सेवा करती थीं। उन्होंने सतियों की पवित्र परम्परा का पालन किया, मेरे पिता के जीवन में वह उनके प्रति श्रद्धा पूर्ण भक्ति में दृढ़ रहीं और उनकी मृत्यु के बाद उनकी स्मृति के पति, उन्होंने यह आदर्श अपनी पुत्रियों, पौत्रियों और बहुओं को सौंपा।

एकाग्रचित्त होकर, पूर्ण तन्मयता सहित, उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र का पालन-पोषण किया। उसके चरित्र को गढ़ा, उसकी महत्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया और उसकी अभिरुचियों में भाग लिया। जब वह राष्ट्रवादी बना, वह भी वही बन गयीं, जब वह एक निर्धन संघर्षरत विद्यार्थी के रूप में बम्बई आया, उसका साथ देने के लिए उन्होंने घर छोड़ दिया। जब वह राजनीति में आया तो उन्होंने भी एक प्रकार से राजनीति ग्रहण कर ली। जब लोकमान्य तिलक १९१५ या १९१६ में भड़ौच आये तो उनके स्वागत में नारी-समाज की बैठक हुई जिसकी अध्यक्षता करने के लिए वह पहली बार अपनी प्रौढ़ावस्था में घर का संकुचित दायरा छोड़कर बाहर आयीं।

रूढ़िवादी ब्राह्मण-नारी के रूप में उन्होंने जीवन आरम्भ किया था, किन्तु उनकी मानसिक परिवर्त्तनीयता ने उन्हें अपने पुत्र के साथ प्रगति करने का अवसर दिया। अनेक सामाजिक रूढ़ियों और जाति बन्धनों को तोड़कर जब उसने पुत्र विवाह किया, उन्होंने उसे सम्बल दिया। यद्यपि वह किसी स्कूल में नहीं गयी थीं, स्वाध्याय से ही पढ़ सकी थीं, फिर भी रंगीन चाक से बने कई चित्र, कई कविताएँ, कई नैतिक और धार्मिक रचनाएँ उपयोगी टिप्पणियाँ और एक आत्मकथा जो सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति का मर्मस्पर्शी उदाहरण है, वह अपने पीछे छोड़ गयीं। १९३६ में उनकी मृत्यु पर एक बहुत बड़े जन-समुदाय ने, जिसमें स्त्री-पुरुष दोनों सम्मिलित थे, एक माँ का अभाव अनुभव किया।

उनके जीवन और व्यक्तित्व में भारतीय नारी की १८५५ के बाद की प्रगति मूर्त्त है। इस दौरान में स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीय जागरण की चेतना ने भारतीय नारी पर प्रकाश डाला और वह अनजाने ही अपने वास्तविक स्वरूप के निकट आ गयी।

('भारत की नारियाँ' से)

गुजराती साहित्य परिषद सम्मेलन

१९वाँ अधिवेशन—नाड़ियाद : १९५५

परिषद-सम्मेलन के सदस्यो, देवियो और सज्जनो,

इस अवसर पर आप लोगों ने मुझे अध्यक्ष का पद दिया इसके लिये आपका कितना आभार मानूँ ?

यदि इस समय किसी अन्य योग्य व्यक्ति को आपने अध्यक्ष चुना होता तो मुझे प्रसन्नता होती। गत कितने ही वर्षों से मैं परिषद के कार्य से निवृत्त हो गया था परन्तु परिषद ने मुझे आज्ञा दी तो मैं विवश हो गया। इस स्वर्णजयन्ती के अवसर पर अर्द्ध शताब्दी का भरत वाक्य उच्चारण करने का उत्तरदायित्व आपने मुझे सौंपा है तो मैं प्रभु से यही प्रार्थना करूँगा कि वह मुझे उसका निर्वाह करने की शक्ति दें।

परिषद सम्मेलन भी नड़ियाद में—गोवर्धन ग्राम में—तीसरी बार हो रहा है। और संयोग की बात है कि यह स्वर्णजयन्ती भी गोवर्धन शताब्दी के अवसर पर मनाई जा रही है। नड़ियाद झवेरीलाल याज्ञिक, मनसुखराम त्रिपाठी और बिहारीलाल देसाई से प्रारम्भ होने वाले महापुरुषों की जन्म भूमि है। मुझे आशा है कि इन सबकी प्रेरणा से यह सम्मेलन सफल होगा।

सन् १९५२ में नवसारी में होने वाले परिषद-सम्मेलन के बाद हम आज मिल रहे हैं। इस बीच हमने जिन साहित्य-सेवियों और विद्वज्जनों को खोया है उनका स्मरण किये बिना नहीं रहा जाता। कविवर अरदेशर खबरदार, श्रेष्ठ उपन्यासकार रमणलाल वसंतलाल देसाई, सौम्यता की प्रतिमूर्ति रामनारायण विश्वनाथ पाठक, अथक ज्ञानोपासक दुर्गाशंकर शास्त्री, रमणीयराम गोवर्धनराम त्रिपाठी, रत्नमणिराव भीमराव, चन्द्रशंकर शुक्ल, अमृतलाल सेठ और शामलदास गांधी को मैं आप सब की तथा अपनी ओर से श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ। शास्त्री जी और पाठक जी ने तो मेरे साथ अनेक क्षेत्रों में काम किया था। शास्त्री जी और परिषद-सम्मेलन के दो भूतपूर्व अध्यक्षों की अनुपस्थिति हम सब को दुखदायी है।

जब सन् १९२४ में मैंने परिषद का कार्य आरंभ किया तब सर रमणभाई जैसे आदि कार्यकर्त्ता के तीन उद्देश्य मेरे सामने थे। पहला उद्देश्य परिषद को व्यवस्थित करने का था, जिससे कि कोई उसे भंग न कर सके; दूसरा यह देखने का था कि साहित्य की एक

अव्यवस्थित संस्था राजनीति के दलदल में न घसीट ली जाय; तीसरा परिषद को सैंकड़ों भागों में बँटे गुजरातियों को एक करने का साधन बनाना था।

आज ये तीनों उद्देश्य बहुत कुछ पूरे हो चुके हैं। परिषद के विघटन का भय कभी का दूर हो चुका है। साहित्य का क्षेत्र अब इतना सबल हो गया है कि उसे राजनीति हड़प नहीं सकती। और गुजरातियों की अनेक संस्थाओं के अस्तित्व में आने के साथ-साथ गुजरातियों की एकता का कार्य भी पूरा हो चुका है।

अब इस बात की आवश्यकता है कि हमारे नव स्थापित विश्वविद्यालय इसके उत्तरदायित्व का भार संभालने को आगे बढ़ें। इस पद को स्वीकार करने के अनेक कारणों में से एक इस कार्य को सरल कर देने की इच्छा भी है।

गत ३१ वर्षों में समस्त युग बदल गया है, इसके उद्देश्य भी बदल गये हैं। इस बदली हुई परिस्थिति के अनुसार नीति और कार्य की रूपरेखा निर्धारित करने का काम आज परिषद को करना है।

(२)

इस युग में हमारी आँखों के आगे राजनीति, सुरक्षा और समाज-कल्याण के प्रश्न सदा घूमते रहते हैं। अतः यह भी हो सकता है कि बहुतों की समझ में साहित्य परिषद की सार्थकता ही न आवे।

परिषद का प्रथम लक्ष्य गुजराती साहित्य और संस्कृति की अभिवृद्धि तथा विस्तार के साधन जुटाना है। इसका अन्तिम लक्ष्य संस्कृति के विकास को गति देना है।

राजकीय संरक्षण और आर्थिक समाज कल्याण मात्र से संस्कृति का विकास नहीं होता। संस्कृति का विकास होता है सामूहिक जीवन में उल्लास की अभिवृद्धि, सरसता के समावेश, व्यवहार की शालीनता और भव्यता की महत्ता की स्वीकृति से। संरक्षण और समाज-कल्याण दो उसके साधन मात्र हैं।

इस दृष्ट से गत पचास वर्षों में गुजरात ने जो प्रगति की है उसका सिंहावलोकन करना आवश्यक है।

सन् १९०५ में रणजीतराम ने परिषद की स्थापना करके गुजरात की अव्यक्त अस्मिता का मंदिर निर्माण किया था। गोवर्धनराम ने उसमें प्रतिष्ठा की। गुजरात आँखें मलता हुआ उठ बैठा। एक युग बीता और दूसरा शुरू हुआ।

इस बीच गुजरात में पहली बार रूस और जापान के बीच युद्ध के साथ-साथ बंग-भंग के कारण देशभक्ति का उदय हुआ। बड़ौदा में श्री अरविन्द की प्रेरणा से कुछ गुजरातियों ने देश सेवा का व्रत लिया। सन् १९०७ में सूरत कांग्रेस के समय से गुजरातियों ने राजनीति में भाग लेना शुरू किया।

श्रीमती विद्या बहन और शारदा बहन बी० ए० हुईं। इस महान पाप के लिये उन्हें जो कुछ सहना पड़ा उसका अनुमान आप में से बहुतों को नहीं हो सकता। अच्छे घर की औरतों ने गरबा तक छोड़ दिया, उनको उसमें पाप दिखाई दिया।

गुजराती भाषा-भाषियों पर शासन करने वाले सैंकड़ों राजा थे। उनकी एकता केवल अपने भाषा और साहित्य पर निर्भर थी। गोवर्धनराम सर्वमान्य साहित्य-गुरु का

ग्रासन प्राप्त कर साहित्य-रसिकों को एक सूत्र में ग्राबद्ध कर रहे थे। फिर भी न तो वर्तनी एक जैसी थी ग्रौर न शैली में मर्मस्पर्शिता ग्रा पाई थी।

डाह्या भाई घोलशा जी ने नाट्य कला ग्रौर नये गीत-गरबों से सामान्य हृदयों को बहलाया। लोकप्रिय ग्रभिनेता, 'सुन्दरी' ने पहली बार भले घर की स्त्रियों के हाव-भाव ग्रौर वेश-भूषा पर गहरा प्रभाव डाला। शृंगारमय प्रेम लोगों के मुँह लगा ग्रौर हृदय में घर करने लगा। 'कलापी' का उल्लासयुक्त 'केकारव', 'कान्त' की सूक्ष्म भावापन्न ग्रपूर्व कविताएँ ग्रौर कवि नानालाल के शब्द-सौंदर्य से शोभित भावगीतों ने संस्कृत हृदयों को गुंजा दिया।

(३)

'गुजरात देखने योग्य है' ग्रौर 'वसंत या इस गुर्जरी की रसिकता श्रेष्ठ है' ग्रादि का गान रंगमंच पर होने लगा। नानालाल ने गुजरात को 'कृष्णचन्द्र की चन्द्रिका' से उपमा दी। खबरदार ने 'जहाँ-जहाँ बसे एक गुजराती तहाँ-तहाँ सदा रहे गुजरात' का उच्चारण करके महागुजरात को शब्द-शरीर प्रदान किया। गुजरात को ग्रपने ग्रतीतकाल का ज्ञान होने लगा। 'गुणवन्ती गुजरात' एक प्रेरक गान सिद्ध हुग्रा।

इस प्रवाह में मैं भी बहा। सन् १९०५ में मैंने 'The Graves of Vanished Emperies' में गुजरात के विस्मृत गौरव पर ग्रश्रुपात किया। सन् १९१४ में गुजरात की ग्रस्मिता मेरे हृदय में उदित हुई। तब से मैंने साहित्य में चौलुक्य-युग का चित्रण करना प्रारंभ किया।

सन् १९१७ में हाजी मुहम्मद ने 'बीसवीं सदी' मासिक द्वारा नये साहित्यकारों ग्रौर चित्रकारों का परिचय दिया। उसमें श्री रविशंकर रावल ने चित्रकला का गुजराती सम्प्रदाय स्थापित किया। ग्राज उसमें उभार ग्रारहा है।

सन् १९१० में गांधी जी ने गुजरात विद्यापीठ की स्थापना की। उसके शिक्षकों ने साहित्य ग्रौर सेवा दोनों क्षेत्रों में नया मार्ग दिखाया। 'जोडणी कोश'[1] ने गुजराती वर्तनी को समान करने का सफल प्रयास किया।

नवयुग के प्रभाव का ग्रनुभव होते ही गुजरात का सुसंस्कृत व्यक्तित्व विकसित होने लगा। साहित्य संसद ने गुजराती संस्कृति ग्रौर साहित्य को समृद्ध करने का कार्य तेजी से ग्रारंभ किया ग्रौर 'गुजरात' को प्रकाशित किया।

नाटक साहित्य ग्रौर कला का सर्वश्रेष्ठ रूप है। जब तक सुसंस्कृत समुदाय में इसे ग्रवैतनिक कला के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं होती तब तक स्त्री की समानता ग्रधूरी रहेगी ग्रौर व्यवहार में शिष्टता न ग्रा पायेगी। साहित्य संसद ने नृत्य ग्रौर गरबा को कलात्मक रूप देकर उसे घरेलू जीवन का ग्रंग बनाने का प्रयत्न किया। उसने 'काका की शशी' का सफल प्रयोग किया, जिसमें हमारे समाज के स्त्री-पुरुषों ने पहली बार नाटक खेल कर उसे एक ग्रावश्यक सामाजिक शक्ति के रूप में ग्रहण किया।

एक ग्रोर गुजरात ग्रौर ग्रतीत गौरव का मान होने लगा तो दूसरी ग्रोर गांधी जी ने व्यक्तिगत कर्तव्य परायणता ग्रौर सामूहिक पराक्रम द्वारा हमें ग्रात्म-साक्षात्कार की कला

---

१. गुजराती का प्रामाणिक कोश।

सिखाई। गुजरात ने अर्जुन की सी कुशलता दिखाकर पाठ सीख लिया। महत्ता के स्वप्न उनको सत्य करने के प्रयत्नों में प्रतिफलित हुए।

सत्याग्रह आन्दोलनों से गुजरात को अपनी सामूहिक शक्ति में विश्वास पैदा हुआ। गांधी जी के व्यक्तित्व और आचरण पर हमारी श्रद्धा केन्द्रित हुई। संघ शक्ति को कार्यान्वित करने का हमें अभ्यास हुआ और उसका प्रभाव साहित्य तथा संस्कृति पर पड़ा।

सन् १९२७ में रेल संकट के समय वल्लभभाई पटेल के—तब तक वे 'सरदार' के नाम से देश में विख्यात नहीं हुए थे—नेतृत्व में गुजरात ने संघ शक्ति का प्रदर्शन कर सब को आश्चर्यचकित कर दिया। सन् १९२८ में उन्होंने अपूर्व अनुशासन से बारडोली सत्याग्रह द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य की नीवें हिलादीं और गुजरात तथा भारत को पराक्रम दिखाने का बल प्रदान किया। सरदार ने गुजराती अनुयायियों का नियंत्रण किया और कार्यक्षेत्र में गुजराती कार्यकर्ताओं को एक तथा अविभाज्य बनाया।

(४)

सन १९३८ के संक्रातिकाल में करांची साहित्य परिषद ने गुजरातीपन को गंभीरता से अपनाने की घोषणा की। गुजराती अस्मिता ने आरंभ से ही भारतीयता को अपना प्रमुख अंग माना है। संसद और परिषद ने उसे मूर्तरूप देने के लिये उसी वर्ष भारतीय विद्याभवन की स्थापना की।

सन १९३९ में द्वितीय विश्व युद्ध आरंभ हुआ। गुजराती समृद्ध हुए। उनकी उदारता को बल मिला। सत्याग्रह से स्त्रियों में स्वतंत्रता और कार्यकर्ताओं में सेवा की भावना आगई थी। परिणाम-स्वरूप समाजिक कार्यों को बल मिला।

सन १९२५ में गुजरात विश्वविद्यालय स्थापित करने की अव्यक्त आकांक्षा व्यक्त हुई। सन १९२६ में गायकवाड़ सरकार ने बड़ौदा विश्वविद्यालव की स्थापना के लिये 'वीजरी कमीशन' नियुक्त किया परन्तु उस समय की भावना को प्रकट करने के अतिरिक्त और कोई परिणाम न निकला।

बड़ौदा में विज्ञान-मंदिर ने स्नातकोत्तरीय अध्ययन आरम्भ किया। सन १९३९ में आनंद में कृषि गो विद्या भवन और अहमदाबाद में गुजरात विद्या सभा का शोध-विभाग स्थापित हुए और उच्चतम शिक्षा का विकास शुरू हुआ।

जैसे-जैसे स्वतंत्रता पास आती गई वैसे-वैसे विद्या-वृद्धि में हमारा उत्साह बढ़ा। सन १९४७ में बड़ौदा परिषद ने गुजरात विश्वविद्यालय की स्थापना का निर्णय किया और उसकी व्यवस्था के लिये बम्बई सरकार ने मावलंकर समिति नियुक्त की। प्रताप-सिंह गायकवाड़ ने बड़ौदा विश्वविद्यालय की स्थापना के लियें मुंशी समिति नियुक्त की। वल्लभ विद्यानगर में विट्ठलभाई विद्यालय शुरू हुआ। सन् १९४९ की ३० अप्रैल को बड़ौदा विश्वविद्यालय का और २७ नवम्बर को गुजरात विश्व विद्यालय का आरम्भ हुआ। सन् १९५५ में सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ स्थापित होने जा रही है।

(५)

सन् १९४७ में स्वाधीनता की लहर आई। सरदार भारत के एकीकरण के विश्व-कर्मा बने। १९४८ में सौराष्ट्र का एकीकरण हुआ। १९४८ में कच्छ, जूनागढ़, भाँगरोल और माणावदर तथा १९५० में बड़ौदा, गुजरात की अन्य देशी रियासतें और आबू बम्बई प्रदेश में विलीन हुए।

संवत् २००४ की कार्तिक शुदी प्रतिपदा को, १२ नवम्बर १९४७ के दिन गुजरात और भारत के इतिहास में अद्भुत घटना घटी। जूनागढ़ का पतन हुआ, सरदार श्री प्रभास गये और समुद्र तट पर हाथ में पानी लेते हुए कहा—'आज मेरी समस्त महत्त्वाकाँक्षाएँ पूरी हुईं।' सायंकालीन सभा में उन्होंने अपना संकल्प प्रकट किया—"इस नव वर्ष के शुभ दिवस पर हमने निर्णय किया है कि सोमनाथ के मंदिर का पुनर्निर्माण हो।"

सन् १९५० के मई महीने की आठवीं तारीख को जाम साहब ने मंदिर का शिलान्यास किया। ११ मई १९५१ को राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद ने सोमनाथ भगवान के नये लिंग की प्राण-प्रतिष्ठा की।

मेरा पेंतालीस वर्ष का स्वप्न सत्य हुआ। नव गुजरात का आरंभ हुआ। साथ ही गुर्जर-हृदय की शताब्दियों की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।

'बुद्धिवर्द्धक' और 'अस्तोदय' का संगम होने से हमारी प्रगति गंगा जी के प्रबल प्रवाह की भाँति अग्रसर होती है। 'गुजराती मानस' के सन्तुलनशील होने के कारण न तो हम पुरातन का अकारण नाश ही होने देते हैं और न नवीन को तिरस्कृत करने का संकल्प करके 'तातस्य कूपे' पतित होकर मरना ही चाहते हैं। अन्य प्रान्तों की तुलना में हमारे यहाँ जाति-बन्धन शिथिल हुए हैं और तज्जन्य संकट बहुत कम हैं।

स्त्रियाँ स्वतंत्रता और समानता प्राप्त करने में बहुत कुछ आगे बढ़ी हैं। वे नृत्य, गीत और नाटक से संस्कार और जीवन में प्रफुल्लता लाई हैं लेकिन फिर भी न तो उन्होंनें घर संभालना छोड़ा है और न आर्योचित मर्यादा।

गुजराती जीवन में नीति और ईश्वर पर विश्वास बने रहे हैं। भगवान श्रीकृष्ण, नरसिंह मेहता, स्वामी नारायण, दयानन्द और महात्मा गांधी के आदेश हमारे हृदयों को प्रेरणा देते हैं। विश्व को अपने शिकंजे में कसकर बैठे हुए आज के भौतिकवाद का विष उतारने की आध्यात्मिक सामर्थ्य गुजरात में पहले जैसी ही है।

(६)

सन् १९१५ से मुझे एक ही लालसा थी कि गुजराती भाषा-भाषी समस्त जनता एक शासन के अन्तर्गत आये और 'एक तथा अविभाज्य' बने।

कराची, राजकोट और जूनागढ़ की परिषदों में भी यही लालसा व्यक्त हुई थी। महागुजरात सम्मेलन ने भी प्रस्ताव किया था कि गुजरात का अर्थात जहाँ-जहाँ गुजराती बोली जाती है उस समस्त प्रदेश का—बम्बई प्रान्त में समावेश कर देना चाहिए।

गुजराती जनता की शासन-सम्बन्धी एकता की लालसा मेरे जीते जी पूरी होगी या नहीं, इस विषय में मैं आश्वस्त न था। आज हमें मुक्त कंठ से ईश्वर को धन्यवाद

देना चाहिए कि वह शुभ घड़ी आ पहुँची है। गुजरात एक प्रान्त के अन्तर्गत होगा, सदैव अविभाज्य रहेगा और भारत की प्रचण्ड शक्ति का स्तम्भ बनेगा। इकत्तीस वर्ष पूर्व जिस लक्ष्य को लेकर मैं परिषद का कार्य करने को तत्पर हुआ था वह आज पूरा हुआ।

हमने राष्ट्र-धर्म और गुजराती अस्मिता को सबसे ऊँचा स्थान दिया है। प्रांतीय अभिमान और भाषावार प्रान्त निर्माण की भावना के फलस्वरूप भारत को जो भोगना पड़ा है उसकी गवाही हमारे इतिहास का पृष्ठ-पृष्ठ दे रहा है। हमें इसका ज्ञान है। यदि भारत अविभाज्य रहेगा तो सब प्रान्त तर जायेंगे। यदि भारत विभक्त होगा तो कौन प्रान्त जीवित रह सकेगा ?

प्रान्तीय पुनर्निर्माण समिति की सूचनाओं के विषय में हमारे राजनैतिक दलों के नेताओं और राष्ट्र नेताओं के बीच विचार-विमर्श हो रहा है। इसलिये उस विषय में अभी मौन रहना ही ठीक है।

जबकि भारत का सूर्य मध्याह्न में चढ़ रहा है तब यह भय कि एक करोड़ सत्तर लाख गुजराती सब कुछ गंवा बैठेंगे, व्यर्थ है।

सफलता आत्मबल का वरण करती है, संख्याबल का नहीं। जिसमें अदम्य उत्साह, अडिग संघ शक्ति और सर्वस्व समर्पण करने का संकल्प होता है उसे तो सफलता मिलती ही है। क्या कभी बलहीनों को भी आत्म-सिद्धि होती सुनी है ?

(७)

एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न उठाता हूँ। मेरा स्पष्ट मत है कि यदि भारत के हर एक प्रान्त में हिन्दी उच्चतर शिक्षा का माध्यम न हुई तो प्रान्तीयता की भावना बढ़ेगी और भारत की एकता का नाश होगा। और यदि उसे माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया गया तो समस्त प्रान्तीय भाषाओं का विकास हुए बिना न रहेगा।

स्वार्थ दृष्टि से देखने पर भी यदि हमारा शिक्षित वर्ग अच्छी तरह हिन्दी बोल और लिख न सकेगा तो उसे गुजरात के बाहर स्थान न मिलेगा। शिक्षा केन्द्रों में अन्य भाषा भाषी विद्वानों का प्रोत्साहक सम्पर्क प्राप्त न होगा, हम शासन कार्यों में पीछे रह जायेंगे। सर्वोदय के युग में हमारा सेवा का क्षेत्र संकुचित हो जायगा और 'प्रान्तीय भाषा वाद' की वृद्धि होती जायगी।

हिन्दी के व्यवहार और शिक्षा का माध्यम होने से गुजराती के सौंदर्य और प्रभाव के कम होने की आशंका निर्मूल है।

मेरी सम्मति में हिन्दी को उच्च कक्षाओं के माध्यम के रूप में स्वीकार करना गुजराती के विकास के लिए आवश्यक है। क्या गोवर्धनराम, नरसिंहराव और नानालाल के संस्कृत तथा अंग्रेजी पढ़ने से गुजराती का विकास रुक गया ? यदि गांधीजी, महादेव भाई और काका कालेलकर ने संस्कृत, अँग्रेजी, मराठी आदि भाषाओं का अध्ययन न किया होता तो क्या व गुजराती की इससे अच्छे ढंग से सेवा कर सकते थे ?

भारत में शिक्षित वर्गों को मातृभाषा, हिन्दी, अंग्रेजी और संस्कृत इन चार भाषाओं का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। जिसकी मातृभाषा हिन्दी हो उसे दूसरी भारतीय भाषा पढ़नी ही होगी। जिसे साहित्य सेवा करनी है उसके लिये तो विविध भाषाओं की जानकारी अनिवार्य है। विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क से ही साहित्य में नया सौंदर्य और मर्मस्पर्शिता आती है। और इन दोनों की आज गुजराती को बड़ी भारी आवश्यकता है।

भाषा प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व का आवश्यक अंग होते हुए भी भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक शक्ति का अनेक शताब्दियों के सामूहिक प्रयत्नों द्वारा प्राप्त सुन्दर और गंभीर परिणाम है। जैसे-जैसे हम उसका उपयोग करते हैं वैसे-वैसे वह हमारा निर्माण करती है और हम उसका निर्माण करते हैं।

इन कारणों से संस्कृति और राष्ट्र के पुर्ननिर्माण का प्रत्येक युग किसी न किसी भाषा के प्रभावशाली विकास के साथ जुड़ा रहता है। गुप्त काल में संस्कृत की दुंदुभी बजी। यूरोपीय रेनेसां के समय इटालियन और एलिजाबेथ कालीन इग्लैण्ड में अंग्रेजी ने महत्त्व प्राप्त किया। उसी प्रकार भारत के भविष्य का निर्माण राष्ट्रभाषा भारती के उद्‌भव और विकास के साथ सम्बद्ध है।

इस राष्ट्रभाषा का बाना हिन्दी ही हो सकती है; इसमें ताना प्रान्तीय भाषाओं का होगा, और दोनों की एक सूत्रता संस्कृत द्वारा रक्षित होगी। स्वतंत्र भारत के जीवन और संस्कृति के निर्माण करने तथा उसे पुष्ट करने के लिये यह वस्त्र तो हमें बुनना ही पड़ेगा। लेकिन यह वस्त्र एक विद्वन्मण्डली या एक भाषा-सम्प्रदाय के प्रयत्नों द्वारा नहीं बुना जा सकता। इसके बुनने वाले तो बाने और ताने का एक साथ उपयोग करने वाले ही होंगे। जैसे-जैसे हम हिन्दी का उपयोग करते जायेंगे वैसे-वैसे उसमें संस्कृत की मर्म-स्पर्शिता, गुजराती की सरलता और सचोटता, बंगला का माधुर्य और तमिल की प्रौढ़ता आती जायगी।

(८)

गत पचास वर्षों में हमारे साहित्यकारों ने गुजराती को सचोट और समृद्ध बनाया है। आज उसकी अभिव्यंजना-शक्ति भारत की किसी भी भाषा की शक्ति की बराबरी कर सकती है।

"भगवद् गो मण्डल" द्वारा प्रदत्त 'शब्द समुच्चय' गुजराती भाषा की विपुलता प्रकट करता है।

संस्कृत और अंग्रेजी के सम्पर्क से उसकी भंगिमा को आधुनिक आवश्यकता के अनुकूल शक्ति देना हमारा कर्तव्य हो जाता है।

ऐसा करते हुए हमें रूढ़िवादिता का बाँध बना कर प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करना चाहिए। शब्दों और मुहाविरों के भण्डार को बढ़ाना चाहिए। विशेष रूप से जीवन के हर एक क्षेत्र में गुजराती शब्दों के साथ-साथ पुरानी गुजराती और बोलचाल के मुहावरों का अधिकाधिक प्रयोग करना चाहिए। तत्सम शब्दों का ग्रहण करके संस्कृत के नियमानुसार अर्थ-सूक्ष्मता के अनुकूल उनके नये प्रयोग करनें चाहिए। अँग्रेजो के

सम्पर्क से जो प्रयोग पिछले सौ वर्ष में हुए हैं उन्हें सामान्य भाषा व्यवहृत करने की व्यवस्था होनी चाहिए। साथ ही आज की साधन-सम्पन्नता और वैज्ञानिक आवश्यकताओं को व्यक्त करने के लिये अर्थपूर्ण पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग धड़ल्ले से करना चाहिए।

जब इस प्रकार के नये शब्द और प्रयोग विकसित मस्तिष्क की भट्टी में तपकर प्रयुक्त होंगे तब वे बोलचाल में भी स्थान प्राप्त कर लेंगे।

साथ ही गुजराती उच्चारण शुद्ध और समान करने की आवश्यकता है। यदि हरएक शिक्षक अलग-अलग उच्चारण करेगा तो भाषा का उद्धार कैसे होगा? और जब तक इस प्रकार की शुद्धता समस्त मुद्रण जगत में नहीं बर्ती जायगी तबतक भाषा का विकास कैसे संभव होगा?

गुजराती भाषा का विकास तो तेजी से होना है। कुछ ही दिनों में अनिवार्य शिक्षा के फलस्वरूप सरस साहित्य की माँग बढ़ेगी। जैसे-जैसे शिक्षा संस्थाओं की संख्या बढ़ेगी वैसे-वैसे सरस साहित्य की भूख भी खुलेगी।

इस स्थिति तक पहुँचने के लिये हमें प्राचीन साहित्य की अप्रकाशित पुस्तकों का मुद्रण अपने हाथ में लेना चाहिए। उससे भी अधिक आवश्यक कार्य तो यह है कि हम प्रकाशित प्राचीन साहित्य का वैज्ञानिक संशोधन करें और अपने साहित्यकारों की अप्रकाशित तथा अप्राप्य रचनाओं को प्रकाश में लावें। दुःख की बात है कि गोवर्धनराम की समस्त अँग्रेजी और गुजराती रचनाएँ ग्रंथावली के रूप में नहीं छपीं और नानालाल की पेंतीस हजार श्लोकों की 'हरि संहिता' बिना छपे सड़ रही है।

अनुवादों के पीछे पैसा बहाने में कोई सार नहीं। यदि ऐसा करने का मन हो तो उस्मानिया यूनीवर्सिटी द्वारा लाखों रुपया खर्च करके किये गये निष्फल प्रयोग की कथा याद रखना। यदि भाषा और ज्ञान का विस्तार करना हो तो अपने साहित्यकारों और प्राध्यापकों को अनुभवपूर्ण मौलिक पुस्तकों की रचना करनी चाहिए।

जब तक गुजरातियों के हृदय में साहित्य और संस्कृति के लिये प्रेम उत्पन्न नहीं होता तबतक अपने जीवन का प्रवाह उथला ही रहेगा।

क्या यह प्रेम और सम्मान गुजरात के हृदय में है? क्या नर्मद और गोवर्धनराम की जयंती समस्त गुजरात के गाँव-गाँव में मनती सुनी है? क्या नड़ियाद में गोवर्धनराम का भव्य स्मारक कहीं नजर पड़ा? क्या समस्त भारत के विद्वत् शिरोमणि गुजराती हेमचन्द्र का नामोनिशान कहीं दिखाई दिया?

आगामी पूर्णिमा को प्रभास में भगवान सोमनाथ का महोत्सव मनाया जाने वाला है। यह बात आप में से कितने जानते हैं? जो जानते हैं उनमें से कितनों की कल्पना प्रखर हुई है? कितने जाने को उत्सुक हैं?

गुजराती विश्वकर्मा जयसिंह देव सिद्धराज का जन्म-स्थान पालणपुर अज्ञात, असम्मानित और अपूज्य पड़ा है। वहाँ आजतक किसी को भव्य स्मारक बनाने की बात न सूझी।

गुजरात को 'कृष्णचन्द्र की चन्द्रिका समान' उज्ज्वल समझने वालों में से कितने लोग 'देहोत्सर्ग के' परम धाम के दर्शन कर कृतार्थ हुए हैं? तो फिर वहाँ उपयुक्त स्मारक बनवाने की बात कौन सोच सकता है?

एक बात न भूलना। अतीत गौरव के स्मरण में ही वर्तमान सामूहिक कार्य क्षमता और भावी साफल्य की जड़ें हैं। यदि उन जड़ों को सूखने दोगे तो तना रह जायगा फल या फूल न होंगे। और यदि ऐसा होगा तो साहित्य को प्रेरणा कहाँ से मिलेगी?

गुजरात के स्रष्टाओं की स्मृति सजीव रखने का अभ्यास करो। गुजराती प्रेम का हमारा झूठा ढोंग किस काम का? करोड़ों की धन-दौलत होते हुए भी हमने पितृ ऋण नहीं चुकाया इसलिये परिषद को लज्जित तो होना ही पड़ेगा।

(१०)

तीस वर्ष पहले मैंने रोमांटिक साहित्य और रूढिवादी साहित्य का अन्तर बताया था। रूढ़िवादी साहित्य आन्तरिक उल्लास से भिन्न किसी एक विशिष्ट आदर्श को स्वीकार करके चलता है। कई बार वह पारलौकिक या नीति परायण होना चाहता है। वह शिष्ट समझे जाने वाले साहित्य के अनुकरण को भूल कर कभी बन्धनमुक्त नहीं हो सकता। साहित्य राजनीति की दृष्टि से उपयोगी होना चाहिए, यह आदर्श आज के युग में लगभग सर्वमान्य-सा हो चुका है।

परन्तु रोमांटिक साहित्य का ऐसे किसी आदर्श से सम्बन्ध नहीं उसकी सफलता तो अन्तर के उल्लास को व्यक्त करने में रही है। उसका स्रष्टा निःसंकोच आत्मकथन में ही अपनी सार्थकता समझता है।

यह रोमांटिक साहित्य आधुनिक काल (Modern Age) की विशेषता है। पिछली शताब्दी का हमारा अधिकांश साहित्य इसी से प्रेरित होकर लिखा गया है। नर्मद हमारा पहला रोमांटिक है। परन्तु उसके स्वभाव में सूक्ष्मता और मार्दव नहीं थे। फिर उसकी दृष्टि भी सरस न थी। यद्यपि उसके लिये अतिशयोक्ति पूर्ण उद्‌गार स्वाभाविक थे तथापि उसका मन मानव-हृदय के पथ-प्रदर्शन में रमता था। वह साहसी था। अपरिचित पथ पर चलने का उसमें उत्साह था। ज्वालामुखी पर जाकर खड़े होने की उसमें जिद थी। इससे वह अपने आधुनिकों में प्रथम था।

आधुनिक साहित्य का वास्तविक क्षेत्र मानव-हृदय ही है। इस सत्य को स्वीकार करके हमारे साहित्यकारों ने अपने साहित्य में नई दृष्टि का सूत्रपात किया।

गोवर्धनराम के विषय में मैं कल ही विस्तार से बता चुका हूँ। उन्होंने सरस्वती चन्द्र और कुमुद सुन्दरी के हृदयों में अपने हृदय की धड़कन सुनी और हमें सुनाई। उन्होंने अपने हृदय के द्वार खोलकर हमें अपने हृदय में विहार कराया और इसके कारण उनकी सृजनशीलता ने आधुनिक भारतीय साहित्य में नया सीमा-चिह्न अंकित किया।

नरसिंहराव, कान्त और कलापी ने अपने हृदय के द्वार पट और अधिक खोले और हमारे हृदय के सम्राज्य की सीमा का भी विस्तार किया। नानालाल ने हृदय के सुकुमार स्पन्दनों को शब्द-सौंदर्य द्वारा आह्लादोत्पादक बनाया। गाँधी जी ने अपनी आत्म-

कथा में अन्तर के मंथनों और वृत्तियों का नग्न रूप में वर्णन करके रूसो के आत्मकथन की बराबरी की।

रोमांटिक साहित्य के आदि स्रष्टा इस रूसो ने अपने 'आत्म कथनों' में इस नई दृष्टि को अपनाकर एक गहन सूत्र का उच्चारण किया। वह है 'Moi seul' 'मात्र में ही', जैसा, में हूँ वैसा ही। मेरे जो भाव और विचार हैं उनका ही चित्रांकन करूँगा और ऐसे ही चित्रांकन में तुम्हें अपना हृदय दिखाई देगा।

प्रत्येक व्यक्ति का हृदय सागर है। उसमें उल्लासमय तरंगें उठती हैं। चटकीले रंग की मछलियाँ और प्रबाल-व्यूह भी हैं। किसी देवकन्या के जैसा सुमधुर संगीत उसका प्राण है। इतना होने पर भी उसमें विकराल मगर, विषैले जन्तु और भटकाने वाली कन्दराएँ हैं। सागर अपनी तरंगों पर मनुष्य को उछाल सकता है और अपनी अतल गहराइयों में डुबा भी सकता है।

जिस समय साहित्यकार इस सागर की गहराइयों को देखने और उसके सुन्दर और भयंकर रहस्यों को प्रतिबिम्बित करने के दृष्टिकोण को अपनाता है उसी समय रूढ़िवादी साहित्य द्वारा हृदय पर डाला हुआ प्रभाव नष्ट हो जाता है। दोनों प्रकार के साहित्य प्रकारों के बीच का भेद स्पष्ट हो जाता है और आधुनिक साहित्य की मर्म स्पर्शी मोहकता के रहस्य साहित्यकार की समझ में आ जाते हैं।

(११)

यह दृष्टिकोण केवल आधुनिक साहित्य में ही हो सो बात नहीं है। आधुनिक मानव ने समस्त जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण अपनाया है उसका यह एक अंग है और वही मानव इतिहास के प्राचीन युग को आधुनिक युग से अलग करता है।

इस दृष्टिकोण के अनुसार जीवन ही परम सत्य है। यदि मानव हृदय में रंगीन तथा वैविध्य पूर्ण आन्तरिक वैभव- (Vivid richness of Life) आ जाय और सूक्ष्म संवेदनशीलता हर एक अनुभव के आनंद में लीन हो सके तो इस सत्य की उपलब्धि हो सकती है।

जब इस वैभव को गुप्त रखा जाता है या उसे विकृत किया जाता है तो जीवन असत्य बन जाता है।

यह आधुनिक दृष्टिकोण ऐसी समाज-व्यवस्था कायम करना चाहता है कि जिससे हर व्यक्ति के लिये आन्तरिक समृद्धि सुगम हो जाय। यही सर्वोदय है। समाज सेवा, लोकतंत्र और कल्याणकारी राज्य (Welfare state) तो उसे शीघ्र लाने के लिये साधन मात्र हैं।

जब इस सत्य के दर्शन होते हैं तब मानव को आत्म-साक्षात्कार होता है। तब उसे अपूर्वता की झांकी मिलती है—परलोक में नहीं इसी लोक में, स्वभाव के दमन से नहीं प्रत्युत उसके उन्नयन से।

कभी-कभी यह आन्तरिक समृद्धि निर्मल और भव्य बनकर उल्लास की पराकाष्ठा को पहुँच जाती है। तब जो नैसर्गिक है वह आध्यात्मिक बन जाता है और जो आध्यात्मिक

है वह नैसर्गिक बन जाता है। ऐसा होने से ईश्वर का मनुष्य में अवतरण होता है और उसके कारण समस्त मानव आंतरिक वैभव से सम्पन्न हो जाते हैं। अनादिकाल से योगी, भक्त और चिन्तक इसी वैभव को प्राप्त करके और इसके विकास की पराकाष्ठा को पहुँच कर अपने जगत के अन्दर ईश्वर का आविर्भाव देखते आये हैं।

आज के साहित्य में ऐसे वैभव का दर्शन मिलना दुर्लभ होता जा रहा है। कारण यह है कि उसके सामने महान भय आकर खड़ा हो गया है और वह अक्सर साहित्यकार की अनुभूति को कुचल देता है।

सामान्यत: साहित्य के प्रकार और उसकी सरसता का आधार तत्कालीन पाठक वृन्द की रुचि और ग्रहण शक्ति की सीमा होती है। कभी-कभी शिक्षित और सभ्य रसिक वर्ग की रुचि की विकृति के कारण भी साहित्य का विकास सीमित हो जाता है। 'कादम्बरी' की रचना के समय बाण को अपने समय की कृत्रिम भाषा के प्रेमियों को संतुष्ट करने के लिये अटपटी भाषा का प्रयोग अनिवार्य हो गया।

इस युग में रसिक राजा चले गये हैं। उनके परवारों में पलने वाले सिद्धहस्त साहित्यकार भी साथ ही चले गये। अब विद्वान अथवा अध्ययनशील रसिकों की सम्मति पर पुरस्कार नहीं मिलता। आज तो साधारण पाठकों की संख्या तेजी से बढ़ती जा रही है और पुरस्कार देने की शक्ति उनके पास आ गई है। यह समुदाय न तो रसिक है और न तीव्र बुद्धि का।

फिर शासन के हाथों में अपनी नीति के अनुकूल साहित्य के प्रसार और पोषण की अपरमित शक्ति आ गई है इसलिये साहित्यकार जाने-अनजाने यह भी मान लेता है कि साहित्य सर्जन उसके प्रचार का साधन मात्र है।

इस सब के फलस्वरूप साहित्य के आदर्श और मानदण्ड दोनों अधोगति को प्राप्त होते जा रहे हैं।

जिसे सरसता के साक्षात्कार की इच्छा है उसे यह आवरण हटाना ही पड़ेगा। जो साहित्यकार समस्त संसार की अमर साहित्यिक कृतियों का पारायण करके अनन्तकाल तक स्वीकृत होने वाली सर्जना की लालसा रखता होगा वही इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकता है।

कलाकारों को भगवान ने समृद्ध आन्तरिक वैभव दिया है। वही उनकी जीवन यात्रा को सफल करने का क्षेत्र और साधन बनता है।

इसीलिये कलाकारों से कहता हूँ कि इसका तिरस्कार न करना, इसे किसी को जंजीरों से जकड़ने न देना, इसे कला-स्वामियों की ऊष्मा देना, अनुभव के आँसुओं से इसका अभिषेक करना, गरीबी से न घबराना, तृप्ति से विरत रहना, जगत के प्रलोभनों और भयों से निर्लिप्त रहना, सूक्ष्मता प्राप्त अपनी अनुभव शक्ति से समृद्ध हुए अपने आन्तरिक वैभव को नग्न रूप में और निस्संकोच भाव से साहित्य में अभिव्यक्त करना, आत्म-विश्वाससे न डिगना।

इस प्रकार अभिव्यक्त तुम्हारा साहित्य हृदयों को नवपल्लवित करेगा और मनुष्यों को अपूर्व होने का सामर्थ्य देगा। चाहे संसार हंसे या निरादर करे पर वह साहित्यकार को आत्म-साक्षात्कार के शिखर पर पहुँचाये बिना न रहेगा।

इस समय भी मैं यही प्रार्थना करता हूँ कि गुजरात में ऐसा साहित्य लिखा जाय और अंतिम समय में जब मेरे निर्जीव हाथ से लेखनी गिर पड़ेगी तब भी यही प्रार्थना करूँगा:—

"शिवास्ते पंथानः सन्तु"

अनुवादक—डा० पद्मसिंह शर्मा "कमलेश"

गोवर्धनराम जन्म शताब्दी महोत्सव

(अक्टूबर २६, १९५५)

देवियो और सज्जनो,

इस शताब्दी में सम्मिलित होने पर मुझे अत्यधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। आप सब लोगों ने इस प्रसंग पर मुझे उन्हें श्रद्धांजलि देने का अवसर दिया, इसके लिये में आप सबका ऋणी हूँ। और किन शब्दों में आपके प्रति आभार प्रकट करूँ?

पचास वर्ष पहले की बात है। उस समय प्रत्येक पढ़ा-लिखा गुजराती अपने को 'सरस्वती चन्द्र' मानकर गोवर्धन राम की कल्पना-सृष्टि में विहार करता था। 'नहीं ऊंचे नहीं नीचे, मिले आधार घन हींचे।'[1] कहकर वह उड़ने के मनसूबे बांधता था। साथ ही किसी 'कुमुद सुन्दरी' को वरण करने की तरंग में अपनी घर की रानी को देखकर निःश्वास छोड़ता था। ऐसे युवकों में मैं भी एक था।

सन् १९१० से मैंने स्व० चन्द्रशंकर पण्डया और श्री कान्तिलाल पण्डया जैसे मित्रों के साथ बम्बई का जीवन आरंभ किया। मैं इनके नड़ियादी संघ में मिल गया और निर्मित हुआ। और इन सबका स्नेह मेरे हृदय में व्याप्त हो गया। गोवर्धन इस संघ के श्रद्धेय और सजीव प्रेरणा मूर्ति थे। अतः परोक्ष रूप से मुझे उनकी प्रेरणा प्राप्त करने का सुअवसर भी मिला।

(२)

ठीक सौ वर्ष पूर्व दशहरे के दिन नड़ियाद में, बडनगरा नागर जाति में गोवर्धन राम का जन्म हुआ था।

बड़नगरा नागरों की छोटी-सी जाति की महत्ता के मूल का पता लगाने के लिये हमें गुप्त सम्राटों के स्वर्ण युग में जाना पड़ेगा। तब आनर्त के, उत्तर गुजरात के विद्या केन्द्र आनंदनगर (बड़नगर) के ब्राह्मण अपने को नागर कहलाने लगे थे।

पन्द्रह सौ वर्ष की इस जाति में विद्वद्वर्य, वेदान्ती, राजनीतिज्ञ और योद्धाओं के कई एक नाम वल्लभीयुग, प्रतिहार युग और चौलुक्ययुग के इतिहास में देखने को मिलते

---

१. बादल रूपी झूला।

हैं। नवीं शताब्दी में उत्तर गुजरात कन्नौज के गुर्जरेश्वर मिहिर भोज, जिन्हें कथानकों में कल्याण कटक का भुवड़ कहा जाता है, के साम्राज्य में था। उस समय के उल्लेखों के अनुसार विद्या विशारद नागर भट्ट को बड़नगर से ग्वालियर जाने और उसके पुत्र वैल भट्ट तथा पौत्र अल्ल भट्ट के वहाँ के दुर्ग रक्षक होने का पता चलता है।

चौलुक्य कुलभूषण मूलराज ने जब गुजरात का आरम्भ किया तब माधव, लूल और भाभ तीन नागर मंत्री थे और नागर पंडित सोल पाटणेश के राजपुरोहित थे।

गुजरात के विश्वकर्मा जयसिंहदेव सिद्धराज और उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल के राज्यकाल में दादाक मेहता महामात्य थे और उनके वीर पुत्र महादेव मालवा के दण्डनायक थे। उस समय सर्वदेव और उनके पुत्र आमिग राजगुरु थे। कविकुल शिरोमणि श्रीपाल को चक्रवर्ती का सगा भाई मानते थे।

तेरहवीं शताब्दी में राजगुरु सोल के वंशज कवि सोमेश्वर का नाम इतिहास में सुवर्णांकित है। उन्होंने 'कीर्ति कौमदी' से गुजरात के अतीत को उज्ज्वल कर दिया है। भोला भीमदेव के समय में जब सारा गुजरात छिन्न-भिन्न हो गया था तब सोमेश्वर ने वृद्ध लवणप्रसाद को प्रेरणा देकर और वस्तुपाल तेजपाल का सहयोग प्राप्त कर गुजरात का उद्धार किया था।

इतिहास तो निष्पक्ष है, वह कलंक पर पर्दा नहीं डालने देता। खिलजी ने चौलुक्य कालीन गुजरात का जो विनाश किया तो उसमें भी हाथ था नागर माधव का। क्या इतिहास के साथ कल्पना भी मिला दूँ? माधव द्वारा किये गये पाप का प्रायश्चित जो मुझे कराना पड़ा तो वह भी सौमेश्वर के वंशज नागर गंगेश्वर मुनि के हाथौं।

१९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अधेड़ उम्र के नागर वेदान्ती, कर्मकाण्डी या शाक्त थे। बहुत से विद्याव्यसनी थे। काठियाबाड़ में (इस अनुसंधान में यह शब्द ही सार्थक है) गोकुल जी झाला और गंगा ओझा राज्य करते थे और दूसरे नागर राजकीय झगड़ों में फंसे रहते थे। इने-गिने व्यापार भी करते। सभी 'कलम, कलछी और बर्छी' के मद में चूर रहने वाले थे और अपने को सबसे अलग तथा सर्वोपरि मानते थे।

ब्रिटिश शासन के आने पर शिक्षा और शासन के नये मार्ग खुले। इन मार्गों से सबसे पहले आगे बढ़ने वाले युवक नागर थे। नर्मद, भोलानाथ, नन्दशंकर, महीपतराम और झवेरी लाल याज्ञिक के नामों से कौन अपरिचित है।

(३)

गोवर्धनराम के भोले पिता माधवराम ने व्यापार में पैसा खोया। वैभव के हाथ से निकल जाने पर वे नड़ियाद आकर भगवत्-भक्ति में लीन हो गये। उनकी माता भी पूर्ण व्यवहार कुशल, दृढ़ और प्रभावशालिनी थीं।

गोवर्धनराम का बाल्य काल नवभारत के जन्म का उषःकाल था।

सन् १८२० के लगभग स्वामीनारायण सम्प्रदाय ने गुजरात में नवजीवन की आधारशिला रखी। उसके दो सूत्र थे—सदाचार रहित भक्ति प्रभु को प्रिय नहीं और साधुपद प्राप्त करने का अधिकार ब्राह्मण और शूद्र दोनों को है।

सन् १८२८ में 'बम्बई समाचार' का जन्म हुआ। रणछोड़दास गिरधर भाई ने आधुनिक गुजराती शिक्षा पद्धति का प्रचार किया। सन् १८२७ में एलफिन्स्टन इंस्टीट्यूट अंग्रेजी शिक्षा का केन्द्र बना और पाश्चात्य प्रभाव का प्रारंभ हुआ।

सन् १८४८ में अलेक्जेण्डर किन्लोक फार्ब्स ने 'गुजरात वर्नाक्लूलर सोसायटी' की स्थापना की और कवि दलपतराम के सहयोग के परिणाम स्वरूप 'रासमाला' की रचना करके गुजरात के अतीत की कुछ झलक दी।

सन् १८५१ में रणछोड़ भाई की अध्यक्षता में बुद्धिवर्द्धक सभा की स्थापना हुई और उत्साही युवकों ने सुधारों की घोषणा की। नर्मद 'जंग जीतवा' आगे बढ़ा और सिद्धराज का स्मरण करके गुणवन्ती गुजरात के पुनरुत्थान की रट लगाने लगा।

सन् १८५५ में नये सुधारों की गंगोत्री 'बुद्धि वर्द्धक सभा' से प्रचण्ड उत्साह प्रवाहित होने लगा था। उसी वर्ष खुशरू काबरा जी ने 'पारसी मित्र' निकाला। ईश्वरचन्द्र विद्या सागर की प्रेरणा से 'विधवा विवाह विधेयक' (एक्ट) भी इसी वर्ष पास हुआ। सूरत में दुर्गाराम मेहता नए विचारों का प्रचार करने लग गये थे।

धर्म और परम्परा से बँधा नड़ियाद अभी जागा न था। स्व० झवेरीलाल याज्ञिक बम्बई में पढ़ते थे और स्व० मनसुखराम सूर्यराम अहमदाबाद में। ये दोनों नागरों के विद्या-प्रेम के उत्तराधिकारी थे और पुरातन शास्त्र तथा संस्कृत में अडिग आस्था रखकर उनके उद्धार के स्वप्न देखते थे।

सन् १८५७ में प्रथम स्वतंत्रता संग्राम हुआ। इसके लिये (विद्रोह शब्द अनुपयक्त है) उसमें हम हारे। भारत ने स्वतंत्रता खोई। झांसी की रानी लक्ष्मीबाई स्वर्गवासिनी हुई। मध्यकालीन भारत समग्रतः समाप्त हुआ और आधुनिक काल का आरंभ हुआ। बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। सन् १८५८ में 'बुद्धिवर्द्धक' का सम्पादकत्व स्वीकार करके आधुनिकों में प्रथम नर्मद ने सामाजिक विद्रोह का सूत्रपात किया।

गोवर्द्धनराम के घरेलू संस्कार पुराने जमाने के होने पर भी समृद्ध थे। उनके घर में उनके पिता के गुरु 'मुनि महाराज' की चलती थी। कथावाचकों की पौराणिक कथाओं से उनका शिशु मस्तिष्क भर गया था। सन् १८८६ में जब पितृतुल्य मनसुखराम एलफिन्स्टन कालिज बम्बई में पढ़ने गये तो उनकी निष्ठा और विद्या-प्रेम का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

सन् १८६४ में बंगाल में वंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय ने 'दुर्गेशनन्दिनी' उपन्यास प्रकाशित किया और उसके द्वारा उन्होंने भारतीय साहित्य के आधुनिक पुनरुत्थान का सूत्रपात किया। सन् १८६५ में गुजरात में 'नर्म गद्य' पुस्तक का प्रकाशन हुआ। सन

१८६६ में नन्दशंकर का 'करणघेलो' और सन् १८६७ में नवलराम का 'भटनु भोपालु' नवकिरणों का स्पर्श-सुख अनुभव करते हुए रसिक पक्षियों ने कलरव आरम्भ किया।

१७ वर्ष की उम्र में गोवर्द्धनराम भी एलफिन्स्टन कालिज में दाखिल हुए। वहाँ संस्कृत प्रधान नवीन सांस्कृतिक विचारधारा के एक अग्रगण्य प्रवर्तक विद्वान् भांडारकर प्राध्यापक थे। वे उनके तथा उदार चरित प्रधानाचार्य वर्ड्ज़वर्थ दोनों के विश्वास और आशा के पात्र बने। तेलंग और रानाड़े जैसे नव संस्कृति के निर्माताओं से भी उनका परिचय हुआ।

इन सबके सम्पर्क से गोवर्द्धनराम में अगाध विद्या-प्रेम उत्पन्न हुआ। अपना और जगत का उद्धार करने का अदम्य साहस भी उनमें आया। उन्होंने संस्कृत, गुजराती और अंग्रेजी का विस्तृत अध्ययन किया। साथ ही भारत, इंग्लेण्ड रोम और ग्रीस के इतिहास का भी। उस समय का पाठ्यक्रम आज के जैसा संकुचित और एकांगी नहीं था। मस्तिष्क का विकास और चरित्र-निर्माण उसका पहला ध्येय था।

जो नर्मद और मनसुखराम को जानता और समझता नहीं वह नवीन गुजरात को नहीं समझ सकता।

सन् १८६३ में मनसुखराम अध्ययन छोड़कर त्रिपाठी परिवार की श्री कृष्ण वासुदेव की दूकान के हिस्सेदार बने। साथ ही उन्होंने प्राचीन गुजराती साहित्य का उद्धार करने और गुजराती को संस्कृतमय बनाने के प्रयास भी आरंभ किये।

मनसुखराम प्रभावशाली व्यक्ति थे। कुछ ही समय में उनके भविष्य का वृक्ष फला। जूनागढ़ के दीवान गोकुल जी झाला ने उनको अपनी रियासत का एजेंट चुना। धीरे-धीरे उन्होंने गुजरात की अन्य रियासतों पर अधिकार जमाया और रियासतों के दीवान गढ़ने के लिए स्वयं शिल्पी बन बैठे।

बम्बई में उनके यहाँ राजा भोज का दरबार लगने लगा। उसमें उदीयमान साहित्यकार और बम्बई के विद्वान भी आते, नड़ियाद के राजनीतिज्ञ देसाई विहारीदास भी आते काठियावाड़ के कूटनीतिज्ञ तो आते ही। इसके कारण चारों ओर उनकी धूम मचने लगी। उन्होंने प्राचीन गुजराती काव्य का उद्धार किया। आर्य धर्म और संस्कृति के प्रति अपनी गहरी आस्था के आधार पर उन्होंने 'अस्तोदय' सम्प्रदाय की स्थापना की और "बुद्धिवर्द्धक" सम्प्रदाय के विरुद्ध शंखनाद किया। 'सुधार' का अर्थ था 'अध:पतन'।

यद्यपि गोवर्धनराम ने उनसे बहुत कुछ सीखा तथापि उन्होंने अपनी स्वाभाविक समदृष्टि से नया ही मार्ग ग्रहण किया। नवीन और प्राचीन, आधुनिक और शाश्वत् सभी का उन्होंने विवेकशीलता के साथ निरीक्षण आरंभ किया। परन्तु एक बात उन्हें शीशे जैसी साफ दिखाई दी। वह यह कि संसार और व्यक्ति की नवरचना प्राचीन आधार पर हो भली प्रकार हो सकती है, विप्लव विध्वंसक है, सर्जनात्मक नहीं।

(४)

सन् १८७५ में गोवर्धनराम बी० ए० हुए। परिस्थितियों से विवश होकर उन्होंने दीवान सामलदास मेहता के नीचे भावनगर रियासत की नौकरी स्वीकार की। सन् १८८४ में ऐल-ऐल० बी० परीक्षा पास करके शीघ्र ही प्रतिज्ञा पूर्ति के लिये उन्होंने बम्बई हाईकोर्ट में एपेलेट साइड पर वकालत शुरू की। उन्होंने दस ही वर्ष में अपने पेशे में मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया और बाप का कर्ज चुका दिया।

जन्म से पहले ही गोवर्धनराम कसौटी पर कसे जाने लगे। जब वे पेट में ही थे कि उनकी माँ ने एक सखी के पेट की संतान के साथ सगाई कर डाली। उनकी माता की सहेली को पहले पुत्री हुई, कुछ महीने बाद गोवर्धनराम का जन्म हुआ। दोनों वाग्दत्तों का सन् १८६८ में विवाह और प्रेम का गठ जोड़ा हुआ लेकिन सास बहू की लड़ाई से क्या कोई प्रेम अछूता रह सका है? परिणास्वरूम गोवर्धनराम का कोमल हृदय पीड़ित होने लगा।

गोवर्धनराम सदा के स्नेह के भूखे थे। उन्होंने कालिज में अनेक मित्रों के हृदय जीते और उनका प्रेम प्राप्त किया। उनके अवसान के ६ वर्ष बाद मैं हाईकोर्ट में जाने लगा था तब भी उनके पुराने मित्रों के हृदय में उनके प्रति जो स्नेह था वह कम न हुआ था। सन् १८९७ में पूज्य कृष्णलाल काका गोवर्धनराम के साथ कार्य करने लगे। हमारे सौभाग्य से आज भी साहित्य के ये भीष्मपितामह हमें प्रेरणा दे रहे हैं। आज भी जब वे गोवर्धनराम की बात करते हैं तो उनका हृदय प्रेम से भर उठता है[१]।

स्वजनों के कारण भी प्यारे गोवर्धनराम को बहुत कुछ सहना पड़ा। उन्नीसवें वर्ष में उनकी प्रथम पत्नी का स्वर्गवास हुआ। उनके प्यार के भूखे और कोमल हृदय को करारी चोट लगी। हृदय रो उठा—

तेरे स्नेह से मैं तृप्त नहीं हुआ हूँ
दूःख से घबराकर नहीं भागा हूँ
तेरे पीछे में थका नहीं हूँ
अभी रोने से।

सुख दुःख भुलाने वाली
तेरी मोहनी अब नहीं है
मन चाहे तो तू विरक्त हो जा
या रो रोकर मर जा
नहीं तो उस मोहनी को स्मरण करके
गलते रहना ॥
(स्नेह मुद्रा)

---

[१] आज वे भी स्वर्गवासी हैं।

वे क्षणभर के लिये विरक्त होगये और उन्होंने संसार छोड़ने का संकल्प किया। अन्त में आँसुओं को काव्य के रूप में प्रवाहित किया और उन्होंने 'हृदय रुदित शतक' की रचना की।

अन्त में उनका वैराग्य स्थिर त्यागवृत्ति में बदल गया। इक्कीस वर्ष की उम्र में जबकि सबकी आँखों के सामने जोवन की रंगोनियां घूमती दिखाई देती हैं। उन्होंने तीन भीष्म प्रतिज्ञाएँ की—स्वतंत्र पेशा अपनाना, नौकरी न करना; अपनी कमाई से बाप का ऋण चुकाना, चालीस वर्ष पूरे होने पर वानप्रस्थी होकर साहित्य को शेष जीवन अर्पित कर देना। कच्ची उम्र में की गई इन सभी प्रतिज्ञाओं का उन्होंने पालन किया।

उनके जीवन में आर्थिक कठिनाइयाँ और कौटुम्बिक परेशानियाँ आती ही रहीं। उनका स्वास्थ्य तो सदा खराब रहता ही था। यदाकदा वे सख्त बीमार भी हो जाते थे। तब भी न तो उन्होंने कभी सौम्यता का परित्याग किया और न कर्तव्य-परायणता का विस्मरण किया।

यद्यपि उनकी स्वानुभव शक्ति सूक्ष्म थी तथापि प्रथम पत्नी के वियोग के बाद उनके हृदय में उल्लास की तरंगें न उठीं तो नहीं ही उठीं। उनकी कृतियों में उनका क्रन्दन सुनाई देता रहता है—

दीखे क्या सर्वत्र तिमिर घर भर में छाया
हृदय-अग्नि प्रज्ज्वलित, हाय क्या है यह माया ?

फिर—

देखा नहीं स्नेहियों का सुख पर उनका दुख देखा
हंसे ने रति से वे सब रोये खींच व्यथा की रेखा
रति रूप हास्य के बदले सब हृदय चीर-चीर रोये
दुःख दुःख ही सब पर बरसे रात्रि घोर बन गर्जे
निष्फल नेत्र हो गये मेरे, हृदय त्रास से वर्जे

बाइसवें वर्ष उन्होने 'प्रवृत्तिमय सन्यास' के भगवा वस्त्र धारण किये और कोमल हृदय को अन्त तक शान्त रखा।

परन्तु उनकी परीक्षा चलती रही।

तीसवें वर्ष में उनकी 'प्रिय भगिनी' जो 'सरस्वती चन्द्र' की 'मूल प्रेरक' थी, स्वर्ग सिधार गई। 'बत्तीस वर्ष का जो यह स्वप्न था उसे पूरा किया यमदूत ने।'

हृदय के घाव फिर हरे होने लगे—काव्य के रूप में—

हर्ष शोक की दर्भ राशि में,
दी है मैंने आग।
अब के पड़ी भगिनि है उसमें,
मृत्यु-शोक कर त्याग।

इस ज्वाला में आहुति देता,
नयन न छल-छल करता।
कठिन हृदय का भ्रात, काष्ट था
भगिनि-चिता पर धरता ॥

(:सरस्वती चन्द्र भाग ३ निवापांजलि)

सेंतालीस वें वर्ष में उनके हृदय पर फिर प्रहार हुआ। अत्यन्त प्रिय पुत्री लीलावती, जड़भरत की मृगी, चली गई और हारे हुए हृदय ने लिखा—

At 5-50 P. M. yesterday my poor Lilevati died after a stainless, spotless life of Suffering.

उनके आसुओं में बहने की शक्ति न रही। फिर 'निष्फल लोचन हो गये।'

हृदय को वज्र जैसा करके गोवर्धनराम अपने जीवन के आदर्शों से चिपके रहे—

For this man who seeks pleasure in work of other, work is duty.

उनका समस्त जीवन छलछलाते आँसुओं और हाथ में संभाले कर्त्तव्य धर्म के बीच भूलता रहता है।

(५)

सन् १८८६ में जब नर्मद का देहान्त हुआ तब गुजरात नई शैली, नई वस्तु, नये सर्जन की वाट देख रहा था। सन् १८८७ में 'सरस्वती चन्द्र' का पहला भाग—'बुद्धिधन का कार्यभार—प्रकाशित हुआ। गुजरात तुरन्त उस पर मुग्ध हो गया। उसी बर्ष नरसिंहराव की 'कुसुम माला' का प्रकाशन हुआ।

'सरस्वती चन्द्र' के चार भाग एक उपन्यास नहीं, एक पुराण के चार पृथक स्कन्ध हैं। बीस वर्षों में लिखे गये १७०० पृष्ठों में कोई भी साहित्यकार वस्तु या पात्रों का शृंखलावद्ध सृजन नहीं कर सका।

पहला भाग स्वतंत्र उपन्यास है। साथ ही गोवर्धनराम का अपना अमर देह है।

इस पुस्तक में गुजराती शैली नवीन भंगिमा-अभिव्यंजना-शक्ति प्राप्त करती है। फिर भी लेखक की शैली में अभी एक-सा वेग नहीं आया था। वह तो पच्चीस वर्ष बाद चौथे भाग में आने वाला था।

इस पुस्तक में गुजराती गद्य का कृत्रिम वाक्य-विन्यास, अँग्रेजी गद्य की भंगिमा, पुरानी गुजराती पंक्तियाँ तथा बोलचाल के शब्द, कहावतें और मुहावरे एक साथ चलते हैं—कभी बिलकुल अलग-अलग, कभी मिलकर और कभी एकरूपता प्राप्त करते हुए। इतना होने पर भी गुजराती गद्य पहली बार ऐसा माध्यम बनता है जिसमें आधुनिक जीवन की सूक्ष्मता व्यक्त की जा सके।

इस उपन्यास में तत्कालीन गुजराती जीवन के संघर्ष और अन्तर्विरोध, सौन्दर्य और कुरूपता, उत्साह और निराशा इन सभी की ध्वनि है।

ईसा की अठारहवीं शताब्दी के मध्य से मानव-जीवन का नया युग आरंभ हुआ। जिन जेक्स रूसो उसका सूत्रधार था। उसके प्रभाव से साहित्य में 'रोमांटिसिज्म' का जन्म हुआ (इसके लिये अपनी भाषाओं में अभी उचित पर्यायवाची शब्द प्रचलित नहीं हुआ इसलिये इसी का प्रयोग करता हूँ।)

हृदय की धड़कन सुनना और उसे व्यक्त करना इस साहित्य का मुख्य लक्षण बना। यह लक्षण भारतीय साहित्य में आने लगा था और वह बुद्धिधन के कार्यभार में स्पष्ट रूप से दिखाई दिया।

इस मुद्रण प्रधान युग में उपन्यास साहित्य की एक विशिष्ट विधा है। वह भाव-गीत जैसा मर्मस्पर्शी नहीं परन्तु साहित्य-स्रष्टा उसे हृदय-वेधक बना सकता है। वह नाटक जैसा मोहक नहीं फिर भी उसमें उसका आकर्षण आ सकता है।

उपन्यास की लोकप्रियता का कारण यह है कि यह विधा आधुनिक स्त्री-पुरुषों के हृदय की माँग को पूरा करके उसकी सतही रसिकता को पोषण कर सकती है। जिस उपन्यासकार में अन्तर्ध्वनि सुनने की क्षमता होती है वह इसमें उसे सुनाने की शक्ति भी देख सकता है।

उपन्यास को सफल और सजीव बनाने के लिये लेखक को रसायन बनानी पड़ती है। पहले वह अन्तर की गहराई में पड़े स्वानुभवों की कल्पना द्वारा सत्य के रूप में मूर्त करता है—और वह भी ऐसे जगत में कि जो यथार्थ तो भासित होता है परन्तु उसमें नग्न यथार्थ की असंगति और क्लिष्टत्व नहीं दिखाई देते।

'सरस्वती चन्द्र' के पहले भाग में गोवर्धनराम अपने अनुभवों को व्यक्त करते हैं। जैसे उनके पिता की गद्दी अस्तव्यस्त हुई वैसे ही सरस्वती चन्द्र के पिता की अस्त व्यस्त हुई। शठराय, बुद्धिधन, नरभेराम स्पष्ट रूप से भावनगर के अनुभवों से जन्मे हैं। सौभाग्य देवी, अलककिशोरी और गुमान जैसे आज गुजरात के बहुत परिवारों में मिल सकते हैं वैसे ही लेखक को भी मिले होंगे। ये पात्र और नायक-नायिका इस जगत में भी एसे ही सजीव हैं।

'सरस्वतीचन्द्र' में गोवर्धनराम का आधा भाग ही व्यक्त हुआ। उनकी प्रथम पत्नी मरी और उसके फलस्वरूप संसार छोड़कर 'निराधार निराकार' रूप में चलने की जो क्षणिक वृत्ति उन्होने अपनाई वह इस शिथिल संकल्प स्वैर विहारी में आई है। लेखक ने उसे प्रचण्ड आत्मबल से पोषित अपना दूसरा आधा भाग नहीं दिया।

कुमुद में यदि उन्होंने अपनी प्रथम पत्नी की सुशीलता और जिस शिक्षित कला से उनका विवाह नहीं हो सका था उसका मिश्रण करके कल्पना चित्र बनाया हो तो आश्चर्य नहीं। कुमुद को छोड़ देने के बाद के 'सरस्वतीचन्द्र' के विलाप में 'हृदय रुदितशतक' और 'स्नेह मुद्रा' की प्रतिध्वनि है।

गोवर्धनराम के हृदय में समाहित 'रोमांटिक' स्वभाव 'सरस्वतीचन्द्र' में प्रकट होता है। वह कल्पनाविहारी है, अपूर्व बनने को है। उसकी अनुभव शक्ति 'मेग्नेटिक नीडल' की भाँति साधारण सी बात होने पर ही हिल उठती है।

वह आदर्श पुत्र होने का इच्छुक है परन्तु पिता कुछ अविश्वास दिखाता है तो घर से भाग जाता है। उसकी माँ शत्रु है तो भी वह चाहता है कि इस आदर्श को आग्रह के साथ अपनावे। प्रणय लालसा उसके हृदय को मथती है तो भी वह प्रणयिनी को बिना बात 'बैदर्भी बन में विकल'[1] छोड़ जाता है।

यद्यपि सरस्वतीचन्द्र सदैव सत्य-पथ की खोज करता है तथापि पग-पग पर असत पंथ पर भटकता है। असत्य में से सत्य को ऊपर लाने के लिये प्रयत्नशील रहता है परन्तु उलझन आते ही दूर भाग जाता है—वैसे ही जैसे गोवर्धनराम स्वयं अपने हृदय के बिद्ध होने पर कल्पना और विचार के जगत में भाग कर जा पड़े थे। लेकिन रोमांटिक हृदय साहसिक वृत्ति, घृष्टता और विजिगीषा आदि जो बातें होती हैं वे न तो सरस्वती चन्द्र में आईं और न उसके स्रष्टा में ही थीं।

(७)

कुमुद और सरस्वतीचन्द्र के पारस्परिक आकर्षण में आधुनिक सुसंस्कृत हृदय की रसिकता और प्रणयलालसा है—'स्नेह मुद्रा' में दिखाई देने वाली से भी सूक्ष्म। फिर भी उसमें पश्चिम की स्थूलता का अंश नहीं। दोनों प्रणयियों के प्रथम समागम में अपना भारतीय संस्कारोचित स्पर्श संकोच है। प्रणय प्रतिमा को कल्पना-मंदिर में पधरा कर भी कुमुद समागम के समय आर्योचित मर्यादा बनाये रखती है। आचार-शुद्धि की रक्षा का दोनों का यह संकल्प व्यक्तिगत आकर्षण को भव्यता (sublimation) के शिखर पर ले जाता है।

इस कल्पनाविहारी और वैविध्यपूर्ण प्रणय के सर्जन में जयदेव द्वारा 'गीत गोविन्द' में व्यक्त और उसके बाद सैकड़ों कवियों द्वारा वर्णित श्रृंगार मेघाडम्बर की भाँति सुसंस्कृत हृदय में बिखर जाता है। आशा है कि जैसे वह आज तक बिखरता रहा है वैसे आगे भी बिखरता रहेगा। यदि स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में से भव्यता निकल जाय तो फिर क्या रहेगा? मात्र पशुवृत्ति।

इस कृति में—विशेष रूप से अंतिम प्रकरणों में—सरस्वती चन्द्र और कुमुद के हृदयों के स्पन्दन स्पष्ट रूप से सुनाई देते हैं और हमारे हृदयों में गंभीर और गहन प्रतिध्वति उत्पन्न करते हैं। साथ ही मानव-हृदय पर प्राचीन साहित्य द्वारा किया हुआ जादू खत्म हो जाता है और गोवर्धनराम की कला चरम सीमा को पहुंच कर अमरतत्व पाती है।

गोवर्धनराम ने जो कुछ देखा, समझा और कहा वह एक प्रकार से सीमित था फिर भी उसे प्रकट करने के लिये उन्होंने अपने हृदय के द्वार खोल डाले। साथ ही हमारे हृदय के द्वार भी खोल दिये और उनमें हमें नि:संकोच रूप से विहार करने योग्य बना दिया है।

---

१. प्रेमानन्द कवि के न लांखनन काव्य में व्यक्त दमयन्ती के लिए लिखित पंक्ति से।

जिस वर्ष हमारे हृदय के द्वार इस प्रकार खुले उसी वर्ष नरसिंहराव ने गुजरात को 'कुसुम माला' अर्पित की और आन्तरिक उमंगों के नव कुसुमों की सुगन्ध प्रसारित की।

(८)

सन् १८८७ के बाद गुजरात ने साहित्य और संस्कृति की दिशा में लम्बा पथ पार किया। हरगोविन्ददास कांटावाला और इच्छाराम सूर्यराम के प्रयत्न से बहुत सा पुराना साहित्य बच गया। सन् १८८५ में भगवान लाल इन्द्र जी ने गुजरात के इतिहास को पहली बार संकलित रूप दिया। सन् १८९० के बीच बाघ जी और मूलजी आशाराम, बड़े और छोटे त्र्यंबक और मूलशंकर मूलाणी ने गुजराती रंगमंच को नया रूप दिया।

सन् १८९२ में 'सरस्वती चन्द्र' का दूसरा भाग प्रकाशित हुआ। उसमें एक ही व्यक्ति का अपूर्व शब्द चित्र है। सन् १८९३ में तीसरा भाग और १९०१ में चौथा भाग प्रकट हुआ। उनमें गोवर्धनराम ने अनेक विषयों से सम्बन्धित अपने विचारों को हलकी-फुलकी, अस्वाभाविक कथा के सूत्र में लपेट दिया है।

सन् १८९८ में ४३ वर्ष की उम्र में जब दूसरे वकील अपने पेशे में आगे आने के लिये सर पटकते हैं, गोवर्धनराम अपना यह पेशा छोड़ देते हैं और वानप्रस्थी होकर रहने की प्रतीज्ञा का पालन करते हैं।

वे जीवन भर अध्ययनशील रहे और उसके बल पर उन्होंने गुजरात के गुरु का पद प्राप्त किया। उन्होंने जो कुछ दिया वह सब हमारे हृदय में समा गया है। इसलिये आज उसका मूल्यांकन कठिन हो गया है।

आजतक उनकी समस्त कृतियां एक ग्रंथावली के रूप में नहीं छप सकीं। यह गुजरात के मस्तक पर घोर कलंक का टीका है। यदि वह छप जाय तो हमें इस बात की पूरी-पूरी जानकारी हो सकती है कि हमपर उनका क्या ऋण है।

सन् १९०४ तक गोवर्धनराम ने गुजरात के नये हृदय की नींव रखी और हमारी सामूहिक मनोदशा को संतुलन का पाठ पढ़ाया। साथ ही गुजरात के हृदय में निहित आत्माभिमान को भी व्यक्त किया। १९०५ में स्व० रणजीतराम वावा भाई ने गुजरात की अव्यक्त अस्मिता के मंदिर-सदृश साहित्य परिषद की स्थापना की तो उन्होंने उसमें प्राण प्रतिष्ठा की।

सन् १९०५ गोवर्धनराम दिवंगत हुए। कल्पना, विचार और भावना के जिस मंदिर का निर्माण उन्होंने किया था उसे समयानुकूल परिवर्तित करना विस्तृत करना और सुसज्जित करना आज तक के सुसंस्कृत गुजरातियों ने अपना कर्तव्य माना है। इससे बड़ी सफलता मनुष्य को और क्या मिल सकती है?

गोवर्धनराम का ऋण भुलाया नहीं जा सकता। पाश्चात्य संस्कृति की धारा जब तेजी से बढ़ती आ रही थी तब भारतीय संस्कृति के शाश्वत सत्यों पर दृढ़ रहकर और विवेकशीलता की जटाओं को फैला कर उन्होंने उसके वेग को झेल लिया। उसके लिये

खंड ४

श्रद्धांजलि

श्री रविशंकर रावल

कलातीर्थ अजन्ता : एक रसदर्शन

अजन्ता का नाम भारत के सांस्कृतिक क्षेत्र में आज एक तेजस्वी मोहनी फैला रहा है। भारतवर्ष की चित्रकला का स्वर्णयुग कैसा था, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देने वाले अजन्ता की गुफाओं में बनाये गये बौद्ध कलाविहार पूर्व खानदेश में बाघोरा नदी की अर्धवृत्ताकार घाटी की पहाड़ी शिलाओं में स्थित हैं।

अजन्ता पहुँचने के लिए सूरत की ओर से जलगाम स्टेशन अथवा बंबई की ओर से पाओर स्टेशन अनुकूल पड़ता है। अजन्ता के निकट फरदापुर छोटा-सा गाँव है। वहाँ डाकबँगला भी है। वहाँ से चार मील दूर बोडी पहाड़ियों के भीतर अजन्ता के कलामंडप छिपे हुए हैं। वहाँ जाने के लिए एक नदी पार करनी पड़ती है। वही बाघोरा नदी है। उसके किनारे-किनारे सर्पाकार में मुड़ते-घूमते जब तक हम अपने लक्ष्य के निकट पहुँच न जायँ, गुफाओं का ध्यान भी नहीं आता। अन्तिम मोड़ समाप्त होता है कि तुरन्त ही हमारी आँख के सामने तीन सौ फीट ऊँचाई की सीधी-खड़ी चट्टान जैसे पहाड़ में से ढुलकती दिखाई देती है। नदी के किनारे से ऐसा लगता है जैसे हम किसी किले के सामने खड़े हों। इस ऊँची पथरीली चट्टान के पास ही बीच में कंदराओं की भाँति बनाये गये गुफा-द्वारों की पंक्ति दिखाई पड़ती है। ऊपर पहुँचने के लिए गुफा नं० १ के आगे सरकार की ओर से बनवायी गयीं नये ढंग की सीढ़ियाँ हैं।

अजन्ता का प्राचीन प्रवेशमार्ग यह न था। अटारियों में लगभग बीच की, सबसे बड़ी दिखने वाली १७ नंबर की गुफा के आगे पुराने मार्ग की सीढ़ियों का ढाँचा है, जिसकी सीढ़ियाँ घिस गई हैं। यह मार्ग गुफा के सामने पहुँचता है। यहाँ दोनों ओर पूरे कद के बड़े हाथी चट्टान को काटकर ही बनाये गये हैं। उनमें से एक टूट गया है। उसके आगे एक कोठरी-जैसी बैठक है, जिसमें द्वारपाल के रूप में नागराज की मानव-कद की अति सुन्दर मूर्त्ति बनायी गयी है। अजन्ता के चित्रों की भाँति ही मनोहर यह शिल्पकृति भुलाई नहीं जा सकती।

इतनी चढ़ाई के बाद थकावट लगने लगती है किन्तु तुरंत ही दिखायी पड़ने वाली दृश्यसमृद्धि से मन का उल्लास बढ़ जाता है। वहाँ से पहले १६ वें नंबर के गुफामंडप के

आँगन में पहुँचते हैं । यहाँ से नीचे दृष्टि डालने पर पहाड़ में से घूम कर आती हुई बाघोरा नदी का प्रवाह दिखा । वहाँ से खड़े-खड़े घुमाव के अन्त तक की दोनों किनारों की सभी गुफाएँ गिनी जा सकती हैं ।

अर्धगोलाकार पहाड़ी के गर्भ में प्रवेशद्वार से लेकर बिलकुल पिछले भाग तक खुदी हुई ये गुफाएँ मनुष्य की उपासना, धैर्य, प्रेम, भक्ति और हस्त-कौशल में संसार भर के लिए आश्चर्यपूर्ण उदाहरण हैं ।

गुफाएँ बनाने की कला अजंता में पूर्णता के साथ प्रस्फुटित हुई है। सभी निर्माण देखते हुए, बुद्ध के प्रति समर्पण की भावना एक सुसम्बद्ध संकलना के रूप में शिल्प, स्थापत्य एवं चित्रों में व्याप्त रही है । भारत और बाहर की सभी बौद्ध गुफाओं के रचयिताओं ने प्रकृति-सौन्दर्य, एकांतवास एवं विशाल जनमार्गों का ध्यान रक्खा है । फिर भी, सौन्दर्य एवं एकान्त में तो एकमात्र अजन्ता ही श्रेष्ठ मानी जाएगी ।

आज भी उस मैदान में पारिजात के पुष्पों का वन लहलहाता है। दूसरे अनेक फल-फूल भी वहाँ होते हैं । कभी न दिखनेवाले पक्षियों का समुदाय वहाँ दिखता है । इस प्रदेश का सच्चा सौन्दर्योपभोग करने के लिए अक्तूबर से दिसम्बर तक का समय सचमुच उपयुक्त है । १६ वें और १७ वें नंबर की गुफाएँ ईस्वी सन के दूसरे शतक में बनायी गयी होंगी, ऐसी मान्यता है । १६ वें नम्बर की गुफा की चौपाल ७५ फीट लम्बी और १२ फीट चौड़ी है । उसके बाहरी भाग को सहारा दिये हुए कद्दावर खंभे हैं, जिनसे वह किसी टाउनहाल के प्रवेशद्वार की भांति भव्य लगती है। उसके अन्दर की शिला ६६ फीट लम्बी तथा १५ फीट ऊँची है । बीच में चौक-जैसी जगह छोड़कर, चारों ओर के बीस खंभे उसकी छत को सहारा दिये हुए हैं। प्रत्येक खंभे पर पुष्पलताओं के सुशोभन और भौतिक आकृतियों वाले चित्र सुरम्य रंगों से रंगे गये हैं । खँभों के ऊपर बड़े पेटवाले कीचक के स्वरूप जैसे छत को हाथों से तौलते हुए बनाये गये हैं । खंभेवाली चौक के बाहर चारों ओर आठ फीट चौड़ा प्रदक्षिणापथ है । उसकी दीवालों में दोनों ओर छह-छह कोठरियाँ काटकर बनायी गयी हैं। प्रवेशद्वार के ठीक सामने, पहाड़ी में एक पूरी शिला काटकर उसमें भगवान बुद्ध की आदमक़द किन्तु ध्यानस्थ प्रतिमा दो पार्श्वदों के साथ बनायी गयी है । इस मूर्त्ति के आसपास प्रदक्षिणा कर सकने योग्य चौरस चट्टान काटकर बनायी गयी है ।

इतना सारा काम एक ही गुफा के गर्भ में चित्रित हुआ है। फिर भी इन खंभों, इस छत या प्रतिमा का भाग भूल से अधिक नहीं कटा । सभी जगह शिल्प की एक समान सुरेखता, सादगी, सुडौलता तथा संस्कारमयी आकृतियाँ आधुनिक शिल्पियों तथा कलाकारों को विस्मयमुग्ध कर देने वाली हैं ।

जहाँ चित्र बनाने होते हैं वहाँ चित्रभूमि का धरातल छेनी से इस प्रकार तिरछा काटते हैं जिससे वह स्पष्ट भासित हो जाय । उसके ऊपर एक प्रकार के गारे-चूने का लेप करके उसे स्वच्छ-सपाट बनाते हैं और लाल गेरू से चित्र बनाकर अनेक रंगों से पात्रों में सादृश्य उपजाते हैं।

१६ वें नम्बर की गुफा के बाहर के सहन के तीनों ओर की दीवार चित्रों से भरपूर है। अत्यन्त प्रसिद्ध 'प्रणयोत्सव' नामक चित्र भी इसी सहन में है। भगवान बुद्ध के जन्मान्तरों की कथाओं (जो जातक-कथाओं के रूप में प्रसिद्ध हैं) के प्रसंगों वाले चित्रों से भीतर की दीवारें जमीन से छत तक भर दी गयी हैं। उनमें हजारों वर्ष पहले के जीवन के दर्द, आनन्द, करुणा इत्यादि का आलेख इतना मार्मिक हुआ लगता है कि वह मानव-जीवन को स्पर्श कर लेता है। दर्शक ज्यों-ज्यों इन चित्रों पर निगाह दौड़ाता जाता है त्यों-त्यों आस-पास की सृष्टि भूलता जाता है तथा प्राचीन युग के राजदरबारों, सुन्दरियों, साधुओं तथा नागरिकों की स्वप्नसृष्टि में बहने लगता है। कहीं राजकुमार की हाथी या घोड़े पर की सवारी देखने को मिलती है, कहीं भिक्षुओं के समूह दिखाई पड़ते हैं, अटारियों में से झुके हुए मुग्ध नयनों वाली सुंदरियाँ छटा से हाथ टेककर बैठी हुई हैं। उनके हाथ में से फूल झर रहे हैं। देव-गंधर्व और नाग-कुमार तथा कुमारियाँ मानव-परिवार में उतरती हुई दिखाई देती हैं।

मंडपों में चैत्य और विहार ऐसे दो प्रकार हैं। चैत्य अर्थात् चिता के अवशेष वाले स्थान में बौद्ध स्तूप होते हैं। विहार साधुओं के रहने का तथा संघ की बैठकों का स्थान है। अजन्ता के इन मंडपों में सैकड़ों वर्ष तक किन्हीं चित्रकारों की तूलिका चली है। चित्रों को देखते हुए हम चित्रकार के जीवन की भी कल्पना कर लेते हैं : भावुक हृदय, अनिर्वचनीय भाव में सराबोर, संसार के प्रति परम दयामय बुद्ध भगवान के आदर्शों को मूर्त्त करने का प्रयास करते हुए, वे सब विश्वकर्मा की भाँति भाव एवं स्वरूप प्रकट करते हुए इन दीवारों पर मस्त बनकर काम करते होंगे, तभी इतने विशाल परिमाण में इतनी सुसम्पन्न कला-समृद्धि का विस्तार हुआ होगा। एक-एक चेहरा, मुद्राभरी हाथ की अँगुली-लीला, उनके सुन्दर कंकण, कटिभंग किये हुए चामरधारिणी, लज्जा से नेत्र झुकाये हुए राजकुमारियों तथा अश्वों और हाथियों पर जाते हुए सशस्त्र योद्धा : यह सब चित्रकार की साक्षात् देखी हुई सजीव सृष्टि है। एक भी रेखा, अलंकार या भाव निगूढ़ अथवा अस्पष्ट नहीं लगता। चित्रकार केवल कौशलपरायण व्यक्ति नहीं है। वह हमें अपने हृदय में प्रवेश कराता है। हमें लगता है कि बहुत पहले के उन दिनों में वह मानव-हृदय प्रेम, भक्ति, वियोग तथा संयोग का एक समान अनुभव करता था। वहाँ पंक्तिबद्ध अटारियों-जैसी गुफाओं की संख्या तीस के लगभग है। शिल्प तो सभी गुफाओं का सुंदर तथा आकर्षक है। उनमें भी नंबर १ गुफा के शिल्पियों का पराक्रम तो अजब लगता है। किस प्रकार उन्होंने पहाड़ की परीक्षा करके, अनेक अड़चनें और मुश्किलें होते हुइ भी, १२० फीट तक (जहाँ सूर्य का प्रकाश भी न पहुँचे वहाँ तक) गहराई में शिलाएँ काटी हैं! और केवल शाम के समय जहाँ सूर्य की किरणें अन्तिम गर्भद्वार के सामने पहुँचती हैं, वहाँ सारी दीवार पर तपस्वी बुद्ध का व्रत भंग करने आये हुए कामदेव के प्रसंग का चित्रण है। स्वच्छ, प्रवाहपूर्ण, वेगवती रेखाओं में विकराल पिशाचों तथा मनोरम अप्सराओं के बीच शान्त-स्थिर मुद्रा वाले बुद्ध भगवान को चित्रित करने वाले कलाकार ने अनेक भावों, अभिनयों तथा रूपों के आलेख में चरम सीमा तक सफलता पा ली है। हमारा मन 'अद्भुत-अद्भुत' कहकर प्रणाम कर उठता है।

यहाँ तूलिका के ऊपर कलाकार का इतना अधिक प्रभुत्व दिखायी देता है कि उससे खिंचती हुई रेखाएँ भाव के अनुसार ही रूप लेती चलती हैं। सुगोल या घन आकृतियां बनाने की कला उनको सुसाध्य हो गयी थी। कहीं-कहीं उभरी आकृतियां, कहीं झूलते मोतीहार, मुलायम वस्त्र, उठी हुई नासिकाएँ और मृदुल उदर तथा कहीं स्वर्ण के मणि-खचित मुकुट तथा अलंकार देखिए तब उनका आलेखन-सामर्थ्य प्रत्यक्ष हो उठता है।

दूसरे नम्बर की गुफा अपेक्षाकृत साधारण मानी जाती है फिर भी उसके दो-चार चित्र इतने सबल और भावपूर्ण हैं कि लगता है जैसे वे प्रमुख कलागुरु की कृतियाँ हों। सिंहासन पर बैठे हुए राजा की नंगी तलवार के नीचे दया याचना करती हुई रमणी की आकृति की गणना संसार के एक अपूर्व करुणापूर्ण चित्र के रूप में की जाती है।

अजन्ता की कला का पूर्ण अवलोकन करने वाले को वहाँ की कला के विषय में कई प्रखर स्मृतियाँ रहती हैं। अजन्ता के कलाकारों ने कमल से प्रेरणा लेकर उसमें से अनेकविध रूपों और आकृतियों का सृजन किया है। शिल्प में तथा चित्र में कमल के कला-स्वरूपों को मिस्र के सिवा और कहीं इतनी विविधता नहीं मिली। कमलफूल, तन्तु, पत्र, कमलनाल अथवा कमलगुच्छों की शोभा और संस्कारभरी बेलें, तोरण, वर्तुल कदम-कदम पर वहाँ दिखते हैं। और, मानव-शरीर की चित्रण में उसकी अंगभंगी की अवतारणा कमल के लालित्य तथा कम्पन में से हुई है, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है।

कमल की भाँति हाथी भी भारतीय शिल्प का प्रधान अलंकार-साधन रहा है। बुद्ध के जन्म से पहले उनकी माता को उदर में श्वेत हाथी प्रवेश करता दिखा था, इसलिए भी बुद्धकथा में उसे महत्त्व मिला है। छदंक जातक की कथा में बोधिसत्त्व स्वयं हाथी के रूप में जन्मे थे और हाथिन-पत्नी के वैर-शमन के लिए उन्होंने प्राणत्याग किया था, इस कथा की हृदयद्रावक चित्रमाला अजन्ता में देखने को मिलती है।

ऐसे जन्मांतर बिताकर आत्मत्याग तथा वैराग्य के द्वारा शांतिपद प्राप्त करने वाली इस विराट आत्मा का सामान्य जनता से परिचय कराने की कैसी कलामय योजना इन मंडपों में हुई है, यह देखकर आश्चर्य होता है।

अजन्ता की मानव-सृष्टि में स्त्री-पात्र का स्थान बहुत ऊँचा दिखता है। उस समय वस्त्र थोड़े होते थे, फिर भी स्त्रियों में कला और विनय देखकर आनंदाश्चर्य होता है। लगता है कि स्त्रियों ने समस्त संसार में अपूर्व मधुरता फैलायी है। चित्रकारों ने स्त्री-पात्र का चित्रण करते समय बड़े संयम के साथ शरीर-प्रमाण एवं अंग-प्रत्यंग की छटा की रक्षा की है। रानी, परिचारिका या नर्तकी : सभी पात्रों में समर्याद सुन्दरी के ही दर्शन होते हैं। अजन्ता की अँगुली-लीलाओं तथा केश-कलापों की रमणीयता दिखाने के लिए एक पृथक् अध्याय ही लिखना चाहिए। मुकुटों के प्रकार भी बहुविध हैं। कोई सुनार या जौहरी मुकुट का एक-एक रत्न बीनकर पहचान सकता है और चाहे तो उसकी यथावत् प्रतिकृति से सच्चा मुकुट गढ़ सकता है, इतनी सुस्पष्टता से उसकी आलेखना हुई है।

ऐसी अद्‍भुत समृद्धि वाले कलामंडपों का पूर्वकाल बिलकुल अज्ञात है; किन्तु इतना

तो निश्चित है कि कला का ऐसा उत्कृष्ट परिपाक होने के अनेक शताब्दियों पहले भारत में उसका प्रारंभ हो चुका होगा क्योंकि सबसे पुरानी गुफाओं के चित्र पीढ़ियों से विकसित होती कलागुरुता की ऊँची कलाकृतियाँ हैं। बुद्ध के समय से पहले भारत में अनेक प्रकार की चित्रकला थी, इसका समर्थन तत्कालीन साहित्य भी करता है। सात-सौ आठ-सौ वर्षों तक वहाँ चित्रकला चालू रही थी किन्तु सभी पर काल का पंजा लग गया है और महासागर के टापुओं की भाँति बिखरे हुए कुछ चित्र हैं। वे भी हमारी वन्दना के पात्र सिद्ध हुए हैं। १९२४ में अजन्ता की ओर एक अंग्रेज फौजी अफसर का ध्यान गया, तब से वह फिर आज के जगत में अपनी ज्योति फैला रही है। भारत सरकार ने सभी चित्रों की रंगीन फोटोग्राफी कर लेने का महान प्रस्ताव किया है, इससे समस्त जनता को घर बैठे मूल चित्रों की विशेषता देखने को मिलेगी; किन्तु प्रत्यक्ष देखे बिना किसी को उस भव्य प्राकृतिक स्थिति का जहाँ उसका निर्माण हुआ है तथा जितने विराट रूप में वह साकार हुई है, इसका यथार्थ अनुमान न हो सकेगा। वह प्रत्येक भारतवासी का महान कलातीर्थ है।

•

डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा

हिमालय में मेरा बोलियों का शिकार

गत २८ वर्षों में इस लेखक को कश्मीर-हिमालय की बोलियों की खोज में समय-समय पर असाधारण घटनाओं का अनुभव हुआ है। इन घटनाओं की मुख्यतम विशेषता यह रही है कि पहाड़ी घाटियों की कठिनाइयों के कारण जहाँ ग्यारह अवसरों पर लेखक को मनुष्यों के कन्धों पर बैठ कर यात्रा करनी पड़ी, वहां इन बोलियों की ध्वन्यात्मक विभिन्नता भी अत्यधिक अनुभूत हुई। इन बोलियों के प्रदेशों का स्थूल रेखाचित्र पृष्ठ २८६ पर देखिये।

इन इलाकों में प्रधान भाषाएं तीन हैं। (१) पहाड़ी, कश्मीरी, डोगरी। इन भाषाओं की बोलियों की अगण्य विभिन्नताएँ मुख्य वस्तुओं सम्बन्धी नहीं, केवल गौण वस्तु सम्बन्धी हैं। उदाहरणार्थ हिंदी "दांत" के लिये तो शब्द "दंद" अर्थात् "दांत" ही प्रचलित है, परन्तु हिंदी "मसूड़े" के लिये निम्नलिखित शब्द चालू हैं:—(आंत्सु) ("खशाली" बोली) (ढ्लांसु) ("भद्रवाही"), (आंसु) ("सियूटी"), प्रहांसु ("नाला-रुधारी") इत्यादि।

लेखक ने इन बोलियों की खोज के लिये अनेक उपाय प्रयुक्त किये। इन उपायों में एक यह भी था कि लेखक किसी कस्बे के अस्पताल में जा बैठता था और रोगी-डाक्टर के संवाद को सुनता था। एक दिन एक अस्पताल में रोगी ने इस भाव को जतलाने के लिये कि "गले पड़े हुए हैं" कहा "ढ्लकड़ो पिचौड़ौते" अर्थात् "गला पकड़ा गया है"। (ढ्लकड़ो) शब्द का अर्थ "गला" कैसे हुआ ? इस प्रश्न का उत्तर हमें एक पड़ोस की बोली से मिल सकता है। इस बोली में (ढ्लकण) का अर्थ (ताने में) "खाना" है। इसलिये (ढ्लकड़ो) का अर्थ हुआ "भोजन मार्ग" अथवा "भुत्तनली"।

इन बोलियों की विशेषताएं यह हैं—

(१) ध्वनि-वर्णन

इन बोलियों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनमें सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि का एक विशेष नाम है, जिसे हम ध्वनि-अनुकरण तो नहीं कह सकते, हां, कल्पनामूलक विशेष वर्णन का संक्षेप कह सकते हैं, उदाहरणार्थः—
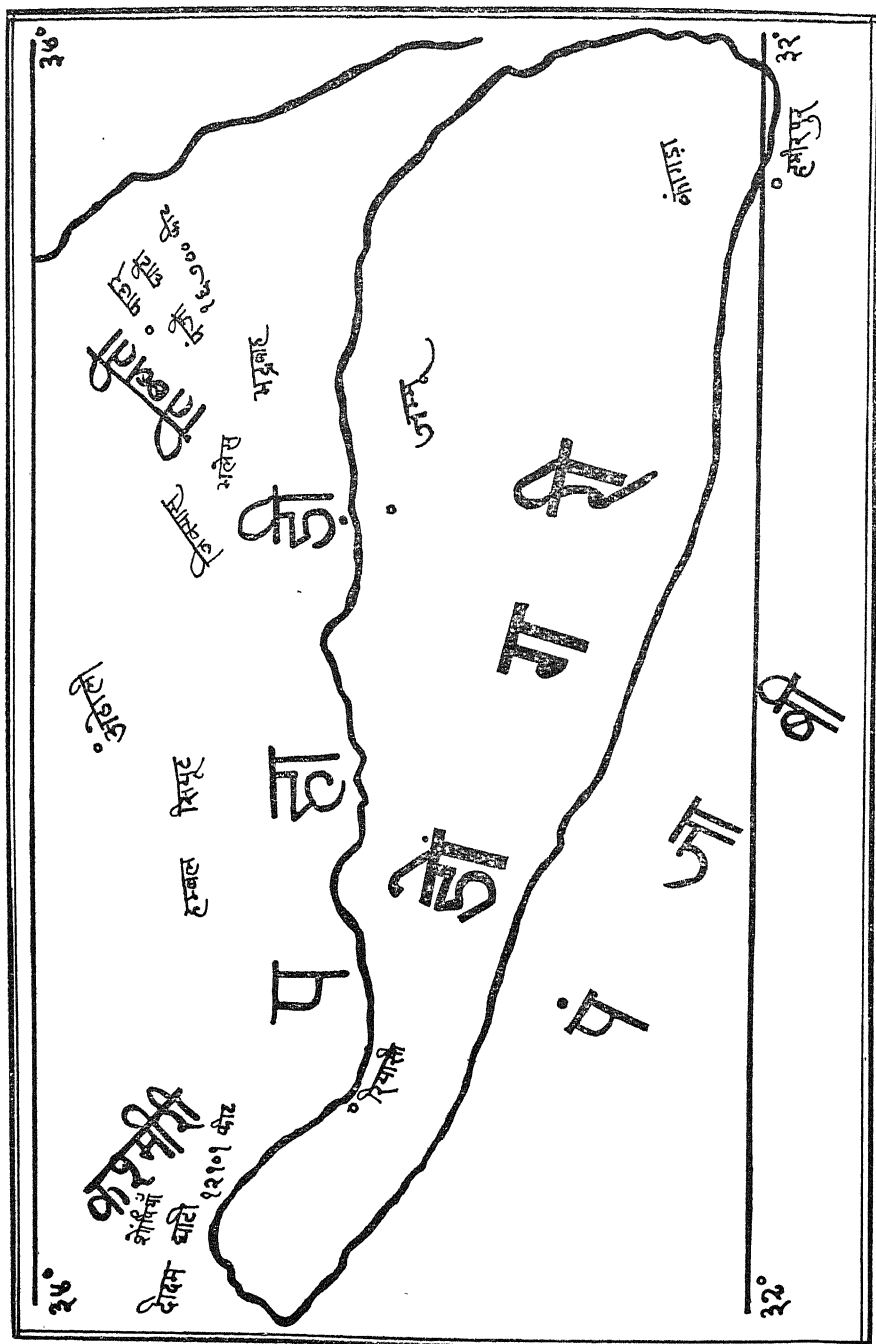
हिमालय की बोलियों के प्रदेश का स्थूल रेखा चित्र

बंदूक या ढोल की तीक्ष्ण ध्वनि	(गड़ूका)
दातन करते समय गले से ध्वनि	(उडाका)
थप्पड़ मारने की ध्वनि	(थत्साका)
पीठ पर मुक्का मारने की ध्वनि	(बढ़ाका)
किसी को छड़ी मारने की ध्वनि	(ढ्नढ़ाखा)
किसी धातु की ग्रावाज़	(शडाका)
किसी वस्तु को पाग्रों से रौंदने की ग्रावाज़	(त्सड़ाका)
गरम गरम लोहे को पानी में फेंकने की ग्रावाज़	(झलाका)
जलती ग्राग पर पानी फैंकने की ग्रावाज़	(झशाका)
पहाड़ से लकड़ी के बड़े लट्ठे के गिरने की ग्रावाज	(तणाका)
कुत्ते के गिरने की ग्रावाज	(चौंचौं)
वायुकम्पित जल की ग्रावाज़्	(ट्लपकुणु)
पानी में मछलियों के फुदकने की ग्रावाज़्	(चड़चप्पड़)
पानी में छलांग लगाने की ग्रावाज़्	(ट्लोप्पैं ढ्लोप्पैं)
नदी की ध्वनि	(शड्ड)

यह सूची केवल उदाहरणार्थ है । प्रतीत तो यह होता है कि केवल इन ध्वनियों का एक ग्रलग कोश तय्यार हो सकता है ।

(२) ग्रनोखे शब्द

इन वोलियों में ऐसे शब्द भी पाये जाते हैं, जिन के ग्रर्थ प्राय: ग्रन्य भाषाग्रों में कल्पना-गोचर भी नहीं हैं, जैसे:—

(छुग्रू) उस मांगी हुई वस्तु को कहते हैं जो ग्रागे ही किसी तीसरे व्यक्ति से माँग कर ली गई हो ।

(ग्रिट्ट मुस्लू) उस वामन पुरुष को कहते हैं जो ग्रपने ग्राप को ग्रधिक लम्वा दर्शाने के लिये ग्रपने शरीर को वहुत फैला कर चलता हो ।

(ज़ड़ियाटी) उस बहरी स्त्री को कहते हैं जिस की माँ भी बहरी हो । जिस बहरी स्त्री की मां बहरी न थी, उसे (कन्नेज़ड़ी) कहते हैं ।

(घोक्कड़) उस पुरुष को कहते हैं, जिस का सिर तो वहुत बड़ा हो, परन्तु क़द छोटा हो ।

(बटुंगड़ा) वह पुरुष होता है जिस का कद तो छोटा हो परन्तु जो स्वयम् बहुत मोटा हो ।

ऊपर प्रतिपादित दोनों प्रकार (ध्वन्यात्मक तथा ग्रर्थविषयक) की घटनाग्रों पर विचार करने से प्रतीत होगा कि इन लोगों की मानसिक प्रवृत्तियाँ जीवन के उन पक्षों की ग्रोर एक ग्रद्भुत रस से ग्राकर्षित हो जाती हैं, जो इतरभाषाभाषियों के लिये ग्रपेक्षा-ग्रोग्य नहीं होते ।

(३) प्राचीनता—संरक्षण

यद्यपि उपर्युक्त अनोखे शब्दों से इन बोलियों की अभिनवता प्रवृत्ति का मूल्यांकन पाठकवृन्द तत्काल करेंगे, तथापि इनमें ऐसे शब्द भी प्रचलित हैं जो प्राचीन युगों के अवशेष हैं, जैसे:—

(शक्कोरी) "छोटी गाय" इस अर्थ में यह शब्द भलेसी भाषा में प्रचलित है, और इसी अर्थ में अथर्ववेद में प्रयुक्त हुआ है।

(हरण) "लेजाना" इस अर्थ में यह शब्द पाडरी बोली में अब भी बोला जाता है। संस्कृत में "हरण" का यह अर्थ प्रसिद्ध ही है।

(करा) "हाथी की सूंड"। इस अर्थ में यह शब्द संस्कृत "कर" का अवशेष प्रतीत होता है।

(४) प्राचीन अर्थों का संकोच

जहां इन बोलियों में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनका प्राचीन अर्थ वैसे का वैसा सुरक्षित है, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, वहां इन में संस्कृत आदि तत्सम शब्द ऐसे भी पाये गये हैं जिन का अर्थ बहुत कुछ संकुचित अथवा विशेषित कर दिया गया है, जैसे:—

(गुण) पाडरी बोली में इस शब्द का अर्थ "एहसान" या "भला" है, उदाहरणार्थ (इन मेइं पर वड़ा गुण कोया) "इसने मुझ पर बड़ा एहसान किया"।

(कफी भोण) "घृणा करना"। जहाँ पाडरी भाषा के इस शब्द में संस्कृत "कफ़" घृणा का सूचक बन गया है, वहाँ अचम्भे की बात यह है कि लैटन कफसूचक शब्द फ्लेग्म (Phlegm) अँग्रेज़ी के फ्लेगमेटिक (Phlegmatic) शब्द में "संवेदनारहित" हो गया है।

(इक रेखी) "निष्पक्ष" के अर्थ में यह शब्द संस्कृत एकरेखी "एक लकीर वाला" का संकुचित अर्थ प्रकट करता है।

(होशी) "बली" अथवा "बलप्रदायी", पाडरी के इस शब्द में फ़ारसी "होश" का अर्थ शक्ति या बल हो गया है।

(—दोस्ती) "—कारण" इस प्रत्यय के अर्थ में पाडरी बोली में प्रयुक्त है। जैसे (इहरीर दोस्ती) "इसके कारण"। यह अर्थ फ़ारसी शब्द (दोस्त) "मित्र" का अर्थविकार है।

(५) अभिनव तद्भव

इन बोलियों में वह अभिनव तद्भव भी बन गये हैं जिन का मूलाधार कोई सदृश संस्कृत शब्द था। उदाहरणार्थ:—

(कप्पेरी) "ठीकरा"—इस अर्थ में पाडरी बोली का यह शब्द संस्कृत "कपाल" के मूलाधार पर बना था, जिस का अर्थ "माथा" या "ठीकरा" था।

इस सम्बन्ध में प्राचीन संस्कृत बहुत से शब्द इन पहाड़ी बोलियों के मुहावरों में प्रयुक्त हो कर तद्भव रूप में भिन्न-भिन्न अर्थों के वाचक बन गये हैं, जैसेः—

(कंडा प्हज्जा) "काँटा चुभा"। डोगरी के इस मुहावरे में संस्कृत √भंज "टूटना" का तद्भव (प्हज्जा) एक विशेष अभिनव अर्थ प्रकट करता है। इसी प्रकार पाडरी में

(कंडा धिग्रण) "काँटा चुभना" इस अर्थ में संस्कृत √गा के इस तद्भव रूप में एक अभिनव अर्थ प्रकट हो गया है।

(६) शब्दनिर्माणशीलता

इन बोलियों में व्याकरण-प्रत्ययों की भरमार है, जिनसे अनेक गठित शब्द आसानी से बन जाते हैं। उदाहरणार्थ "फ़जूलखर्च" पुरुष के लिये "खर्त्संकरणेत", और जो पुरुष सवेरे जागने वाला हो उसके लिये "दुतैयां खड़भोनेत" प्रयुक्त होता है। हिन्दी को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है।

(७) व्याकरण—रूपों की भरमार

इन बोलियों में कुछ ऐसी भी हैं जिनमें क्रिया के भिन्न-भिन्न पहलुओं को जतलाने के लिये अत्यन्त सूक्ष्म रूप प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ जम्मू के पश्चिमोत्तर में एक बोली "खैंशी" है। इस बोली में "पिया" (Drank) के वाचक <रूप इस लेखक को उपलब्ध हुए। इन रूपों में से यह तीन रूप यहाँ दिये जाते हैंः—

(पिया) = पिया, यदि पीने वाला पुल्लिंग हो
(पियासेइना) = पिया, यदि पीने वाली स्त्री हो
(पियेनी) = पिया, यदि पीने वाला लड़का हो

(८) व्यंजन "प्रारम्भिका"

जैसे हिन्दी में "अस्टेशन", "अस्कूल" में प्रारम्भिक अकार उच्चारण करने की प्रवृत्ति है, इसी के कुछ सदृश इस इलाक़े की "मिराशी" बोली में शब्दों के प्रारम्भ में व्यंजन "ख" लगा दिया जाता है। इस ख "प्रारम्भिका" के उदाहरणों को देखियेः—

खबूटा = बूटा (हिन्दी)
खमुल = मूल "
खबी = बीस "

यह बोली "जिप्सी" भाषा की एक शाखा है। सांसी बोली में जो जिप्सी की एक शाखा है, इसी प्रकार की प्रवृत्ति है। ग्रीयरसन ने सांसी जिप्सी से यह उदाहरण दिये हैंः—

खदमी आदमी, खुपर ऊपर, खबाल बाल (देखिए भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण) (Linguistic Survey of India खंड ६, पृष्ठ ८३)

(९) कश्मीर के एक क़स्बे "शोपियाँ" में इस लेखक को एक बोली उपलब्ध हुई जो या तो किसी द्रविड़ भाषा का अवशेष है या किसी ऐसी भाषा से निकली है जिसका

संसर्ग कभी किसी द्रविड़ भाषा से रहा हो। उदाहरणार्थ इस बोली में एक सौ के लिये (नूर) शब्द है (तामिल नूरु): "दो" के लिये (हैडिस) मलतो (द्रविड़) (एंडिस): "मैं" के लिये (नाप) संतुलन कीजिये तामिल (नाना) में। इन बोलियों में कुछ ऐसी भी हैं, जिनमें "तुप" धातु "ढूंढने" के अर्थ में पाया जाता है। संस्कृत धातुपाठ में "तुप्" धातु हिंसार्थक है, जिसका इस (तुप) के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, परन्तु तामिल—कन्नड़ में (तुप) अन्वेषण अर्थ में प्राय: प्रयुक्त होता है (देखिये मद्रास तामिल कोश, १९३० शब्द (तुप्पु)

(१०) इन बोलियों के मुहावरों में लाक्षणिक अंश बहुत है, अधिक शब्द प्रयुक्त नहीं होते। उदाहरणार्थ पाडरी बोली में एक स्त्री किसी दूसरी को जब नमस्कार करना चाहती है, तो (इमि आई) कहती है, जिसका अक्षरार्थ केवल "अब मैं आई हूँ" है।

(11) दो प्रकार के लकार

डोगरी जो कांगड़ा में बोली जाती है उस में दो प्रकार के लकार हैं, एक (ल) और दूसरा (ळ) (=मराठी ळ), जिन से अर्थभेद हो जाता है। उदाहरणार्थ:—

गल=बात:	गळ=गला
काल=मृत्यु:	काळ=अकाल (क़हत)

उपसंहार

इस लेख से संभवत: पाठकवृन्द को निम्नलिखत विचार आयें:—

(१) हिमालय बोलियों का वह अनना भंडार है जिसमें भाषाओं के विकास के अध्ययन के लिये अद्भुत और रुचिकर सामग्री विद्यमान है।

(२) इस सामग्री को एकत्र और संगठित करने के लिये सैकड़ों कर्मकर अपेक्षित हैं।

(३) हिन्दी के विकास के लिये ऊपर (६वें पैरे में) दर्शाई हुई पहाड़ी शब्दनिर्माणशीलता उपयोगी हो सकती है।

(४) देश की दूर दूर की भाषाओं की प्रमुख प्रवृत्तियों का जानना प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है।

डॉ० भोगीलाल ज० सांडेसरा

प्राचीन साहित्य में चौरशास्त्र

• 'तैरना, बुनना और चोरी करना ये तीनों कलाएँ स्वयं सीखी जाती हैं।'

चोरी करना एक 'कला' है। चोरी करने की वृत्ति भी मनुष्य-जाति के उद्भव-जितनी ही पुरानी है। फिर, विशेष देश-काल में और किन्हीं विशेष संयोगों में कुछ जातियों और जनसमूहों ने चोरी को आजीविका के साधन के रूप में स्वीकार किया, इससे तस्कर-कला का एक धंधे के रूप में विशिष्ट विकास हुआ, इसकी कार्यपद्धति और शिक्षा-प्रणाली निश्चित हुई, और प्राचीन भारत की बात करें तो चोरी का भी एक शास्त्र रचा गया तथा इस शास्त्र की शिक्षा देनेवाले 'आचार्य' बन गये।

इस भारतीय चौरशास्त्र रचयिता का नाम मूलदेव अथवा मूलश्री था। माता का नाम कर्णी होने से उसे कर्णीसुत भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त- मूलभद्र, करटक, कलांकुर और खरपट जैसे नामों से भी उसे संस्कृत-साहित्य में अभिहित किया गया है। ईसवी सन की सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए महेन्द्रविक्रम वर्मा-कृत 'मत्त-विलास प्रहसन' (पृ० १५) में 'नमः खरपटायेति वक्तव्यं येन चोरशास्त्रं प्रणीतम्।' (चोरशास्त्र के प्रणेता खरपट को नमस्कार,—ऐसा कहो।) यह उल्लेख हुआ है। दंडी के 'दशकुमारचरित' में चोरी का धंधा स्वीकार करनेवाला एक पात्र कहता है:—"कर्णीसुत द्वारा उपदिष्ट मार्ग में बुद्धि लगायी।" (उच्छ्वास-२)। महाकवि बाण की 'कादम्बरी' में विन्ध्याटवी के वर्णन में एक श्लिष्ट वाक्य-खंड में कर्णीसुत तथा उसके तीन मित्रों: विपुल, अचल और शश का उल्लेख हुआ है; और कादम्बरी के टीकाकारों: भानुचंद्र सिद्धिचंद्र ने इस वाक्य-खंड पर लिखे विवरण में कर्णीसुत को 'स्तेयशास्त्र-चौरशास्त्र का प्रवर्त्तक' कहा है। 'वैजयंती' इत्यादि संस्कृत-कोशों में भी मूलदेव को 'स्तेयशास्त्र-प्रवर्त्तक' कहा गया है।

इस प्रकार, मूलदेवकृत चोरशास्त्र विषयक परम्परा भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से चली आती है, यद्यपि यह चोरशास्त्र विद्यमान नहीं है। यह भी सम्भव है कि एक गोपनीय शास्त्र होने के कारण उसका केवल मौखिक प्रचार ही रहा हो और इस कारण कालान्तर में वह नष्ट हो गया हो।

यह मूलदेव का वृत्तान्त संस्कृत-प्राकृत साहित्य में अनेक स्थलों पर आता है। सुप्रसिद्ध जैन सूत्रग्रन्थ 'उत्तराध्ययन सूत्र' पर लिखी गयी प्राकृत टीका में तथा शान्तिसूरि और नेमिचंद्र की टीकाओं में यह वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सभी घटनाओं सहित आता है। 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका की रचना विक्रम संवत की ८वीं शताब्दी में हुई थी, इसलिए यह वृत्तान्त इसके पहले का तो है ही। उक्त टीका और शान्तिसूरि के अनुसार, मूलदेव उज्जयिनी का एक सुप्रसिद्ध विट और धूर्त्त था। नेमिचन्द्र के कथनानुसार मूलदेव पाटलिपुत्र का राजकुमार था और अपने पिता से रुष्ट होकर उज्जयिनी में आ बसा था। वह एक बड़ा जुआड़ी होने के अतिरिक्त गीतविद्या और कामकला में भी निपुण था। उज्जयिनी की एक सुप्रसिद्ध गणिका देवदत्ता का उससे प्रेम था। किन्तु गणिका की माता अचल नामक एक वणिक का पक्ष करती थी, इसलिए मूलदेव को उज्जयिनी छोड़कर चला जाना पड़ा। बाद में वह दक्षिण के एक नगर वेणातट में जाकर रहा। वहाँ वह किसी के घर में सेंध लगा रहा था कि नगर-रक्षकों ने उसे पकड़ लिया और वधस्थल की ओर ले चले। उसी दिन नगर का राजा अपुत्र मर गया था। मंत्री लोग नये राजा की खोज में थे, वहाँ हाथी ने मूलदेव के ऊपर कलश ढुलकाया, इसलिए उसका राज्याभिषेक किया गया। बाद में मूलदेव ने उज्जयिनी के विक्रम राजा को पत्र लिखकर तथा अनेक प्रकार के उपहार भेजकर देवदत्ता गणिका को अपने पास भेजने की प्रार्थना की, और विक्रमराजा ने देवदत्ता की इच्छा जानने के बाद उसे स्वीकार कर लिया। मूलदेव देवदत्ता के साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

इन्हीं दिनों मंडिक नामक एक चोर दिन में लँगड़े जुलाहे के रूप में रहता था और रात में सेंध लगाकर लोगों को त्रास देता था। मूलदेव एक समय स्वयं चोर रह चुका था, उसने युक्ति प्रयुक्ति से मंडिक को पकड़ लिया और उसके पास का सारा धन ले लेने के बाद उसे शूली दे दी।

आठवीं शताब्दी विक्रमी में हुए आचार्य हरिभद्रसुरि ने प्राकृत में 'धूर्त्ताख्यान' नामक हास्य और व्यंग से भरपूर एक कथानक की रचना की। इसमें मूलदेव, कंडरीक, एलाषाढ़ और शश इन चार धूर्तों तथा खंडपाना नामक धूर्त्ता की कथा आती है। इनमें प्रत्येक धूर्त्त के साथ पाँच सौ धूर्त्त थे और खंडपाना के साथ पाँच सौ धूर्त्ताएँ थीं। एक बार कड़ाके की सर्दी में उज्जयिनी के उत्तर में स्थित एक उद्यान में ये सब ठंढक से थर-थर काँपते हुए, भूख से व्यथित बैठे थे। मूलदेव ने कहा,—"हम लोगों में से प्रत्येक अपने-अपने अनुभव कहे और जिसके अनुभव असत्य सिद्ध हों वह इस धूर्त्तमंडली को भोजन दे।" इस पर चारों धूर्त्तों ने ऐसी बातें कहीं जो सर्वथा असम्भाव्य थीं, किन्तु दूसरों ने ब्राह्मण शास्त्र पुराणों की इसी प्रकार की कथाएँ प्रस्तुत करके उनका समर्थन किया। लेकिन खंडपाना की बात को कोई सत्य या असत्य नहीं कह सका। सभी ने हार मान ली और उनकी प्रार्थना स्वीकार करके खंडपाना ने उन्हें भोजन दिया।

शूद्रक कवि के 'पद्मप्राभृतक भाण' में मूलदेव नामक पात्र है जो नायक के रूप में —देवदत्त गणिका के प्रणयी के रूप में आता है। मूलदेव का मित्र शश भी इसमें है।

सोमदेवभट्ट कृत 'कथासरित्सागर' के अन्तिम 'विषम शील लंबक' की अन्तिम वार्त्ता

में मूलदेव राजा विक्रमादित्य को अपने जीवन की एक घटना सुनाता है। प्रसंगोपान्त चर्चा में वह कहता है; "स्त्रीमात्र दुष्टाएँ नहीं होतीं। सभी जगह विषवल्लियाँ नहीं होतीं; अतिमुक्तलता जैसी आम से लिपटनेवाली वेलियाँ भी होती हैं।" फिर मूलदेव अपने एक अनुभव का वर्णन करता है, जिसमें उसकी परित्यक्ता चतुर पत्नी प्रतिज्ञा करती है,—'तुमसे प्राप्त पुत्र के द्वारा मैं तुम्हें बाँधकर वापस लाऊँगी' और इस प्रतिज्ञा को साँगोपाँग पूर्ण भी करती है। इस घटना के बाद मूलदेव अपनी इस पत्नी और पुत्र के साथ पाटलिपुत्र से उज्जयिनी आकर बस जाता है। इस वार्त्ता में मूलदेव के साथ उसके सहयोगी शशीशश भी आते हैं।

इसके अतिरिक्त संस्कृत और प्राकृत साहित्य में ऐसे ही अनेक प्रसंग तथा टिप्पणियाँ और भी बिखरी हुई मिलती हैं, जिनमें मूलदेव की विदग्धता, धूर्तता और चातुरी की बातें हैं। एक प्रकार की गुप्त सांकेतिक भाषा मूलदेवप्रणीत होने के कारण 'मूलदेवी' नाम से अभिहित हुई है (देखिए—कोऊहल-कृत 'लीलावइ कहा' की संस्कृत टिप्पणी, पृ० २८)। यह सब देखते हुए, बाद के कथासाहित्य में लगभग पौराणिक पात्र जैसा बन गया हुआ मूलदेव एक ऐतिहासिक व्यक्ति और स्तेयशास्त्र का प्रवर्त्तक था, इसकी पूरी-पूरी संभावना है।

चोरी का शास्त्र बना, इसलिए इसके अधिष्ठायक देव भी होने चाहिए। चोरों के अधिष्ठायक देव स्कन्द अथवा कार्त्तिकेय हैं। 'मृच्छकटिक' नाटक के तीसरे अंक में चारुदत्त के घर में सेंध लगाते हुए शर्विलक की स्वगतोक्तियाँ इस विषय में अत्यन्त रसपूर्ण हैं। इसमें चोरों को 'स्कन्दपुत्र' कहा है।*

---

*'मृच्छकटिक' का टीकाकार पृथ्वीधर 'स्कन्दपुत्र' का अर्थ 'स्कन्दोपजीवी चौराचार्यों' इस प्रकार समझाता है। 'स्कन्द' का अर्थ 'युद्धदेव कार्त्तिकेय' होता है और आगे बढ़ना—"आक्रमण' भी होता है। चोरों को 'स्कन्दपुत्र' अथवा 'स्कन्दोपजीवी' कहा, इसका यह अर्थ भी है कि प्राचीन काल में 'चोर' का अर्थ 'घर में सेंध लगाकर वस्तुएँ उठा ले जानेवाला' ही न था। व्यवस्थित टोलियाँ बनाकर लूटमार का धंधा करनेवाले लुटेरे भी 'चोर' कहे जाते थे। 'चोरपल्लियों' तथा 'चोरसेनापतियों' के और उनके साथ हुए युद्ध के भी बहुत-से वर्णन कथासाहित्य में मिलते हैं। चोरसेनापति अपने अधीनस्थ सैकड़ों चोरों के साथ व्यापारियों के बड़े-बड़े जत्थों पर एकाएक आक्रमण करते और उन्हें लूट लेते। इस प्रकार, चोरी के व्यवसाय का आक्रमण तथा युद्ध के साथ प्रगाढ़ संबंध होने के कारण-युद्धदेव स्कन्द चोरों के भी अधिष्ठायक देव माने गये हों, इसकी बहुत सम्भावना है। फिर, संस्कृत में 'स्कन्द' शब्द 'चतुर' का भी पर्याय है, और चोरी में चतुराई की बहुत आवश्यकता पड़ती है, इस प्रकार भी स्कन्द का सम्बन्ध चोरी तथा उसके शास्त्र के साथ जुड़ा होगा। यह उल्लेख करना रोचक होगा कि कामदेव की भांति अत्यन्त स्वरूपवान होने के कारण स्कन्द, विशेषत: उत्तर भारत और बंगाल में, गणिकाओं के भी इष्टदेव माने जाते हैं। कार्तिक पूर्णिमा की रात को स्कन्द-कार्त्तिकेय की मूर्त्ति के समक्ष गणिकाएँ गायन-वादन करती हैं, और उस समय उसे सुनने के विषय

फिर इसमें, सेंध लगाता हुआ शर्विलक 'नमः कुमार कार्त्तिकेयाय, नमः कनकशक्तये ब्रह्मण्यदेवाय देवव्रताय, नमो भास्करनन्दिने' इस प्रकार कार्त्तिकेय के भिन्न-भिन्न पर्याय-वाची शब्दों का स्मरण करके उनको नमस्कार करता है।

जो लोग इस विषय की शिक्षा देकर स्कन्द के अनुयायी-वर्ग में वृद्धि करते थे वे 'आचार्य' कहलाते थे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, कार्त्तिकेय को नमस्कार करके शर्विलक स्वयं जिसका प्रथम शिष्य है उस योगाचार्य को—इस विषय के अपने अध्यापक को भी नमस्कार करता है। शास्त्रास्त्रों का प्रहार हो तो भी जिसका लेप करने से वेदना न हो ऐसी 'योगरोचना' (चमत्कारिक लेप) उसे अपने गुरु से मिली थी।

सेंध कहाँ और कैसे लगायी जाती थी,* इस विषय की भी पूरी-पूरी सूचना 'मृच्छकटिक' से मिलती है। इस विषय में शर्विलक की उक्तियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं।

पर चर्चा करते समय स्वर्गीय झवेरचन्द्र मेघाणी के साथ चोरी से सम्बन्धित लोक-साहित्यविषयक बात उठने पर उन्होंने निम्नलिखित दोहा कहा था :—

गवरी ! तारा पुत्रने समरे मधुरा मोर;
दी'ए समरे वाणियाने राते समरे चोर।

(गौरी ! तुम्हारे पुत्र को मधुर मोर स्मरण करते हैं। दिन में वणिक स्मरण करते हैं और रात में चोर स्मरण करते हैं।)

स्कन्द भी गौरी के पुत्र हैं, तो इस दोहे का 'गौरीपुत्र' किसे माना जाय—स्कन्द को या गणेश को ? यद्यपि दूसरी पंक्ति में 'दिन में वणिक स्मरण करते हैं', और चोरी करने को गुजराती में 'गणेशियो' भी कहते हैं, यह वस्तु इस तर्क के विरुद्ध जाती है। पहली पंक्ति में 'मधुर मोर' गौरीपुत्र का स्मरण करते हैं, और मोर कार्त्तिकेय का वाहन है—यह वस्तु विचारणीय है।

चोरी के अधिष्ठायक देव हैं, यह बात आज भी भारत में कहीं-कहीं मान्य है। कर्णाटक में 'गंठिचोर' नामक एक जाति है, जिसका धंधा चोरी का है। यह जाति 'चेलम्मा' को अपनी और अपने व्यवसाय की देवी मानता है (देखिए— 'इंडियन अंटीक्वेरी' वो०, १०, पृ०-२४५ पर मेजर वेस्ट का लेख 'डिवाइन मदर्स ऑर लोकल गॉडेसेज़ ऑव इंडिया)। यह 'गंठिचोर' शब्द संस्कृत 'ग्रंथिचोर' से बना है, और 'चोरनो भाई घंटीचोर' इस गुजराती कहावत के 'घंटीचोर' शब्द से अभिन्न है।

*प्राचीन भारतीय साहित्य में चोर का दो प्रकार से घर प्रवेश करते हुए वर्णन हुआ है: एक तो सेंध लगाकर और दूसरे, सुरंग द्वारा। सेंध ('खातर') को संस्कृत में 'खात्र' और प्राकृत में खत्त' कहा गया है। यद्यपि 'खात्र' बनावटी संस्कृत शब्द है, और उसका निर्माण 'खत्त' के आधार पर या जिस देशिक शब्द से 'खत्त' आया होगा, उसके आधार पर हुआ है। गुजराती 'खातु'' (बाकोरुं) शब्द का मूल भी इसमें है। 'सन्धि' और 'छिद्र' इसके दूसरे पर्याय हैं। सेंध की तुलना में सुरंग का प्रयोग अधिक कठिन होने के कारण अपेक्षाकृत कम देखने में आता है। 'कथा-सरित्सागर' के 'शक्तियशालंबक' में घट और कर्पर इन दो चोरों की वार्ता में सेंध और सुरंग इन दोनों का उपयोग होता है। सुरंग शब्द संस्कृत में 'सुरुंगा' या 'सुरंगा' इस रूप में है, और वह ग्रीक Syrinx पर से व्युत्पन्न हुआ माना जाता है।

"जो पानी पड़ने से शिथिल हो चुका हो, जिसमें सेंध लगाने से शब्द न हो, ऐसा दीवार का भाग कहाँ है ? कहाँ खोदने से विपरीत प्रकार की सेंध, जो शास्त्र में बतायी गयी है, न लगेगी ? इस हवेली का कौन-सा भाग ईंटों में लोना लगने से जीर्ण हो गया होगा ? कहाँ खोदने से मुझे स्त्रियों का दर्शन न होगा और अर्थसिद्धि हो जाएगी ?"

(दीवार का स्पर्श करके) नित्य सूर्य के प्रकाश से और पानी पड़ने से कमजोर हुए इस भाग में लोना लग गया है। चूहों के बिल बनाने से यह मिट्टी का ढेर लगा है। अहो ! मेरा लक्ष्य सिद्ध हो गया ! स्कन्द-पुत्रों को सिद्धि प्राप्त होने का यह पहला लक्षण है। अब कार्य का आरम्भ करते हुए किस प्रकार की सेंध लगाऊँ ? यहाँ भगवान कनकशक्ति ने चार प्रकार की सेंधें बतायी हैं; जो यों हैं :—"पक्की ईंटों को खींचकर बाहर निकालना, कच्ची ईंटों को काट डालना, मिट्टी की दीवार हो वहाँ पानी डालना और लकड़ी की दीवार हो वहाँ चीरना। इन सब में से यहाँ पक्की ईंटें हैं, इन्हें बाहर निकाल देना चाहिए।"

फिर, यह सेंध जैसे-तैसे नहीं, किन्तु कलामय ढंग से खोदी जाती। सेंधें भिन्न-भिन्न आकृतियों की लगायी जाती थीं। चोर चोरी करके चला जाय और प्रातःकाल लोग एकत्र हों तब सेंध लगाने वाले की कला की प्रशंसा करें, यह भी चोर ध्यान में रखते थे। शर्विलक के उद्गार देखिए:—

"इसमें, पद्मव्याकोश (खिले कमल-जैसी), भास्कर (सूर्य-जैसी), बालचन्द्र की आकृतिवाली, वापी (बावली के आकार की), विस्तीर्ण, स्वस्तिकाकृति और पूर्णकुम्भ—इतने प्रकार की सेंधें हैं। किसमें मैं अपना शिल्प दिखाऊँ, जिसे देखकर कल नगर-जन विस्मित हो जाएँ ? यहाँ पक्की ईंटें होने के कारण पूर्णकुंभ ही शोभित होगा, इसलिए वह (उस आकृति की सेंध) लगाऊँ।"

और अन्त में कलारसिक चारुदत्त को 'अहो ! यह संधि दर्शनीय है।' ऐसा कहकर एक कवित्वमय श्लोक द्वारा सेंध की प्रशंसा करते हुए भी कवि ने वर्णन किया है।

'मृच्छकटिक' में सेंध की जो भिन्न-भिन्न आकृतियाँ वर्णित हुई हैं वे केवल कविकल्पना में से उत्पन्न हुई होंगी यह मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी यह वस्तु देखने में आती है। 'मृच्छकटिक'—जैसे प्रकरण में जिस वस्तु का निर्देश है उसका समर्थन 'उत्तराध्ययन सूत्र'–जैसे धर्मग्रंथ की टीका (पृ० १११) में दी हुई एक कथा द्वारा होता है। इस कथा में कलशाकृति, नंद्यावर्त आकृति, पद्माकृति, पुरुषाकृति और कपिशीर्षक ('कोशीश्रां') आकृति की सेंधों का उल्लेख है। एक चोर ने कपिशीर्षक आकृति की सेंध लगायी थी, किन्तु घर के मालिक ने अंदर से चोर के पैर खींचे, और चोर के साथी ने बाहर से सिर खींचा, ऐसी स्थिति में चोर अपनी ही बनायी हुई कपिशीर्षक की नोकों से बिंध गया। पाँचवीं शती के आसपास रचित प्राकृत कथाग्रन्थ 'वसुदेव हिंडी' (भाषान्तर, पृ० ४९) में एक चोर का, श्रीवत्स आकार की सेंध लगाते हुए वर्णन हुआ है।

चोरी के साधनों की सूचना भी संस्कृत और प्राकृत साहित्य से मिलती है। 'दश-कुमारचरित' के दूसरे उच्छ्‌वास में चोरी के उपकरणों का एक छोटा किन्तु सूक्ष्म वर्णन है। इसमें एक चोर अँधेरी रात में काली चादर ('नील वसन') ओढ़कर तथा चड्डी (अर्धोरुक्') पहनकर निकलता है। साथ में तीक्ष्ण तलवार, खोदने के लिए साँप के फन-जैसा हथियार ('फणिमुख'), घर के लोग सोते हैं या जागते हैं, यह जानने के लिए छोटी सीटी ('काकली'), संडसी, बनावटी मस्तक ('पुरुषशीर्षक'), योगचूर्ण—व्रणमुक्ति करने वाला चूर्ण, अँधेरे कुएँ या भुँआरे में भी न बुझने वाली मशाल ('योगवर्त्तिका'), सेंध करने के लिए नापने की डोरी ('मानसूत्र'), ऊपर चढ़ने के लिए कमन्द ('कर्कटक' 'और रज्जु'), चोरदीप ('दीपभाजन'), और जलता हुआ दिया बुझाने के लिए पतिंगों की डिब्बी ('भ्रमरकरंडक')—इतने साधन वह ले जाता है।

इस प्रकार के साधनों का निर्देश अन्यत्र भी मिलता है। जैसे कि 'उत्तराध्ययन सूत्र' पर लिखी गयी शान्तिसूरि और नेमिचन्द्र की टीकाओं में, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, मूलदेव की वार्त्ता में मूलदेव मंडिक चोर को पकड़ने के लिए रात में 'नीलपट' ओढ़कर बाहर निकलता है। 'वसुदेव हिंडी' में सेंध लगाने के लिए सबरी ('नहरण') का तथा 'चर्मवस्त्र' और 'योगवता' का उल्लेख है (भाषान्तर, पृ० ४९ और ६०)। चोरदीप ('दीपसमुद्र') का भी इसमें वर्णन है। प्रकाश की आवश्यकता पड़ने पर चोरदीप का डिब्बा खोलकर दीप बाहर निकाला जा सकता था और अन्दर रक्खा जा सकता था (पृ० ५८-५९)। चारुदत्त के घर में दीपक बुझाने के लिए शर्विलक अपने पास के पतिंगे ('आग्नेय कीट') उड़ाता है। पतिंगे दीप के चारों ओर चक्कर काटते हैं, और अन्त में उनके पंखों के पवन से दीप बुझ जाता है, इसका विस्तृत वर्णन 'मृच्छकटिक' में है।

इस प्रकार, चोरी का शास्त्र था—उसकी कला थी, इस कारण कुछ विद्वान चोरों की भी वार्त्ताएँ मिलती हैं। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपनी कई रचनाओं में और विद्यापति विह्लण ने अपन 'विक्रमांकदेवचरित' के मंगलाचरण में जिनका निर्देश किया है ऐसे 'परकाव्यों से कवि बनने वाले' काव्यचारों की नहीं, किन्तु सचमुच द्रव्यचारों की बात मैं कह रहा हूँ। चोरी करने वालों में से कुछ लोग विट तथा धूर्त्त-वर्ग में से आते, और विदग्ध कहलाने वाले वेश्यागामी जुआड़ियों में से आते; तथा ऐसों को साहित्य और ललितकलाओं में पूरी अभिरुचि थी—यह पुराने काव्य, नाटक और कथा साहित्य से प्रकट होता है। कुछ ब्राह्मण भी चोरी का काम करते थे। 'मृच्छकटिक' का शर्विलक ब्राह्मण है। गुजरात में मोढ ब्राह्मणों की एक उपजाति—धीणोजा या धेणुजा ब्राह्मण—एक समय चोरी तथा ठगी का धंधा करती थी, इस कारण गुजराती भाषा में 'धीणोजा' शब्द ठग का पर्याय माना जाता है। पश्चिम भारतीय 'पंचतंत्र' के पहले तंत्र की अन्तिम वार्त्ता में एक विद्वान ब्राह्मण की बात आती है जो संस्कार योग से चोरी का धंधा करता था और जिसने अपनी जान हथेली पर रखकर कुछ ब्राह्मणों को भीलों से बचाया था। पुराने गुजराती 'पंचाख्यान वार्त्तिक' में भी राजा के भंडार में चोरी करने वाले एक विद्वान ब्राह्मण की कथा आती है। किन्तु विद्वान चोर की सब से रसिक

कथा तो सं० १३६१ में मेरुतुंगाचार्य द्वारा रचित 'प्रबन्धचिन्तामणि' के 'भोजभीमप्रबन्ध' में हैं :—

"एक बार मध्यरात्रि में राजा भोज अकस्मात् जाग गये। उन्होंने गगन-मडल में नवोदित चन्द्र को देखकर अपने सरस्वती—समुद्र में आये हुए ज्वार-जैसा निम्नलिखित श्लोकार्ध कहा :—

यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते
तदाचष्टे लोकःशशक इति नो मां प्रति तथा

(अर्थात् चन्द्र में यह जो बादल का टुकड़ा-जैसा दिख रहा है, लोग उसे शशक कहते हैं, किन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता।)

राजा बारम्बार श्लोकार्ध कहते रहे, तब राजमहल में सेंध लगाकर भंडार में घुसा हुआ कोई चोर अपनी प्रतिभा के वेग को न रोक सका, उसने वह श्लोक इस प्रकार पूरा किया :—

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणि—
कटाक्षोल्कापातव्रणशतकलङ्काङ्किततनुम् ॥

(पर मैं तो तुम्हारे शत्रुओं के विरह से पीड़ित स्त्रियों के कटाक्षरूपी उल्कापात से पड़े हुए सैकड़ों व्रणों से चंद्र का शरीर कलंकित हुआ है, यह मानता हूँ।)

चोर इतना बोला, इसके बाद अंगरक्षकों ने उसे पकड़कर कारागार में डाल दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह चोर सभा में लाया गया, तब इस चोर को राजा ने जो पारितोषिक दिया उसके विषय में धर्मबही लिखने वाले अधिकारी ने निम्नलिखित श्लोक लिखा :—

'जिसने मृत्यु का भय छोड़ दिया था ऐसे इस चोर को प्रसन्न हुए राजा ने उपर्युक्त जो चरण रचने के लिए दश कोटि सुवर्ण और दाँतों की नोक से पर्वत को खोदने वाले तथा मदमत्त भ्रमर जिनके ऊपर गुंजार कर रहे थे—ऐसे आठ हाथी दिये।'

चोरी की कला विषयक दूसरी अनेक इतिहास-मिश्रित वार्त्ताएँ, दंतकथाएँ तथा अन्य तथ्य प्राचीन साहित्य से और लोक-साहित्य से प्राप्त होते हैं। इसके आधार पर विविध देशकाल में विभिन्न प्रकार के चोरों में—डाकू, उचक्के, ठग, लुटेरे तथा सेंध लगाने वाले चोर और अनेक प्रकार के धूर्तों में प्रवर्त्तमान आदरपूर्ण 'नीतिनियमों' (कोड ऑव आनर) के विषय में तथा किसी भी प्रकार के नियंत्रण के बिना, केवल चोरी करने को ध्येय मानने वाले चोरों के विषय में लिखने से अध्यधिक विस्तार होने का भय है। किन्तु प्राचीन भारत के चोरी के शास्त्र और कला पर सामान्य ज्ञान कराने के लिए इतना पर्याप्त होगा।

डॉ वासुदेवशरण अग्रवाल

अग्नि

अग्नि शब्द के सम्पूर्ण संस्मरण में विश्व की उत्पत्ति और स्थिति का पूरा चित्र समाया हुआ है। अग्नि उस महाशक्ति की संज्ञा है, जिससे इस विश्व का उद्भव हुआ है। जैसे ऋग्वेद में कहा है—एक एव अग्नि: = अग्नि एक है, केवल एक है। उसके विषय में दो, तीन, चार, पाँच नहीं कहा जा सकता। किन्तु एक होते हुए भी वही अग्नि विश्व के नानारूपों में प्रकट हो रही है। अतएव सृष्टि विद्या का मूलनियम इस प्रकार है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः।

जो अग्नि मूल में एक है, वही नानारूपों में क्रियाशील होता हुआ दृश्यमान है। एक से बहुधा भाव में आना ही सृष्टि है।

यह अग्नि क्या है? प्रत्यक्ष रूप में अग्नि उष्णता या ताप की संज्ञा है। छोटा या बड़ा, जो ताप हमें दिखाई पड़ता है, उसका स्वरूप क्या है? उस ताप के पूर्व पूर्व कारण की शृंखला पर हाथ रखते हुए यदि हम मूल उद्गम तक पहुँचने का प्रयत्न करें तो आरंभ में एक कोई महा महाताप या महती उष्णता अवश्य थी जिससे कालान्तर में सृष्टि के सब ताप उत्पन्न हुए हैं। जितनी उष्णतायें इस समय विद्यमान हैं, उन सब का मूल एक है और एक ही हो सकता है। जैसा महाभारत में स्पष्ट कहा है:—

ऊष्मा चैवोष्मणो जज्ञे सोऽग्निर्भूतेषु लक्ष्यते।
अग्निश्चैव मनुर्नाम प्राजापत्य मकारयत्॥

(आरण्य पर्व, २११–४)

अर्थात् अग्नि केवल एक ऊष्मा है, जो कि सृष्टि के आरम्भ की किसी महा ऊष्मा से उत्पन्न हुई है। यह भी अग्नि है, वह भी अग्नि थी। इस ऊष्मा ने ही भूतों को अपने स्वरूप में स्थित रखा है। तृण से लेकर ब्रह्मस्तम्भ पर्यन्त विश्व में जितने पदार्थ हैं, उन सब भूत, भौतिक पदार्थों के भीतर उनके स्वरूप की संरक्षक शक्ति अग्नि है। मानुषी देह, पशु, पक्षी, वृक्ष, भूत, भौतिक पदार्थ असंज्ञ, अन्तःसंज्ञ और ससंज्ञ सब को अपन-अपने भौतिक रूपों की प्राप्ति उस शक्ति द्वारा हुई है जो भूतों के पीछे रह कर भूतों

को धारण किये हुए है। जिस समय यह अग्नि शिथिल हो जाती है, उसकी संधारणा शक्ति जाती रहती है और भूत एक दूसरे से अलग हो कर बिखर जाते हैं। यही विश्व की स्थिति का नियम है। अतएव महाभारत के लेखक ने ठीक ही कहा है कि—जो ऊष्मा है, वही जब भूतों के रूप में दृश्य होती है, तो, उसे हम अग्नि कहते हैं।

यह अग्नि जिस समय अपने जैसे नये पदार्थ के रचने में प्रवृत्त होती है, जब वह ससंज्ञ केन्द्र में अभिव्यक्त होती है और प्रजाओं की उत्पत्ति में प्रवृत्त होती है तो उसे ही मनु कहा जाता है। जीव-मात्र का यह नियम है कि वह अपने सदृश्य सन्तति को उत्पन्न करने में समर्थ होता है। सन्तति को ही प्रजा कहते हैं। 'प्रजा का उत्पादन' यही प्राजापत्य कर्म है। मनु उस केन्द्र की संज्ञा है जो प्राजापत्य कर्म करने में सूक्ष्म है। यह मनुतत्त्व न केवल कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मानवादि के अन्तःकेन्द्र में है किन्तु अन्तःसंज्ञ जो वनस्पति जगत है, उसमें भी मनुतत्त्व अपने प्राजापत्य धर्म से क्रियाशील है। यद्यपि मन के धर्मों का वैसा स्फुट विकास वनस्पति जगत में नहीं हुआ जैसा उत्तरोत्तर की संसज्ञ योनियों में देखा जाता है। इस विश्व में जितनी भी दृश्य योनियाँ हैं, उन सब में मनुतत्त्व की उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति मनुष्य में है। इसीलिये उसे विशेषतः मानव या मनुपत्र कहा जाता है।

तात्विक दृष्टि से जितने प्रकार की शक्तियाँ विश्व में हैं, सब का मूल स्रोत एक है। भौमिक शक्ति, प्राण शक्ति और मानस शक्ति, शक्तियों के तीन ही विभाग हैं। इन्हें ही क्रमशः भूतमात्रा, प्राणमात्रा, और प्रज्ञामात्रा भी कहा जाता है। इन तीन मात्राओं की समष्टि मानव है। अर्थात् मानव के निर्माण में भौतिक शरीर, उसके भीतर की प्राणशक्ति और चिन्तन शक्ति इन तीनों का योग हुआ है। मन, प्राण और भूत-भौतिक इन त्रिविध शक्तियों में विज्ञान की दृष्टि से भले ही अभी तक भेद माना जाता रहा हो, किन्तु वैदिक दृष्टि से और विश्व की तत्वात्मक दृष्टि से ये तीनों एक ही हैं। आज तो अर्वाचीन विज्ञान भी उस स्थिति में पहुँच गया है जहां भौतिक शक्ति के विषय में उसकी अब तक की एकान्तिक विचारधारा डाँवाडोल हो गई है। विद्वद्वर एडिङ्गटन और जीम्स दोनों का कथन है कि विश्व के जिस स्वरूप का ज्ञान हमें हो रहा है, वह हमारे मन का ही परिणाम है।

वस्तुतः भूत मात्रा, प्राणमात्रा और प्रज्ञामात्रा को ही हम अग्नि, वायु और सूर्य कहते हैं। तीनों एक ही हैं। केवल उनमें तारतम्य का भेद है। एक स्थूल है, दूसरा सूक्ष्म है और तीसरा उससे भी सूक्ष्मतर है। एक घन, दूसरी तरल और तीसरी विरल शक्तियों को ही क्रमशः अग्नि, वायु और आदित्य कहा जाता है। अपने शरीर की प्रक्रिया पर ही हम विचार कर के देखें तो, इन तीनों का तारतम्य और आपेक्षिक सम्बन्ध स्पष्ट समझा जा सकता है। हम शरीर के पोषण के लिये स्थूल अन्न लेते हैं। वह शक्ति का घन रूप है। शरीर के भीतर पहुँच कर वह कुछ काल तक आपने घन रूप में रहता है। अन्न से रस, रस से अष्टक, मांस, मेद आदि यह सब शक्ति का घन रूप ही है। इसके आधार पर और इसी के मन्थन से प्राणशक्ति उत्पन्न होती है। वह शक्ति का तरल रूप है। उसके पुनः मन्थन से मानसशक्ति उत्पन्न होती है जिससे हम विचार

करते हैं। तीनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। यदि इनमें से एक का भी उच्छेद हो जाय, तो शेष दो का भी उच्छेद हुए विना न रहेगा। यदि शरीर को अन्न मिलना बन्द हो जाय तो प्राण की विधारणा और मन की संस्थिति दोनों ही टूट जायेंगे। अतएव मानव का शरीर मन, प्राण, वाक् इन तीनों की समन्वित प्रक्रिया पर ही निर्भर है। जिस शक्ति-प्रक्रिया में ये तीनों मात्रायें सम्मिलित रहती हैं, उसे ही वैश्वानर अग्नि कहा जाता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष ओर द्युलोक ये तीन भी क्रमशः घन, तरल और विरल भूतमात्रा, प्राणमात्रा, प्रज्ञामात्रा इनकी ही संज्ञायें हैं। ये शक्ति के तीन रूप हैं। जहाँ शक्ति होती है, वहीं उसके नियन्ता का भी होना आवश्यक है। यदि नियन्ता (Control) न हो तो शक्ति का उपयोग संभव नहीं। जो शक्ति हमारे उपयोग से बाहर है वह अयज्ञीय है। जो नियमित है अर्थात् किसी नियामक तत्त्व या शक्ति-नियन्ता के अधीन है वही यज्ञीय है अर्थात रचनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत है। नियन्ता या संचालक को ही वैदिक परिभाषा में नर कहा जाता है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ—ये तीन लोक हैं। इन तीन लोकों में भरी हुई जो घन, तरल, विरल त्रिविधा शक्ति है उसके तीन नर हैं जिन्हें अग्नि, वायु और आदित्य कहा जाता है। ये तीन ही विश्व हैं और उनके तीन ही विश्वनर हैं। विश्वनरों से नियन्त्रित जो शक्ति है वही वैश्वानर अग्नि है। मानव के शरीर में जो अग्नि रहस्यमय शक्ति है, वही वैश्वानर अग्नि है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है :—

अयमग्नि वैश्वानरो योऽयें अन्तःपुरुषे येनेदमन्नम् यच्यते।

(शतपथ १४–८–१०–१)

अर्थात पुरुष में जो शक्ति है वही वैश्वानर अग्नि है। इसकी सत्ता की मोटी पहचान यह है कि यह खाये हुए अन्न को पचा देती है। और भी नाना प्रकार के कार्य इसीसे सम्पन्न होते हैं। पर जब तक यह बाहर से आने वाली अन्नाहुति को यथावत् भस्म करती रहती है तब तक शरीर-यज्ञ सकुशल रहता है। बाहर से आने वाले अन्न को सोम कहते हैं। अग्नि में सोम की आहुति, यही यज्ञ है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद और अग्नि का समागम यही विश्वयज्ञ की प्रक्रिया की सन्तत कोटि है। अन्न अग्नि में पड़कर अपनी सत्ता खो देता है। वह अन्नाद के स्वरूप में मिल जाता है। अतएव अन्नाद ही शेष रहता है। अन्न केवल अन्नाद के संवर्द्धन का कार्य करता है। इसीलिये कहा जाता है—

अन्ना एवाख्यायते।

अन्नाद की ही लोक में ख्याति होती है, अन्न की नहीं।

अर्वाचीन विज्ञान की दृष्टि से जितने भी स्थूल दृश्य पदार्थ हैं उनकी त्रैकालिक कोई सत्ता नहीं। उनके नाम और रूप दोनों ही मिथ्या हैं। सत्य केवल वह शक्ति है, जो परमाणुओं का रूप धारण कर इन भौतिक पदार्थों के रूप में प्रकट हो रही है। विश्व के बाह्य रूप में सर्वत्र भेद है। किन्तु आन्तरिक रूप में सर्वथा अभेद है। मूलभूत ९२ तत्त्वों के अभ्यन्तर में परमाणुओं का संस्थान है। जिसे परमाणु कहते हैं वह भी धनविद्युत

और रणविद्युत की तरङ्गों की समष्टि है। इनमें पारस्परिक कोई ऐसा अवश्यंभावी भेद नहीं है जो एकत्व के प्रभाव से बचा रह सके। परमाणुओं को ऋण, धन, ऋणाणु और धनाणु इनकी संख्या के भेदों से जो भौतिक जगत में तत्त्वों के भेद उत्पन्न हुए हैं, उन्हें केवल गणितसिद्धि मानना पड़ेगा। इस प्रकार मूलभूत शक्तितत्त्व एक और सर्वथा एक है।

वैज्ञानिक, शक्ति के प्रायः ७ विभाग मानते हैं। ताप या उष्णता, प्रकाश, विद्युत, चुम्बकधर्मिता, रासायनिक शक्ति, शब्द और यान्त्रिक शक्ति (जैसे स्प्रिंग)। सप्तधा विभिन्न होते हुए भी मूल में यह शक्ति एक ही है। अतएक विज्ञान का यह ध्रुव सिद्धान्त माना जाता है कि एक प्रकार की शक्ति को दूसरे प्रकार की शक्ति में बदला जा सकता है। शक्तियों के इन नानारूपों का विज्ञान ने एक प्रकार से वर्गीकरण और नामकरण किया है। वैदिक विज्ञान की दृष्टि से इनके वर्गीकरण और नामकरण की परिभाषायें भिन्न हैं। यह स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति अपने मूल विचारों की अभिभक्ति के लिये स्वतन्त्र शब्दावली और परिभाषाओं का निर्माण करती है। विज्ञान ने भी आज जिस भाषा में शक्ति के नानारूपों का नामकरण किया है, यदि फिर से अनुसन्धान की यह प्रक्रिया पूरी की जाय तो वे नाम और परिभाषायें भिन्न हो सकती हैं।

वैदिक विज्ञान ने शक्ति-तत्त्व की अभिन्नता की ओर दृष्टिपात करते हुए निःसंशय होकर कहा है—इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गुरुत्मा, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा—ये सब भिन्न होते हुए भी मूलतः एक ही सत् तत्त्व के अनेक रूप हैं :—

इन्द्रम्मित्रम्वरुणमग्निमाहुरयो दिव्यः ससुपर्णों गरुत्मान्
एके सद्विप्रा बहुधा वदंत्यग्निं यमम्मातरिश्वानमाहुः
(ऋ० १-१६४-१४६)

इसी भाव की पुष्टि मनु के इस श्लोक में पाई जाती है—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणं अपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

कोई इसे अग्नि कहते हैं, दूसरे उसे ही प्रजापनि मनु की संज्ञा देते हैं, कोई उसे ही इन्द्र कहते हैं और कोई उसे प्राण मानते हैं, किसी के मत में वही शाश्वत ब्रह्म है।

'एकं वा इदम् बभूव सर्वम्' यही इस सृष्टि का मूल रहस्य है। एक ही शक्ति-तत्त्व अनेक रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। अन्ततोगत्वा इस महान विश्व की मूल शक्ति वैदिक भाषा में सच्चिदानन्द ब्रह्म है। वैज्ञानिक भाषा अभी अपनी अन्तिम समीक्षा का निर्माण ही कर रही है। अविचाली ध्रुव तत्त्व के विषय में उसके अनुभव अभी सापेक्ष हैं। विज्ञवर आइनस्टाईन के सापेक्षतावाद सिद्धान्त ने विज्ञान के प्राङ्गण में शताब्दियों से जमे हुए कूड़े करकट को बहुत कुछ हटा दिया है। शक्ति और भूत-भौतिक पदार्थ का कल्पित भेद मिट गया है। जो दृश्य भूत पदार्थ है, वह छन्द विशेष में सिमटी हुई शक्ति का ही रूप है। उसे ही अंग्रेजी में यों कहेंगे—'मैटर इज़ बॉटिल्ड इनर्जी।' वैज्ञानिक चिन्तन को

एक क्रान्ति की और आवश्यकता है। निश्चय रूप से उसका मुहूर्त्त निकट आ रहा है। वैज्ञानिक भी ऋषि हैं और वे विश्व के नानास्थानों में शक्ति के मूलस्वरूप के समाधान खोजने में लगे हैं।

जिसे हम अग्नि कहते हैं उसका मूल स्वरूप क्या था, उस पर विचार करते हुए ऋषियों का कथन है कि--आरंभ में शक्ति का एक समुद्र था। वह सर्वत्र व्यपक था। इसीलिये उसे 'आप:' कहा गया—

'यदाप्नोत् तस्मादाप:'

(शतयथ ६. १. १. ९)

आरंभ में केवल एक प्रजापति था। उसने अपनी ही शक्ति से अपने को अभिव्यक्त किया। वह निर्विशेष और निर्धर्मक स्थिति से सविशेष सर्वधर्मात्मक स्थिति के रूप में आया। वही उसका व्यापक स्वरूप, शक्ति का समुद्र था जिसे वैदिक बिज्ञान की भाषा में आप: या जल कहा जाता है। 'आप एव ससर्जादौ' का यही अभिप्राय है। वहीं सृष्टि के आरंभ में समुद्र या आप: से भौतिक जलों का ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि भौतिक जलों की सत्ता तब वहाँ थी ही नहीं। जिसे विज्ञान की भाषा में शक्ति का सर्वत्र समबितरण कहते हैं (इनर्जी इन ए स्टेट ऑफ इक्विलिब्रियम) वही यह अनन्त जल-समुद्र था। जल उसका प्रतीक है जो अभी रचना-संस्थान में परिगृहीत न हुआ हो। समत्व का सर्वोत्तम प्रतीक जल माना जाता है। उस प्रकार के शक्ति-समुद्र में सृष्टि-प्रक्रिया का उन्मुख भाव उत्पन्न हुआ। उसमें कहीं एक केन्द्र का आविर्भाव हुआ।। केन्द्र-विहीन अवस्था, समवितरण की अवस्था थी। शक्ति का किसी एक केन्द्र पर प्रकट होना यही सृष्टि के आरंभ में अवश्य हुआ होगा। वह अभिव्यक्त शक्ति अग्नि थी। यह अभिव्यक्ति किस कारण से संभव हुई, इसका उत्तर है गतितत्त्व। शक्ति के समवितरणात्मक धरातल पर गतितत्व का प्रादुर्भाव हुआ। उसी की संज्ञा अग्नि थी। वस्तुत: गतितत्त्व और अग्नि-तत्त्व एक दूसरे के यथार्थ हैं। स्थिति तत्त्व शक्ति का प्रसुप्त भाव है। वही जब अभिव्यक्त होती है, तब उसे ही गतिरूप में हम देखते हैं। गति ही प्रकम्प या कम्पन है। केन्द्र से परिधि या परिधि से केन्द्र तक गति और आगति का द्वन्द्व यही गति का स्वरूप है। केन्द्र से परिधि की ओर शक्ति या विद्युत की गति गति है। उसे इन्द्र कहा जाता है। वही जब परिधि से अपने छन्द से छन्दित होकर केन्द्र की ओर लौटती है, तो उसी आगति तत्त्व का नाम विष्णु है। गति और आगति अथवा इन्द्र और विष्णु इन दोनों का द्वन्द्व या संघर्ष प्रत्येक पदार्थ में या प्रत्येक परमाणु के अभ्यन्तर में अहर्निश जारी है। इसे ही एक शब्द में बल तत्त्व कहते हैं। स्थितिभाव रस है। गतिभाव बल है। बल तत्त्व ही अग्नि है। यही सृष्टि के आरंभ में सबसे पहले जिसे वैदिक भाषा में 'अग्ने' कहते हैं, प्रादुर्भूत हुआ था। संकेत से इसे 'अग्रि' कहा गया। वह 'अग्रि' ही 'अग्नि' है—

स यदस्य सर्वस्य अग्रम् असृज्यत तस्मात् अग्नि:।
आग्निहे वै तम् अग्नमित्याचक्षते परोक्षम्।

(शतपथ, ६, १, १, ११)

तद्वा एनम् एतदग्रे देवानाम् प्रजापतिः अजनयत् ।
तस्मादग्निः अग्निर्हवै नाम एतत् यदग्निरिति ।

(शतपथ २, २, ४, २)

यहाँ स्पष्ट कहा है कि जो शक्ति सृष्टि के आरंभ में प्रजापति ने देवों से पूर्व अवस्था में उत्पन्न की वही अग्रस्थानीय होने से 'अग्नि' कही गई और ऋषि लोग उसे ही संकेत से 'अग्नि' कहते हैं।

यह अग्नि क्या है, इसका स्वरूप केवल एक कम्पन है। स्पन्दन की शक्ति का नाम ही अग्नि है। सूर्य की रश्मियों में, मनुष्य के हृदय में, लोहे की अग्नि यंत्र में, जहाँ-जहाँ स्पन्दन है वहीं-वहीं अग्नि है। स्पन्दन ही सृष्टि की मूल शक्ति है। स्पन्दन का नाम ही गमितत्त्व है। स्पन्दन को ही प्राण कहते हैं। फैलना और सिकुड़ना इस प्रक्रिया की संज्ञा स्पन्दन है। अस्वस्थ प्राण की सर्वोत्तम परिभाषा जो वैज्ञानिक तत्त्व-कथन् के समकक्ष है, ऋषियों ने इस प्रकार की है—

प्राणो वै समञ्चन् प्रसारणम्

(शतपथ, ८, १, ४, १०)

फैलना सिकुड़ना (कन्ट्रेक्सन, एक्सपेन्सन) यही सब शक्तियों का स्वरूप है। यही अग्नि शक्ति है। हृदय की धड़कन में, प्राण के समञ्चन-प्रसारण का रूप हमें साक्षात् दिखाई देता है। इसी का परिणाम जीवन है। यही छन्द है। अहोरात्र, पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष या दर्श पौर्णमास, उत्तरायण, दक्षिणायन, ये सब काल के छोटे बड़े छन्द हैं, जिनके द्वारा सूर्य का सञ्चरणशील रथ महाकाल को सापेक्ष काल के रूप में परिणत कर रहा है। यह छन्द ही जीवन का हेतु है। संवत्सर में ऋतुओं का छन्द न हो तो कोई भी सृष्टि-कार्य संभव नहीं। अग्नि का नाम ही संवत्सर है। अग्नि ने संवत्सर के रूप में अपना द्विविरुद्ध भाव प्रकट किया है या काव्य की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि अग्नि रूपी गरुड़ ने उड़ने के लिये अपने दो पंख फैलाये हैं।

संवत्सर दो प्रकार का है—एक चक्रात्मक। दूसरा यज्ञात्मक। दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, ये कालात्मक संवत्सर के रूप हैं। इन रूपों में गरुत्मा सुपर्ण अपने पंख फड़फड़ाता हुआ सृष्टि के आरंभ से सृष्टि के अन्त तक उड़ता रहेगा। इन काल खंडों की कोई सन्तान नहीं। ये केवल भाँतिसिद्ध हैं, प्रतीतिमात्र हैं। जैसा कवि ने कहा है—सृष्टि का कोई विधाता काल रूपी धनुष हाथ में लेकर लव, निमेष वर्ष, युग, कल्प आदि के प्रचण्ड वाण बरसाकर विश्व के प्रत्येक पदार्थ को बींध रहा है। जितना भी परिवर्तनशील जगत है, वह सब उससे बिंध रहा है। एकमात्र केन्द्र या स्थिति तत्त्व को काल के ये वाण नहीं छू पाते।

लव निमेष परवानु जुग बरष कलप सर चंड।
भजसि न मन तेहि राम कहुँ कालु जासु को दंड ॥

कालात्मक या चक्रात्मक संवत्सर उस अवधि की संज्ञा है जिसमें पृथ्वी एक विन्दु से चलकर फिर उसी विन्दु पर लौट आती है । इतनी अवधि में सूर्य की अग्नि अर्थात् उसकी ताप, प्रकाश वाली राश्मियाँ अपने आपको जितने भूतभाग में परिवर्तित कर देती हैं वही यज्ञात्मक संवत्सर का स्वरूप है । इसी प्रक्रिया से तृण, वनस्पति उग रहे हैं और इसी से पशु, पक्षी, मनुष्य वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ रहे हैं ।

शीत और उष्ण दोनों में ऊष्मा का तारतम्य है । दोनों एक ही अग्नि के दो रूप हैं । इन्हीं की संज्ञा ऋण और धन है । इन्हें ही हम विराट सृष्टि में सूर्य और चन्द्र के रूप में देखते हैं । सूर्य और चन्द्र को आग या मिट्टी पानी के जड़ गोले न समझना चाहिये, वे तो भुवन में प्रतीक बनकर प्रकट हुए हैं—उस उष्णधारा या शीतधारा के जो अग्नि की सृजन-शक्ति का अनिवार्य परिणाम है । सूर्य और चन्द्र के प्रतीक विश्व के किस पदार्थ में नहीं हैं ? यह जो आकाश में सामने सूर्य दीखता है, यह तो अपनी शृंखला में एक अन्तिम कड़ी है । इसके पीछे न जाने कितने सूर्यों की परम्परा जुड़ी है जिन सबका पर्यवसान उस महान् ऊष्मा में या उस महान् आदित्य में ढूँढ़ना चाहिये, जहाँ से ये ब्रह्माण्ड-निकाय निरन्तर जन्म ले रहे हैं । दूरतम नक्षत्रों में और ऊवम करते हुए धूमकेतुओं में, इसी तरह नीहारिकाओं में और उनके महा भयंकर अलात चक्रों में एक ही अग्नि है, एक ही अग्नि है, एक ही अग्नि है । उसके बहुधा समृद्ध रूप को चकित मानव का प्रणाम-भाव अर्पित है । अग्नि की पुष्कल कथा आदि और अन्त हीन है । मानवीय आयुष्य उस महाकाल का एक पल-मात्र है, उस महान् अग्नि की एक चिनगारी-मात्र है, उस महान् यज्ञ की एक आहुति-मात्र है । उस महान् साम का एक स्तोभ मात्र है, इसका छन्द और विराट छन्द दोनों सर्वथा एक हैं ।

डॉ० नगेन्द्र

स्वतंत्रता के उपरान्त हिन्दी साहित्य

हिन्दी का यह सौभाग्य था और दुर्भाग्य भी कि देश की संविधान सभा ने उसे राजभाषा घोषित किया। सौभाग्य इसलिए कि स्वतन्त्र भारत जैसे महान् देश की राष्ट्रीय एकता की सूत्रधारिणी बनने का गौरव उसे मिला। दुर्भाग्य इसलिए कि वह राजनीति के वात्याचक्र में फँस गयी। हिन्दी का मंच राजनीतिक नेताओं से इतनी बुरी तरह घिर गया कि साहित्यकार के लिए उस पर बैठने की जगह भी नहीं रही। परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार की चेतना दो भिन्न, प्रायः विरोधी प्रेरणाओं में विभक्त हो गई। सबसे पहले तो उसे भाषा की समस्या से उलझना पड़ा। फिर साहित्य की समृद्धि का प्रश्न सामने आया। व्यापक अर्थ में साहित्य के दो अंग हैं: एक शास्त्र और दूसरा काव्य। शास्त्र से अभिप्रेत है ज्ञान-व्यवहार का साहित्य और काव्य रस के साहित्य का वाचक है। इस तरह स्वतन्त्रता के बाद हिन्दी साहित्यकार के सामने तीन मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई, जो बाह्य रूप से सम्बद्ध होती हुई भी तत्त्व-रूप से भिन्न थीं? (१) भाषा की, (२) व्यावहारिक साहित्य की, और (३) काव्य अथवा रस के साहित्य की।

सन् १९४७ से लेकर सन् १९५७ तक, इन दस वर्षों में, हिन्दी साहित्य के विकास की ये तीन रेखाएँ हैं जिन्हें आधार मानकर उसकी उपलब्धियों का सिंहावलोकन किया जा सकता है।

भारत की राजभाषा होते ही हिन्दी भाषा के प्रश्न ने अनायास ही सर्वथा नवीन रूप धारण कर लिया। एक तो इसका शुद्ध राजनीतिक पहलू है जिससे अनेक महारथी जूझ गये और आज भी जूझ रहे हैं। हमारे मन में उनके प्रति वही भयमिश्रित आदर है जो सामान्य बुद्धिजीवी व्यक्ति का योद्धा के प्रति हो सकता है। वे हमारे नमस्य हैं। किन्तु भाषा का एक साहित्यिक पक्ष भी है और वह हमारा अपना दायित्व है। यों तो रामप्रसाद निरन्जनी से लेकर हमारी अपनी पीढ़ी के हिन्दी लेखकों तक हिन्दी-भाषा की शक्तियों का समुचित विकास हो चुका था—महावीर प्रसाद द्विवेदी ने उसको स्थिर रूप दिया, पद्मसिंह शर्मा ने उसे गोष्ठी-मंडप बनाया, प्रेमचन्द ने उसकी व्यावहारिक शक्ति

का विकास किया, रामचन्द्र शुक्ल ने गम्भीर विवेचन के माध्यम रूप में उसका परिपाक किया, पन्त ने उसको सूक्ष्म सौन्दर्य-विवृत्तियों के उद्‌घाटन की क्षमता दी, और सन् १९४७ में आधुनिक हिन्दी एक प्रौढ़-परिपक्व भाषा के रूप में विद्यमान थी। परन्तु राजभाषा बनते ही उसके सामने अनायास ही अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुईं और काव्य-साहित्य के दायित्व को विश्वास के साथ निबाहने वाली भाषा नवीन दादित्वों के भार से जैसे कुछ समय के लिए काँप गई। किन्तु आधार पुष्ट था—और डा० रघुवीर जैसे मेधावी आचार्यों ने उसका पूर्ण उपयोग कर हिन्दी की अन्तर्भूत शक्ति का सम्यक् विकास आरम्भ कर दिया। डा० रघुवीर के आगे-पीछे और भी शब्दकार इस दिशा में बढ़े—जैसे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन और हिन्दी के वयोवृद्ध कोशकार बाबू रामचन्द्र वर्मा आदि। आरम्भ में आचार्य रघुवीर का बड़ा विरोध हुआ। पहली बार जब मैंने संविधान-अनुवाद-समिति में उनके साथ कार्य आरम्भ किया तो मुझको भी उनके शब्द और शब्दों से भी अधिक उनकी असहिष्णु पद्धति सर्वथा अग्राह्य प्रतीत हुई। किन्तु जैसे-जैसे हम शब्दों की आत्मा में प्रवेश करते गये वैसे-वैसे मुझे यह विश्वास होने लगा कि अपने समस्त गुण-दोषों के रहते हुए भी उनका मार्ग ही ठीक है। वास्तव में आचार्य रघुवीर के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। उनका प्रमुख दोष यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य की आन्तरिक प्रकृति से उनका सहज सम्बन्ध नहीं है और दूसरे वे शब्दकार हैं, शैलीकार नहीं। किन्तु फिर भी अपने क्षेत्र में वे अद्वितीय हैं। उनके साधन और उपकरण अत्यन्त समृद्ध हैं। संस्कृत भाषा की निर्माण-क्षमता को उन्होंने पूरी तरह से आत्मसात् कर लिया है और पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में उनको शब्द-निर्माण कला का अद्‌भुत् अभ्यास हो गया है। उनकी एक प्रत्यक्ष उपलब्धि तो यही है कि उन्हीं अकेले व्यक्ति ने लक्षावधि शब्दों का निर्माण कर दिया है। किन्तु इससे भी बड़ी उपलब्धि उनकी यह है उन्होंने शब्द-निर्माण के मूल सिद्धान्त का आविष्कार या कम-से-कम अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। उनका प्रायः सभी दिशाओं से विरोध हुआ किन्तु अन्त में अब उन्हीं की पद्यति का अवलम्बन किया जा रहा है। जो नहीं कर रहे हैं वे 'बिचबिन्दी' और 'खोली' जैसे शब्दों का निर्माण कर इस सभ्य देश की राष्ट्रभाषा का अपमान कर रहे हैं। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप हिन्दी भाषा की शब्द शक्ति का निश्चय ही तीन रूपों में विकास हुआ है : (१) विपुल संख्या में नवीन शब्द उपलब्ध हुए हैं, (२) शब्दों के रूप स्थिर हुए हैं और हो रहे हैं, (३) हमारी भाषा ने अर्थगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों को अभिव्यक्त करने की क्षमता का अर्जन किया है। भाषा में आनुगुणत्व की जो शक्ति आज है वह सन् १९४७ से पूर्व नहीं थी। हमारे अनेक साहित्यकारों को यह शंका है कि संस्कृत का वर्द्धमान प्रभाव हिन्दी के स्वरूप का ग्रास करता जा रहा है। मैं इस शंका को सर्वथा निर्मूल नहीं मानता किन्तु फिर भी मैं विशेष चिन्तित नहीं हूँ क्योंकि इससे हानि की अपेक्षा लाभ अधिक है। भाषा की गरिमा, चित्रात्मकता और व्यंजना-शक्ति का जितना विस्तार संस्कृत के आधार पर हो सकता है उतना इधर-उधर से बिना किसी नियम अथवा क्रम के गीने-चुने शब्दों से नहीं हो सकता। इस विकासशील भाषा के विरुद्ध एक आक्षेप और भी है जो वास्तव में उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता और वह यह कि इस प्रकार क्या हम वास्तव में एक अनुवाद-भाषा का विकास

नहीं कर रहे ? आज जिन नवनिर्मित शब्दों से हिन्दी का भाण्डार समृद्ध हुआ है वे सभी अनूदित शब्द हैं। ऐसी स्थिति में क्या यह विकास स्वाभाविक माना जा सकता है? यह शंका मेरे मन में भी बार-बार उठती है किन्तु इसका समाधान भी दूर नहीं है और वह यह है कि कोई भी प्राणवती भाषा अनुवाद की भाषा नहीं रह सकती। जो अनूदित शब्द आज आ गये हैं वे शीघ्र ही समर्थ लेखकों की अभिव्यंजन-प्रक्रिया में पड़ कर हमारी भाषा में ही अभिन्न रूप से घुल-मिल जाएँगे। जिस महान् देश की संस्कृति एक के बाद एक विदेशी जाति को आत्मसात् करती चली गई उसकी भाषा को कुछ नई शब्द-छायाओं को पचाने में कितनी देर लगेगी ?

भाषा के उपरान्त राजनीतिक दृष्टि से दूसरा प्रश्न सामने आया व्यवहार के साहित्य का। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह हिन्दी का यह अंग निश्चय ही अविकसित था और अब भी है। कारण यह था कि इसके विकास का अवसर ही नहीं मिला। शासन और शिक्षा दोनों का माध्यम अंग्रेजी थी और इस प्रकार का समस्त ज्ञान-साहित्य उसी में प्रस्तुत होता रहा। किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्र के सामने जब शासन तथा शिक्षा दोनों ही क्षेत्रों में हिन्दी के व्यवहार का प्रश्न आया तो आवश्यक साहित्य की माँग होने लगी। पिछले आठ वर्षों में स्थिति निश्चय ही बदली है, प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के विभिन्न अंगों पर ग्रन्थ सामने आये हैं और कुछ विषयों पर पर्याप्त सामग्री आज उपलब्ध है, फिर भी अभाव तो मिटा नहीं है। वास्तव में हिन्दी का यह अभाव इतना बड़ा है कि इसके लिए नियमित रूप से बड़े पैमाने पर—प्राय: युद्धस्तर पर—प्रयत्न अनिवार्य है। यह बड़े ही खेद का विषय है कि अभी तक आलोचना ही अधिक हो रही है और निर्माण-कार्य की गति अत्यन्त मंथर है। वैसे तो केन्द्र तथा अन्य राज्य सरकारों ने इस विषय में योजनाएँ बनाई हैं और थोड़ा बहुत कार्य भी हो रहा है परन्तु आवश्यकता को देखते हुए पूर्ति नगण्य सी-ही है। इस अप्रगति के अनेक कारण हैं। एक तो कारण यही है कि अभी अधिकांश क्षेत्रों में अंग्रेजी का ही प्रयोग चल रहा है और हिन्दी-लेखकों के लिए कोई प्रेरणा नहीं है। दूसरे, इन विषयों में हिन्दी के समर्थ लेखक भी अनेक नहीं हैं। तीसरे, शासन और शिक्षा दोनों ही में देश के दुर्भाग्य से प्रमुख स्थान ऐसे व्यक्तियों के अधिकार में हैं जिनका हिन्दी-ज्ञान पर्याप्त नहीं है। इनमें से सभी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं। अनेक के मन में हिन्दी के प्रति वास्तविक ममत्व है किन्तु प्रश्न तो वर्तमान परिस्थिति का है। चौथे, इसके अतिरिक्त ऐसे व्यक्तियों का भी अभाव नहीं है जिनके मन में स्वार्थवश और कदाचित् सिद्धान्तवश भी हिन्दी के प्रति की विद्वेश भावना है। इन व्यक्तियों ने कुतर्कणा का एक चक्रव्यूह-सा रच दिया है और उसकी आड़ में अपनी हित-रक्षा करना चाहते हैं:—हिन्दी में अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव है इसलिए वह उच्च शिक्षा एवं शासन का माध्यम नहीं बन सकती और जब तक हिन्दी का उपयोग इन क्षेत्रों में नहीं होगा तब तक अभीष्ट ग्रन्थों का अभाव बना रहेगा। यह स्थिति वास्तव में चिन्त्य है, परन्तु हमें निराश होने की आवश्यकता नहीं है। राष्ट्र का हित व्यक्ति के हित से अधिक बलिष्ठ है और काल के दुर्दम प्रवाह को विपरीत दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता। इस दिशा में तुरन्त ही कार्यवाही होनी चाहिए और यह कार्य बेगार में पकड़े हुए कुछ विद्वानों की सहायता

से प्रकीर्ण प्रयत्नों द्वारा नहीं हो सकता। इसके लिए तो एक बृहद् राष्ट्रीय ज्ञान-परिषद् की स्थापना अनिवार्य है ।

अब रह जाता है सर्जनात्मक साहित्य—अथवा रस का साहित्य । साहित्य का यह अंग प्रकृति से थोड़ा अदम्य होता है—वह न राजनीति का आदेश मानता है और न योजनाओं में ही परिबद्ध हो सकता है । पर रसचेता कलाकार भी अपनी परिस्थित से सर्वथा निरपेक्ष तो नहीं हो सकता—और फिर स्वतन्त्रता तथा विभाजन की परिस्थितियाँ तो असाधारण थीं। सन् १९४७ के उपरान्त देश में अनेक घटनाएँ ऐसी घटीं जिनका किसी भी संवेदन-शील व्यक्ति की अन्तश्चेतना पर गहरा प्रभाव पड़ना अनिवार्य था । सबसे पहले स्वतन्त्रता-प्राप्ति की घटना ही एक भव्य घटना थी—देश के इतिहास में ऐसी घटना शताब्दियों बाद घटी थी । भारत के कवि-कलाकार की युग-युग से अपमानित अन्तरात्मा ने मुक्ति की साँस ली। उसके मन में एक अभूतपूर्व आत्म-विश्वास जगा । विश्व-कल्याण के जिन स्वप्नों को वह गान्धी के और गान्धी के पूर्वज ऋषियों के मंत्र-बल से दासता की अभिशप्त रात्रि में भी सँजोता रहा था, उनको पहली बार सार्थक करने का अवसर आया । भारत के संस्कृत हृदय ने बिना अहंकार के, बिना किसी गर्व अथवा औद्धत्य के अपनी मुक्ति को अखिल विश्व की मुक्ति का प्रतीक माना । भारत के राजनीतिज्ञों ने और कवियों ने एक स्वर से यह उद्घोष किया :

भारत स्वतन्त्र है, स्वतन्त्र सभी जब हों !

जैसे-जैसे समय बीतता गया, भारतवर्ष की विश्व-मैत्री की नीति अधिक स्पष्ट और भास्वर होती गई । इसका हमारे काव्य से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । वास्तव में इस नीति की मूल चेतना ही काव्यात्मक है और इसका कूटनीतिज्ञों की मंत्रणाओं के आधार पर नहीं हुआ, रवीन्द्र और उनके अग्रज एवं अनुज कवियों की आप्त वाणी के प्रभाव से ही हुआ है । उपनषिद् से लेकर छायावाद तक की भारतीय काव्य-परम्परा का पवित्र सम्बल उसे प्राप्त है । हिन्दी में इस विषय पर अनेक कवियों ने अनेक रचनाएँ कीं और उनमें से अधिकांश का काव्यगुण नगण्य नहीं है । फिर भी इनमें सबसे प्रबल स्वर पन्त, सियाराम-शरण, नवीन और दिनकर का ही रहा । पन्त और सियारामशरण में जहाँ देश की मुक्त आत्मा का पवित्र उल्लास है, वहाँ नवीन और दिनकर में उसका सात्विक ओज है ।

किन्तु स्वतन्त्रता का यह वरदान विभाजन के अभिशाप के साथ-साथ आया । मुक्त आकाश में अरुणोदय हुआ ही था कि गृह-कलह के बादल घिर आये । परतन्त्र राष्ट्र के उपचेतन की संचित विकृतियाँ अनायास ही उभर आईं और समस्त देश का वातावरण पाशव शक्तियों के अट्टहास से गूँज उठा । यह मानव-चेतना की घोरतम विफलता के दिन थे किन्तु साहित्य में इसका प्रभाव सर्वथा नगण्य ही रहा । भारतीय साहित्य के पर्य-वेक्षक का हृदय यह देख कर सदा ही एक मधुर गर्व से उत्फुल्ल हो उठेगा कि हिन्दी के एक भी उत्तरदायी साहित्यकार ने सम्प्रदायिक विक्षेप को प्रश्रय नहीं दिया । इस घटना

से प्रेरित जो साहित्य आज उपलब्ध है—उसमें तत्कालीन विक्षिप्त पशुता में मानव की शुद्ध-बुद्ध आत्मा का ही अनुसन्धान अनिवार्य रूप से मिलता है। इस प्रकार का साहित्य परिमाण में अधिक नहीं रचा गया। भारत-विभाजन और उसकी अनुवर्ती विभीषिकाओं की प्रतिध्वनि थोड़ी-सी कहानियों, कुछेक एकांकियों और मुश्किल से दो-चार उपन्यासों में ही मिलती है। हिन्दी के अधिकांश समर्थ कलाकारों ने तो अपनी इस लज्जा को छिपाने का ही प्रयत्न किया है।

इस नर-मेध की पूर्णाहुति हुई राष्ट्रपिता गान्धी के बलिदान से। गान्धी का यह बलिदान देश के सांस्कृतिक इतिहास में एक विराट् घटना थी। रवीन्द्र ने महाकाव्य के विषय में लिखा है "इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार पा जाता है, मनुष्य चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठत होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गभीर अन्देंश में रहती है, और उसका शिखर मेघों को भेद कर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देव-भाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर, नाना दिग्देशों से आ-आकर लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसी को कहते हैं महाकाव्य।"

इस दृष्टि से हमारा विश्वास है कि आधुनिक विश्व के इतिहास में गान्धी से अधिक न तो कोई महाकाव्योचित चरित्र-नायक ही जन्मा है और न उनके बलिदान से अधिक महाकाव्योचित घटना ही घटी है।

गान्धी जी के जीवन-मरण को लेकर हिन्दी में अनेक कविताएँ लिखी गईं। प्रमुख कवियों में पंत, सियारामशरण गुप्त, नवीन, दिनकर, बच्चन, नरेन्द्र और सुमन आदि ने व्यवस्थित रूप से रचनाएँ की हैं। उनके बलिदान से प्रेरित होकर भी प्रायः इन्हीं कवियों ने अनेक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। परन्तू इनमें से अधिकांश कविताएँ विषय की गरिमा के उपयुक्त नहीं बन सकीं। इसका कारण स्पष्ट है—भारतीय काव्यशास्त्र में प्रकृत भाव और काव्यगत भाव में भेद किया गया है और हमारे आचार्यों ने बड़ी मार्मिक ढंग से यह स्पष्ट किया है कि जीवनगत अनुभूतियाँ "अपने प्रकृत रूप में नहीं वरन् संस्कार-रूप में ही काव्य का विषय बन सकती हैं। प्रकृत रूप में उनका ऐनिन्द्र तत्व रसात्मक निबन्धन में बाधक होता है। गान्धी के महानिर्वाण से सम्बद्ध काव्य में इसीलिए अपेक्षित उदात्त रस का संचार नहीं हो सका क्योंकि उसका घाव अभी तक हरा है और आज के कवि के लिए, जिसने कि उसको प्रत्यक्ष रूप में सहा है, अभी वह संस्कार नहीं बन पाया—सम्भव है वर्षों तक बन भी न पाये। इसलिए गान्धी महाकाव्य कदाचित् कुछ समय बाद ही लिखा जा सकेगा जबकि गान्धी के जीवन-मरण से सम्बद्ध हमारी युगानुभूति प्रकृत अनुभूति न रह कर संस्कार बन जायेगी।

प्रस्तुत कालावधि में काव्य के दो और प्रमुख विषय हमारे सामने आए। (१) भारतवर्ष की सफल अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-नीति, (२) सन्त विनोबा का भूदान-

आन्दोलन। तत्वरूप में इस देश के कवि के लिये कोई नये विषयनहीं हैं। नेहरू की शान्ति-नीति गान्धी की अहिंसा की राजनीतिक अभिव्यंजना है और विनोबा का भूदान-यज्ञ उसकी आर्थिक अभिव्यक्ति। काव्य-शास्त्र के शब्दों में तीनों का स्थायी भाव एक ही है। नवीन जी तथा श्री सियारामशरण आदि ने इस विषय को निष्ठा के साथ ग्रहण किया है।

ऊपर जिन काव्य-विषयों का उल्लेख किया गया है वे मूलत: एक ही प्रवृत्ति के अंग हैं—और यह प्रवृत्ति वही है जिसे हमने अपनी "आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' पुस्तक में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति के नाम से अभिहित किया है। यह काव्य-प्रवृत्ति वस्तुत: नई नहीं है वरन् स्वतंत्रता से बहुत पहले से ही हमारे साहित्य में इसका अस्तित्व रहा है। स्वतंत्रता के उपरान्त इस के रूप परिवर्तन अवश्य हुआ है किन्तु मूल तत्व वे ही रहे हैं। एक परतंत्र देश की वह अवरुद्ध हुंकार आज इसमें नहीं रही, उसका स्थान स्वतंत्र राष्ट्र के आत्मविश्वास ने ले लिया। दूसरे, अपने राजनीतिक संघर्ष का सफल अंत हो जाने से अहिंसा में उसकी आस्था अत्यन्त दृढ़ हो गई है। तीसरे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी शांति-नीति के निरन्तर सफल होते जाने से विश्व-बन्धुत्व के भावादर्श वस्तु-सत्य में परिणत होने लगे हैं। इस प्रकार संदेह, असहयोग, प्रतिरोध आदि का निराकरण हो जाने से जीवन के आस्तिक मूल्यों का पोषण हुआ है जिनके परिणामस्वरूप स्वतंत्रता के बाद की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता के तामसिक गुण प्राय: नि:शेष हो गये हैं और शुद्ध सात्विक उत्साह-उल्लास की परिवृद्धि हुई है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आज उसके राष्ट्रीय तत्व पृथक न रह कर बहुत-कुछ सांस्कृतिक तत्वों के साथ ही घुल-मिल गये हैं।वर्तमान हिन्दी कविता की सर्वप्रमुख धारा यही है। वास्तव में स्वतंत्रता पूर्व की तीन प्रवृत्तियाँ-ओज और उत्साह से अनुप्रेरित राष्ट्रीय प्रवृत्ति, सत्य-चिंतन से अनुप्राणित सांस्कृतिक प्रवृत्ति और सौंदर्य-भावना से स्फूर्त छायावादी प्रवृत्ति इस त्रिवेणी में मिलकर एकाकार हो गई हैं। प्रश्न किया जा सकता है कि इसकी उपलब्धि क्या है? इसका उत्तर यह है कि अभी वर्तमान काव्य की अंतश्चेतना का निर्माण हो रहा है। आज नहीं तो कल कोई समर्थ कवि अपनी अमृतबाणी में इसका उद्गीथ करेगा।

इस परिधि के बाहर भी एक ऐसा कवि वर्ग है जो अभीष्ट संस्कारों के अभाव में परम्परा से पोषित आस्तिक मूल्यों को ग्रहण करने में असमर्थ है। निदान वह जीवन के उपर्युक्त सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध 'प्रगति' अथवा 'प्रयोग' कर रहा है। सक्रियता की दृष्टि से यह वर्ग पिछड़ा नहीं है, और अपने ढंग से यह भी जीवन की व्याख्या करने का दावा करता है। १९४७ से पूर्व प्रगतिवादी थे उनमें से संस्कारशील कवियों में सांस्कृतिक मल्यों को स्वीकार कर लिया ह, किन्तु जिनकी प्रकृति उनके साथ समझौता नहीं कर पाई, वे या तो कभी-कभी देश के आर्थिक विधान के विरुद्ध बड़बड़ाने लगते हैं और या फिर व्यक्ति की कुंठाओं को काव्य में मूर्त करने का सफल-असफल प्रयत्न करते हैं। मेरे आस्तिक संस्कार इस प्रकार की कविता से कभी सन्धि नहीं कर सके—किन्तु फिर भी वस्तु-चिंतन करने पर मुझे यह लगता है कि यह प्रवृत्ति केवल बौद्धिक विकृति

मात्र नहीं है, अथवा यदि केवल बौद्धिक विकृति है तब भी, आज जीवन में अस्वाभाविक नहीं है। आज का बुद्धिजीवी युवक आस्तिक नहीं है। वर्तमान उसकी व्यक्तिगत आकांक्षाओं का परितोष नहीं कर रहा; वह अनुभव करता है। कि उसकी प्रतिभा का मूल्य उसे नहीं मिल रहा—और वह क्षुब्ध है। सामाजिक चेतना उसकी इतनी विकसित नहीं हो पाई कि राष्ट्र के सामूहिक विकास अथवा कम-से-कम विक स-प्रयत्नों से प्रेरणा ग्रहण कर सके, संस्कार उसके इतने आस्तिक नहीं रह गये कि भावी की स्वस्थ कल्पना उसे परितोष दे सके। अन्त में रह जाता है वह स्वयं और आधुनिक अतिवादों द्वारा पोषित उसकी बुद्धि। अतएव कुण्ठित मन नास्तिक बुद्धि के साथ तरह-तरह के खेल खेलने लगता है। आज की प्रयोगवादी कविता की यही अन्तरंग व्याख्या है। यह काव्य-प्रवृत्ति आज के जीवन में अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु फिर भी सत्य भी नहीं है क्योंकि यह नास्ति पर आधारित है अस्ति पर नहीं, संस्कारशील अथवा सवासन मन की सहजानुभूति नहीं, संस्कार-भ्रष्ट बुद्धि की क्रीड़ा है।

कविता के अतिरिक्त साहित्य के अन्य अंगों की उपलब्धियाँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं रहीं। कथा-साहित्य के अन्तर्गत न कोई विशिष्ट लेखक ही सामने आया और न कोई ऐसा उपन्यास ही जो साहित्य के मानदण्ड को ऊंचा करता। 'नदी के द्वीप' 'सुखदा' और 'जयवर्द्धन' 'चलते-चलते' इन्दुमती' आदि कतिपय उल्लेख्य उपन्यास अपनी-अपनी परम्पराओं के विस्तार मात्र हैं, विकास नहीं हैं। 'मैला आंचल' और 'बलचनमा' नई दिशा में सफल प्रयोग हैं परन्तु उनके स्थायी मूल्य का निर्धारण अभी होना है। यही नाटक के विषय में सत्य है—वहाँ भी लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदि पूर्ववर्ती लेखक साधारणत: सक्रिय ही रहे कोई विशेष प्रगति नहीं कर सके। पिछले दो दशकों में हिन्दी की आलोचना सृजनात्मक साहित्य की अपेक्षा अधिक प्रबुद्ध रही है। यह ठीक है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से समर्थ अथवा उनके समतुल्य आलोचक हिन्दी में कोई नहीं हुआ फिर भी उनकी प्रतिष्ठित परम्पराओं का निश्चित रूप से विकास हुआ है, साहित्य के मूल्यांकन की नवीन दिशाएँ उद्घाटित हुई हैं और इस प्रकार व्यष्टि रूप से नहीं तो कम से कम सामूहिक रूप से उनके उपरान्त हिन्दी आलोचना ने अवश्य ही प्रगति की है। साहित्यालोचन के मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय तथा सौन्दर्य-शास्त्रीय मानदण्ड प्रस्तुत हुए हैं, काव्य-शास्त्र का आख्यान एवं पुनराख्यान हुआ है और शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित तथा अनुपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का अनुसन्धान किया गया है। आशा है "हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास" में इसका सम्यक उपयोग हो सकेगा। भाषा-शास्त्र के क्षेत्र में अन्य प्रादेशिक भाषाओं के सम्पर्क का अधिक अवसर प्राप्त होने से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के विकास के लिए नये मार्ग प्रशस्त किए हैं। भाषा-विषयक सर्वेक्षण आदि के द्वारा बोलियों तथा उपभाषाओं के अध्ययन की सांग योजनाएँ बनी हैं।

इस प्रकार सब मिलाकर कदाचित पर्यवेक्षक को स्वतन्त्रता के उपरान्त की उपलब्धियों पर सन्तोष करने के लिए पर्याप्त सामग्री नहीं मिलेगी। परन्तु यह तो उपलब्धि का समय वास्तव में है भी नहीं—यह तो निर्माण-काल है, वरन् यह कहना चाहिए कि

निर्माण का भी आरम्भकाल है। निर्माण और सृजन दोनों में बाह्य समानता होने पर भी मौलिक भेद है। निर्माण जहाँ योजनाबद्ध, विवेकपूर्ण तथा प्रयत्न-साध्य कर्म है, वहाँ सृजन अंतस्फूर्ति प्रयत्न-साध्य क्रिया है जो न योजना में बाँधी जा सकती है और न हानि-लाभ के विवेक से नियन्त्रित हो सकती है। हिन्दी का साहित्यकार आज निर्माण की योजनाओं में संलग्न है जिनके परिणाम अपेक्षित अवधि के उपरान्त ही उपलब्ध होंगे। अतएव आज की उपलब्धि का मूल्यांकन परिणाम के आधार पर नहीं हमारे प्रयत्नों के आधार पर होना चाहिए।

डा० शशि भूषणदास

वाल्मीकि और कालिदास

जिस काल में रामायण महाभारत जैसे काव्य लिखे जाते थे उस काल के काव्य तथा कवि दोनों एक ही तरह विपुलायतन थे। जैसे एक बीच वाले पत्थर को घेर कर स्फटिक के सभी पत्थर गाँथे जाते हैं, अथवा जैसे एक जीव कोष को अवलम्बन कर असंख्य कोषों के समवाय के फलस्वरूप जीव देह बनता है, उसी तरह उस काल में एक विशेष प्रतिभा को केन्द्र में रख कर छोटी बड़ी सभी प्रतिभाएँ एक साथ गठित होती थीं। वाल्मीकि-रचित रामायण अथवा व्यास-रचित महाभारत का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि कई दिनों या कई वर्षों में किसी एक विशेष कवि के द्वारा ये बृहत्राय काव्य नहीं रचे गये। परन्तु बहुत दिनों से रचे गये इन काव्यों में एक विशाल युग का जीवनेतिहास प्रतिबिम्बित है। जैसे नल की पूर्त-प्रतिभा के जरिये विपुल बानर वाहिनी की कर्म-निपुणता दक्षिण सागर पर विशाल सेतुबन्ध-निर्माण में समर्थ हुई थी, उसी प्रकार वाल्मीकि तथा व्यासदेव की प्रतिभा को अवलम्बन कर उस काल के छोटे-बड़े असंख्य कवियों की साहित्य-साधना लेकर रामायण-महाभारत का काव्य-मंडल खड़ा हुआ। ऐसे छोटे-बड़े अनेक कवियों को आत्मसात् कर लेने के कारण विपुलायतन रामायण और महाभारत के कवि भी विपुलायतन हैं।

जिस युग की आलोचना हो रही है उस युग तक मनुष्य-समाज में व्यक्ति-वाद की उद्दंडता पैदा नहीं हुई। तभी सामाजिक व्यवस्था में सामूहिक कारबार का लेन-देन चल रहा था। काव्य के क्षेत्र में भी हम उसी सामूहिक व्यवस्था को देख पाते हैं। बड़े-बड़े महाजनों के वाणिज्य-पोतों के साथ अपनी नावों को बाँधकर छोटे-छोटे महाजन निरवधि काल एवं विपुला पृथ्वी में उतराया करते थे। यही कारण है कि आज तक उनकी छोटी-छोटी नावें नहीं डूब गईं, परन्तु हजारों वर्षों के आँधी-तूफान से पार होकर रामायण-महाभारत के सहारे वे हमारी बीसवीं सदी के घाट पर आ पहुँचीं।

कालिदास और वाल्मीकि के बीच यथार्थ सम्बन्ध निर्णय करना हो तो कवि-गुरु वाल्मीकि के कवि-पुरुष को इसी तरह विश्लेषण करने की आवश्यकता है। क्योंकि पूरी तरह संशयातीत न होने पर भी कालिदास जिस तरह ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, वाल्मीकि उस प्रकार के ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं। लौकिक तथा अलौकिक बहुत सी कहानियों और

पर पण्डितों के बीच मतभेद है। किंवदन्ती के अनुसार रामायण ही पहली रचना स्वीकृत होने पर भी अनेक पण्डितों की राय में महाभारत प्राचीनतर है। यदि हम यह मत मान लें तो भी रामायण ही भारतवर्ष का आदिकाव्य है। क्योंकि महाभारत मुख्यतया इतिहास है। वर्तमान काल में वह महाकाव्यरूप में परिचित होने पर भी उस का असली रूप है इतिहास। इसी इतिहास में राजनीति, समाजनीति, धर्मनीति के साथ साथ कवित्व का भी परिचय मिलता है। पर महाभारत का यथार्थ परिचय कवित्व नहीं। फिर रामायण में राष्ट्र, समाज अथवा धर्म की जितनी बातें हों, कवित्व ही उसका मुख्य परिचय है। इसीलिये स्वीकार करना पड़ता है कि रामायण ही भारतवर्ष का आदिकाव्य है और वाल्मीकि ही भारतवर्ष के आदि कवि। भारत के सभी कवियों ने इन आदि कवि को कविगुरु मान लिया। कालिदास से लेकर उन्नीसवीं सदी के माइकेल मधुसूदन दत्त तक सभी ने इन कविगुरु के चरणों पर प्रणाम किया।

महाकवि कालिदास ने वाल्मीकि के इस कविगुरुत्व को स्वीकार कर लिया और कालिदास की भास्वर प्रतिभा पर वाल्मीकि के शिष्यत्व की मुहर अति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। इस शिष्यत्व की छाप न केवल 'रघुवंशम्' काव्य में बल्कि कालिदास के समस्त काव्यों में बिखरी हुई है। उसी का विश्लेषण करना हमारी आलोचना का मुख्य ध्येय है।

किसी कवि-प्रतिभा के ऊपर पूर्ववर्त्ती अथवा सम-सामयिक कवि-प्रतिभा के प्रभाव के सम्बन्ध में हमारे मन में सदैव एक प्रकार का संकोच रहता है, मानो पूर्ववर्ती अथवा सम-सामयिक प्रभाव में आ जाना कवि-प्रतिभा की कम-जोरी का द्योतक है। पर हम भूल जाते हैं कि प्रभावित होने में एक तरफ जैसे कमजोरी का प्रमाण मिलता है, दूसरी तरफ वह दृढ़ बलिष्ठता का भी सूचक है। अशक्त के काव्य पर दूसरे कवि का प्रभाव चोरी के समान है, पर वलिष्ठ के काव्य में वह अनुकरण के बदले स्वीकरण बन जाता है। इस सार्थक स्वीकरण में प्रतिभा की दीनताई नहीं, सक्रिय सबलता है. कवि की अंगीकार-शक्ति तथा परिपाक-शक्ति की प्रचुरता का प्रमाण है।

केवल साहित्य क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में प्राचीन के स्वीकरण में कोई अवमानना नहीं, न्याय-संगत अधिकार है। इसी स्वीकरण के अविच्छिन्न प्रवाह में इतिहास की अखंड धारा चल रही है। वर्तमान किसे कहते हैं?—स्तूपीकृत अतीत की आत्माहुति की होमशिखा से ही वर्तमान की हेम-द्युति झलकती है। 'आज' की पृथ्वी में अतीत के असंख्य बीते हुए दिनों का एकान्त आत्म समर्पण है। नवप्रभात के अरुणिम अंकुर की जड़ जहाँ तक हो सके अपने को अतीत की सरस भूमि में प्रसारित कर चुकी; नहीं तो फूल फल-डालियों से सम्पन्न होने का अवलम्ब उसे कहाँ से मिलेगा?

मनुष्य अपनी अखंड साधना से अपना चरम विकास चाहते हैं और उनकी समग्र साधना की अखंडता का मूल है बीते हुए 'कल' से 'आज' का घनिष्ठ संयोग। साधना की सामूहिकता में ही मंगल की चरम आशा और आदर्श निहित है। सब प्रकार के स्वीकरण के माध्यम से देशकाल का व्यवधान उत्तीर्ण होकर हमारी साधना को यह सामूहिक रूप

मिलता है। किसी एक काल की साधना से मनुष्य-जीवन का इतिहास बढ़ जाता है, फिर उसी साधना को आत्मसात् कर के शुरू होती है नवयुग की यात्रा। यदि इसी तरह एक युग को दूसरा युग स्वीकार कर न लेता तो मनुष्य के इतिहास में आदियुग का अन्त नहीं होता, हर एक युग में पहले से ही यात्रा करनी पड़ती।

एक युग का साहित्य फूल की तरह प्रस्फुटित होकर नई-नई संभावनाओं के बीजाकार में नए युग की नवीन उर्वरा में अपने को प्रसारित कर देता है। वाल्मीकि के बीज ने कालिदास के नए फूल पैदा किये, फिर कालिदास की प्रतिभा तथा साधना ने बीजाकार में झड़कर उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में रवीद्रनाथ के साहित्य-क्षेत्र में नए-नए फूल पैदा किय। कालिदास ने वाल्मीकि के भाव और भाषा को तथा दृष्टि और शैली को अभिमान से अपना लिया था। अपने उत्तराधिकार को ठीक तरह से लेना और अपनी साधना के बल से उस उत्तराधिकार को तरह तरह से दिन पर दिन बढ़ा देना—यही तो उत्तराधिकारी की जिम्मेदारी है। जिसे पुरखे की संग्रहीत धन दौलत को प्राप्त करने तथा व्यवहार करने की शक्ति नहीं है, वह वंचित और दुर्भग है। कालिदास की वैसी शक्ति थी, इसलिये वे ही वाल्मीकि के योग्यतम उत्तराधिकारी माने जाते हैं।

वाल्मीकि से प्राप्त समस्त दायभाग अंगीकार करने पर भी कालिदास की प्रतिभा अपनी महिमा में अम्लान ज्योति से संस्थापित है। वे प्राप्त दायभाग से कहीं विमूढ़ नहीं हुए। उनकी "अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा" प्रतिभा नव-नव उन्मेषणी शक्ति से निरन्तर नित्य नवीन रचना कर चुकी। वास्तव में कालिदास ने प्राकृतिक देन की तरह वाल्मीकि के समस्त दानों को स्वच्छन्द भाव से अंगीकार कर लिया था। उनकी कवि-मानस म जैसे रोशनी व हवा, नद-नदियाँ, पहाड़-पर्वत, बन-प्रांतर वगैरह वातावरण नें आश्रय लिया था, उसी तरह वाल्मीकि से मिले हुए समस्त भावों तथा आदर्शों ने भी आश्रय लिया था। कालिदास का समग्र कवि-मानस इन सबके समवाय से गठित हुआ है, जहाँ उनके स्वोपार्जित धन तथा उत्तराधिकार से प्राप्त धन इन दोनों के बीच कोई अन्तर नहीं। प्राचीनों के समस्त उपादान उनकी हृदय-वृत्ति के द्रावक-रस से द्रवित होकर बिलकुल उनके निजी बन गये थे—इसी को कहते हैं प्राचीन का स्वीकरण। कालिदास का काव्य पढ़ते समय बहुत स्थानों में वाल्मीकि का स्मरण आता है, जो सर्वत्र 'बोध पूर्व' ही नहीं, 'अबोध पूर्व' भी है। मोटे हिसाब से यही बात मन में बैठ जाती है कि वाल्मीकि के काव्यों को कालिदास की रचना में कैसे नया परिणाम मिला। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इस नए परिणाम में कालिदास ने वाल्मीकि के भाव, भाषा और भंगिमा को और भी गंभीर तथा व्यापक कर दिया। शायद वाल्मीकि और कालिदास की निसर्ग-प्रीति तथा उपमा-प्रयोग में बहुत साधर्म्य है; पर कहीं-कहीं वाल्मीकि में जिसकी झलक मिलती है, कालिदास ने उसे गूढ़ बना दिया। यह नहीं कि कालिदास ही ने वाल्मीकि से ले लिया, कवि गुरु वाल्मीकि ने भी अपने पूर्वजों से बहुत कुछ अपना लिया। आगे चलकर देखा जायगा कि जैसे वाल्मीकि वर-हस्त लेकर कालिदास के सिरहाने पर खड़े हुए हैं, उसी तरह वैदिक ऋषिगण भी वरहस्त लेकर वाल्मीकि के सिरहाने खड़े हुए हैं। कालिदास ने

न केवल अपने युग को ही साहित्य में प्रतिविम्बित किया बल्कि साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में अतीत को भी अपनाया; वाल्मीकि के सम्बन्ध में भी वही बात है।

कालिदास और वाल्मीकि का सम्पर्क थोड़ा-बहुत रवीन्द्रनाथ और कालिदास के सम्पर्क के अनुरूप है। रवीन्द्रनाथ का वर्षा काव्य "वर्षा मंगल" या "नव वर्षा" पढ़ते पढ़ते हमें अनजाने कालिदास का स्मरण हुआ करता है, मानों वीणा के मूल तार पर आघात के साथ साथ छोटे छोटे तारों पर झंकार पैदा होती है। इस श्रेणी की कविताएँ पढ़ते समय हम स्पष्ट रूप से नहीं समझते कि रवीन्द्रनाथ ने कालिदास से क्या क्या लिये और कहाँ तक; पर यह प्रतीत होता है कि भाव दृश्य, भंगिमा तथा भाषा की दृष्टि से कालिदास मानो रवीन्द्रनाथ से एक-सा होकर अत्यन्त स्वच्छन्द भाव से मिले-जुले हैं। कालिदास के भाव, भाषा और चित्र रवीन्द्रनाथ के कवि-मानस में बिखरे हुए हैं। कालिदास के "मेघदूत" को अवलम्बन कर रवीन्द्रनाथ ने कविता और रचना लिखी; किन्तु रवीन्द्रनाथ की रचना या कविता पढ़ते ही यह स्पष्ट होता है कि यह है रवीन्द्रनाथ का "नव मेघ दूत" जो कालिदास-रचित पृष्ठभूमि पर नितान्त रूप से एक नई रचना है। रवीन्द्रनाथ का "मेघदूत" पढ़ते समय जैसे हमें प्रतीत होता है कि उन्होंने कालिदास से बहुत कुछ ग्रहण किया, वैसे यह भी लगता है कि कालिदास के "मेघदूत" की पटभूमि पर उन्होंने बहुत नई चीजें शामिल कीं। उन के द्वारा 'मेघदूत' में जो नया अर्थ संचार किया गया वह सब उन्हीं की अमर प्रतिभा की देन है—जिससे कालिदास तथा रवीन्द्रनाथ दोनों ही महिमान्वित हुए हैं। कालिदास के जीवन 'कुमार संभव' काव्य ने रवीन्द्रनाथ के कवि-हृदय को उनके जीवन के विभिन्न काल में तरह तरह से हिलाया। यहाँ पर ख्याल रखने की बात है कि रवीन्द्रनाथ के कवि-चित्त में जितनी बार 'कुमार संभव' की दोला लगी, उतनी बार कवि ने 'कुमार संभव' को अवलम्बन कर नए भाव और नई शैली से काव्य-रचना की। कालिदास की पटभूमि पर रवीन्द्रनाथ की प्रत्येक कविता उनकी निजस्व देन है और इन्हीं कविताओं में रवीन्द्रनाथ को कवि-प्रतिभा स्व-प्रतिष्ठ है। उन्नीसवीं तथा बीसवीं सदियों में कालिदास के युग-मानस को कैसा परिणाम मिला, रवीन्द्रनाथ की इन कविताओं में उसी का उत्तम परिचय पाया जाता है। असल में भाव और शैली दोनों की दृष्टि से गहरा परिवर्तन हो गया। इसी परिवर्तन में साहित्य के इतिहास का अखंड योग एवं साहित्य-साधना का सामूहिक रूप प्रकट हुआ है। अब हम लोगों ने रवीन्द्र-साधना की सिद्धियों को तथा उनकी समस्त भाव और भाषा को उत्तराधिकारी के रूप में पाया है। अगर हम नित्य नवीन सृजन में नए नए परिणाम ला सकते तो वहीं रवीन्द्रनाथ के समस्त दान को मर्यादा मिलेगी।

वाल्मीकि और कालिदास की तुलनात्मक आलोचना करने के पहले इस आलोचना के मौलिक उद्देश्य के बारे में हमें दो शब्द लिखना जरूरी है। शुरू में ही यह बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि किसी प्रकार का तुलनात्मक विचार हमारा उद्देश्य नहीं, हमारा उद्देश्य है तुलनात्मक आलोचना। तुलनात्मक विचार का प्रयास और पद्धति हमें गलत-सा मालूम होता है। दो विभिन्न कालों के और देशों के दो विभिन्न धर्मी कवियों में छोटे-बड़े का प्रश्न आता ही नहीं। एक ही देश के दो विभिन्न कालों के विभिन्न-धर्मी दो

कवियों में भी वह प्रश्न सर्वत्र समीचीन नहीं। अतएव हमारी आलोचना में वाल्मीकि और कालिदास के कवि धर्मों के दोषगुण चाहे जितना ही उल्लेख किया जाय, उन दोष-गुणों की दृष्टि से कौन छोटा है और कौन बड़ा है—इस प्रकार के अप्रासंगिक प्रश्नों का विचार नहीं किया जायगा। हमारी तुलनात्मक आलोचना का यही उद्देश्य है कि दोनों कवियों को अपने अपने काला की पृष्ठभूमि पर अपनी अपनी विशेषता से संस्थापित करके हम समता और विषमता से दोनों की कवि-प्रतिभा को स्पष्ट करेंगे। इस के अलावा हम यह भी ध्यान रखने की चेष्टा करेंगे कि किसी एक विशेष देश के साहित्य का इतिहास विभिन्न कालों के श्रेष्ठ कवियों की साधना के माध्यम से किस तरह एक विशिष्ट स्वतंत्र रूप में आवर्तित होकर विभिन्न युगों को एक ही सूत्र में ग्रंथित कर देता है।

वाल्मीकि और कालिदास की आलोचना के अवसर पर कवि अश्वघोष का प्रसंग अपने आप आ जाता है, क्योंकि इन तीन कवियों के बीच इतिहास का संयोग बहुत गहरा है। अश्वघोष के बारे में ऐतिहासिकों के बीच कुछ वाद-विवाद रहने पर भी मोटे ढंग से सभी ने स्वीकार कर लिया कि अश्वघोष वाल्मीकि तथा कालिदास के मध्यवर्ती काल के कवि हैं। साल तारीख से इस बात को साबित करना चाहे कठिन हो, पर इन तीन कवियों के काव्यों में ही इसका प्रमाण मिलता है। अश्वघोष अपने "बुद्धचरित" "सौन्दरानन्द" इत्यादि काव्यों में उत्तराधिकार-स्वरूप वाल्मीकि-रामायण से रीति, उपमा, भाषा वगैरह ग्रहण कर चुके; फिर कालिदास के काव्यों से अश्वघोष के काव्यों का मेल-मिलाप भी स्पष्ट है।

आए दिन हमारी धारणा थी कि कालिदास से ही संस्कृत काव्यरीति की प्रतिष्ठा हुई, कम-से-कम कालिदास के पहले और कहीं इसका नमूना नहीं मिला। वाल्मीकि-रामायण में काव्यत्व प्रचुर मात्रा में पाया जाता है किन्तु काव्यरीति की प्रतिष्ठा स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देती। कालिदास के समय से ही छन्द, भाषा तथा अलंकार की दृष्टि से काव्य-शैली का एक विशेष रूप प्रकट हुआ। कभी कभी यह ख्याल आता कि वाल्मीकि रामायण की काव्यरीति तथा कालिदास की काव्यरीति के बीच जो व्यवधान है, उसे हलका करने के लिये बीच वाले किसी मध्य धर्मावलम्बी कवि के आविर्भाव की आवश्यकता थी। अश्वघोष का आविष्कार हमारे चित्त के इस कुतूहल को बहुतायत से चरितार्थ करता है। आज तक जितनी जानकारी मिली उस से हम कह सकते हैं कि संस्कृत की विशिष्ट काव्यरीति का परिचय पहले मिलता है वाल्मीकि की रामायण में, उसके बाद अश्वघोष के काव्यों में। उसी रीति को अवलम्बन कर कालिदास ने काव्य रूप का एक विशिष्ट परिणाम निकाला। "बुद्ध चरित" तथा "सौन्दरानन्द" काव्यों का पहला भाग पढ़ते समय विषय-वर्णन, वाक्यरीति और अलंकार प्रयोग में बार-बार हमें कालिदास की याद आती है। बहुत स्थलों पर दोनों कवियों के श्लोकों में मेल-जोल दिखाई देता है। अश्वघोष ने रामायण को आत्मसात् कर लिया था, फिर कालिदास ने रामायण के साथ अश्वघोष को भी आत्मसात कर लिया। काव्य के क्षेत्र में इसी को कहते है अखंड साधना, जिसका नतीजा है साहित्य के इतिहास की अविच्छिन्न धारा की रक्षा करना। अश्वघोष से एक ओर वाल्मीकि का, दूसरी ओर कालिदास का जो सादृश्य मिलता है हम उसकी विस्तारित

आलोचना नहीं करेंगे, क्योंकि इसके पहले दूसरे पंडितों के द्वारा कहीं-कहीं उस विषय की आलोचना हो चुकी है। नितान्त प्रासंगिक समझकर हम ने यहाँ इस सादृश्य का उल्लेख मात्र किया। इस ग्रंथ के कहीं-कहीं पादटीकाओं में अश्वघोष के काव्यों से कुछ श्लोकों का उद्धरण किया गया, जिससे हमारे सिद्धान्त की यथार्थता प्रमाणित होगी।

(२)

कालिदास वाल्मीकि से कहाँ तक ऋणी हैं इस बात की आलोचना के पहले कालिदास की और वाल्मीकि की कवि-प्रतिभा के बीच जो अन्तर है उसके बारे में कुछ आलोचना होनी चाहिये। इनके कवि धर्म का अन्तर बहुतायत से युगधर्म की भिन्नता पर निर्भर है। आलोचना की सुविधा के लिये हम वाल्मीकि की रामायण और कालिदास का 'रघुवंश' लेते हैं। कालिदास का 'रघुवंश' पढ़ने से यह मालूम होता है कि यह काव्य किसी विशेष कवि की रचना है। रामायण पढ़कर प्रतीत होता है कि यह किसी की रचना नहीं, यह काव्य हिमाचल से कन्याकुमारी तक विस्तीर्ण भूमि पर उपज की तरह पैदा हुआ है। कालिदास ने एक आत्मसचेतन निपुण भास्कर की भाँति अत्यन्त होशियारी से धीरे-धीरे खोदकर 'रघुवंश' की मूर्तियाँ बनायीं, उन्हें घिस-माँजकर सुडौल, मसृण तथा उज्ज्वल किया और वह काव्य दुर्लभ मणिभुक्ताओं से खचित होकर चमकता रहता है। विश्व प्रकृति से कविचित्त का गहरा संयोग, अतुलित वर्णन नैपुण्य, रमणीय वक्-पटुता—इन कारणों से 'रघुवंश' परम आस्वादनीय हुआ; पर यह स्पष्ट है कि जिस काल की जीवन-कहानी अवलंबित कर कवि ने काव्य-रचना की, उस काल के जीवन से उनकी एकात्मता अथवा निबिड संयोग नहीं था। परिणाम स्वरूप कवि को विशुद्ध कवि-कल्पना के सहारे अपने युग की पृष्ठभूमि पर समग्र 'रघुवंश' को नये सिरे से बना लेना पड़ा। बाल्मीकि जैसे सुनिपुम किसान हैं: उन के युग में एक विस्तीर्ण भूमिभाग के समाज-जीवन में जितनी सुनहली फसलें पैदा हुई थीं, उन्हीं को चुन-चुन कर इकट्ठा करके उन्होंने अपनी कवि-कल्पना से रामायण काव्य के रूप में एक आंटी बाँधी। इसी पर से रायायण के पन्नों पर है सहज जीवन की भीड़: एक विशाल जाति का युगांत-व्यापी जीवन-इतिहास—उसकी कल-मुखरता ही हमारे चित्त को हिलोरती रहती है। वाल्मीकि के काव्य के छोटे-बड़े समस्त सुख-दु:ख, आशा-निराशा, वीरता व कायरता नितान्त रूप से जीते-जागते मालूम पड़ते हैं; कालिदास के 'अजविलाप' या 'रतिविलाप'-रूपी दीर्घ शोक-वर्णन भी विलाप के बदले विलास है, जिसमें चमत्कार की प्रचुरता होने पर भी प्राण-प्रचुरता नहीं है।

पाश्चात्य काव्य-विभाग की पद्धति का अवलम्बन करके हम कह सकते हैं कि वाल्मीकीय काव्य असली 'एपिक' काव्य है, कालिदास के काव्य हैं साहित्यिक 'एपिक' या कृत्रिम 'एपिक'। रामायण के युग के कालिदास बहुत फासले पर निर्वासित हुए हैं, जहाँ से कल्पना-रूपी मेघदूत को भेजकर तथ्य-संग्रह के सिवा उन्हें कोई उपाय नहीं था; और उस तथ्य को काव्य में रूपायित करने के लिये अपने सम-सामयिक जीवन की पृष्ठ-भूमि को भी छोड़ना उनके लिये सम्भव नहीं था। परन्तु वाल्मीकीय काव्य में जो युग मूर्त हुआ है वह उनका खास युग है, जिस की विशालतर समाज-सत्ता को वाल्मीकि की

कवि-प्रतिभा के सहारे अपूर्व काव्यरूप मिला; यही कारण है कि वाल्मीकीय काव्य इतना जीता-जागता है ।

वस्तुतः कालिदास के 'रघुवंश' काव्य को दूसरे महत् गुण जितने ही हों, वाल्मीकि-रामायण की बलिष्ठ सजीवता वहाँ बिरल है । अधुना हम वाल्मीकि-रामायण को जिस रूप में पाते हैं उस के प्रारम्भ में ही जो कवि-जिज्ञासा है वह है एक विशुद्ध मनुष्य-जिज्ञासा—एक गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवादी, दृढ़व्रत, चरित्रवान्, सर्वभूत के कल्याण-कामी, विद्वान्, समर्थ तथा अद्वितीय प्रियदर्शन मानव के सम्बन्ध में जिज्ञासा—

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान् ।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः ।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः ।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः ।।

(आदि, १-२-३)

इस प्रकार के एक आदर्श मानव (एवं विधं नरं) के सम्बन्ध में असीम कुतूहल के कारण ही कविगुरु वाल्मीकि की कवि-जिज्ञासा पैदा हुई । इसीलिये रक्तमांस से बने हुए जीवन्त मनुष्य को भाषा की तूलिका से अंकित करने की ओर ही उनका बहुत अधिक झुकाव था । महर्षि नारद से ऐसे आदर्श मानव रामचन्द्र की कहानी सुनकर कविगुरु ने दृढ़ निश्चय किया,—'कृत्स्नं रामायणं काव्यमीदृशं करवाण्यहम्' (आदि—२।४१)—समूचे रामायण काव्य को ही मैं इसी तरह (मनुष्यादर्श से प्रेरित होकर) रचना करूंगा ।

इस मौलिक जीवन-प्रेरणा की प्रधानता के कारण हम वाल्मीकीय रामायण में जैसे वास्तव जीवन का आलेख्य देख सकें, वैसे कालिदास के काव्यों में नहीं ।

वाल्मीकि-वर्णित लक्ष्मण-चरित्र की भाँति एक सजीव चरित्र कालिदास के काव्यों में नहीं मिलता । इस लक्ष्मण-चरित्र को इतना जीवंत बनाने में वाल्मीकि को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ा, वह अति सरल भाषा में उनके काव्य में मूर्त हुआ । राम के निर्वासन की वार्ता सुनकर लक्ष्मण ने अत्यन्त कठोर शब्दों में उसका विरोध किया; धर्मज्ञ रामचन्द्र नाना नीति वाक्यों से लक्ष्मण को समझा-बुझाकर रोकने की चेष्टा कर रहे थे; परन्तु वे सब धर्मोपदेश सुनकर लक्ष्मण—

तदा तु बद्ध्वा भृकुटीं भ्रूवोर्मध्ये नरर्षभाः ।
निशश्वास महासर्पा विलस्थ इव रोषितः ।।
तस्य दुष्प्रतिवीक्षं तत् भृकुटी सहितं तदा ।
वभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ।।
अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः ।

तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग् भ्रातरमब्रवीन् ॥

(अयोध्या, २३-२-५)

'नरर्षभ लक्ष्मण दो भौंओं के बीच भृकुटी बद्ध कर के विलस्थ रोषित महासर्प की भाँति घने साँस परित्याग करने लगे उनके वह दुदर्शनीय भृकुटी-युक्त मुँह ने क्रुद्ध सिंह के मुँह की तरह रूप लिया; देह पर तिर्यक् ग्रीवा भंगिमा करके और हाथी जैसे अपनी सूँड़ हिलाता है उसी तरह अपना अग्रहस्त हिलाकर तिरछी आँखों से बड़े भाई की ओर देखकर लक्ष्मण ने कहा—

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि। (वही २३।११)—'तुम चाहे कितने ही धर्मवाक्य कहो, परन्तु इस प्रकार का अन्याय सहने को मुझे तनिक भी उत्साह नहीं, तुम मुझे क्षमा करना।'

पितृ-आज्ञा पालन करने के लिए रामचन्द्र ने धर्म की दुहाई देकर अनेक दलीलें उपस्थित कीं, पर 'भाई लक्ष्मण' उन्हें नहीं ग्रहण कर सके। वे भी उसका समुचित उत्तर दे चुके। इसी प्रसंश पर लक्ष्मण ने दैवी विश्वास को धिक्कार कर पौरुष की प्रधानता स्थापित की, माता कैकेयी और पिता दशरथ को स्वार्थ शठ कह कर तीव्र निन्दा की, रामचन्द्र ने जिसे धर्म कहा उसे द्वेष्य आख्या दी एवं कामातुर स्त्रौण पिता के वाक्यों को 'अधार्मिष्ठ' और 'विराहित' कहा। जब रामचन्द्र ने पितृ-आज्ञा को दैव-जात समझा तो लक्ष्मण ने कहा—

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैव मनुवर्तते।
वीराः संभावितात्मानः न दैवं पर्युपासते ॥

"जो व्यक्ति कातर और वीर्यहीन है, वही दैव को मानता है; लोग वीर और प्रसिद्ध हैं वे कभी दैव की उपासना नहीं करते।"

इसके बाद लक्ष्मण ने रामचन्द्र को आश्वासन देकर कहा कि अगर राजा दशरथ के अव्यवस्थित-चित्त होने के कारण रामचन्द्र राष्ट्रविप्लव का कोई अंदेशा करें तो वह भी नितान्त अमूलक है, क्योंकि—

राज्यंच तव रक्षेयेमहं वेलेव सागरम् ॥

(अयो—२३।२७)

"जैसे वेला सागर की रक्षा करती है उसी तरह मैं भी तुम्हरे राज्य की रक्षा करूंगा।"

इके अवसर पर क्रुद्ध लक्ष्मण ने राम से कहा था—

न शोभार्थमिमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शरास्तम्भहेतवः ॥

(वही २३।३१)

'मेरी ये लम्बी भुजाएँ अंग की शोभा बढ़ाने के लिये नहीं हैं, यह धनु भूषण के लिये नहीं पकड़ा, यह असि बन्धन के लिये नहीं और ये शर स्तंभ के लिये नहीं।' इस प्रकार की वीरता प्रकट करने के लिये कालिदास को बृहत आयोजन की आवश्यकता पड़ती।

किन्तु मजे की बात यह है कि इतना विद्रोह, वीरता और क्रोध प्रकट करने पर भी लक्ष्मण जब ठीक-ठीक समझ गये कि दादा का मन किसी क्रम से हिलने का नहीं और वनगमन का उन्होंने पक्का निश्चय किया, तब—

एवं श्रुत्वा तु संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः ।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढ़ुमशक्नुवन् ॥
स भ्रातुश्चरणौ गाढ़ं निपीड्य रघुनन्दनः ।
सीत भुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥
यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम् ।
अहं त्वानुगमिष्यामि वन मग्रे धनुर्धरः ॥

(अयो—३१।१-३)

'लक्ष्मण यह समाचार सुनकर शोक सहने में असमर्थ हुए, उनकी आँखों से आँसू निकल आये। बड़े भाई के पैर पकड़ कर उन्होंने सीता और रामचन्द्र से कहा। कि अगर मृगगज से भरे हुए बन में जाने का पक्का निश्चय किया हो तो मैं धनु पकड़ कर तुम्हारे पीछे चलूँगा।

वनगमन के बाद भी सुमंत्र के अयोध्या में लौट आते समय लक्ष्मण ने जो कई बातें कह दीं उसमें उनके चरित्र की पूर्वापर संगति बनी रही।

लक्ष्मणस्तु सुसंक्रुद्धो निश्वसन् वाक्यमब्रवीत् ।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवसितः ॥
राज्ञा तु खलु कैकेय्या लघू त्वाश्रुत्य शासनम् ।
कृतं कार्य मकार्य वा बयं येनाभि पीड़ितः ॥
यदि प्रव्राजितो रामो लोभ कारण कारितम् ।
वरदान निमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥
इदं तावत् यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।
रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥
असमीक्ष्य समारब्ध विरुद्धं बुद्धि लाघवात् ।
जनयिष्यति संक्रोशं राघवस्य विवासनम् ॥
अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।
भ्राता भर्ता च बंधुश्च पिता च मम राघवः ॥

लक्ष्मण ने अत्यन्त कुपित होकर गहरी सांस छोड़कर सुमंत्र के जरिये यही बात राजा दशरथ को सुनायी थी—"हमारी समझ में नहीं आता कि किस अपराध से राजकुमार रामचन्द्र निर्वासित हुए । यदि राजा दशरथ ने कैकेयी का लघु शासन मानकर ऐसा काम किया हो जिससे हम सबको तकलीफ पहुँचती है, तो वह बिलकुल बुरा ही है । यदि लालच अथवा वरदान के लिये राम को बन में भेजा गया हो तो इस में कोई सन्देह नहीं है कि राजा ने सर्वथा एक दुष्कर्म किया है । चूँकि उन्होंने ईश्वर अर्थात् सर्वमय कर्ता होकर यह यथेच्छाचार किया, राम को त्याग देने का इसके अलावा दूसरा कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता । उन्होंने बुद्धिहानि के कारण विचार विमर्श किये बिना राम को निर्वासित कर जो विरुद्ध कार्य किया वह अवश्य संक्रोश पैदा करेगा । मुझे महाराज में पितृत्व जैसी कोई वस्तु नहीं दीखती; रामचन्द्र ही मेरे भ्राता, भर्ता, बन्धु तथा पिता हैं ।"

शक्ति शेलाहत इन्हीं लक्ष्मण के लिये रामचन्द्र शोक से विवश होकर कहते थे—जब मैं अयोध्या लौटूँगा तो सब-की-सब माताएँ आकर मुझसे पूछेंगी—

सह तेन बनं यातो बिना तेमागतः कथम् ।

(युद्ध १०१।१७)

"वनगमन के समय तुम उसे लेते गये, लौटते वक्त उस के बिना तुम कैसे लौट आये ?" यह शोक कवि-कल्पना की अतिशयोक्ति नहीं है । वाल्मीकि ने अपने चारों ओर फैले हुए आम जनता के जीवन से ही यह शोक और इस शोक की भाषा ली थी ।

हम वाल्मीकीय रामायण में देख पाते हैं कि यहाँ मातृत्व, पितृत्व, वात्सल्य, पतित्व, सतीत्व जो कुछ हों मामूली तौर पर दिखाई नहीं देते । रामचन्द्र ने विमाता कैकेयी की कोई खास निन्दा नहीं की । परन्तु भरत अपनी माता को भली भाँति पहचानता था । इसलिये जब दशरथ के देहान्त के बाद अयोध्या से भरत के पास दूत भेजा गया था, भरत ने क्रम से समस्त समाचार सुनकर अपनी माता के बारे में पूछा था—

आत्मकामा सदाचंडी क्रोधना प्राज्ञ मानिनी ।
अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाचह ।।

(वही—७०।१०)

"अपनी कामना के पूरण में ही जो दृष्टि रखती है, जो सदा ही चंडीमूर्ति, क्रोधपरायणा और प्राज्ञमानिनी है, वह स्वस्थ माता कैकेयी क्या बोली ?".

अयोध्या में लौटकर भरत ने सारे समाचार सुनकर और अपनी माता को समस्त विपर्यय का मूल समझकर यह भर्त्सना की थी—

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।
अँगारमुपगुह्य स्म पिता मे नावबुद्धवान् ।।

(वही ७३।४)

"हमारे कुल के ध्वंस के लिये तुम कालरात्रि रूप में आ गयीं; मेरे पिताजी अंगार से आलिंगन करके भी कुछ नहीं समझ सके ।"

महर्षि भरद्वाज के पास अपनी माता का परिचय देते हुए भरत ने कहा था—

क्रोधनामकृत प्रज्ञां दृप्तां सुभगमानिनीम् ।
ऐश्वर्य कामां कैकेयी मनायी मार्यरूपिणीम् ।।
ममैतां मातरं बिद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ।
यतो मूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ।।

(वही ९२।२६-२७)

"क्रोधपरायणा अशिक्षिता दृप्ता सुभग मानिनी ऐश्वर्य कामा आर्य रूपिणी अनार्या नृशंसा तथा पापनिश्चया यह मेरी माता है; इसी को अपनी विषम विपत्ति की जड़ समझता हूँ।"

फिर रामचन्द्र के बारे में यह देखा जाता है कि रावण-वध के बाद रामचन्द्र ने सीता को मुक्त कर आम जनता के सामने सीता से इस तरह कहा था—

अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य सफलः श्रमः ।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञोऽहं प्रभवाम्यद्य चात्मनः ।।

(युद्ध ११५।४)

"आज मेरा पौरुष सबके सामने प्रकट हुआ, मेरा श्रम सफल हुआ; आज मैंने अपनी प्रतिज्ञा निभायी, अपने प्रभाव से प्रतिष्ठित हूँ।" परन्तु

प्राप्त चरित्र सन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढ़म् ।।
तद् गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेच्छं जनकात्मजे ।
एतादशदिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ।।

(वही ११५।१७-१८)

"आज तुम्हारा चरित्र संदिग्ध है, इसलिये आज हँसमुखी होकर मेरे सामने ठहरने पर भी तुम नेत्राकुल को प्रदीप की भाँति मुझे विशेष प्रतिकूला दीख पड़ती हो; अतः हे जनकनन्दिनी, मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ—ये दस दिशायें हैं, जैसा जी चाहे तुम किसी एक ओर जा सकती हो, तुमसे मुझे कोई जरूरत नहीं है।" चरित्र की इतनी बड़ी कठोरता को ऐसी सरलता के साथ प्रकट करके कवि-गुरु ने रामचन्द्र को रक्तमांस का एक जीवन्त मनुष्य बना दिया। यह सच है कि सीता भी रुष्ट राघव का यह भयंकर परुष वाक्य सुनकर गजेन्द्र हस्ताभिहता वल्लरी की तरह व्यथित हुई थीं, पर अपने बाष्प-परिक्लिन्न मुँह का मार्जन करके उन्होंने गदगद कंठ से उत्तर दिया था—

किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ।
रुक्षं श्रावयसे वीर प्राकृतः प्राकृतामिव ।।
न तथास्मि महाबाहो यथा मामव गच्छसि ।
प्रत्ययं गच्छ स्वेन चारित्रे णैव ते शपे ।।

(युद्ध–११६।५–७)

"हे वीर, तुम वीर होकर प्राकृतजन के प्राकृत वाक्य की नांई ऐसा श्रोत्रदारुण असदृश वाक्य मुझे क्यों सुना रहे हो ? हे महा बाहो, तुम मुझे जैसे जानते हो, मैं वैसी नहीं हूँ; मैं कसम खाकर कहती हूँ कि तुम मेरे चारित्र के द्वारा विश्वास मानो ।" यह स्पष्ट है कि यह सीता परवर्ती काल के लोहे से बाँधा हुआ सतीत्व का 'फ्रेम' नहीं, यह सती होने पर भी रक्त-मांस से बनी हुई नारी है ।

जिस दिन दूर से शरसंधान करके रामचन्द्र ने अचानक बाली का निधन किया, उस दिन मिट्टी पर गिरे हुए बाली ने अभिमान से रामचन्द्र को जो पुरुष वाक्य सुनाया, वाल्मीकि ने उसका 'प्रश्रितं धर्मसहितम्' कहकर उल्लेख किया । बाली ने कहा था—

त्वया नाथेन काकुतस्थ न सनाथा वसुन्धरा ।
प्रमदा शीलसम्पूर्ण पत्येव च विधर्मणा ।।
शठो नैकृतिकः क्षुद्रो मिथ्याप्रश्रितमानसः ।
कथं दशरथेन त्वं जातः पापो महात्मना ।।
छिन्न चारित्र्य कक्ष्येण सतां धर्मातिवर्तिना ।
त्यक्त धर्मांकुशे नाहं निहतो रामहस्तिना ।।

(किष्किधा १७।४२-४४)

"हे काकुतस्त्य, यह नहीं कहा जाता कि तुम्हें नाथ रूप में पाकर वसुन्धरा सनाथा हो गयी, जैसे शीलसम्पूर्णा प्रमदा विधर्मी पति के द्वारा कभी पति-युक्त नहीं होती है । तुम शठ परोपकारी क्षुद्र हो, तुम्हारा मन मिथ्याश्रित है; दशरथ जैसे महात्मा के द्वारा तुम जैसे पाप कैसे पैदा हुए; आज मैं ऐसे एक रामहस्ती के द्वारा मारा गया जिसने चारित्र्य के गलबन्धन को तोड़ दिया, साधुओं के धर्म का उल्लंघन किया तथा धर्मरूपी अंकुश को त्याग दिया ।" रामचन्द्र के प्रति इस प्रकार की भर्त्सना को "प्रश्रितं वाक्यं धर्मार्थ सहितं हितम्" कहने में जो संस्कार-रहित स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय मिलता है उसी ने रामायण काव्य को बलिष्ठता अर्पण की ।

किष्किन्धा काण्ड में सुग्रीव के चरित्र में भी आदिम अनार्य जीवन की बर्बर बलिष्ठता प्रस्फुट हुई । सुग्रीव से मित्रता बना कर रामचन्द्र ने बालिवध किया और सुग्रीव को वानर-राज्य का निष्कंटक राजा बना दिया । इस के बदले सुग्रीव ने ऐसा वचन दिया था कि वह सीता को ढूँढ़कर उनके उद्धार-कार्य में रामचन्द्र की मदद करेगा । इधर वर्षा आ गयी, बन-प्रनतरों और पर्वत-गुहाओं में पानी ही पानी हो जायगा; अतः सभी को शरत्काल का इन्तजार करना पड़ा । रामलक्ष्मण बाहर प्रतीक्षा करने लगे और सुग्रीव अपनी नवलब्धा पत्नी तारा को लेकर गुहास्थित राजधानी के अन्दर चले गये ।

रामचन्द्र के हृदय-प्राकाश को वेदना-बादल से भरकर घन वर्षा का समागम हुआ—रामचन्द्र के आँसू गिराने के साथ साथ घनवर्षण के फल स्वरूप वेदना के बादल बहुत-कुछ छूट गये,—विमलव्योम दिखाई दिया और उसके साथ गतविद्यु द्वलाहक का शरत्काल । सीता के अन्वेषण को रामचन्द्र व्याकुल हो उठे, पर उनके मित्र सुग्रीव का

कोई पता नहीं । सुग्रीव को एक तो समृद्ध राज्य मिला, दूसरे नवीना सुन्दरी स्त्री भी मिली—अतएव मधुपान से आरक्त लोचन में ही उसके सुख जनक दिन धीरे धीरे बीतने लगे—मित्रता का वचन यह कब से भूल गया । प्रतीक्षा करते करते अधीर होकर रामचन्द्र ने लक्ष्मण को पुकार कर कहा—

स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानर प्रंगवम् ।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान् मम ।।
अर्थिनाभुपपन्नानां पूर्वं चाप्युप कारिणाम् ।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः ।।

(किष्किन्धा–३०।७०–७१)

"किष्किन्धा में प्रवेश करके तुम ग्राम्य सुख में आसक्त मूर्ख वानर सुग्रीव से मेरे ये वचन बोल देना कि जो उपकार करने वाले बलवीर्यशाली अर्थी को आशा देकर फिर आशाभंग करता है वह नराधम है ।" लक्ष्मण ने फौरन उत्तर दिया था—"क्या बन्दर को कभी सन्मति (साधु वृत्ति) होती है ?—वह कभी कर्मफल की बात नहीं सोचता ।"

न वानरः स्थास्यति साधुवृत्ते ।
न मन्यते कर्म फलानुसंगान् ।।

(वही–३१।२)

क्रुद्ध लक्ष्मण ने अकृतज्ञ वानर राज को अच्छी तरह शिक्षा देने के लिये शरधनु लेकर सुग्रीव के राजपुरी में प्रवेश किया । गिरिसंकट में सुग्रीव के किले में प्रवेश करके लक्ष्मण ने चारों तरफ पेड़ों पर वानरों को देख पाया—लक्ष्मण की रोषायित कराल मूर्ति देखकर सहमते हुए वानरों ने दौड़कर सुग्रीव को खबर दी, परन्तु—

तारया सहितः कामी सक्तः कपिवृषस्तदा ।
न तेषां कपिसिंहानां शुश्राव वचनं तदा ।।

(वही–३१।२२)

उस समय तारा से आसक्त कामातुर सुग्रीव ने उन वानरों की बातें सुनी-अनसुनी कर दीं । वानरगण निरुपाय होकर डरके मारे इधर-उधर पेड़ों की आड़ में छिप गये । लक्ष्मण को देखकर वानरों ने किलकिला करते हुए प्रचंड शोर मचा दिया, और उस शोरगुल से सुग्रीव का नशा उतर गया, वर्षा के चार महीनों के निरवच्छिन्न मदविलास के बाद मानो नितान्त अनिच्छा से ही—

तेन शब्देन महता प्रत्यबुद्ध्यत वानरः ।
मदविह्वल ताम्राक्षो व्याकुल स्रग्विभूषणः ।।

(कि–३१।४१)

उस प्रचंड कोलाहल से बानर राज सुग्रीव जाग पड़ा—उस समय भी वह मदविह्वल था, आँखें ताम्रवर्ण थीं, माल्य-भूषण शिथिल हो गया था ।

द्वारपाल अंगद ने तुरन्त जाकर अपने पितृव्य और माता को लक्ष्मण के आगमन की सूचना दी। लक्ष्मण को भी सुग्रीव की पुरी में पूर्व प्रति श्रुति निभाने का कोई उद्योग-प्रयास नहीं दिखाई दिया,—सीता के अन्वेषण के लिये कहीं कोई तनिक भी फिक्र न थी, चारों ओर सिर्फ भोग विलास का आयोजन था। लक्ष्मण सुग्रीव की पुरी में प्रवेश करके धनुष पर ज्या आरोप कर कृतघ्नता की समुचित शिक्षा देने को तैयार हुए कि इतने में सुग्रीव पत्नी तारा ने विनती से लक्ष्मण की शरण ग्रहण की।

सा प्रस्खलन्ती मदविह्वलाक्षी
प्रलम्ब कांची गुणहेम सूत्रा
सुलक्षणा लक्ष्मण सन्नि धानं
जगाम तारा नमितांगयष्टिः ॥

(वही—३३/३८)

कदम-कदम पर मदविह्वलाक्षी तारा का पदस्खलन हो रहा था, स्वर्णसूत्र की कांची प्रलम्बित हुई थी, स्तनभार से अगंयष्टि झुकी हुई थी—इसी रूप में सुलक्षणा तारा लक्ष्मण के पास गयी थी। तारा की विनती से लक्ष्मण के क्रोध का उपशम हुआ। सुग्रीव को भी चेत आ गया और वह पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार सीता के अन्वेषण के लिये उद्योग-आयोजन में तत्पर हुआ।

हम यहाँ पर सुग्रीव का जो वन्य प्राकृतजनोचित चरित्र पा रहे हैं, उस के चारों ओर एक सजीव वास्तविकता जाग उठी। वाल्मीकि की काव्यदृष्टि केवल नागरिक राजा, राजपुत्र अथवा राजपुरोहित इत्यादि पर निबद्ध नहीं थी, चरित्र सृजन के क्षेत्र में उनका कोई पक्षपात नहीं था। उन्होंने काव्य में जिस चरित्र को जितना स्थान दिया था, देश-काल-पात्र से संगति रख कर उसे उसी के अन्दर सर्वत्र सजीव बनाने की चेष्टा की थी। कालिदास के 'रघुवंश' में वर्णित सभी चरित्रों को इस प्रकार की पक्षपात रहित कवि-कल्पना में स्थान नहीं मिला। अभिजात के प्रति कालिदास का पक्षपात सुस्पष्ट है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कालिदास अपने अभिजात चरित्रों को सजीव बनाने में कामयाब हुए हैं।

वानरों के चरित्रांकन में कवि वाल्मीकि ने जिस वस्तु निष्ठा का परिचय दिया है, राक्षसों के चरित्र वर्णन में भी उसी मुक्तद्रष्टि तथा वास्तविकता का परिचय दिया है। रावण का चरित्र अत्यंत जटिल है. इसलिये उस चरित्र को छोड़कर मैं कुंभकर्ण के चरित्र के एक पहलू पर दृष्टि निबद्ध करना चाहता हूँ। हम कुंभकर्ण को एक "किंभूत किमाकार" (अत्यद्भुत) प्राणी के तौर पर जानते हैं—एक ही दिन में बहुत मद्यमांस ग्रहण करके वह छः महीने तक नींद में बेहोश रहा करता था। पर आश्चर्य की बात यह है कि छः महीने नींद में बेहोश रहने के बाद जब वह जाग पड़ता था, उसका धर्म बोध तथा वीरत्वबोध दूसरे किसी से कम न था। जिस दिन रावण ने लंका में वानर सेनाओं के साथ राम-लक्ष्मण के प्रवेश का समाचार सुनकर राक्षस वीरों को राजसभा में बुलवाकर उनका विचार विमर्श मँगाया था उस दिन—

तस्य कामपरीतस्य निशम्य परिदेवितम्,
कुंभकर्ण प्रचुक्रोध वचनंचेदमब्रवीत् ।।
(लंका—१२।२७)

उस कामातुर रावण का शोक-प्रलाप सुनकर कुंभकर्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुआ था और उसी जोश में राक्षसराज को बहुत खरी खोटी बातें सुना दी थीं। आखिर कुंभकर्ण ने रावण की पैरवी लेकर रणक्षेत्र में शत्रु-निधन का बीड़ा उठाया था, परन्तु उसके पहले उसने रावण से कहा था,—"जब आप राम और लक्ष्मण के हाथों से सीता को बरबस हरण कर ले आये थे, तब आपने इस विषय पर हमारे साथ परामर्श नहीं किया था; खुद भी सिर्फ एक बार सोचकर ही निश्चय किया था। अब हमारे विचार विमर्श से आपको लाभ उठाने की कोई आशा नहीं है। आपने जो परस्त्री हरणरूप अतुलनीय कर्म किया है, यह काम करने के पहले आपको हम से परामर्श करना चाहिये था।"[1] राजधर्म का उल्लेख करके भी कुंभकर्ण ने रावण की भर्त्सना की थी। अतः हम देख पाते हैं कि वाल्मीकि का ऐसा कोई संस्कार नहीं था कि राक्षसों में या अधिक मद्य मांस प्रिय अथवा अधिक निद्रालु लोगों में न्याय बोध या धर्मबोध कभी रहे हीन हीं। रावण को हर तरह की गाली-गलौज देने के बाद कुंभकर्ण जब समझ गये कि दो मामूली मनुष्य और उनके अनुचर वानर-सेनाओं के द्वारा राक्षसकुल का असम्मान होगा, उसने तुरन्त अपनी इच्छा से शत्रुनिधन का बीड़ा उठाया था।

हम दूसरी ओर देख रहे हैं कि विभीषण ने रावण को सदुपदेश देते समय रावण से तिरस्कृत होकर कहा था—

पुरुषाः सुलभा राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।।
बद्धं कालस्य पाशेन सर्व भूताप हारिणा।
न नश्यन्तमुपेक्षेयं प्रदीप्तं शरणं यथा।।
दीप्त पावक संकाशै शितैः कांचन भूषणैः।
न त्वामिच्छाभ्यहं दृष्टुं रामेण निहतं शरै :।।
शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्त्राश्च नरा रणे।
कालभिपन्नाः सीदन्ति यथा बालुका-सेतवः।।
तन्मर्षयतु यच्चोक्तं गुरुत्वाद्धित मिच्छता।
आत्मानं सर्वदा रक्ष पूरींचेमां सराक्षसाम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया बिना।।
(लंका—१६।२१-२५)

"हे राजन्, सतत प्रियवादी पुरुष सुलभ है; परन्तु अप्रिय पथ्य के वक्ता और और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं। जैसे, जलते हुए गृह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, उसी

(१) लंका—१२।२८-२९

तरह महाकाल के सर्वभूत-अपहरण कारी पाश के द्वारा बद्ध तुम्हारी भी अवहेलना मुझे उचित नहीं लगती। मैं यह नहीं देखना चाहता हूँ कि तुम राम के दीप्तपावक के सदृश स्वर्णालंकृत शोणित शर-समूहों से निहत हो। बलशाली वीर तथा अस्त्रविद् मनुष्य भी कालप्राप्त होने से बालू के सेतु की भांति अवसन्न होते हैं। अस्तु, तुम्हारी हित कामना से जो कुछ मैंने कहा इसलिये मुझे क्षमा करना; सर्वदा अपने की और सराक्षस इस पुरी की भी रक्षा करना। तुम्हारा मंगल हो, मैं यहाँ से चला जा रहा हूँ, मेरे सिवा तुम सुखी हो।"

परन्तु ऐसे स्पष्टवादी दृढ़चेता धार्मिक विभीषण को भी राम का पक्ष लेते समय कैसी अभ्यर्थना मिली थी? कवि वाल्मीकि ने विभीषण के धार्मिक होने के नाते उसे आसानी से सादर अभिनन्दन का अधिकारी नहीं बनाया। विभीषण के सब बातें जी खोलकर बोलने पर भी जब रामचन्द्र ने अपने बुद्धिमान् अनुचरों से परामर्श मँगाया तो प्रायः सभी ने यह मत प्रकट किया कि धार्मिक होने पर भी "विश्वासनीयः सहसा न कर्त्तव्यो विभीषणः।" किसी-किसी ने विभीषण के पीछे जासूस लगाने का परामर्श दिया; फिर किसी-किसी ने यह संशय प्रकट किया कि जासूस लगाने से बुद्धिमान विभीषण को तुरन्त ही उसका पता लग जायगा जिससे उसका मन बिगड़ जायगा। अतः भेदिया न लगाकर कई दिनों तक अत्यन्त सतर्कता से उसकी बात-चीत, आकार-इंगित, रहन-सहन इत्यादि पर विशेष ख्याल रखकर उसका असल अभिप्राय समझने का प्रयत्न किया जाय। इन सब के माध्यम से वाल्मीकि के लोकाचार तथा यथार्थता का परिचय मिलता है। चरित्र सृजन के क्षेत्र में उन्होंने कहीं कभी विशुद्ध 'टाईप' मात्र का निर्माण नहीं किया। जिस वातावरण में से उन्होंने चरित्रों को परिस्फुट किया, उसी बातावरण के बीच में से उन्होंने अंकित चरित्रों को सजीव बनाने की चेष्टा की है।

यह नहीं कि केवल पौरुष अथवा वीरत्व-व्यंजक घटना या चरित्र के वर्णन में ही वाल्मीकि की बलिष्ठता प्रकट होती है। सहज हास्य-कौतुक अथवा शोक-हर्ष के प्रकाश के अन्दर भी इस सजीव बलिष्ठता का परिचय मिलता है। एक छोटा-सा नमूना ग्रहण किया जाय। सीता की खबर लेकर हनूमान लंका से लौट आया; वानरों ने हनूमान से सीता का समाचार सुनकर "मदोत्कट" होकर मधुपान के मतलब से सुग्रीव-रक्षित मधुवन में प्रवेश किया। हर्ष के अधिकार से—

गायन्ति केचित् प्रहसन्ति केचित्
नृत्यन्ति केचित् प्रणमन्ति केचित्।
पठन्ति केचित् प्रचरन्ति केचित्
प्लवन्ति केचित् प्रलपन्ति केचित्॥
परस्परं केचिदुपाश्रयन्ति
परस्परं केचिदुप ब्रुवन्ति।
द्रुमाद् द्रुमं केचिदभिद्रवन्ति
क्षितौ नगाग्रा न्निपन्ति केचित्॥

महीतलात् केचिदुदीर्णवेगा
महाद्रुमा ग्राण्य भिसंपतन्ति ।
गायन्तमन्य: प्रहसन्नुपैति
रुदन्तमन्य: प्ररुदन्नुपैति ।।
तुदन्तमन्य: प्रणुदन्नुपैति
समाकुलं तत्कपि सैन्यमासीत् ।
न चात्र कश्चिन्न वभूव मत्तो
न चात्र कश्चिन्न वभूव दृप्त: ।।

(सुन्दर—६१।१६-१६)

"किसी-किसी ने गाना शुरू कर दिया तो किसी-किसी ने तुमुल हँसी; कोई कोई नाचने लगे तो कोई लगे प्रणाम करने; किसी-किसी का पाठ शुरू हुआ तो किसी-किसी घूमना; कोई उछलने लगे तो कोई लगे प्रलाप बकने। कोई-कोई एक दूसरे पर निर्भर होने लगे, फिर दूसरे कोई लगे एक दूसरे को गाली-गलौज देने; किसी-किसी ने पेड़ों से ही विवाद छेड़ दिया और कोई-कोई पहाड़ की चोटी से जमीन पर गिरने लगे। कोई कोई जोश में आकर जमीन से उछलकर पेड़ों से सिर पर चढ़ने लगे; किसी गाने वाले का दूसरे कोई हँसी-मजाक करते थे, किसी रोने वाले से दूसरे कोई ज्यादा रोते हुए मिलते थे; एक बन्दर जिसे नाना प्रकार से सताता था दूसरे बन्दर उसका मन बहलाते थे; इस तरह समूचे कपि सैन्य बिलकुल समाकुल हो उठे; वहाँ ऐसा कोई न था जो मस्त नहीं हुआ था, ऐसा कोई न था जो तृप्त नहीं हुआ था।" हर्षोन्मत्त वानरों का यह चित्र हल्ला-हुल्लड़ से पूरा-पूरा इन्द्रिय-गोचर हो चुका। सुग्रीव का बूढ़ा मातुल वनरक्षक दधि-वक्र इन प्रमत्त वानरों को मनाही करने गया तो इतना लांछित हुआ कि वह दृश्य और भी आस्वादनीय बना। कालिदास के काव्यों के अन्दर ऐसी बेतरतीब प्रमत्तता का स्थान नहीं है, वहाँ सब कुछ सिलसिलेवार है।

असल में कालिदास का काल ही सिलसिले का काल है जहाँ बेतरतीब हँसने और रोने का अवसर बहुत कम है। प्रियजन के लिये शोक करना हो तो भी अनवद्य श्लोक-समष्टि से बहुत देर तक बैठे-बैठे बढ़ा-चढ़ा कर विलाप करना पड़ता है। वाल्मीकय यग में किसी भी तरफ से क्रम की कठोरता नहीं थी; उस समय भी समाज, राष्ट्र तथा धर्म ने तरल बायव्य अवस्था से संपूर्णत: पार होकर नितान्त शक्त शीतल और रीतिबद्ध रूप नहीं ग्रहण किया। विशालतर समाज-जीवन में सर्वत्र ही वह एक बनने-बनाने का युग था। पर कालिदास का युग था विलासी सामन्ततंत्र का युग। उस सामन्तवाद का अव-लम्बन करके नागरिक जीवन के स्वच्छन्द विलास में समाज-जीवन केन्द्रीभूत हो रहा था। किम्वदन्ती के अनुसार कालिदास राजकवि थे, नवरत्न सभा के वे ही थे उज्ज्वलतम रत्न। ये बातें सच हों अथवा न हों, यह सच है कि कालिदास का साहित्य प्रधानत: नागरिक साहित्य है; रामायण बहुत खूब 'आरण्यक' साहित्य से समगोत्रीय है। कालिदास के युग

में "उद्यान लता" तथा "वनलता" के बीच का अंतर भी बहुत स्पष्ट रूप में दिखाई दिया और जहाँ

"दूरीकृता खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः"

वहाँ भी कवि के नागरिकोचित विचित्र सुकुमार रसबोध का परिचय मिलता है। "मेघदूत" काव्य में कवि के वैचित्र्य-कामी नागरिक और रसिक हृदय का परिचय और भी स्पष्ट हो उठा है। उद्गृहीतालकान्ता पथिक-वनिताओं से देखे जाने का लोभ और जनपद वधुओं के भ्रूविलासानभिज्ञ प्रीतिस्निग्ध लोचनों से पीयमान होने का लोभ—इस में ही कवि की नागरिक वृत्ति प्रच्छन्न रही है। लेकिन असल में "विद्युद्वन्तं ललित वनिता" हर्म्यों से ही कवि का समधिक परिचय है। कवि पथिक-वधुओं और जनपद वधुओं के बारे में चाहे जितना ही बोलें, उन्होंने मेघ से स्पष्टरूप से कह दिया—

वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां
सौधोत्संग प्रणय विमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः ।।
विद्युद्दाम स्फुरित चकितैस्तत्र पौरांगनानां
लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वंचितोऽसि ।।

(मेघदूतम्)

"तुम उत्तरी दिशा में जा रहे हो, इसलिये तुम्हारा पथ जरा टेढ़ा होगा; फिर भी उज्जयिनी के सौधोत्संग प्रणय विमुख मत होना, यदि वहाँ की पौरांगनाओं के विद्यु-द्दाम स्फुरित चकित लोलापांग लोचनों से न रमो तो तुम वंचित रहोगे।"

हाँ, आदिम जीवन की सजीवता और बलिष्ठता की आशा हम कालिदास के युग में नहीं कर सकते हैं। कालिदास के काल में समाज-बंधन मनु के शासन से दृढ़ हो चुका था वे उस काल के कवि थे। जब कि नियम निष्ठ राजा के शासन से प्रजाएँ मनु के काल से आये हुए विधिमार्ग का तनिक भी उल्लंघन नहीं किया करती थीं—जैसे सुनिप्रण सारथि से चालित रथ का चक्र अग्रनेमि की रेखा को जरा भी नहीं लांघता :—

रेखा मात्रमपि क्षुणादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः ।।

(रघु—१।१७)

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कालिदास की कवि-कल्पना भी मनुशासित समाज के नेमिवृत्त से थोड़ा-बहुत नियंत्रित हुआ है। यही कारण है कि कालिदास के काव्यों में जीवन का सहज प्रकाश कम पाया जाता है।

परन्तु कालिदास के काव्यों में—खास कर "रघुवंश" में वाल्मीकीय काव्य के बराबर जीवन की वास्तवता और बलिष्ठता की कमी के कारण यह काव्य नितान्त निष्प्राण नहीं है। जीवन की वास्तवता और बलिष्ठता की कमी को कालिदास ने अपनी कवि-कल्पना की बलिष्ठता तथा दुर्लभ निर्माण कला से पूरण किया है। इस के अलावा कालिदास के काव्यों में जीवन की सजीवता न हो, पर ऐश्वर्य है। यह ऐश्वर्य सर्वदा बाहरी ऐश्वर्य

नहीं है, भीतरी ऐश्वर्य भी प्रचुर है। जीवन के इस ऐश्वर्य ने उपयुक्त वर्णन के सहारे एक चित्त-प्रसारी महिमा को बिखरा दिया है। "रघुवंश" के प्रारंभ में ही इस ऐश्वर्व का परिचय मिल रहा है। वहाँ रघुवंश का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है, वह भाषा, छन्द, रचना शैली और आभिजात्य से समुद्र की लहर के ऊपर लहरों की तरह पाठकों के चित्ततट पर आकर आघात किया करता है।

सोऽह माजन्म शुद्धाना माफलोदय कर्मणाम्।
आसमुद्र क्षितीशाना मानाक रथ वर्त्मनाम्॥
पथाविधि हुताग्नीनां यथा कामार्चितार्थिनाम्।
यथापराध दंडानां यथाकाल प्रबोधिनाम्॥
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यश से विजिगीषुणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥[१]

इसी तरह रघुओं का जो वर्णन चलने लगा उस में से उनके वास्तविक जीवन की यथार्थता चाहे मिले या न मिले, पर सब मिलाकर ऐश्वर्य और महिमा ही यहाँ प्रधान लाभ है। इस के बाद ही रघुवंशीय राजा दिलीप का जो वर्णन हम देख पाते हैं, उस में अतिशयोक्ति के कारण दिलीप की व्यक्ति विशेषता चाहे जैसे ही लुप्त हो जाय, वहाँ व्यक्ति-वियोजित राज-महिमा और उस महिमा को व्यक्त करने की वचन-चातुरी पाठकों के चित्त में गंभीर चमत्कार प्रदान करती है।

व्यूढ़ोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥
सर्वातिरिक्त सारेण सर्वतेजोऽभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नितेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना॥
आकार सदृश प्रज्ञः प्रज्ञया सदृशागमः।
आगमैः सदृशारंभ आरंभ सदृशोदयः॥
भीम कान्तै-र्नृपगुणैः स वभूवोपजीविनाम्।
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादो रत्नैरिवार्णवः॥

... ...

प्रजानामेव भूत्यर्थं सताभ्यो वलिमग्रहीत्।
सहस्रगुण भुत्स्रष्टु भादत्ते हि रसं रविः॥
सेना परिच्छद स्तस्य द्वयमेवार्थ साधनम्।
शास्त्रेष्वकुंठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता॥

तस्य संवृतमंत्रस्य गूढ़ाकारेंगितस्य च ।
फलानुमेयाः प्रारंभाः संस्काराः प्राक्तना इव ।।
जुगोपात्मान मत्रस्तो तेजे धर्म मनातुरः ।
अर्थगृध्रनु राददे सोऽर्थ मसक्तः सुखभन्वभूत् ।।
ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा-विपर्ययः ।
गुणा गुणानु बन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ।।
अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरते रासीद् वृद्धत्वं जरसा बिना ।।
प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणा दपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।

(रघु—१/१३-१६, १८-२४)

इस तरह श्लोक के पीछे श्लोक में कालिदास अपूर्व वाग्वैदग्ध्य से जिनका वर्णन करने लगे, वे किसी विशेष देशकाल के रक्तमांस के देहधारी राजा नहीं हैं, वे कालिदास की चित्तभूमि में पैदा हुई राजमहिमा के एक विग्रही प्रतीक मात्र हैं । उनका वक्ष विशाल है, स्कन्ध वृष की तरह है,—वे शालप्रांशु और महाभुज हैं; उन की देह आत्मकर्मक्षम है—मानो मूर्तिमान क्षात्र धर्म है । वे सब से अधिक सारवान्, सर्वतेज का अभिभवकारी और सब से उन्नत हैं—इसलिये लगता है कि वे जैसे पृथ्वी पर हमला कर मेरु-पर्वत की तरह विराजमान थे । आकार सदृश थी उनकी प्रज्ञा, प्रज्ञा के समान आगम, आगम के समान कर्मारंभ—आरंभ के समान था फलोदय । भयानक तथा कमनीय नृपगुणों के कारण वे आश्रितों को अधृष्य थे, फिर अभिगम्य भी थे—जैसे रत्नसमाकीर्ण अर्णव जलजीवों को है । प्रजाओं के ही हित के लिये वे उन से खजाना लेते थे—जैसे सूर्य रस लेता है—हजारों गुना लौटा देने के लिये । सेना उन के लिये परिच्छद की तरह भूषणमात्र थी; शास्त्र में अकुंठित बुद्धि और धनुष पर आरोपित ज्या—इन दोनों से उनके सब-के-सब प्रयोजन सिद्ध होते थे । उन की मंत्रगुप्ति ऐसी थी और आकार-इंगित ऐसा गूढ़ था कि काम के पहले किसी की समझ में कुछ भी नहीं आता । अतएव उनके प्रारम्भ अर्थात् समस्त कर्मानुष्ठान प्राक्तन संस्कारों की भाँति केवल फलों से अनुमेय होते थे । वे अत्रस्त (निडर) होकर आत्मरक्षा करते थे, अनातुर होकर धर्मोपार्जन करते थे, अगृध्रु होकर धन लेते थे और अनासक्त होकर सुख भुगतने थे । ज्ञानी होने पर भी वे मौनी थे, शक्तिमान् होते हुए भी वे क्षमाशील थे, त्याग में भी उनकी कोई श्लाघा न थी—ऐसे परस्पर-विरोधी गुण उनके शरीर में सहोदरों की भाँति बसते थे । प्रजाओं की शिक्षा, रक्षा तथा भरणपोषण के लिये वे ही उन सब के पिता थे—उन के अपने पिता केवल जन्म के कारण थे ।[१]—इसी तरह राजा की महिमा का वर्णन लगातार जारी है; उस वर्णन में यथार्थता की कमी चाहे जितनी ही हो, चमत्कृति का कोई अभाव नहीं है ।

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में राजा दिलीप के द्वारा वशिष्ठ की होमधेनु नन्दिनी के चराने के वर्णन में भी इस प्रकार की गंभीर महिमा की व्यंजना है—वह महिमा केवल राजा की ही नहीं, होमधेनु की भी है। माया-सिंह और राजा दिलीप का सुदीर्घ कथोपकथन सब प्रकार की अलौकिकता के बावजूद सजीव हो उठा; वर्णन-कौशल से यहाँ ऐसे ओजोगुण का आविर्भाव हुआ जो वास्तव धर्मा न हो, चित्तप्रसारी अवश्य ही है।

बहुत स्थलों पर यह देखा जाता है कि कालिदास के "रघुवंश" काव्य की (वाल्मीकीय रामायण से तुलनात्मक आलोचना में हम खास तौर पर इसी काव्य को ले रहे हैं) चमत्कृति बहुत अधिक वर्णनीय विषय पर उतना नहीं जितना वर्णन के चमत्कार पर निर्भर होती है। इस वर्णन में कवि ने जिस कल्पना का परिचय दिया है वह जैसे मौलिक वैसे ही बलिष्ठ है। एक छोटा-सा उदाहरण लिया जाता है। रामचन्द्र के तिरोभाव के पश्चात् ज्येष्ठपुत्र कुश ने अयोध्या-नगरी को छोड़कर कुशावती में अपना राज्य स्थापित किया। एक दिन अर्धरात्रि में दीपशिखा स्तिमित होने पर और नगरी के सब लोग निद्रित होने पर अचानक कुश प्रबुद्ध हुए और विरह वेश धारिणी अदृष्टपूर्व एक रमणी को देख पाया। उजड़ अयोध्यापुरी की अधिष्ठात्री देवी यह रमणी उजड़े हुए नगर की दुरवस्था कुश को सूचित करने के लिये उनके सामने आ खड़ी हुई। कवि ने इस अधिष्ठात्री देवी के मुँह से ऐश्वर्यशालिनी पुरातन अयोध्या और वीरान अयोध्या के बीच पार्थक्य के वर्णन के लिये अपूर्व तथा बलिष्ठ कवि-कौशल ग्रहण किया है। कवि ने प्रत्येक श्लोक में दृश्य और घटना का ऐसा द्वन्द्व उपस्थित किया कि उस द्वन्द्व में प्राचीन और वर्तमान अयोध्या की भिन्नता एकदम प्रत्यक्ष हो उठी। देवी ने कहा—

निशासु भास्वत्कल नूपुराणां।
यः संचरोऽभूदभि सारिकाणाम् ।।
नदन् मुखोल्का विचितामिषाभिः
स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ।।

(१६/१२)

पहले रात को चमकती पायलों की कलगुंजन ध्वनि से अभिसारिकाएँ जिस राजपथ से निडर होकर विचरण करती थीं, अब उसी राजपथ में सशब्द मुख-निःसृत उल्का-प्रभा के सहारे मांस ढूँढ़ने वाली शिवाओं का आवागमन जारी है।

आस्फालितं यत् प्रमदाकराग्रै
मृदंग धीर ध्वनिमन्वगच्छत्।
वन्यै रिदानीं महिषैस्तदम्भः
शृंगाहत क्रोशति दीर्घिकाणाम्

(१६/१३)

जो निर्मल जल विलासिनी प्रमदाओं के कराग्रों से आस्फालित होकर मृदंग की धीर गंभीर ध्वनि का अनुकरण करता था, आज उस दीर्घिका का जल वन्य महिषों के शृंगों से आहत होकर मानो क्रोश ध्वनि का अनुकरण कर रहा है।

सोपानमार्गेषु च येषु रामाः
निक्षिप्तवन्यश्चरणान् सरागान् ।
सद्यो हतन्यंकुभिरस्रदिग्धं
व्याघ्रैः पदं तेषु निधीयते मे ।।

(१६/१५)

जिन सब सोपान पथों पर रमणियाँ अलक्त सिक्त रक्तिम चरण स्थापित करती थीं, अब उस सोपानावली पर सद्यमृगवधकारी व्याघ्रगण रुधिर लिप्त पद स्थापित कर रहे हैं ।

चित्रद्विपा पद्मवनावतीर्णाः
करेणुभिर्दत्त मृणालभंगाः ।
नखांकुशाघात विभिन्न कुंभाः
संरब्ध सिंह प्रहृतं वहन्ति ।।

(१६/१६)

चित्रपट पर अंकित जो सब हाथी पद्मवन से अवतीर्ण हुए हैं और करेणुओं के द्वारा प्रदत्त मृणाल खंड ग्रहण कर रहे हैं, अब वे सिंहों के (जो इन चित्रों को जीवंत समझ गये थे) नखांकुश के आघात से भिन्नकुंभ होकर कुपित सिंहों का प्रहार वहन कर रहे हैं ।

स्तंभेषु योषित् प्रतियातनाना-
मुत्क्रान्त वर्ण क्रम धूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगा
न्निर्मोकपट्यः फणिभिर्विमुक्ताः ।।

(१६/१७)

कालक्रम से वर्ण विन्यास विलुप्त होने के कारण धूसरता-प्राप्त दारुमयी स्त्री-प्रतिकृतिओं के ऊपर भुजंग-निर्मुक्त निर्मोक पड़कर स्तनावरण का काम कर रहा है ।

आवर्ज्य शाखाः सदयंच यासां
पुष्पाण्युपात्तानि विलासिनीभिः ।
वन्यैः पुलिन्दैरिव वानरेस्ताः
क्लिश्यन्त उद्यानलता मदीयाः ।।

(१६/१९)

विलासिनियाँ जिन वृक्षशाखाओं को अत्यन्त दयापूर्वक झुकाकर कुसुम-चयन किया करती थीं, अब वन्य प्रलिन्दों की भाँति वानर गण मेरी उन उपवन-लताओं को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं ।

रात्रावनाविष्कृतदीपभासः
कान्ता मुखश्री वियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालै
विच्छिन्नधूम-प्रसरा गवाक्षाः ।

(१६/२०)

रात को अब और मेरे गवाक्षों में दीपभास दिखाई नहीं देता, दिन को भी वहाँ रमणीमुख कान्ति नहीं भाती, फिर इन गवाक्षों से सुगन्धि धूम नहीं निकलता, वहाँ केवल कृमिकुल तन्तुजाल फैला रहा है ।

इस वर्णन के माध्यम से सम्पन्न अयोध्या और वीरान अयोध्या के बीच जो भिन्नता परिस्फुट हुई है, वह केवल इन्द्रियगोचर ही नहीं, बल्कि उसमें कवि-कल्पना की असाधारण बलिष्ठता का भी परिचय मिलता है ।

ऊपर की आलोचना से स्पष्ट होगा कि यह सच नहीं है कि कालिदास के काव्यों में खास कर "रघुवंश" में बलिष्ठता तथा ओजो गुण का नितान्त अभाव है; परन्तु वाल्मीकीय काव्य की बलिष्ठता और कालिदास के काव्य की बलिष्ठता एक कोटि की नहीं है। इस वैषम्य के पश्चात् काल धर्म का जो पार्थक्य है हम उस की उपेक्षा नहीं कर सकते ।

वाल्मीकीय युग आरण्य कृषि-सभ्यता का युग है । उस समय तक मनुष्य वन काट कर चारों ओर नगर-प्रतिष्ठा का काम समाप्त नहीं कर सके—वन से जनपद का संयोग गहरा ही था । जनपद जीवन और आरण्य जीवन के मिलन से ही भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति बन पड़ी है। वाल्मीकि के काव्य में इसी मिलन और मिलन से बने हुए बृहत्तर समाज-जीवन के परिवर्तन का इतिहास दृष्टि-गोचर है । उन दिनों विराट अरण्य के बड़े बड़े शाल वृक्षों को काटकर जनपद की स्थापना की जाती थी, गैरिक धातुपूर्ण पार्वत भूमि पर जन-वसति की व्यवस्था हुआ करती थी । वाल्मीकीय काव्य की उपमाओं के बीच ही इस अर्ध-आरण्य जीवन का परिचय छिपा रहा है । मरे हुए दशरथ के वर्णन में कवि ने कहा—

तमार्तं देवसंकाशं समीक्ष्य पतितं भुवि ।
निकृत्तमिव शालस्य स्कन्धं परशुना वने ।।

(अ ७२/२२)

जमीन पर गिरा हुआ आर्त देवतुल्य दशरथ मानो कुल्हाड़ी से काटा हुआ शाल-स्कन्ध है । इस कर्तित भूपातित वृक्ष की उपमा, झंझा से उन्मूलित वृक्ष की उपमा वाल्मीकि के द्वारा बहुत अधिक उपयोग में लायी गई; रामायण के बहुत से प्रसंगों में इस उपमा को हम देख पाते हैं । वन में भरत के मुँह से पिता दशरथ का मृत्यु-समाचार सुनकर—

प्रगृह्य रामो बाहू वै पुष्पितांग इव द्रुमः ।
वने परशुना कृत्तस्तथा भुवि पपातह ।।

वन में कुल्हाड़ी से काटे हुए पुष्पित शाखा बाहु वृक्ष के समान राम अपनी बाहें ऊपर उठाकर जमीन पर गिर पड़े। लंका का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णं ।
श्रिया ज्वलन्तं बहुरत्नकीर्णम् ।।
नाना तरुणां कुसुमाव कीर्णं
गिरेरिवाग्रं रजसावकीर्णम् ।।

(सु ७/६)

बहुरत्नाकीर्णा लंका मानो नाना तरुओं के कुसुमावकीर्ण धूलिकीर्ण गिरि शृंग है। धातुमयी गिरिभूमि की उपमा भी वाल्मीकीय रामायण के बहुत से स्थलों पर बार बार आती है। इस आरण्य-जीवन में मनुष्यों को सर्वदा हिंस्र आरण्य पशुओं के सम्पर्क में आना पड़ता था; इसी से वाल्मीकि की उपमाओं के बीच वन के सिंह, व्याघ्र, हस्ती, हरिण सर्प वगैरह चारों ओर से भीड़ लगाते हैं। वाल्मीकि के वर्णन में हम देख पाते हैं कि क्रुद्ध वीर बहुत से स्थलों पर "निःश्वसन् इव पन्नगः" है। राजभवन से बाहर आये हुए रामचन्द्र हैं "पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः" (अ १६/२६); राजा दशरथ ने जब राजान्तःपुर में प्रवेश किया है तो वह भी "सिंहो गिरिगुहामिव" (अयो ५।२५)। विजन पार्वत वन में बेधड़क सोये हुए रामलक्ष्मण दो भाई—

ततस्तु तस्मिन् विजने महाबलौ
महावने राघव–वंश–बर्धनौ ।
न तौ भयं संभ्रम मभ्युपेयतु
यथैव सिंहौ गिरिसानुगोचरौ ।।

(अ ५३/५५)

गिरिसानुगोचर दो सिंहों के समान महाबली दो भाई निडर होकर सोये हुए थे। वन में वाष्पशोक परिप्लुत रामचन्द्र को संबोधन कर के लक्ष्मण जब बोले थे तब—"अब्र वील्लक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नारा इव श्वसन्।" (आरण्य २/२२) रुद्ध हस्ती के समान साँस निकालते हुए लक्ष्मण ने अपनी बातें कही थीं।

मृत दशरथ को देखकर कौशल्या और सुमित्रा जब शोक प्रकट कर रही थीं तब वे—"करेणेव इवारण्ये स्थान प्रच्युतयूथपाः।" (अ ६५/२१) यूतपति महाराज स्थान भ्रष्ट होने पर अरण्य में सहाय-विहीन करणुओं के समान थीं[1] अशोक वन में जब रावण सीता को किसी क्रम से वश में नहीं ला सका उसने दुरन्त राक्षसिओं को यह हुक्म दिया था—

तत्रैनां तर्जनैर्घोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।
आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव ।।

(आर ५६/३१)

"इस मैथिली को कभी घोर तर्जन से, कभी सान्त्वना से वन्या गजवधू की भांति वश में लाना।" तब—

सातु शोकपरीतांगी मैथिली जनकात्मजा ।
राक्षसी वशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ।।

(वही ५६।३४)

हिरनी जैसे बाघिनियों के आधीन होती है, वैसे ही वह शोक-परीतांगी जनक-दुहिता सीता राक्षसियों की वशवर्तिनी हुई।

हनूमान ने जब लंकापुरी में सीता को देखा था, उस समय सीता दीख पड़ती थी—

गृहीतां लाड़ितां स्तम्बे यूथपेन विनाकृतम् ।
निश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ।।

(सु—१६।१८)

सीता गजराजवधू के समान है,—वह पकड़ी गई है, यूथपति से अलग की गई है, सतायी जा रही है और गहरे दुःख से कातर होकर केवल साँस निकाल रही है। रावण से अपहृता सीता के संधान में व्यर्थ काम तथा अवसादित राम का प्रसंग बताते हुए कवि ने कहा—

पंक मासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुंजरम् ।

(आरण्य १।१३)

वह मानो कीचड़ के बीच एक विषाद-प्राप्त वृहत् हाथी है।[1]

रावण ने एक बार सूर्पणखा से कहा था—

अयुक्त चारं दुर्दर्शमस्वाधीनं नराधिपम् ।
वर्जयन्ति नरा दूरान्नदी पंकमिव द्विपाः ।।

(आरण्य ३३।५)

"हाथी जैसे दूर से ही नदी के कीचड़ से अलग रहते हैं उसी तरह अयुक्त चार दुर्दश अस्वाधीन राजा को सब लोग वर्जित करते हैं।"

---

१. उवाच रामं संप्रेक्ष्य पंकलग्न इव द्विपः ।।　　(कि—१८।५१)
गांगे महति तोयान्ते प्रसुप्तमिव कुंजरम् ।　　(सु—१०।२८)
तुलनीय—भर्तः सीदति मे चेतो नदीपंक इव द्विपः ।।
(बुद्ध चरित-अश्वघोष, ६।२६)

तुलनीय—ततः क्षिप्तमिवात्मनं द्रौपद्या स परंतपः ।
नामृष्यत महाबाहुः प्रहारमिव सद्गजः ।।
(महाभारत-वनपर्व १३३।३२)

इन सब वर्णनों और उपमाओं पर निगाह डालने ही प्रतीत होगा कि इन में कवि के समकालीन आरण्य जीवन की छाप सुस्पष्ट है ।

वाल्मीकि के युग में खेती बारी ही प्रधान वृत्ति थी । वैदिक काल में जिस कृषियुग का सूत्रपात हुआ था, हम उसी की क्रम-परिणति देख पाते हैं वाल्मीकीय युग में । यही कारण है कि महाकवि के वर्णन में कृषि सम्बन्धी बहुत-सी-उपमाएँ मिलती हैं । युवराज रामचन्द्र को यौवराज्य में अभिषिक्त करने का संकल्प लेकर दशरथ बोल रहे हैं—

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः ।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।।

(अ—१।३८)

'सर्वभूतानुकम्पक, संसार के वृद्धिकाम राम वृष्टिमान् मेघ से समान मुझसे भी सब के प्रियतर हैं ।' राम के सिवा राज्य दशरथ के लिये है 'शस्यं वा सलिलं बिना' (अ—१२।१३) वन में आए हुए भरत को अयोध्या में लौट जाने का उपदेश देते हुए वन के ऋषियों ने कहा था—

'त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ।'

(अयो—११२।१२)

'किसान जैसे बादल का इंतजार किया करते हैं, उसी तरह तुम्हारे ज्ञाति गण, मित्र गण और योद्धवृन्द तुम्हारी बाट देख रहे हैं ।' लंका के अशोक वन में हनूमान को देखकर सीता ने कहा था—

त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं संप्रहृष्यामि वानर ।
अर्धसंजातशस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुन्धरा ।।

(सु—४०।२)

"हे वानर, तुम प्रियवक्ता हो, तुम्हें देखकर मैं वैसे ही आनन्दित हुई, जैसे अर्धसंजात शस्या वसुन्धरा वर्षा को पाकर आनन्दित होती है ।"

जब मारीच ने रावण को सदुपदेश दिया था, रावण ने कहा था कि मारीच का—

वाक्यं निष्फलमन्यर्थं वीजमुप्तमिवोखरे ।।

(आ—४०।३)

'अत्यन्त अर्थयुक्त होने पर भी उसका वाक्य तपाये हुए उखरे में बीज की भाँति बिल्कुल निष्फल है ।'

जब वानरों ने लंका के वनगिरि को छा डाला था तब—

वभूव वसुधा तैस्तु सम्पूर्णा हरिपुंगवैः ।
यथा कमल के दारैः पक्वैरिव वसुन्धरा ।।

(लंका ४।६१)

'जैसे वसुन्धरा पके हुए कमल धानों के खेतों से भर जाती है, वैसे ही उन वानर पुंगवो से वसुधा छा गयी।'

इस कृषियुग में गोधन ही श्रेष्ठ धन था। रावण ने विभीषण से कहा था—

विद्यते गोषु सम्पन्नं विद्यते ज्ञातितो भयम्।
विद्यते स्त्रीषु चापल्यं विद्यते ब्राह्मणे तपः॥

(यु—१६।१)

गाय में ही सम्पद् थी—इसी से गायों और वृषों की उपमाएँ वाल्मीकीय रामायण में सर्वत्र फैली हुई हैं। दशरथ ने कैकेयी से कहा था—

यथा ह्यपालाः पशवः यथा सेना ह्यनायकाः।
यथा चन्द्रं बिना रात्रिर्यथा गावो बिता वृषम्॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते॥

(अ—१४।५४-५५)

जहाँ कोई राजा नहीं दीख पड़ता, वहां की अवस्था वैसी ही होती है जैसी पालहीन पशुओं, नायक-हीन सेनाओं, चन्द्र हीन रात्रि और वृष हीन गायों की दशा होती है।[1]

लंका काण्ड में हम देख पाते हैं कि वानर योद्धा नील सहसा राक्षसगणों से निक्षिप्त बानराशियों को रोकने में अशक्त होकर आँखे मूंदकर झेल रहा था, जैसे एक वृषभ अपने पथ पर अचानक वर्षा आने से उस घन वर्षण को बरदाश्त करता है।

तस्य वानगणानेव राक्षसस्य दुरात्मनः।
अपारयन् वारयितुं प्रत्यगृह्णान्नि मीलितः।
यथैव गोवृषो वर्षं शारदं शीघ्रमागतम्॥

(लंका ५८।४१)

जिस दिन राम ने वन गमन किया था उस दिन—

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।

(अ–२०।६)

राम के बिना सब महिषियाँ मानो बछड़े के बिना धेनुएँ हैं।[1]

---

१. यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाण्यतृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्॥

(अयोध्या ६७।२९)

१. ततः सवाष्पा महिषी महीपतेः प्रणष्टवत्सा महिषीव वत्सला। —अश्वघोष का बुद्ध चरित, ८।२४

कौशल्या ने रामचन्द्र से कहा था—

कथं हि धेनुः स्व वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति ।
अहं त्वानु गमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ।।

(अ–२४।९)

'बछड़ा जिस तरफ जाता है गाय उस तरफ उसी के पीछे-पीछे चलती है, वैसे मैं भी तुम जिधर जाओगे तुम्हारा अनुगमन करूँगी ।'

जिस दिन हनुमान् सीता से अभिज्ञान मणि लेकर राम के पास पहुँचा था उस दिन उस मणि को देखकर रामचन्द्र ने सुग्रीव से कहा था—

यथैव धेनु स्रवति स्नेहाद्वत्सस्य वत्सला ।
तथा ममापि हृदयं मणिश्रेष्ठस्य दर्शनात् ।।

(सु–६६।७)

'वत्सला गाय जैसे बछड़े का अवलम्बन कर प्यार से दूध चुवाती है, इस मणि-श्रेष्ठ का अवलम्बन कर मेरा हृदय भी वैसा ही होता है ।'

रानी कौशल्या की एक उक्ति में इस कृषिसभ्यता का निदर्शन अति स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है । रामचन्द्र के वन गमन के पश्चात् विषाद-प्राप्त दशरथ को उद्दिष्ट करके कौशल्या बोली थीं—

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति ।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव ।।

(अ–४७।१२)

'वृषभ जैसे गोवधू को सामने रखकर चलता है, उसी तरह महाबाहु राम फिर कब रथ पर सीता को सामने रखते हुए अयोध्यापुरी में प्रवेश करेगा ।' यदि पूर्ण रूप से कृषिसभ्यता का युग न होता तो पुत्र और पुत्रवधू को वृष और गोवधू से उपमित करना माँ के लिये संभव नहीं हो पाता । ऐसी उपमा हमारे युग में बिलकुल अप्रचलित है, कालिदास के युग में भी नहीं चालू थी, अन्ततः कहीं नहीं चली । "वृषस्कन्ध" तक चलती, उससे अधिक नहीं; परन्तु बाल्मीकीय रामायण के वातावरण के बीच यह उपमा अनूठे ढंग से सोहती है । गाय के बारे में श्रद्धालु वर्णन कालिदास के काव्यों में बहुत से मिलते हैं । दिलीप-रक्षित वशिष्ठ की होमधेनु के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

पयो धरीभूत चतुः समुद्रां ।
जुगोप गोरूप धरामिवोर्वीम् ।।

(रघु–२।३)

दिलीप ने मानो गोरूपधरा पृथ्वी की ही रक्षा की थी, पृथ्वी के चार समुन्दर मानो होमधेनु के चार थन वाले पयोधर में परिणत हुए थे । शाम को यह होमधेनु जब आश्रम में लौट आती थी तो—

संचार पूतानि दिगन्तराणि
कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा
प्रभा पतंगस्य मुनेश्च धेनुः ।।

(रघु–२।१५)

यहाँ सूर्य प्रभा से मुनि की होमधेनु की तुलना की गयी है । सूर्यप्रभा ने दिनभर अपने ताप से सारे दिग्दिगन्तरों को पवित्र किया है, धेनु ने भी अपने विचरण से दिगन्तरों को वैसा किया है; दिनान्त में सूर्यप्रभा ने पल्लव राग-ताम्रवर्ण धर लिया है, ऋषि की धेनु भी पल्लव राग-ताम्रा है; सूर्यप्रभा अपने निलय को चल दी, ऋषि की धेनु भी आश्रम की ओर चली । फिर मध्यम लोकपाल दिलीप जब धेनु का अनुगमन करने लगे तो—

वभौ च सा तेन सतां मतेन
श्रद्धेव साक्षाद् विधिनोपपन्ना ।।

(रघु–२/२६)

साधुओं के बहुमान्य राजा के द्वारा अनुसृत होकर वह धेनु विधियुक्ता मूर्तिमती श्रद्धा की भाँति सोहने लगी । महाराज दिलीप धेनु के पश्चात् आ रहे हैं—और पार्थिव धर्मपत्नी सुदक्षिणा आकर उसके सामने खड़ी हुई हैं—

तदन्तरे सा विरराज धेनु
दिर्नदापामध्यगतेव सन्ध्या ।।

(वही–२/२०)

दोनों के बीच वह पाटलवर्णा धेनु दिन और रात के बीच वाली सन्ध्या की तरह विराजमान है । कालिदास के इन सब वर्णनों में उनके वर्णन की चमत्कृति और उसके साथ-साथ स्वर्गीय कामधेनु सुता ऋषि की होमधेनु की ही महिमा प्रकट हुई है । परन्तु इन सब वर्णनों से वाल्मीकि की पूर्वोक्त उपमा की तुलना करने से ही कालिदास के युग और काव्यप्रतिभा तथा वाल्मीकि के युग और काव्यप्रतिभा की भिन्नता स्पष्ट रूप से समझी जायगी ।

इन गाय और वृषभ का प्रसंग बहुत से स्थलों पर कवि को सूझा है । रामचन्द्र के शर से वाली के निहत होने पर—

हते तु वीरे प्लवगाधिपे तदा
वनेचरा स्तत्र न शर्म लेभिरे ।
वनेचराः सिंह युते महावने
यथा हि गावो निहते गवाम्पतौ ।।

(कि–२२/३१)

"वानराधिप वीर वाली के निधन पर वनेचर वानरों को किसी तरह सुख नहीं मिलता था; उस समय वनेचरों की हालत गवाम्पति के निहत होने पर सिंह युक्त महावने गायों की दशा के समान थी।(१) कवि ने जहाँ वर्षा के पश्चात् शरत् का वर्णन किया है वहाँ भी—

शरद् गुणा प्यायित रूप शोभाः
प्रहर्षिताः　पांशुसमुत्थितांगाः ।
मदोतकटाः　सम्प्रति　युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ।।

(कि—३०/३८)

"शरत् काल के प्रभाव से वृषों की रूपशोभा बढ़ गयी है, अत्यन्त आनन्दित होकर उन्होंने अपने सारे शरीर को धूलियुक्त कर दिया है और सम्प्रति मदोत्कट होकर युद्धलुब्ध वृषगण गायों के बीच जाकर नाद कर रहे हैं।"[१]

लंकापुरी में प्रवेश करके हनूमान ने आसमान में चाँद को देख पाया था—

ततः स मध्यंगत मंशुमन्तं
ज्योत्स्नावितानं मुहुरुद्वमन्तम् ।
ददर्श धीमान् भुवि भानुमन्तं
गोष्ठे वृषं मत्तमिव भ्रमन्तम् ।।

(सु—५/३)

'तदनन्तर हनूमान ने (आधी रात को) तारकाओं के बीच वाले अंशुमान् चन्द्र को देख पाया; वह (चन्द्र) घड़ी घड़ी ज्योतस्ना-वितान का वमन कर रहा था और सूर्य से प्रकाश पाकर गोष्ठ में मत्त वृष की भाँति भ्रमण कर रहा था।'

इस तरह हम देखते हैं कि समुद्र-तितीर्षु हनूमान् "समुद्रग्रशिरोग्रीवो गवांपति-रिवावभौ" (सु—१/२)। ऐसे ही वीर्यवान् गवाक्ष राक्षस 'गवां दृप्त इवर्षभः' (यु—४/-

---

१. तुलनीय—अहं पुत्रसहाया त्वामुपासे गत चेतनम् ।
　　सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेवगोवृषम् ।।

(कि—२३/२६)

तुलनीय—विवर्णवक्ता　　रुरुदुर्वरांगना
　　वनान्तरे गाव इवर्षभोज्झिताः ।

(अश्वघोष का बुद्धचरित—८/२३)

(१) तुलनीय—　वेणुस्वर व्यंजित तूर्थमिश्रः
　　प्रत्यूष कालेऽ निलसम्प्रवृत्तः ।
　　संमूर्छितो गह्वर गोवृषाणा
　　मन्योऽन्य भापूरय तीव शब्दः ।।

(कि—३०/५०)

१५)। रामचन्द्र फिर जब चौदह वर्षों के बाद अयोध्या में लौट आये तब भरत ने कहा था—

धुरमेकाकिना न्यस्तां वृषभेण वलीयसा ।
किशोरवद्गुरुं भारं न बोढ़ुमहमुतसहे ।।

(यु–१२८/३)

"जो जुआँ (धुरी) बलवान् वृषभ ही वहन करने में समर्थ है, वही मुझ पर लादा गया है, किशोर वृष के समान इस गुरु-भार को ढोने की हिम्मत मुझ में नहीं है।"

वेदों के अनेक वर्णनों में हम देखते हैं कि वैदिक ऋषिगण गाय और वृष की उपमाओं के सहारे बहुत-सी चीजों का वर्णन कर चुके हैं। धन की दृष्टि से गोवृषों का मोल उस समय वाल्मीकीय युग के मोल से ज्यादा था—यही कारण है कि वेदों में गोवृषों की उपमाएँ प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं।

विश्व प्रकृति के वर्णनों या स्तवों में बहुत से स्थलों पर गो-वृषों के प्रसंग ने ऋषियों के मन में भीड़ लगायी थी। इन्द्र के स्तव के प्रसंग में यह कहा गया है—

वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः
समुद्रमव जग्मुरापः ।।

(ऋक्–१/३२/२)

'वत्सगण जैसे धेनु के प्रति धावमान होते हैं, वैसे ही स्यन्दमान जलराशि समुद्र को प्राप्त हुई थी।' इन्द्र ही मेघ-रूपी काली गाय को दुहते थे—यह बात अनेक जगह पायी जाती है। हम फिर देखते हैं—

वाश्रेव विद्युन्मिमाति वत्सं न माता सिषक्ति ।

(ऋक्–१/३८/८)

'विद्युत् शब्दयुक्त प्रस्तुत स्तनवती धेनु की तरह गरज रही है; माता (गौ) से वत्स की सेवा करती है (उस तरह बिजली मरुद् गणों की सेवा कर रही है)।'

विपाशा (विपाश्) और शतद्रु (शुतुद्री) नदियों के वर्णन में कहा गया है—

गावेव शुभ्रे मातरा रिहाणे
विपाट् छुतुद्री पयसा जवेते ।।

(ऋक्–३/३३/१)

दो नदियाँ वत्सलेहनाभिलाषिणी दो शुभ्र गायों की तरह वेग से बह रही थी। जलवती नदी से स्तनवती गाय की तुलना वेदों के बहुत से स्थलों पर मिलती है। माता पृथ्वी बहुत जगह गाय के रूप में वर्णित की गयी है। दावाग्नि की तुलना निर्घोषकारी

वृष से की गयी है। फिर गर्जनकारी महावृष के साथ वायुप्रेरित शब्दायमान मेघों की उपमा दी गयी है। (अथर्व ४/१५/१)। वेदों में इस प्रकार की उपमा तथा वर्णना ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है; वे अजस्र पायी जाती हैं। इसलिये हम और ज्यादा उद्धरणों का सहारा नहीं लेते।

(३)

जान पड़ता है कि उपरोक्त आलोचना से वाल्मीकि और कालिदास के युग और दोनों की कवि प्रतिभा के पार्थक्य की एक झलक मिलेगी। सच है कि रघुवंश के प्रारंभ में कालिदास ने पूर्वसूरियों का उल्लेख करके कहा था—

अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः॥

(१/४)

परन्तु काव्य रचना के क्षेत्र में हम देख पाते हैं कि विषय वस्तु में कालिदास ने वाल्मीकि का अनुसरण नहीं किया। वाल्मीकीय रामायण में जहां कहीं विचित्र चरित्रों के समवाय और संघात से जीवन की भीड़-भाड़ लग गयी है, कालिदास ने वहीं संक्षेप में दो-एक श्लोकों से वर्णन कर जनपद और अरण्य की उस भीड़ को वर्जित किया है। उन्होंने केवल कई प्रधान चरित्र और विशिष्ट घटनाएँ चुनकर उन चरित्रों और घटनाओं का अवलम्बन कर अपनी कवि-कल्पना को प्रकट करने का अवसर ढूँढ़ लिया है। घटना-बहुल जीवन की भीड़-भाड़ कवि को ज्यादा देर तक एक जगह नहीं ठहरने देती, उन्हें ढकेल कर ले जाती है। परन्तु कालिदास ऐसी भीड़-भाड़ की ठेलमठेली से हटने के पात्र नहीं थे; जहाँ कितनी कवि कल्पना को डालने की इच्छा थी उस के समाप्त होने के पहले कवि को आगे बढ़ने की कोई प्रवृत्ति कहीं नहीं दिखाई दी। वाल्मीकीय रामायण की कथावस्तु कालिदास के काव्यों में अति संक्षिप्त है,—उन्होंने आस पास ही ज्यादा तड़क-भड़क जमायी है। वाल्मीकीय रामायण में रामचन्द्र का आरण्य जीवन और उस आरण्य जीवन में आरण्यक मुनि-ऋषियों एवं पार्वतीय वन्य जातियों से मिलन-संघात ही सब से अधिक स्थान ले चुका है। परन्तु कालिदास ने विदर्भ राजदुहिता इन्दुमती की स्वयंवर सभा में आये हुए राजपुत्रों के रूपगुणों के वर्णन में जितना उत्साह प्रकट किया है, इन आरण्य प्राणियों के वर्णन में उतना कहीं नहीं। रामायण की कहानी की ठोस-बुनाई में से कालिदास ने करीब-करीब दौड़ लगायी है। केवल एक ही जगह वे ठहर गये थे—लंका के रामसीता के विमान के सहारे लौटते समय समुद्र और वन के ऊपर विस्तीर्ण अन्तरीक्षलोक में अपनी कल्पना को चक्कर लगाने (घुमाने-फिराने) का एक अपूर्व मौका कवि को मिला था। इसीलिये रघुवंश के सुदीर्घ त्रयोदश सर्ग में सिर्फ रामसीता के लौट आने का वर्णन किया गया है। यद्यपि इस वर्णना का मूल वाल्मीकीय रामायण में है (देखिये— युद्धकाण्ड १२३ सर्ग) और स्थान-स्थान पर कालिदास का वर्णन

वाल्मीकि के वर्णन की याद दिलाता है,[1] फिर भी इस वर्णन का चमत्कार कालिदास की कवि-कल्पना की ही देन है।

कालिदास के काव्य को पढ़ते समय अनेक स्थलों पर अस्पष्ट रूप से हमें वाल्मीकि का स्मरण आता है। जैसे, रघुवंश के प्रथम सर्ग में दिलीप और उनके राजत्व का वर्णन पढ़ने से बालकाण्ड में वाल्मीकि-कृत दशरथ और उनकी अयोध्या के वर्णन

(१) तुलनीय—एष सेतुर्मया बद्धः सागरे लवनार्णवे ॥

(रामायण)

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं
मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम् ॥

(रघु)

पश्य सागरमक्षोभ्यं वैदेहि वरुणालयम्।
अपारमिव गर्जन्तं शंखशुक्ति समाकुलम् ॥

(रामायण)

ऊर्ध्वांकुर प्रोतमुखं कथंचित।
क्लेशादपक्रामति शंखयूथम् ॥

(रघु)

एते वयं सैकतभिन्नशुक्ति--
पर्यस्तभुक्ता पटलं पयोधेः।

(वही)

एषा सा दृश्यते पम्पा नलिनी चित्रकानना।
त्वया विहीनो यत्राहं विललाप सुदुःखितः ॥

(रामायण)

दूरावतीर्णा पिवतीव खेदा-
दमूनि पम्पा सलिलानि दृष्टिः ॥

(रघु)

अत्रावियुक्तानि रथांगनाम्ना--
मन्योन्यदत्तोत्पल केसराणि।
द्वन्द्वानि दूरान्तवर्तिना ते
मया प्रिये सस्पृहमी क्षितानि ॥

(रघु)

और भी तुलनीयः--

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्ताद्
आविर्भवत्यम्बरलेखि शृंगम्।
नवं पयो यत्र घनैर्मया च
त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम् ॥

(रघु)

की याद आती है। 'कुमार संभव' के द्वितीय सर्ग में तारकासुर के अत्याचारों से उत्पीड़ित देवताओं का ब्रह्मा के पास जाना और तारकासुर की निधन प्रार्थना वर्णित की गयी है; इस घटना से वाल्मीकीय रामायण के बाल काण्ड के पंचदश अध्याय में रावण से उत्पीड़ित देवताओं, गन्धर्वों, सिद्धों और महर्षियों का एक साथ ब्रह्मा के पास जाना और रावण की निधन-प्रार्थना का प्रायः हर एक पंक्ति में मेलजोल है।[1] कालिदास ने 'कुमार संभव' नाम भी शायद वाल्मीकि से लिया होगा।[2] वसन्त और मदन की सहायता से उमा के द्वारा शिव के तपोभंग की चेष्टा और क्रुद्ध शिव के द्वारा मदन का भस्म हो जाना—"कुमार संभव" में वर्णित इस घटना से वसन्त और मदन के सहारे इन्द्र-नियुक्त रंभा के द्वारा कठोर तपस्या-निरत विश्वामित्र मुनि के ध्यान भंग की चेष्टा और क्रुद्ध विश्वामित्र के द्वारा रंभा को शापदेना—रामायण में वर्णित यह घटना बहुत मिलती-जुलती है, यहां भी व्रीड़िता और भीता रंभा को उत्साहित करते हुए इन्द्र बोल रहे हैं—

सुरकार्य मिदं रंभे कर्तव्यं सुमहत्त्वया।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥

× × × ×

---

१. कालिदास के 'कुमार संभव' के द्वितीय सर्ग से तुलनीय—

ताः समेत्य यथान्यायं तस्मिन् सदसि देवताः।
अब्रुवन् लोक कर्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः ॥
भगवन् त्वत्-प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः।
सर्वान्नो बाधते वीर्याच्छासितुन्तं न शन्कुमः ॥
त्वया तस्मै वरो दत्तः प्रीतेन भगवंस्तदा।
मानयन्तश्च तन्नित्यं सर्वं तस्य क्षमामहे ॥
उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः।
शक्रं त्रिदशसजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुरांस्तथा।
अति क्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे बाति न मारुतः।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥
तन्महन्नो भयन्तस्माद्राक्षसात् घोर दर्शनात्।
वधार्थन्तस्य भगवन् उपायं कर्तुमर्हसि ॥

—(रामायण, बालकाण्ड, १५।५-११)

२. देखिये—एष ते राम गंगाया विस्तरोऽभिहितो मया।
कुमारसंभवश्चैव धन्यः पूण्यस्तथैव च ॥

(बालकाण्ड ३७।३१)

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे ।
अहं कन्दर्प-सहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः ।।
त्वं हि रूपं बहु गुणं कृत्वा परम भास्वरम् ।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम् ।।

(बालकाण्ड ६४।१, ६७)

"कुमार संभव" में उमा के जन्म दिवस का वर्णन शायद रामायण में रामचन्द्र के विवाह दिवस के वर्णन की याद दिला दे।[1]

कालिदास के अनेक टीकाकारों ने 'मेघदूत' काव्य की टीका रचना करते हुए विषयवस्तु और वर्णन दोनों पक्षों से वाल्मीकि से कालिदास का गहरा मेलजोल देख पाया।[2] किसी किसी का विचार है कि कवि कालिदास को 'मेघदूत'-काव्य रचना की मौलिक प्रेरणा वाल्मीकि की रामायण से ही मिली थी । रामगिरि पर्वत पर अभिशप्त विरही यक्ष का चित्र कालिदास ने लक्ष्मण-सहित निर्वासित पर्वतवासी और सीताविरही रामचन्द्र के वर्णन से ही मूलतः ग्रहण किया होगा। अलकापुरी में विरह-खिन्ना यक्ष प्रिया अशोक वन में विरह खिन्ना सीता की ही अस्पष्ट प्रतिमूर्ति है और हो सकता है कि दूतकर्म में नियुक्त आकाशगामी हनूमान ने ही कालिदास के मन में मेघदूत की योजना का उद्रेक किया था । सच है कि कालिदास के सभी काव्यरसिक इस बात के माननेवाले नहीं हैं, पर यह बात सर्वथा ग्रहण योग्य न होने पर भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि इसमें थोड़ी बहुत हकीकत है। विजन पर्वत पर बैठे हुए रामचन्द्र जब बाष्पमयी पृथ्वी की ओर देखकर शोक संतप्ता वाष्पावृतानना सीता का स्मरण कर रहे थे, मानसवासलुब्ध प्रियान्वित चक्रवाक-समूह को देखकर, पानी से भरपूर बादल की धीमी चाल देखकर और मेघों की पृष्ठ-भमि पर श्वेतपदमों की माला की भाँति (आबद्ध माला) बगलों की पंक्ति देखकर जब वे दूर स्थित प्रिया की बात याद करके कातरता प्रकट कर रहे थे, उस समय इन सब घटनाओं से कालिदास-वर्णित विरही यक्ष का गहरा सादृश्य हमें वाल्मीकि से कालिदास के ऋण की याद दिलाये

---

१. तुलनीय—प्रसन्नदिक् पांशु विविक्त बात
शंख स्वनानन्तर पुष्पवृष्टि ।
शरीरिणां स्थावरजंगमानां
सुखाय तज्जन्मदिनं वभूव ।। (कुमार संभव, १।२३)
पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुभास्वरा ।
दिव्यदुन्दुभि निर्घोषैर्गीत वादित्र निस्वनैः ।।
ननृतुश्चाप्सरः संघा गन्धर्वाश्च जगुः कलम् ।
विवाहे रघुमुख्यानां तदद्भुतमदृश्यत ।। (बालकाण्ड ७३।३७-३८)

२. इस विषय मे श्री विष्णुपद भट्टाचार्य महोदय लिखित 'काव्य कौतुक' ग्रन्थ में 'वाल्मीकि और कालिदास' (द्वितीय प्रस्ताव) निवन्ध देखिये ।

बिना नहीं रह सकता। अशोक वन में 'राक्षसी गणों से परिवृता शोकसन्ताप कर्शिता मेघ रेखा परिवृता चन्द्ररेखा की तरह निष्प्रभा' सीता का वर्णन और मेघदूत में यक्षप्रिया का वर्णन—

नूनं तस्याः प्रवलरुदितोच्छूनयनेत्रं प्रियायाः
निश्वासानामशिशिरतया भिन्न वर्णाधरोष्ठम् ।
हस्तन्यस्तं मुखम सकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्ट कान्ते विभर्ति ।।

(उत्तरमेघ, २३)

इन दोनों वर्णनों का मेलजोल अवश्य ही हमारी दृष्टि आकर्षित करता है । हम प्रसंग में रामायण का और भी एक श्लोक स्मरण किया जा सकता है—

ततो मलिन संवीतां राक्षसीभिः समावृताम् ।
उपवास कृशां दीनां निश्वसन्तीं पुनः पुनः ।।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्रलेखा मिवाभलाम् ।
मन्द प्रख्यायमानेन रूपेण रुचिर प्रभाम् ।।

(सु—१५।१८-१९)

'मेघदूत' के उत्तर मेघ में यक्षप्रिया का यह वर्णन पाया जाता है—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढ़ोत्कंठां गुरुषु दिवसेष्वेवषु गच्छत्सु वालां
जातां मन्ये शिशिरभथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ।।२२।।

इसके साथ रामायण में विरहिणी सीता के वर्णन का गहरा सादृश्य टीकाकारों को दिखाई पड़ा है—

हिमहतनलिनीव नष्टशोभा
व्यसन परम्परया निपीड्य माना ।
सहचर रहितेव चक्रवाकी
जनकसुता कृपनां दशां प्रपन्ना ।।

मेघदूत का एक प्रसिद्ध श्लोक यह है—

भित्त्वा सद्यः किशलयपुटान् देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुति सुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिबाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंग मे भिस्तवेति ।।

(उत्तरमेघ, ४६)

इसके साथ रामायण का निम्नलिखित श्लोक भली भाँति मिलाया जा सकता है—

बाहि बात यतः कान्ता ता स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश ।
त्वयि मे गात्र संस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टि समागमः ।।

इसी प्रकार भाव अथवा भाषा की दृष्टि से मेघदूत के अनेक श्लोकों से रामायण के बहुत-से श्लोकों का मेल जोल दिखाया जा सकता है ।

हम उत्तरमेघ के पहले श्लोक में ही देख पाते हैं कि कवि ने अलकापुरी के महलों की मेघों से तुलना की है; मेघ में विद्युत है, प्रासाद में विद्युत-सदृशा ललित बनिताएँ हैं; मेघ में राम धनुष है, प्रासाद में है विविध वर्णो का चित्रांकन; मेघ से सुनाई देता है स्निग्ध गंभीर घोष और प्रासाद से गंभीर मुरज ध्वनि; मेघ के अन्दर पानी है जबकि प्रासाद के अन्दर है स्वच्छ मणिमय प्रांगन; मेघ रहता है ऊँचाई पर और प्रासाद की चूड़ाएँ भी अत्यन्त उच्च हैं ।

विद्युद्वन्तं ललित वनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहत मुरजाः स्निग्धगंभीर घोषम् ।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः ।।

रामायण में देखा जाता है कि हनूमान ने लंका में प्रवेश करके जो मकान देखे थे उन मकानों के गवाक्ष थे सुवर्णजाल वेष्टित तथा वैदूर्य मणिखचित; फिर उन गवाक्षों में विहंग जाल भी थे; देखने से जान पड़ता था कि वे मकान मानो विद्युज्जड़ित विहंग सुशोभित वर्षा कालीन विस्तृत मेघमालायें थे ।

स वेश्मजालं बलवान् ददर्श
व्यसक्त वैदूर्य सुवर्ण जालम्
यथा महत प्रावृषि मेघजालं
विद्युद्विनद्धं सविहंग जालम् ।।

(सु—७।१)

कालिदास ने मूल-रचना पर बहुत-सी कारीगरी दिखाई है, पर इस में कोई संशय नहीं है कि उनका मूल है वाल्मीकि । कालिदास ने ऊपर दिये हुए "विद्युवन्तं ललित-वनिताः" इस श्लोक की उपमा हू-ब-हू वाल्मीकि की निम्नलिखित पंक्ति से ग्रहण की है—

तरिद्भि नारी प्रवेकैरिव दीप्यमानं रंभोधर मर्च्य मानम् ।

इत्यादि (सु—७।७)

और भी देखा जाता है कि कालिदास ने यहाँ नगरसौधों और मेघों को लेकर मालोपमा दी है; इस प्रकार की मालोपमा रामायण में है जो वह सौधों और पर्वतों से बनाई

गयी है। इस प्रसंग में हम सुन्दर काण्ड के सातवें अध्याय के छटे श्लोक का और आदि-काण्ड के पांचवें सर्ग के पन्द्रहवें व सोलहवें श्लोकों का उल्लेख कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में और भी देखा जाता है कि रामायण के

चित्रामष्ट पदाकारां वरनारी गणायुताम् ।
सर्वरत्न समाकीर्णां विमानगृह शोभिताम् ।।
दुन्दुभिभिमृदंगैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा
नादितं भृशभत्यर्थं . . . . .

इत्यादि श्लोकों में "विद्युद्वन्तं ललित वनिताः"—के अलावा 'सचित्राः', 'मणिमय-भुवः' एवं "संगीताय प्रहत मुरजाः" प्रभृति की भी झलक काफी मिलती है।

आगे चलकर कालिदास ने अलकापुरी का जो वर्णन दिया है, वह वाल्मीकीय रामायण में ठीक एक जगह कहीं न मिलने पर भी विभिन्न स्थलों पर फैला हुआ दीख पड़ता है। रामायण में भिन्न-भिन्न जगह लंकापुरी का जो वर्णन मिलता है, हमें लगता है कि उसी वर्णन में अलकापुरी का आभास है। मेघदूत में अलका-वर्णन में है—

यन्त्रोन्मत्तभ्रमर मुखराः पादपाः नित्यपुष्पाः
हंस श्रेणी रचित रशना नित्यपद्मा नलिन्यः ।
केकोत्कंठा भवन शिखिनो नित्यभास्वत् कलापाः
नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहत-तमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः ।।

(उत्तर मेघ—३)

वाल्मीकि के लंका-वर्णन में हम देखते हैं—

शुशुभे पुष्पिताग्रैश्च लतापरिगतैर्द्रुमैः ।
लंका बहुविधैर्दृश्यै र्यथेन्द्रस्यामरावती ।।
विचित्र कुसुमोपेतै रक्त कोमलपल्लवैः ।
शाद्वलैश्च तथा नीलैश्चित्रा भिर्वनराजिभिः ।।
गन्धाढ्यान्य भिरम्याणि पुष्पाणि च फलानि च ।
धारयन्त्यगमास्तत्र भूषणानीव मानवाः ।।
तच्चैत्ररथ संकाशं मनोज्ञं नन्दनोपमम् ।
वनं सर्वर्तुकं रम्यं शुशुभे षट्पदायुतम् ।।
दात्यूहकोषष्टि भकैर्नृत्य मानैश्च वर्हिणैः ।
रतं पर भ्रताणां च शुशुभे वननिर्झरे ।।
नित्यमत्त विहंगानि भ्रमरा चरितानि च ।
कोकिलाकुल षण्डानि विहंगा भिरुतानि च ।।

(ल—३९।५—१०)

तां नीलकंठीं विम्बोष्ठीं सुमध्यां सुप्रतिष्ठिताम् ।
सीतां पद्मपलाशाक्षीं मन्मथस्य रतिं यथा ।।

(सु–१५।२८–२९)

वही कालिदास के अलका स्थित यक्ष-प्रया के निम्नलिखित वर्णन का मूल प्रेरणास्थल है—

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्व विम्बो ध ोष्ठी ।
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।

महाकवि कालिदास के ऊपर कविगुरु वाल्मीकि के प्रभाव की आलोचना करते समय इन सब अस्पष्ट या स्पष्ट स्मरणों को अधिक मात्रा में बृहत् करके हम कालिदास के ऊपर वाल्मीकि का प्रभाव भली भाँति नहीं समझ सकेंगे। अतएव इस प्रकार की आलोचना में और अधिक प्रवेश न करके हम दोनों कवियों की काव्य प्रतिभा के मौलिक लक्षणों के बीच जो गहरा सादृश्य है उसी की आलोचना में प्रवृत्त होंगे। हमने पहले ही इसका आभास देने की चेष्टा की है कि दोनों कवियों के कवि धर्मों के बीच मौलिक पार्थक्य कहाँ है और क्या है। परन्तु इस प्रकाण्ड पार्थक्य के बावजूद दोनों कवियों के कविधर्मों में जो सादृश्य है, वह भी कम गहरा नहीं। जिस इतिहास ने दोनों कवियों के बीच काल का व्यवधान बनाकर कविधर्म का अन्तर रचा है, फिर उसी इतिहास ने सम-ऐतिहासिक और सम-संस्कृति का अवलम्बन करके दोनों कवियों के बीच एक योगसूत्र की भी रक्षा की है।

(१) सो मैं ऐसे रघुओं का अन्वय वर्णन करूंगा—जो जीवन भर शुद्ध हैं,—फलोदय न होने तक जो का करते रहते हैं—आसमुद्र पृथ्वी के जो प्रभु हैं—स्वर्गलोक तक भी जिनके रथों की गति है—जो यथाविधि अग्नि को आहुति प्रदान करते थे—अर्थियों को यथाकाम अर्चित करते थे—अपराधियों को यथा विधि दंड देते थे—यथासमय अपने कर्तव्य पर सचेत होते थे—त्याग के लिये ही जो धन को इकट्ठा करते थें, सत्यानुराग के लिये मितभाषी थे, यश के लिये विजय यात्रा करते थे—जो केवल सन्तान के लिये दार कर्म करते थे—जो बचपन में विद्याभ्यास करते थें, यौवन में विषय भोग करते थे—बुढ़ापे में मुनिवृत्ति का अवलम्बन करते थे—और अंतिम समय में योग के सहारे तनत्याग करते थे।

(१) हाँ, कालिदास के किये गये राजा दिलीप के इस वर्णन को हम रामायण के राम वर्णन से अवश्य मिला सकते हैं—

स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्द वर्धनः ।
समुद्र इव गांभीर्ये धैर्येन हिरवानिव ।।
विष्णुणा सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्नि-सदृशो क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ।।

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापर: ।
तमेवं गुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ।। इत्यादि
(आदि १।१७।१९)

(१) तुलनीय—

यूथभ्रष्टमिवैकां मां हरिणीं पृथुलोचना ।
—महाभारत, नलोपाख्यान, वनपर्व, ५२।२४
(पी० पी० एस्० शास्त्री का संस्करण)

प्रो० गोपीनाथ तिवारी

हिंदी का प्रथम एकांकीकार—काशीनाथ खत्री

हिन्दी एकांकी का आरंभ कब से माना जाय, इस पर पर्याप्त मतभेद है। डा० सत्येन्द्र,[1] डा० दशरथ ओझा[2] एवं प्रो० रामचरण महेन्द्र[3] हिन्दी एकांकी का आरंभ भारतेन्दु काल से स्वीकार करते हैं एवं प्रथम एकांकीकार, भारतेन्दु जी को बताते हैं। कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। इनका मत है कि हिन्दी में एकांकी का जन्म पश्चिमी एकांकी के अनुकरण पर हुआ और हिन्दी एकांकी पश्चिम की देन है।[४] अंग्रेजी का सबसे पहिला एकांकी "बन्दर का पंजा" १६०३ में प्रस्तुत हुआ। जब अंग्रेजी में एकांकी १६०३ में अवतरित हुआ तो हिन्दी में १६०३ से पूर्व एकांकी कहां से आ टपका। हिन्दी में एकांकी का प्रारंभ प्रसाद जी से १६२६–३० में हुआ।[५] कुछ विद्वानों का मत है कि हिन्दी में एकांकी और बाद में आया। वे एकांकी का आरंभ डा० रामकुमार वर्मा अथवा भुवनेश्वर प्रसाद से मानते हैं।[६]

भारतेन्दु काल में एकांकी की स्थापना करने वाले आलोचकों के कारण ही भारतेन्दु कालीन एकांकीकारों को अपने वास्तविक प्रासाद से वहिष्कृत होना पड़ा है। भारतेन्दु काल में एकांकियों का जन्म तो डा० सत्येन्द्र, प्रो० रामचरण महेन्द्र एव डा० दशरथ ओझा ने माना किन्तु एकांकियों के संबंध में ये विद्वान निश्चित धारणा न बना सके। १५ दृश्यों वाले भारी-भरकम नाटक अमर सिंह राठौर को भी एकांकी बताया तो केवल एक दृश्य वाले ग्राम पाठशाला को भी एकांकी नाम दिया।[७] शृंखला से नितांत

१. हिन्दी एकांकी, पृ० १० ।

२. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ४८४ ।

३. हिन्दी एकांकी और एकांकी कार, पृ० ५० ।

४. डा० हरदेव बाहरी; प्रो० अमरनाथ गुप्त; श्री चन्द्र किशोर जैन, श्री जैनेन्द्र कुमार, श्री राजेन्द्र सिंह गौड़, श्री शिवनाथ, डा० एम० पी० खत्री ।

५. श्री शिवनाथ, अमर नाथ गुप्त, बच्चन सिंह ।

६. जितेन्द्र पाठक का लेख "एकांकी नाटक" (आज, ७ मार्च १६५५ के पृष्ठ ११ पर)

७. प्रो० महेन्द्र कृत एकांकी और एकांकीकार, पृ० ४६ एवं ४७ ।

रहित एवं वर्णन विस्तार से सम्पन्न भानमती के कुनवे को समेटने वाले नाटक "कलि-कौतुक रूपक" को भी एकांकी के सिंहासन पर अभिषिक्त किया तो राधाकृष्ण दास जी कृत धर्मालाप को भी एकांकी घोषित किया गया जो केवल एक बाद-विवाद या शास्त्रार्थ है।[१] भारतेन्दु जी ने संस्कृत रूपक और उपरूपक के भेदों के उदाहरण स्वरूप जो नाटक—विषस्यविषमौषधम् और वैदिकी हिंसा लिखे उनको भी एकांकी के अन्तर्गत समेटा गया[२] डा० ओझा ने प्रेमघन जी के भारत सौभाग्य नाटक को भी एकांकी नाम दिया जो वृहद्काय नाटक है और जिसमें ९६ पात्र रँगमंच पर आकर अभिनय करते हैं।[3] इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि एकांकी के विषय में निश्चित धारणा का अभाव है। फलतः आलोचकों को यह कहने का अवसर प्राप्त हुआ कि भारतेन्दु काल में एकांकी का जन्म नहीं हुआ।

भारतेन्दु काल में छोटे नाटक लिखने की प्रणाली अधिकता से प्रचलित थी और पचासों छोटे नाटक (जिन्हें लघु रूपक कह सकते हैं) लिखे गए।[४] किन्तु इन सबको एकांकी नाम नहीं दिया जा सकता। इनमें से एकांकी बहुत थोड़े हैं, हां लघुरूपक सब कहे जा सकते हैं। एकांकी के लक्षण क्या हैं? एकांकी के लक्षण आलोचकों एव विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से गिनाए हैं। "परसीवल वाइल्ड" एकांकी में एक्य (Unity) एवं संक्षेप देखना चाहते हैं[५] तो "टाल्बोट" संघर्ष एवं विनोद ढूंढ़ते हैं।[६] विद्वानों के सभी एकांकी-लक्षणों को एकत्र किया जाय तो अत्यन्त विस्तृत सूची प्रस्तुत हो जाएगी।

कुछ मुख्य लक्षण ये हैं जिनके आधार पर साधारणतया एकांकियों की परीक्षा की जाती है—

(१) स्थल, समय और कार्य-ऐक्य (unities) के विषय में कुछ मत भेद है। कुछ विद्वान् तीनों ऐक्यों को एकांकी में देखना चाहते हैं तो कुछ, एक या दो का अस्तित्व एकांकी में अनिवार्य्य ठहराते हैं। सामान्य मत यह है कि एकांकियों में कार्य-ऐक्य की स्थापना अनिवार्यतः होनी ही चाहिए। यदि स्थल और समय ऐक्य में से एक या दोनों प्राप्त हो जाय तो और भी अच्छा हो।

---

१. डा० सत्येन्द्र कृत हिन्दी एकांकी, पृ० २० एवं २१।

२. वही पृ० १५।

३. डा० दशरथ ओझा कृत हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ० ४८८–४८९।

४. कुछ लघु रूपकों के नाम—अमरसिंह राठौर, पुलिस नाटक, नंद विदा, नागरी विलाप, उषारहण, जयनार सिंह की, पद्मावती, एक-एक के तीन-तीन, ठगी की चपेट, विवाहिता विलाप, विद्या विनोद, भारत सौभाग्य (व्यास कृत), बाल खेल या ध्रुव चरित्र, तप्तासंवरण, दुःखिनी बाला रूपक, सर्राफी, हरितालिका इत्यादि।

५. एकांकी कला (ले० राम यतना सिंह भ्रमर) पृ० ९५ एवं
हिन्दी एकांकी और एकांकी कार (ले० प्रो० राम चरण महेन्द्र) पृ० २५।

६. पं० सीताराम चतुर्वेदी कृत समीक्षा शास्त्र।

(२) कथा का एक ही लक्ष्य हो जिसकी ओर वह अबाध गति से; अग्रसर होती रहे।

(३) कथा एक ही हो। अनावश्यक प्रसंगों को स्थान न दिया जाय। संक्षेप की ओर नाटक कार का ध्यान सदा रहे।

(४) संघर्ष प्रधान एकांकी उत्तम माना जाएगा।

(५) कथा आरंभ तुरन्त हो जाय। और विकास के बाद चरमसीमा पर उसकी समाप्ति हो जाय।

(६) पात्र अधिक न हों। तीन चार पात्र पर्याप्त हैं। इन पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला जाय।

उल्लिखित कसौटी पर यदि भारतेन्दु कालीन लघु रूपकों को परखा जाय तो एकांकियों की संख्या अंगुलि पर गिनने योग्य ही प्राप्त होती है। प्राय: सभी एकांकी कहे जाने वाले छोटे नाटक, लघुरूपकों की श्रेणी में ही आ बैठते हैं। किन्तु ऐसी बात नहीं है कि एकांकी प्राप्त ही न होते हों। श्री काशीनाथ खत्री का एकांकी "गुन्नौर की रानी" (१८८४ ई०) पश्चिमी शैली का शुद्ध एकांकी प्राप्त होता है। इसमें छोटे-छोटे दो दृश्य हैं जिन्हें अंकों की संज्ञा दी गई है। एक ही कथा है और एक ही लक्ष्य। लक्ष्य क्या है? खान गुन्नौर की रानी को प्राप्त करना चाहता है। अनावश्यक प्रसंग एक भी नहीं। कथा आरंभ से अन्त तक अपने एक ही लक्ष्य की ओर दौड़ती है। कथा तुरन्त आरंभ हो जाती है जिसका अन्त चरम विकास पर हो जाता है।—

आरंभ—प्रथम अंक या दृश्य में अमीर गुन्नौर की रानी पर संदेशा भेजता है कि मेरी बन जाओ।

विकास—रानी वि: बुझी पोशाक भेजती है और विनय पूर्वक निवेदन करती है कि इस पोशाक को पहिन कर रनिवास में पधारिए। अमीर पोशाक पहिन पहुँचता है।

अन्त—अमीर विष के प्रभाव से छटपटाता है। रानी उद्देश्य सफल देख नदी में कूद पड़ती है। अमीर की मृत्यु होती है।

रूपक आरंभ से अन्त तक संघर्ष सम्पन्न है और दु:खान्त है। अन्त में नायिका की मृत्यु हो जाती है। कार्य ऐक्य तो स्पष्ट ही है, स्थल एवं समय ऐक्य भी माने जा सकते हैं। स्थल ऐक्य—पहिला दृश्य गढ़ के बाहर का है और दूसरा गढ़ के अन्दर का। समय एक्य—दोनों दृश्यों में दो दिन का समय लगा है। नाटककार ने अमीर और रानी के चरित्रों पर विशेष प्रकाश प्रक्षिप्त किया है। कहानी में संक्षेप की प्रवृत्ति आरंभ से अन्त तक है। सबसे बड़ी बात है कि इसके रंग संकेत आधुनिक शैली के हैं, ये विस्तृत एवं वर्णनात्मक हैं। उदाहरण—

(भूपाल के समीप गुन्नौर के बाहर मैदान में विजयी खां की सेना के डेरे पड़े हैं अपने डेरे के अन्दर संध्या के समय पलंग पर लेटा हुआ, मुसलमान प्रधान पेचवान

लगाये हुक्का पी रहे हैं इतने में दरबारी मसखरा खुश मिज़ाजखां बड़े अदब से सलाम करके सामने बैठता है)

(नौकरों में हाहाकार मचता है और सिपाही तलवारों से डराकर सब को खामोश करके मुशकें बांधते हैं। पालकी लशकर में पहुँचती है और इस दशा की खबर फैलने पर लशकर भर में हाहाकार मचता है और सरदार दो आदमियों से उठाकर डेरे के अन्दर बेहोश लाये जाते हैं)

यह है हिन्दी का प्रथम एकांकी और हिन्दी के प्रथम एकांकी कार हैं श्री काशी नाथ खत्री।

खत्री जी का ऐसा ही दूसरा एकांकी है "सिन्धु देश की राजकुमारियाँ।" इसमें भी एक ही मुख्य कथा है जो एक ही लक्ष्य की ओर गतिमान है। इसमें तीन गर्भांक या दो अंक हैं। कथा का लक्ष्य है—सिंध देश की दो सुन्दर राज कुमारियों की प्राप्ति।

आरंभ—आरंभ तुरन्त हो जाता है। मुहम्मद विन कासिम ने सिंध देश जीत लिया। वह सिंध देश की दोनों सुन्दर राज कुमारियों पर आसक्त हो जाता है। किन्तु खलीफ़ा के भय से स्वयं उन्हें नहीं पचापाता।

विकास—दोनों राजकुमारियां बगदाद भेज दी जाती हैं। खलीफ़ा भी उनके अपूर्व रूप को देख चमत्कृत होकर उन्हें बग़लगीर बनाना चाहता है। राजकुमारियां खलीफ़ा से झूठ ही कह देती हैं कि कासिम ने पहिले ही हमारी प्रतिष्ठा ले ली है और अब हम जूठी पत्तल हैं। खलीफ़ा कासिम की खाल खींचने का हुक्म देता है।

अन्त—कासिम की खाल लाई जाती है। उसे देखकर बड़ी राजकुमारी देवल देवी निर्भयता से कहती है कि हमने झूठ बोला था। वह खलीफ़ा को फटकारती है, दुत्कारती है और पेट भर कर भला बुरा कहती है एवं बहिन के साथ सहर्ष फांसी घर जाती है।

इस रूपक म कार्य ऐक्य तो है किन्तु स्थल एवं समय ऐक्य नहीं है। नाटक संघर्ष सम्पन्न और दु:खान्त है। चार-पांच पात्र हैं। प्रधान पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है। रंग संकेत भी आधुनिक शैली के हैं—

(मुहम्मद बिन कासिम जो खलीफ़ा उमर की उस फ़ौज का सेना पति है जो हिन्दुस्तान को फते के लिए भेजी गई थी सिंध देश के राजा को पराजय करके सिंध नदी के किनारे लश्कर उतारे हुए हैं, व्यतीत रात को फ़तह के जशन हुए थे और लश्कर में तरह तरह की खुशियाँ मनाई गई थीं प्रातः काल सेना पति खेमे में से निकलकर दरिया के किनारे दो चार सारदारों को साथ लिये हुए ठण्डी हवा खा रहा है।)

नाटक में कासिम के हृदय की द्वन्द्वात्मक झांकी बड़ी कुशलता से चित्रित की गई है। वह स्वर्गीय सौन्दर्य से भरी दोनों राजकुमारियों को देख आसक्त हो गया। इच्छा होती है कि अपनी बनालूं। पर हृदय में दूसरी ओर से खलीफा का भय उठता है। दोनों एकांकियों में "गुन्नौर की रानी" दूसरे से अधिक उत्तम उतरता है, वैसे हैं दोनों पश्चिमी शैली के

शुद्ध एकांकी। सिंधु देश की राजकुमारियाँ रूपक में वह संक्षेप की प्रवृत्ति नहीं है जो गुन्नौर की रानी में है। ऐक्य (unities) प्रयोग की दृष्टि से भी गुन्नौर की रानी रूपक अधिक ऊँचा उठता है।

काशी नाथ खत्री के दो एकांकी और है। वे हैं ग्राम पाठशाला और निकृष्ट नौकरी जो १८८३ ई० में लिखे गये थे। ये दोनों एकांकी पहिले दोनों से भिन्न हैं। इनमें सूत्रधार वाली प्रस्तावना है। कार्य ऐक्य तो है किन्तु कथा में संक्षेप प्रवृत्ति कम है। दोनों में संघर्ष है। दोनों में नायक अपनी परिस्थितियों से संघर्ष करते हैं। रंग संकेत विस्तृत और आधुनिक शैली के हैं। दोनों में जीवन की एक एक झांकी रक्खी गई है और दोनों घोर यथार्थ वादी रूपक हैं।

एक प्रश्न स्वाभावत: उठता है—जब पश्चिम में १९०३ ई० में एकांकी आया तो हिन्दी में १८८४ ई० में कैसे आ टपका? प्रश्न बड़ा स्वाभाविक है। वास्तव में हिन्दी एकांकी का जन्म पश्चिमी एकांकियों को देखकर नहीं हुआ वरन् जिस प्रकार परिस्थिति वश इंगलैंड में एकांकी पैदा हो गया, उसी प्रकार सहसा परिस्थिति वश हिन्दी में एकांकी का जन्म अपने आप हो गया। जिस प्रकार कई वैज्ञानिक अनुसंधान अपने आप हो गए, उसी प्रकार हिन्दी एकांकी बना। बात यह थी कि भारतेन्दु कालीन नाटककार पश्चिमी शैली पर लघु रूपक लिख रहे थे और इस प्रयास में हिन्दी एकांकी लिखे गए। नाटककार पश्चिमी शैली का लघु रूपक लिखने बैठा। उसने सोचा—यह संघर्ष मय हो और दु:खान्त हो। लघु रखने की इच्छा से संक्षेप प्रवृत्ति आ गई। उसने विचारा कि पश्चिमी नाटकों के समान प्रस्तावना नहीं रहनी चाहिए। फलत: नाटक का आरंभ तुरन्त हो गया। और कथा में तीव्र गति आ गई। विस्तृत रंग संकेत लिखने की नाटक प्रणाली उस काल में प्रचलित ही थी। भारतेन्दु जी का गीति रूपक 'नीलदेवी' सामने था। खत्री जी ने इसी शैली पर केवल गद्यात्मक लघु रूपक लिखा और वह एकांकी बन गया। फलत: हिन्दी का प्रथम एकांकी १९०३ ई० से बहुत पूर्व अपने आप जन्म पागया।

राजेश्वर प्रसाद सक्सैना

'शैक्सपीरियाना' और भारतीय रंगमंच

अन्तर्राष्ट्रीय नाटक संस्था "शैक्सपीरियाना लिटिल थिएटर" ने कुछ वर्ष पहिले भारतवर्ष का भ्रमण किया और 'शैक्सपीयर', 'शौ', 'गोल्डस्मिथ' 'शैरिडॉन' आदि के नाटकों व साहित्य का रूपान्तर कर, देश के विभिन्न शहरों में प्रदर्शन किया।

'शैक्सपीरियाना' की मंच सज्जा व व्यवस्था

इनकी मंच व्यवस्था अन्य मंचों से भिन्न थी। इसको 'प्रतीकात्मक' ही कहा जा सकता है। वैसे तो 'प्रतीकात्मक' प्रदर्शनों का, विशेषकर शैक्सपीएर के नाटक प्रदर्शनों में; ऐसा काल भी आया जब कि कहा जाता है कि मंच (थिएटर या डान्सिङ्ग हाल के उठे हुए चबूतरे) पर किसी भी परववाई, सामग्री (Setting) आदि का इस्तेमाल नहीं किया जाता था। महल, दरबार आदि के दृश्य दिखाने के लिए केवल सूचक (Suggestions) व इंगित प्रयोग में लाए जाते थे। यह भी व्यक्तियों द्वारा ही होते थे। उधारणार्थ एक व्यक्ति मंच पर आ कर जोर से कहता था 'Suppose I am a pillar' अर्थात विचर कर लीजिए कि मैं एक स्तंभ हूँ। या कुछ लोग आ कर एक विशेष मुद्रा बना कर कहते थे 'Suppose we make the Door'—'आप लोग सोच लीजिए कि हम एक दर्वाजे का निर्माण करते हैं।' यह सब इस समय होता रहा होगा जब कि मंच व्यवस्था के लिए सुविधाऐं बहुत ही कम थीं। ऐसे प्रदर्शनों में दर्शकों को केवल इन सूचक, प्रतीकों, चिन्हों या संकेतों से ही दृश्य की कल्पना करनी होती थी। और पूरे नाटक इसी तरह हुआ करते थे। बाद में पर्दे आदि आए।

'शैक्सपीरियाना' की मंच व्यवस्था भी सूचक (Suggestive) प्रतीकात्मक व चिन्हात्मक थी। 'मैकबेथ' आदि नाटकों का प्रदर्शन केवल प्रतीकों, चिन्हों आदि के प्रयोगों से हुआ था। काले पर्दों, नीली, लाल व हल्की रोशनी से पूरे वातावरण का प्रभाव

टिप्पणी—यह 'शैक्सपीरियाना लिटिल थिएटर के लखनऊ विश्वविद्यालय में 'मैकबेथ' के प्रदर्शन के आधार पर है। लेखक यूनीवर्सिटी आर्टिस्ट एसोसिएशन का अध्यक्ष था व नाटकों से सम्बन्धित होने के नाते इस मंच-व्यवस्था का अध्ययन किया गया। इसके लिए वह "शैक्सपीरियाना" का आभारी है।

(Effect) दिया गया था और कुछ चिन्हों, जैसे विभिन्न प्रकार के झण्डे, कपड़े, अभिवादन का तरीक़ा, व पात्र के कपड़ों पर विशेष चिन्ह से, विभिन्न दलों को दर्शाया गया था। पूरी मंच व रूप-सज्जा अर्थात दृश्यों के पर्दों आदि को प्रयोग में नहीं लाया गया था।

'शैक्सपीरियाना' मंच का वर्णन

आगे की ओर मंच खुला होता है। एक कपड़ा सब से पीछे होता है जो पूरे मंच की लम्बाई तक फैला होता है। उसके आगे भी एक कपड़ा मंच की पूरी लम्बाई तक फैला होता है जिसमें थोड़े-थोड़े फासले पर दर्वाजे कटे हुए होते हैं। कपड़ों का रंग काला होता है।

बीच के दर्वाज़े पर अन्दर से एक पर्दा पड़ा होता है। अन्य दर्वाजों पर भी पर्दे डाले जा सकते हैं। बीच वाले दर्वाज़े के पास कुछ सीढ़ियां होती हैं जो तख्त का भी काम देतीं हैं। यही राजा की कुर्सी का भी काम्म करतीं हैं।

कटे हुए दर्वाज़ों में विभिन्न चिह्नों के पर्दे डाले जाते हैं। वह भी विभिन्न दलों के सूचक होते हैं। इसके अतिरिक्त भी, जैसे कि पहले बताया जा चुका है, झन्डों आदि से ही विरोधी दलों के पात्रों को व्यक्त किया जा सकता है।

पखवाइयों व पात्रों के प्रवेश व प्रस्थान के लिए कोई विशेष पखवाई आदि का प्रयोग नहीं किया जाता। दर्शकों से मंच को अलग करने के लिए दोनों ओर तो कपड़े

Plan (योजना)

Front View (सामने का दृश्य)

End View (अन्त का दृश्य)

होते हैं। आगे वाला कपड़ा भी सज्जा कक्ष या इधर-उधर से मंच प्रवेश के लिए रास्ते का निर्माण करता है। सबसे पीछे वाले पर्दे से भी एक गलिहारा-सा बन जाता है जिससे मंच के एक भाग से दूसरे भाग तक या दर्वाजों द्वारा मंच के आगे वाले भाग पर पात्र आ व जा सकता है।

प्रकाश-व्यवस्था

सब से आगे एक बहुत छोटी-सी धरा-प्रकाश (Foot light) होती है जो कभी-कभी प्रयोग में आती है। छत-प्रकाश (Roof light) के लिए केवल एक तेज बल्ब होता है। मंच के दोनों ओर एक-एक केन्द्रीय प्रकाश (Flood light) (चित्र में Side light देखिए), एक सामने विन्दु-प्रकाश (Focus light) व पर्दे के सब से पीछे छाया आदि बनाने के लिए तेज-प्रकाश (Reflectors) होते हैं।

दृश्यों के साथ-साथ ही इन प्रकाशों का प्रयोग होता है। जैसे 'चुड़ैल' के दृश्यों में हल्के धरा-प्रकाश, 'सोलीलोकी' स्वतःकथन के समय छत-प्रकाश, छाया देने के लिए तेज़ प्रकाश तथा किसी गुप्त कार्य आदि करते हुए पात्र पर विन्दु-प्रकाश का प्रयोग होता है।

इसके अतिरिक्त पिछले पर्दे व आगे वाले पर्दे के बीच में भी हल्के नीले प्रकाश की व्यवस्था है जिससे मंच में गहराई का आभास होता है। एक दर्वाजे के पास लाल प्रकाश की व्यवस्था है जो कि तनाव व भयानक (Tense and dreadful) दृश्यों, जैसे महल के अन्दर होने वाले खून व अन्दर से आने वाली चीखों के समय, में प्रयोग में लाई जाती है। अन्धकार तो यहां तक कर दिया जाता है कि जंगल के दृश्यों में केवल आग की ही रोशनी मंच पर होती है।

इसकी वैसे विशेषता यह है कि अधिकतर भवन व मंच दोनों पर ही अन्धकार रहता है। बहुत ही मन्द प्रकाश से दृश्यों का प्रदर्शन होता है। इससे दर्शकों म जिज्ञासा रहती है और संभवतः इसी कारण शान्ति भी।

यवनिका न होने के कारण भी मध्यान्तर का सूचक भी प्रकाश ही है। एक पात्र बीच में आकर दर्शकों को मध्यान्तर की सूचना देता है। यह एक नया ही प्रयोग है। इस मध्यान्तर की घोषणा के साथ-साथ भवन व मंच को पूरा प्रकाशित कर दिया जाता है।

नाटक प्रदर्शन में संगीत का सहारा

प्रकाश के अतिरिक्त वाद्य संगीत से भी दृश्यों के बनाने में योग लिया जाता है। तनाव के समय डंके की धीरे-धीरे धप-धप की आवाज़। लड़ाई आदि के समय ट्रम्पेट व डंके की तेज़ आवाज़ व चुड़ैलों व जंगलों आदि के दृश्य में 'वेयरड' संगीत का सहारा लिया जाता है। इसको सांकेतिक संगीत कहा जा सकता है।

अन्य भारतीय मंचों से तुलना

'बँगला' या 'पारसी' मंच में पखवाईयों, रंगीन पर्दों व अधिक प्रकाश को प्रयोग में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त दृश्यों को दिखाने के लिए बड़ा बवंडर करना पड़ता

है। कई एक पर्दे होते हैं। हर-एक में अलग-अलग दृश्यों को सजाने के लिए अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसमें सामने का भी पर्दा होता है। इस सब में अधिक पैसा समय, सामान आदि खर्च होता है। पर 'शैक्सपीरियाना' शैली में ऐसा कुछ नहीं होता। दृश्य भी बग़ैर किसी दिक्कत के परिवर्तित हो जाते हैं। मंच बाँधने में तख़्त, बल्ली, रस्सी, पर्दों परवाईयों के बजाए सिर्फ दो पर्दों से काम चल जाता है, जो कहीं भी ले जाये जा सकते हैं और इस पर किसी भी प्रकार का नाटक अभिनीत किया जा सकता है। वैसे जितने भी भारतीय रंगमंच पर नए प्रयोग जैसे कि अनाच्छादित मंच (open air theatre) आकाश-रेखा संयुक्त पीठ मंच (Skyline composite settings stage), घूमने वाला मंच (Revolving stage) व क्षितिज-रूपी (Focal length) मंच; में भी प्रकाश व संगीत द्वारा ही दृश्यों का प्रभाव दिया जाता है। इनमें अधिकतर सामने का पर्दा नहीं होता।

भारत में हिन्दी तथा अन्य भाषा के नाटकों के प्रदर्शन में इसकी उपयोगिता:—

ऊपर के अन्य सभी प्रयोग ऐसे हैं जिनमें पैसा अधिक व्यय होता है। हर नाटक के लिए 'स्काईलाइन' मंच व्यवस्था में नए 'सैट्स' बनाने होते हैं। घूमने वाले मंच की भी उपयोगिता यही है कि बगैर पर्दे व बगैर अधिक समय लिए दृश्य बदले जा सकते हैं। पर यह हर जगह नहीं बनाया जा सकता क्योंकि इसमें व्यय अधिक होता है। अनाच्छादित मँच जरूर ऐसा है जिसमें एक बार मंच बनाने के बाद नाटक प्रदर्शित किए जा सकते हैं। पर इसके साथ भी यह कमी है कि हर प्रकार के नाटकों को अभिनीत नहीं किया जा सकता। उदाहरणार्थ 'प्रसाद' के नाटकों को उन पर नहीं खेला जा सकता। ड्राईङ्ग रूम सैटिंग के एकाङ्की भी इस पर अच्छे नहीं लगते।

आज जब हम नाटकों द्वारा 'सामाजिक सन्देश' गांव-गांव, गली-गली में फैलाना चाहते हैं, हमें ऐसी 'विशिष्ट मंच कला' (Stage Technique), की आवश्यकता है जो सुविधा से प्रयोग में लाई जा सके (Handy) कम खर्च, कम समय लगाए, व कम झंझट किए देश के एक कोने से दूसरे कोने तक ले जाया जा सके और जिसके द्वारा हर प्रकार के नाटकों का प्रदर्शन हो सके। इसमें शैक्सपीरियाना अधिक उपयुक्त है।

ऐसे नाटक जिनमें, अधिक दृश्य, अधिक पात्र व अन्य चीजें होती हैं और जिनका हम सुविधा-पूर्वक अन्य किसी मंच पर प्रदर्शन नहीं कर सकते, हम इस पर सुगमता से प्रदर्शित कर सकते हैं। हिन्दी के, विशेष कर जयशंकर प्रसाद के नाटकों का प्रदर्शन कठिन माना गया है। उनको भी इस प्रकार की मंच-व्यवस्था पर बड़ी सुगमता से खेला जा सकता है, मेरा ऐसा विश्वास है। इसलिए इसको भारतीय नाटकों के प्रदर्शनों के लिए अपनाना अभीष्ट है।

नोट :—कुछ सूक्ष्म तत्त्वों को (Minor details) छोड़ दिया गया है, जिनकी उपयोगिता भारतीय रंगमंच के लिए अनिवार्य नहीं समझी गई।

जगमोहनलाल चतुर्वेदी

कबीर और ज्ञानदेव

यद्यपि कबीर का काल ज्ञानदेव से लगभग सौ वर्ष बाद आता है तथापि इन दोनों के तत्त्व ज्ञान में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है। डॉ० रा. द. रानडे के मतानुसार कबीर का हिन्दी सन्तों में वही स्थान है जो मराठी सन्तों में ज्ञानदेव और तुकाराम का है। इतना ही नहीं वरन् कबीर और ज्ञानदेव के विचारों में पूर्ण साम्य स्थापित किया जा सकता है। इन दोनों में साम्य क्यों पाया जाता है? इसका प्रधान कारण यह मालूम होता है कि दोनों ही नाथ पन्थ से अनुग्रहीत हुए हैं। ज्ञानदेव, और अग्रज निवृत्ति नाथ के शिष्य थे जिनको श्री गहिनी नाथ ने अपने उपदेश से कृतार्थ किया था। यद्यपि कबीर के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें नाथ पन्थ के तत्त्व ज्ञान का ज्ञान किस गुरु से प्राप्त हुआ तथापि कबीर नाथ पन्थ से प्रभावित थे, इस में कुछ भी सन्देह नहीं।

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में नाथपन्थियों के सिद्धान्त बताए हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जाता है। नाथ पंथ में गुरु की बड़ी महिमा गाई गई है। नाथपंथी द्वैताद्वैत विलक्षण तत्त्व को मानते हैं। उनका मत है जो पिंड में है वही ब्रह्मांड में है।

ज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी के छठवें अध्याय में "पिंड द्वारा पिंड का ग्रास" का वर्णन इस प्रकार किया है :—

योगी के शरीर के तीन महाभूत पृथ्वी, आप व तेज लोप हो जाते हैं। पृथ्वी का अंश आप में, आप का अंश तेज में समा जाता है और तेज का अंश हृदय के पवन में प्रवेश हो जाता हैं, फिर अन्त में अकेला पवन शेष रहता है। इस समय इस शक्ति का 'कुंडलिनी' नाम का नाश हो जाता है और उसे 'मारुती' यह नया नाम प्राप्त होता है, तथापि जब तक वह ब्रह्म-स्वरूप में मिलती नहीं, तब तक उसमें शक्तिपन बना रहता है। यह शक्ति जालंधर बंध छोड़कर काकीमुखी जो सुषुन्मा नाड़ी है उसका मुंह फोड़कर ब्रह्म रंध्र में प्रवेश करती है। इसके पश्चात् ओंकार की पीठ पर पैर रख कर पश्यन्ती वाणी की सीढ़ी लाँघ जाती हैं। इसके उपरान्त जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है उसी

प्रकार कुंडलिनी अर्ध मात्रा पर्यन्त (ऊँकार के मकार तक) ब्रह्मरंध्र में घुसती है, तदु-परान्त वह ब्रह्मरंध्र में स्थिर होती है और अपने सोऽहं भावना की भुजा फैलाकर बड़े आवेश से परब्रह्म को आलिंगन करती है। पंच महाभूतों का अवरण हट जाता है और शक्ति व परब्रह्म की भेंट होती है और आकाश के साथ परब्रह्म से एकरस होकर लय हो जाती है।

[ज्ञानेश्वरी अ० ६/२९८-३०६]

कबीर ने पिंड के ग्रास के सम्बन्ध में अपने सीधे-साधे शब्दों में अपने भाव इस प्रकार प्रकट किए हैं :—

परब्रह्म के प्राप्त करने के लिए पंच तत्त्वों को लय करने की आवश्यकता है। कबीर कहते हैं, "मैं पृथ्वी के गुण को जल में लय करूँगा, और पानी को तेज में मिलाऊँगा। तेज को पवन में, और पवन को शब्द में लय करके मैं सहज समाधि लगाऊँगा। जैसे सोने के आभूषणों को गलाने से एकमात्र सोना ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार मैं ब्रह्म से मिलने के लिए शून्य में लय हो जाऊँगा अथवा जिस प्रकार नदी की तरंगे जल में विलीन हो जाती हैं उसी प्रकार मैं ब्रह्ममय हो जाऊँगा। तात्पर्य यह कि मैं अपनी आत्मा को परमात्मा में लय कर दूँगा।"

[क. ग्र. पृ. १३७/१५० पद-]

इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि अनपढ़ कबीर भी योग के गहन तत्त्वों से उसी प्रकार परिचित थे जिस प्रकार महान् योगी व पंडित श्री ज्ञानेश्वर। यदि ज्ञानदेव कुंडलिनी के ब्रह्मरंध्र में प्रवेश होने के लिए नदी के समुद्र में प्रवेश होने की उपमा देते हैं, तो कबीर इसी भाव को नदी की तरंगों का जल में विलीन होने से व्यक्त करते हैं।

ज्ञानदेव पूर्ण अद्वैती थे। वे स्वतः जिस नाथ पंथ से अनुगृहीत थे, वह नाथ पंथ पूर्ण अद्वैत का पुरस्कर्ता है। योगवाशिष्ठ व शंकराचार्य के ग्रंथों का अभ्यास भी ज्ञानदेव को अद्वैतवादी बनाने का अंशतः कारण हुआ तथापि इसमें संदेह नहीं कि गुरु परम्परा से प्राप्त अद्वयानन्द की अनुभूति ही उनके अद्वैत मत का प्रधान कारण है।

शिव से तृण-पर्यन्त अथवा ब्रह्मदेव से चींटी तक एक ही आत्मा अनुप्राणित है। ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और चांगदेव पासष्ठि में इसी तत्त्व का विवेचन किया गया है।

हे अर्जुन! एक ही देह में भिन्न-भिन्न आकार के अवयव होते हैं, उसी प्रकार इस नानारूपात्मक विश्व में एक ही आत्मा भरा हुआ है। अथवा जिस प्रकार तरंगें सागर की सन्तति हैं, उसी प्रकार का मेरा व चराचर का सम्बन्ध है अथवा जिस प्रकार अग्नि व ज्वाला दोनों केवल एक अग्नि ही हैं उसी प्रकार मैं ही सब जग हूँ और यह सब सम्बन्ध मिथ्या है।

[ज्ञा० १४।११८, १२१-१२२]

इन्हीं भावों का वर्णन ज्ञानदेव ने अमृतानुभव में इस प्रकार किया है । कमल के खिलने पर हज़ारों पंखड़ियाँ दिखाई देती हैं परन्तु इन पंखड़ियों की अधिकता के कारण, कमल को पंखड़ियों से भिन्न नहीं कहा जा सकता ।

[अमृत प्र. ७।१३६]

यह संपूर्ण विश्व एक आत्मा से भरा हुआ है । सब मिलकर एक आत्मा ही है । आत्मा की जगह दूसरी भाषा लागू नहीं हो सकती । रेशमी वस्त्र के दो किनारों में अनेक प्रकार के रंग होते हैं परन्तु इन सब में धागा एक ही है । इसी प्रकार यद्यपि अनेक प्रकार का दृश्य रूप-जगत दिखाई देता है परन्तु उसमें चित्प्रभा रूप दृष्टि के सिवाय और दूसरी वस्तु नहीं है ।

[अमृत-प्र. ७।१४६-१४७]

चांगदेव पासष्ठि में इसी तत्त्वज्ञान को ऐसे ही दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है :—

जिस प्रकार शुद्ध सोने में स्वरूपतः कोई विकार न होते हुए अंगूठी, कंकण आदि नाम के आभूषण बनते हैं उसी प्रकार शुद्ध सत् स्वरूप अनन्त का प्रतिबिम्ब जग-रूप से भासित होता है । जिस प्रकार शान्तानन्द गम्भीर सागर में पानी की लहरें छोटी-बड़ी आकार की पैदा होती हैं और लय होती हैं [यह लहरें वास्तव में पानी ही हैं जिसने उठकर एक विशेष रूप धारण कर लिया है, परन्तु पानी में कोई विकार नहीं हुआ है] उसी प्रकार अनन्तानन्द सत् सागर के आश्रय से लहर के रूप से नामरूपमय सृष्टि, जग जीव का आभास होता है । जिस प्रकार मिट्टी के वासनों के नाम अनेक हैं परन्तु इनका मूल मिट्टी ही है, उसी प्रकार इस सृष्टि में नाना जीव दिखाई देते हैं परन्तु सत् ब्रह्म ही सबका मूल व अविनाशी तत्त्व है ।

सोने सोने पणा उणें । न येतांचि सालें लेणें ।
तेव्हीं न वेचतां जग होणें । अंगें जया ।।४।।
कल्लोल कंचुक । न फेउतां उघडें उदक ।
तेव्हीं जगेसी सम्यक । स्वरूप जो ।।५।।
कां माती मृद्भांडे । जया परी ।।६।।

[चांगदेव पासष्ठि]

उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञानदेव 'एक मेवा द्वितीयं ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' अथवा 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इन श्रुति निर्दिष्ट अद्वैत के पुरस्कर्ता हैं ।

चांगदेव पासष्ठि की ४ और ५ ओवियों में जिन वेदान्तिक कनक-कुंडल और जल-तरंग न्याय का ज्ञानदेव ने वर्णन किया है कबीर ने भी उन्हीं दृष्टान्तों को अपनाया है । वे कहते हैं:—

जैसे बहु कंचन के भूषन येकहि गालि तवावहिंगे ।
ऐसे हम लोक वेद के विछुरे सुन्निहि मांहि समायहिंगे ।।

जैसे जलहि तरंग तरंगनी ऐसे हम दिखलावहिंगे ।
कहै कबीर स्वामी सुख सागर हंसहि हंस मिलायहिंगे ।।

अन्यत्र जल तरंग न्याय का दृष्टान्त इस प्रकार दिया है ।

दरयाव की लहर दरयाव है जी दरयाव और लहर में भिन्न कोयम् ?
उठो तो नीर है बैठो तो नीर है कहो दूसरा किस तरह होयम् ?
उसी नाम को फेर के लहर धरा लहर के कहे क्या नीर खोयम् ?
जगत ही को फेरि सब जगत और ब्रह्म में ज्ञान करि देखि कबीर गोयम् ?

चांगदेव पासष्ठि की नवमी ओवी में ज्ञानदेव ने जिस भाव का वर्णन किया है उसें सुन्दरदास इस प्रकार कहते हैं:—

मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप माहिं
मृत्तिका को नाम मिटि भाजन ही गह्यौ है ।
सुन्दर कहत यह योंही करि जानौ
ब्रह्म ही जगत होय ब्रह्म दूरि रह्यौ है ।

ज्ञानदेव का अद्वैत अनुभूति पर अत्यन्त कटाक्ष है । एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट कहा है कि विश्व के प्राणियों के आकार, उनके नाम व वेष में विचित्रता देखकर यदि कोई निश्चय कर बैठे कि भेद ही सच्चा है तो ऐसे मनुष्य को करोड़ों जन्म में भी मुक्ति की आशा न करनी चाहिए ।

ऐसें देखानि किरीटी । भेद सूसीहृन पोटीं ।
तरि जन्माचिया कोटी । न लाहसी निद्यों ।।

ज्ञा० १३ । १०५९.

कबीर का भी, पूर्ण अद्वैत में, इतना अटल विश्वास है कि वे उस परम तत्त्व को कोई नाम देना भी पसन्द नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से नाम और नामी में द्वैत भाव हो जाने की आशंका हो जाती है । जो तर्क से द्वैत सिद्ध करना चाहते हैं उनकी वे मोटी अकल मानते हैं ।

उनको नाम कहन को नहीं । दूजा धोखा होई ।
कहै कबीर तरक दुइ साधै । तिनकी मति है मोटी ।।

ज्ञानदेव, केवल शाब्दिक तर्क करने वाले पंडित नहीं थे । वे अद्वयानन्द के अखंड अनुभव लेने वाले ज्ञानी पुरुष थे । यह बात उनके नीचे के उद्‌गार से सिद्ध होती है:—

एक ही शरीर को पकड़ कर रहने वाली अहंता जब इस ज्ञान से आच्छादित होती है कि सब मैं ही हूँ तो सर्वत्र मैं ही भरा हुआ दिखाई देता हूँ, फिर यह कहना कहाँ तक ठीक है कि मैं छिपा हुआ था । यदि छिपा हुआ था तो कहाँ और प्रकट हुआ तो कहाँ से ? न मैं कहीं छिपा था और न कहीं प्रकट हुआ ।

आणि पूर्ण अहंता वेढलों । सैंध आम्हीच हाटलों ।
मालोपला　　प्रगटलों । कोणाहूनि　　　॥

अमृत प्र . १० । १५.

कबीर के अनुसार भी जीवात्मा और परमात्मा में पूर्ण अद्वैत भाव है। जब व्यक्ति, दृश्य आवरणों के भ्रम में न पड़कर, नाम और रूप को भेद कर, अपने अंतरतम में दृष्टि डालता है तब उसे मालूम होता है कि मैं तो वस्तुतः एक मात्र सत्तत्त्व हूँ। तब उसे विदित होता है कि इस प्रकार मैं अपने आपको भ्रम में डाले हुए था और उसे तत्काल अनुभव हो जाता है कि मैं पूर्ण ब्रह्म केवल हूँ ही नहीं, बल्कि कभी उसके अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ था ही नहीं। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्म है।

[नि. स. पृ ११५-११६].

जब यह मान लिया जाय कि जीव परमात्मा से भिन्न नहीं तो जीव के बंध व मोक्ष के संबन्ध में विशेष विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। ज्ञानदेव कहते हैं:—

आत्मा नित्य मुक्त है। इसलिए उसके लिए बंधन नहीं, फिर मोक्ष की उसको क्या ज़रूरत है? और बंधन के अभाव में मोक्ष है कहाँ? अर्थात् आत्मा को बंधन मालूम ही नहीं। अतः मोक्ष को भी वह पहचानती नहीं। 'अविद्या नहीं' यह मालूम होने के बाद एक मोक्ष रूप आत्मा ही बाकी रहती है।

म्हणोनि बंधचि तव वावो । मा मोक्षा कें प्रसवो ।
मरोनि　केला　ठावो । अविद्या　　तया ॥

अमृत प्र. ३ । १५

कबीर ने भी अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में परमात्मा के प्रति ये उद्गार प्रकट किए हैं:—

राम मोहि तारि कहाँ लै ज़ै हो ।
सो बैकुंठ कहौ धौं कैसा जाकर पसाव मोहिं हैहो ॥
ज़ो मेरे जिउ दुइ जानत हौ तो मोहिं मुकति बतावौ ।
एक मेक ह्वै रमि रहा सबन में तौ काहे कौ भरमावौ ॥
तारन तिरन तब लग कहिए जब लग तत्त न जाना ।
एक राम देख्या सबहिन मैं, कहै कबीर मनमाना ॥

शान्ति आँकड़ियाकर

मध्यकालीन गुजराती काव्य विकास का परिचय

पुरानी गुजराती भाषा का जीवनकाल १२५० से १६५० का गिना जाता है।[1] ई. सन् ६०० से लेकर १२५० तक गौर्जर अपभ्रंश काल था।[2] १६५० से आजतक का अर्वाचीन गुजराती भाषाकाल है। १२५० के आसपास में गुजराती भाषा साहित्य की भाषा का स्थान पा चुकी थी।

गूजराती भाषा के साहित्य का सच्चा उदयकाल, आर्य संस्कृति की जैन शाखा का आभारी है। विद्यारक्त जैन साधू भारत के सब के प्रथम साहित्यकार हैं। शालिभद्र (११०५) से लेकर समय सुंदर (१५००-१६४२ ?) तक के प्रभावशाली सूरि मंडल ने तत्कालीन समाज और जीवन का संपर्क बनाये रखा और उस संपर्क को अपने काव्यों में, स्वयं के क्रांतिकारी और सुधारवादी विचारों की मिलावट के साथ व्यक्त किया। उस समय के कवियों को राज्याश्रय मिलता था। शालिभद्र सूरि ने भरतेश्वर-बाहुबलि रास की रचना की। जो आज तक साहित्याकाश में प्रकाशित हो रही है। शालिभद्र सूरि का कार्यकाल तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के समय का गिना जाता है। विक्रम संवत् १२४१ में लिखा हुआ 'भरतेश्वर-बाहुबलि', वीर रस प्रधान तथा संक्षिप्त कथा प्रसंगों वाला, तेज भरी शैली का एक स्वतन्त्र और सुबध्ध प्रबन्ध है।[3] उनके बाद महेन्द्र सूरि के धर्म नामक शिष्य ने 'जंबू सामि चरिय' (१२१०) नामक चरित्रात्मक काव्य ग्रंथ कीं रचना की। महा अमात्य वस्तु पाल के धर्माचार्य विजयसेन सूरि ने सोरह देश के सुजल सरोपरपन्न गिरनार पर्वत तथा वहाँ के पहेरे के जीर्णोध्धार के प्रसंग की करीब डेढ़-सौ पंक्तियाँ लिखीं। उसका नाम है 'रेवनगिरि रासो' (१२३१) गुजराती का प्रथम बारहमासा 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' (१२६९) कवि विनयसुंदर ने रचा। १३१५ में अंबदेव सूरि ने 'समरा रासो' की रचना की। उसमें उनके नायक, राजमंत्री, सरदार अलफखाँ, और शत्रुंजय पर ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापन कराने वाले संघपति समरसिंह का चरित्र दिया है। १३५६ में कवि विनय प्रभने 'गौतम स्वामी रास' की रचना

---

१. प्रा० विजयराय क० वैध 'गूजराती साहित्य की रूपरेखा'।

२. प्रा० विसगुप्रसाद र० त्रिवेदी चौदहवें साहित्य संमेलन के भाषण में।

३. मुनि श्री जिन विजयजी, गू० त्रैमासिक भारतीय-विधा (भाग-२, अंक १)

की। रासनायक गणधर गौतम के गुण वर्णन के निमित्त इसमें छोटे प्रकृति वर्णन दिए गये हैं।

सोमसुंदर (१३७४-१४४६[1]) बृहस्पति तुल्य अति प्रभावशाली साधू और कवि थे। वे गधकार भी थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर देहरों में बिम्ब प्रतिष्ठा प्रस्थापित की। और धर्माचार्य बने। उन्हें अमुक अमुक शब्दों पर सहस्रों सुवर्ण मुहरों का पुरस्कार मिला था! उन्होंने 'नेमिनाथ नवरस फाग' की रचना की। रचना के पीछे कवि की भाविक जनों के मनोरंजन और भक्ति की द्रष्टि है।

अपने को 'वाणी दत्त पर:' कहने वाले कवि जयशेखर (१४०६) ने संस्कृत और प्राकृत में छ: सात पद्य रचनाएं कीं, एक गूजराती में भी। अपने संस्कृत काव्य ग्रंथ 'प्रबोध चिंतामणि' पर से—रूपरेखा में बहुत-कुछ परिवर्तन करके और और रंग पूरके[1]' अपने गुजराती श्रोताओं के लिए उन्होंने वही नाम का गूर्जर-सर्जन किया।

पुरानी गूर्जर भाषा में जैनेतर कवियों में सर्व प्रथम कवि भक्त नरसी हैं (१४१४-१४८०) नरसी के पहले चार उल्लेख योग्य जैनेतर कवि भी हो गये: असाईत (१३६१) श्रीधर व्यास (१३९८) भीम (१४१०) तथा अब्दुर रहेमान (१४१०) उनके काव्य तथा भाषा की नजर से अभ्यास पात्र हैं। काव्यों के विषय हैं: भगवद् भक्ति नहीं परंतु सांसारिक प्रेम या युद्ध। यही कारण है कि वे मध्यकालीन धर्मरंगी साहित्य सागर में जरा अलग ललित स्वरूप से तैरते हैं! श्रीधर व्यास की ये पंक्तियाँ देखिए:

ढंम ढमईं ढम ढमाकार ढंकर ढोल ढोली जंगिया...
धारुक्कट धारि धगड़ धर धसमसि धसमसि धुल्ब पडंत...
जि चंगे तुरंगे तरंगे चढंता, रणमल्ल दिठ्टेण दनं मुडंतां

असाईत ने 'हंसाउली' नामक हास्य तथा करुण प्रसंगों से भरपूर अद्भुत तथा रसिक लोक कथा लिखी।

श्रीधर व्यास ने मीर मलिक मुफर्रह वगैरह ईस्लामी आक्रमण खोरों को सफलता से पराजित करले वाले ईडर के राठौड रणमल्ल की पराक्रम गाथा गाई। पराक्रम गाथा की शैली प्रौढ और ओजस्वी है। उसकी बराबरी करने वाला वीर रस का खंड काव्य गुजराती में है ही नहीं।[3]

भीम ने 'सदय वत्स चरित' लिखा। उसमें लोकप्रिय प्रेम कथा के पात्र सदेवंत-सावलींगा के प्रणय तथा साहसिक कथानक प्रासादिक शैली में वर्णित है।

अब्दुर रहेमान ने 'सन्देशक रास' नामक काव्यकी रचना की। उसमें विप्रलंभ शृंगार तथा खंभात (शहर) का वर्णन, मनोहर शब्दों तथा शैली द्वारा नजर आते हैं।

१. रा० माहेनलाल दलीचंद, कविग्रंथ (३) पेज ३२।
२. के० ह० ध्रूव; 'प्राचीन गूर्जर काव्यकी प्रस्तावना—पेज-२३'
३. के० ह० ध्रूव; ' ,, पेज ७-९'

नरसी तो हैं गूजराती के आद्यकवि ! तेजस्वी भक्त ! अपनी मृत्यु के पाँच सौ सालों के बाद वे सिर्फ गूजरात के ही नहीं अपितु सारे जगत के प्रेरणादाता हो गये ! 'वैष्णव जन तो तेने रे कहिए' भजन से वे सारे गांधीवादी जगत पर अपना प्रभाव छा रहे हैं ! उनका जन्म संवत् है १४७० । अपनी भाभी के एक ताने के कारण वे घर छोड़ गये, और एक जंगल में स्थित शंकर के मंदिर में जाकर वहाँ भक्ति में लीन हो गये। एक सप्ताह इस तरह चला गया । आखिर शंकर प्रसन्न हुए : 'मांगो, मांगो ! नरसी ने कहा : 'कृष्ण दर्शन और कृष्ण लीला का दर्शन !' शंकर उन्हें वैकुंठ में ले चले । वहाँ नरसी को कृष्ण और कृष्ण लीला का दर्शन हुआ । शंकर आकर फिर उन्हें जूनागढ़ में छोड़ गए । और अन्तिम पल तक वे एक गोपी—स्त्रियों के समस्त सूक्ष्म और कोमल भावों के साथ—की भाँति पद रचना करते रहे। अस्पृश्याँ को उन्होंने ही प्रथम समाज का कलंक बनाया, और उनके साथ बैठकर ईश्वर भजन किया । वे अस्पश्यों को 'हरिजन' कहा करते थे । गांधी जी ने भी 'हरिजन' शब्द इन्हीं से लिया है । हिंन्दी के सूरदास की भाँति नरसी भी श्रीकृष्ण के मधुर रूप की भक्ति करते थे।[१] 'हारमाला' और 'शामलशानो विवाह' ये दो नरसी की आत्मचरित्रात्मक कृतियाँ हैं । बाकी के काव्य हैं पदसमुच्चय । श्रीमद्भागवत से, प्रभास खंड से और गीतगोविंद से, या उस समय के लोकप्रिय फागू या रासों में से उनका प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रेरक बल मिला । नरसी के हर पद को उनके शिष्य कंठस्थ करते जाते । और इस तरह ये पद विशाल पर्तुल में फैल जाते । इस तरह के पदों के संग्रह हैं : 'सुदमा चरित्र', 'गोविंद गमना', 'सुरत संग्राम ।' 'सुरत संग्राम' 'हास्य श्रृंगार' विस्मय रस प्रधान संग्रह है । 'गोविंदगमन' की रचना भक्त-कवि ने वृद्धावस्था में की । वह चित्ताकर्षक ग्रंथ है ।

'राजकुमारी हो, युवरानी हो, और आजन्म कवि हो तथा 'घायलनी गत घायल जाणे' ऐसे दर्द से पीड़ित 'प्रेम दिवानी'—हो; और प्रभु की ओर का वह प्रेम इतना उत्कट हो कि 'तम रे विना हुं तो जनम-जोगण'; ऐसी भावार्द्र पंक्ति की उनके मुख से रचना करावे—यह घटना साहित्य के इतिहास में अद्वितीय है । राज कवयित्री मीरा-मध्य-कालीन भारत की जगत को एक अमूल्य भेंट है ।'[२] मीरा समस्त भारत की कवयित्री हैं । उनके पद गूजराती के अलावा और कई भाषाओं में भी पाये जाते हैं । मीरा का समय (१४९९-१५४७) गिना जाता है ।[3] 'उन साध्वी का स्वाभाविक 'नारीपन' सिर्फ उनकी परमात्म प्रेमजन्य विवशता में ही, और उनका मेवाड़-उचित वीरपन प्रेम में विघ्न-भूत संसार जंजीर को एक सूत के तंनु की तरह तोड़कर फैंक देने की क्रिया में ही प्रकाशित है ।[४] मीरा ने सब मिला कर कोई ढाई-सौ पदों की रचना की है ।'[५] उनकी आयु तो

१. रामचंद्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', प्र० ५, पेज १२९
२. प्रा० वि० क० वैध, 'गु० साहित्यकी रूपरेखा', पृष्ठ ३८
३. प्रा० वि० क० वैध ,, ,, ३९
४. प्रो० आनंदशंकर ध्रू, 'आपणो धर्म' (आ० २) पेज १२८
५. गूजराती में 'मीरा के भजन' नामक एक संग्रह गूजरात यूनिवर्सिटी के उपकुलपति श्री दिवेदिया के संपादन के द्वारा प्रकट हुआ है ।—शां० ।

बड़ी थी, और वह छूटपन से ही पदों के द्वारा अपनी उत्कट भक्ति जाहिर करती रही थी, फिर भी ढाई-सौ पद ही क्यों ? यह एक सवाल है। उसके कारणों में यह हो सकता है कि वात्य जीवन के दुःख क्षोभ, और उससे भक्ति में होती कठिनाइयाँ। गूजराती के आदि कवि नरसो और मीरा दोनों की भक्ति उत्कट थी और दोनों पर करुणा की गहरी छाया थी।

गूजराती में वीर रस का एकमात्र इतिहास प्रधान दीर्घ काव्य कान्हडे प्रबन्ध है। उसको सर्जक हैं पद्मनाभ (१४५६)। 'कान्हाडदे प्रबन्ध' नामक बृहत काव्य का सार निम्न है :

'करण वाघेला नामक राजा का मंत्री माधव किसी मन दुःख के कारण पाहण से दिल्ली गया। उस समय दिल्ली में अलाउद्दीन खिलजी राजा था। करण वाघेला का विषय लोलुप वृत्ति विरुद्ध उसने खिलजी से फरियाद की और कहा कि आप आकर करण वाघेला को पराजित करें। माधव का कहा मान खिलजी अपने सैन्य के साथ गूजरात आने को रवाना हुआ। रास्ते में जाल्हूर के राजा काह्लदेव चौहान का प्रदेश आया। चौहान ने अपने प्रदेश से होकर जाने सैन्य को रोका। खिलजी तुरंत तो अपने सुसज्ज सैन्य के साथ और मार्ग से गूजराती की ओर बढ़ा। किन्तु मोडासा के पास ओर कारण से मोडासा के राजा के साथ खूंखार लड़ाई हुई। फिर तो वहाँ से, विजय प्राप्त करके खिलजी आगे बढ़ा। सोमनाथ लिया। आदि···

उसके बाद जिन के कार्य का आज तक विशेष महत्त्व हैं, वे कवि भालण (१४५९-१५१४) आते हैं। भालण संस्कृनि का व्युत्पन्न पंडित हैं। इस तरह का वह गुजराती का प्रथम कवि है। भालण ने सब से प्रथम संस्कृत से 'कादंबरी' का अनुवाद गूजराती साहित्य के चरणों में रखा। उसके सिवा उन्होंने आर्य संस्कृति के संस्कृत रूपी अक्षय पात्र से 'प्रौढि नवि जाय' 'नलाख्यान' 'दशमस्कंध', 'रामबाल चरित', शृंगार, करुण, वत्सल रस के उनके काव्य मध्यकालीन साहित्य की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। 'दुर्वासा आख्यान', 'मार्कंडेय पुराण', 'हर संवाद', 'ध्रुवाख्यान' 'कृष्णविष्टि' 'भृगी आख्यान' 'जालंधराख्यान' वगैरह उनकी ओर कृतियाँ हैं। व्यास-वाल्मीकि श्री हर्ष, तथा बाण की अलौकिक प्रतिभा झेलने की कुदरती शक्ति श्री भालण में थी। 'गूजराती साहित्य के बाहर भी भालण ने अपना गौरव स्थापित किया हो सब से प्रथम 'कादंबरी' का गूजराती काव्य में रसात्मक अनुवाद करके, तथा अन्य भाषा के साहित्य की तुलनायें हम आगे रख सके वैसा वत्सल रस का आलेखन करके उन्होंने गूजराती का मुँह उज्जवल किया है।[1]

'कादम्बरी'-सी उत्तम कृति से मध्यकाल के कवियों की प्रथम लाईन में विराजित इन कवि ने साहित्य के इतिहास की नजर से की हुई दो गणना पात्र सेवाएँ ये हैं कि उन्होंने सब से प्रथम 'गूर्जर भाषा'-सा शब्द प्रयोग किया; और उन्होंने आरंभ की हुई विशाल प्रमाण की प्रौढ़ आख्यान पद्धति ने नाकर से लेकर प्रेमानंद तक के कवियों के लिए आख्यान रचना की नई दिशा खोल दी। और जिसका लाभ मध्यकालीनों में दयाराम

१. श्री रामलाल चू० मोदी 'भालण' प्रस्तावना।

ने; और अर्वाचीनों में 'वेनयचरित्र' कार दलपतराम ने 'मेघदूत' भापातर कार केशवलाल ध्रूने, तथा 'उत्तर सुदामा चरित्र' कार श्री सुंदरम् ने लिया।'[२]

इस्वी पंद्रहवे शतक के उत्तरार्ध में ये सात कवि गणनापात्र हो गये : नाकर, माँडण, भीम, भालणपुत्र उद्धव तथा विष्णुदास, केशवदास कायस्थ, और मधुसूदन व्यास।

नाकर (१५१६-६८) वैश्य कवि हैं। वतन बड़ोदा। उन्होंने भालण काव्य पद्धति का अनुकरण किया।[३] उन्होंने कुल मिलाकर वीस आख्यान लिखे।

माँडण का असर अनुगामी कवि अरवा पर अधिक पड़ता है। 'प्रबोधवत्तीशी' 'रामायण' तथा 'रूक्माँद कथा' ये उनकी प्रधान कृतियाँ हैं। उनका समय १४८० की आस पास का है। आखिरी कृति पौराणिक अख्यान है। बीच का काव्य थी निराडंबरी आख्यान पद्धतिका नमूना है। 'प्रबोध बत्तीशी' में ज्ञानगोस्ठि है, लोकोक्ति तथा कहावतों का बाहुल्य है। उसका काव्य प्रकार है षट्पदी चौपाई। और वहीं अखा की अपनी काव्य शैली में मार्ग दर्शक हुई।[४]

भीम (१४८५-९०) ने 'हरिलीला षोडश कला' 'प्रबोध चंद्रोदय' 'प्रबोध प्रकाश' नामक तीन रचनाएं कीं। भागवत सार के आधार पर 'हरिलीला षोडश कला' में हरिगुण गाये हैं। 'प्रबोध चंद्रोदय' एक रूपक ग्रंथिमय संस्कृत नाटक का अनुवाद है। वे विप्र को वंदन करते हैं। इसलिए हो सकता है कि वे ब्राह्मणेतर जाति का हो।

'पिताके बाद पुत्र भी पिता के कदमों में चलकर काव्यांजलि अर्पित करें वैसी शायद ही प्राप्त होती प्रणालि भालण पुत्रों नें प्रदान की है'[५] उद्धव संस्कृतज्ञ था। उन्होंनें रामायण कथा का शब्दश: भाषांतर किया। विष्णुदास के तो उत्तर कांड के दो ही कड़वे मिलते हैं। दोनों का विद्यमान् काल था १५०० से १५२०।

केशवदास कायस्थ (१४७३) ने 'श्रीकृष्णलीला काव्य' नामक सात हजार पंक्तियों का एक ही सर्जन किया। वह भक्तिरस भरपूर उत्तम कोटि का काव्य संग्रह है।

उन छ: कवियों से बिलकुल भिन्न मधुसूदन व्यास (१५५०) ने 'हंसावती—विक्रम-कुमार चरित्र' नामक करुणरस और शब्द तथा अर्थों के अलंकारों से भरपूर पद्यवार्ता की रचना की 'उन्हें हिंदुस्तान की भूगोल का पूरा पूरा ख़याल है। पण, नगर इत्यादि के वर्णन रसमय करने का उन्होंने कुशलता पूर्वक प्रयत्न किया है'[६]

उनके अलावा कायस्थ गणपति (१५१८) ने 'माधवा नलका मकंदला दोग्धक'; व्यवहारदक्ष नरपति (१४१९—१५०४) ने 'नंद बत्री सी' तथा 'पंचदंड'; तथा वासु (१५००) ने 'सगालशाख्यान'; वीरसिंह (१४६४) तथा जनार्दन त्रवाड़ी ने 'उपाहरण',

---

२. प्रो० वि० का० वैद्य 'गूजराती साहित्य की रूपरेखा' पेज-५०
३. कविचरित्र भा० १ पेज २०५
४. प्रो० वि० क० वैद्य 'गूजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज-५३
५. स्व० अंबेलाल जानी
६. प्रा० वि० क० वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा'—५५

एवं कर्मण मंत्री (१४७०) ने 'सीता हरण'; तथा ईसर बारोट (१५६०) ने नायक 'हरिरस'; और डोडियो (१५६८–६७) ने 'शुकदेवाख्या नामक' पद्य रचनाएं कीं।

अब सत्तरहवीं शताब्दी के कुछ कवियों का हम परिचय करेंगे। ये हैं: विष्णुदास, शिवदास, विश्वनाथ जानी, तथा वल्लभ मेवाडो।

विष्णुदास ने कोई चालीस आख्यान लिखे हैं। वे वस्तुका चयन नरसी मेहता के जीवन से और बाक़ी का ईतिहास काव्य महाभारत-रामायण से लेते हैं। नरसी के जीवन के चमत्कारों को काव्य में व्यक्त करने वाला वे ही सबसे प्रथम गुजराती कवि हैं। उनका काल १५६८ से १६१२ है।

शिवदास (१६११-२१) ने 'जालंधराख्यान' आदि दस पौराणिक आख्यान लिखे। 'कामावती' तथा 'हंसा' की लोक कथात्मक पद्य कहानियाँ भी उन्होंनें लिखीं। कविता वर्णन शैली प्रणालिकानुसारी है—निरसता भरी नहीं।

विश्वनाथ जानी (१६५२) ने पौराणिक काव्य 'प्रेम पचीशी' नरसी का मामेरा' तथा 'सगाल चरित्र' की रचना की। प्रथम और आखिरी रचना करुणरसात्मक काव्य-रचना है। 'मामेरा' प्रेमानंद की[1] कृति 'मामेरा' की बराबरी करने वाली है। भालण के बाद विश्वनाथ ने ही 'गौर्जर भाषा' शब्द प्रयोग किया।

गरबी के कवि के नाते प्रसिद्ध वल्लभ मेवाड़ा (१७००) ने फुटकर काव्य लिखें। नर्मदने उन्हें 'दूसरे वर्ग की प्रथम टीममें रखने योग्य' गिना है![2] वे देवी भक्त थे।

१५६१ से लेकर १७६६ तक था समय मध्य कालीन साहित्य पृष्ठ पर दो-तीन कारणों से प्रकाशित है। प्रथम विलक्षणता यह है कि 'समस्त हिंदके भाषा साहित्य के इतिहास में स्थान पा सके वैसे तीन कवि इस काल में गुजरात, प्रथम समय ही भारतवर्ष को भेंट करता है।'[3] दूसरी विशेषता यह है कि 'तीनों में सबसे उच्च कोटिकी कवि प्रतिभा गुजराती भाषा में प्रथम समय ही या तो तत्वज्ञान के नाते तत्त्वज्ञान को स्वानुभूतिमद कविता में मूर्त करते हैं, या उस नजर से मानवी के भौरर्य-दंभाचारा दिका उपहास करते हैं, अथवा तो अपूर्व और आह्लादक रसनिस्यत्तिमान् और उससे कलात्मक आख्यान कविता का सर्जन करते हैं, अथवा तो ऐसी मनमोहक पद्य कहानियाँ रचित करते हैं कि जिससे लोकजन आनंदिन हो, साथ-साथ विद्वत् जन भी खुश हो।'[4] तीसरी खूबी यह है कि प्रत्येक समर्थ कविका कार्य परस्परका पूरक बनता है और इससे सभी रसवृत्तिके पाठकों को वह साहित्य पसंद आता है।

---

१. प्रेमानन्द कृत 'नरसी का मामेरा' के हिंदी अनुवाद के लिए साहित्य अकादमी ने निर्णय किया है।
२. नर्मगद्य (१६१२) पेज ४७१
३. हिं० ग० अंजारिया 'साहित्य प्रवेशिका' पेज २४
४. प्रो० वि० क० वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ६१

अखो (१५९१-१६५६) मध्यकालीन महापुरुषों में से एक हैं। 'उनके हृदय में पयगम्बरी आवेश और पयगम्बरी प्रकोप सतत प्रज्वलित था।'[५] 'अखो एक विचक्षण, गंभीर, बल सम्पन्न, कटाक्ष में हास्य करता एक ज्ञानी कवि हैं। उनकी सच्ची लाक्षणिकता उनके छप्पे में (छप्पा छः पद या चरण की चौपाई होती है—शां०) है। हर छप्पा अलग मुक्तक होता है। उनके कटाक्ष के पीछे आत्म श्रद्धा होती है। उन्होंने लम्बे अरसे तक सत्य की खोज के लिए मंथन किया होगा। आखिर यकायक उन्हें ब्रह्मज्ञान होता है और तुरन्त ही ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं; और सुपुप्त काव्य प्रतिभा तेजस्वी हो उठती है। उनका ज्ञान केवल शुष्क बुद्धि तर्क व्यूह नहीं है। आनंदमय है। उनकी मूल श्रद्धा केवल द्वैन ऊपर है। फिर भी उन्हें ईश्वर पर अपार प्रेम है। ईश्वर को पाने की तमन्ना है। उनमें बुद्धि, अनुभव और प्रतिभा तीनों का पूरा समन्वय है।'[१] उन्होंने 'अखेगीता' नामक अपने विचारों के पदों का एक संग्रह किया (सन् १७०५ में)। उपरान्त 'पंचीकरण,' 'गुरु शिस्य संवाद,' 'चित्त विचार संवाद,' 'अनुभव बिंदु' और फुटकर छः सौ जितने छप्पे ये उनकी और रचनाएं हैं। 'सन्तप्रिया' 'ब्रह्मलीला' दो उनके हिन्दी सर्जन हैं। उन्होंने कुछ पंजावी काव्य भी लिखे हैं। प्रवास के शौक़ीन कवि सारे भारततर्ष में पदयात्रा कर चुके थे।

गूर्जर ज्योतिर्धर प्रेमानन्द (१६३६-१७२४) ने 'ऋृस्यश्रृंगाख्यान व्यान,' 'नरसिंह महेताके' जीवन सम्बन्धी 'हुंडी'; 'श्राद्ध,' 'सुदामा चरित्र' 'मान्धातारव्यान,' 'मामेरुं' 'अस्टावक्रारव्यान,' 'शामलशानो विवाह,' 'सुधन्वारव्यान,' 'रणयज्ञ,' 'नलारव्यान,' 'द्रौपदी हरण,' 'सुभद्रा हरण,' 'हरिश्चन्द्राख्यान,' 'देवी चरित्र,' 'मार्कंडेय पुराण' 'दशमस्कंध' आदि काव्यों की रचना की। वे हाथ में माण लेकर देहातों में घूमने और आरव्यान करते। उनकी भाषा भी मधुर थी। 'ग्रन्थ ज्ञान और गुरु की प्रेरणा के उपरान्त उत्तर भारत में की हुई यात्रा के कारण भी प्रेमानंद की प्रतिभा झलक उठी।'[२] 'गुजराती में महाकवि प्रेमानन्द रचित नलारव्यान एक उत्तस कृति है। प्रेमानन्द ने नल-दमयंती का कथानक लिया है महाभारत से; उस कथानक के लिए पार्श्वभूमिका और वायुमंडल भी महाभारत के ही रखे। पर बस इतना ही, इनके अलावा और कुछ ही नहीं। उन्होंने लिखा अपनी मौलिक रीत से उनका नल, उनकी दमयंती, उनका ऋतु ध्वज राजा, उनका वाहुक उनका हंस : सभी महाभारत के होते हुए भी हैं उनके अपने! असल गुजराती! महा-भारत के बिना प्रेमानन्द की प्रतिष्ठा को इतना विशाल मैदान प्रदान करनेवाला और कथानक मिला न होता, और प्रेमानन्द को ऐसा कथानक न मिला होता तो गुजराती साहित्य के कुछ श्रेष्ठ खंड हमें कभी न मिलते……'[३] 'उनका सर्वोत्तिमपन उनकी विरल नैसर्गिक सर्वग्राही सर्जकता से उदभवित होता है। अखो मानव जीवन के अनासक्त साक्षी हैं। प्रेमानन्द सुखदुःखादि द्वंद्वमय जीवन को अनूठी अनासक्ति से देखता है।'[४]

---

५. उमाशंकर जोशी 'अखो : एक अध्ययन' पेज-६, २९५।
१. गुजराती मासिक 'नयिकेता' अक्तूयर-५४, रा० वि० पाठक, पेज ३०-३६।
२. प्रो० वि० क० + ०वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ७६।
३. 'नचिकेता' जुलै-५५ : करसनदास माणेक :
४. प्रो० वि० क० + ० वैद्य 'गुजराती साहित्नी रूपरेखा' पेज-८०।

मुकुंद गूगली (१६६५) द्वारिका निवासी था। उसने कबीर रक्षा गोरखनाथ के चरित्रों को 'भक्त माला' में वार्णत किया। वह हिन्दी का भी अच्छा विद्वान था। उसके अलावा मुरारिने 'ईश्वर विवाह', और श्रीधर स्वामी ने 'गौरी चरित्र' की रचना की। उनके पश्चात् आते हैं: नरहरि, गोपाल, तथा बूटियो। नरहरि (१६२१) ने प्रकट-अप्रकट मिलकर कुल बारह काव्य लिखें। भगवत गीता का प्रथम गूजराती अनुवाद उन्होंने ही किया। गोपाल (१६५०) ने 'गोपाल गीता' नामक वेदांत विषयक काव्य ग्रंथ लिखा। बूटिया (शतक के मध्य भाग में[1]) ने केवला द्वैत की छाया वाले कुछ फुटकर पद लिखें।

प्रेमानंद का एक खासा और जोरदार शिष्य मंडल था। उनमें प्रेमानंद का पुत्र वल्लभ मुख्य हैं। वल्लभ के सिवा वीर जी, रत्नेश्वर, सुंदर वगैरह हैं। सुंदर ने प्रेमानंद के आखिरी और अधूरा 'दशम स्कंध' को पूरा किया। प्रेमानंद के और शिष्यों ने हिन्दी, मराठी आदि भाषा में प्रेमानंद की कृति की छाया वाले कुछ मौलिक काव्य लिखे।

उनके बाद आते हैं शामल। 'जिस जमाने में कवि संस्कृत—पुराण, रामायण, महाभारत, भागवनादि ग्रंथों पर ही नजर डालते···उसी समय वेंगनपुर का वह विप्र जरा भी संकोच वगैर मानवी मानवताका ही कहानी के रूप में रस पूर्वक कथन करके अपने गूजराती बंधुओं को आनंद के साथ होशियारी, लोक व्यवहार ज्ञान और नीति बोध दे चला...।'[2] 'शामल के समय में उर्दू राज भाषा थी, इससे उनके काव्यों की भाषा में फ़ारसी और अरबी उद्भवित शब्दों की प्रचुरता है।'[3] 'शामल की कविता गूजराती कविता देवी के कंठ का न्यारा आभूषण है।' शामल ने 'सिंहासन-बत्तीसी' (१७२९) नामक अलौकिक पद्य कथा; 'शिवपुराण खंड' (१७४८) 'अंगद विस्टि' (१७५२) नामक प्रौराणिक कथाएं; 'मदन मोहना' (१७?) नामक शृंगारिक; और 'सिंहासन बत्तीसी' तथा 'सुडाबहोंतेरी' नामक और पद्य कथाएं लिखीं। शामल के बाद मुख्य कवि हैं दयाराम, प्रीतमदास, शिवानंद, नरथेराम, रत्नो, धीरो भगत, निरांत भगत, भोजो भगत, गिरधर। स्वामी नारायण संप्रदाय के चार भक्त कवि, कालीदास।

चांदोद (गूजरात) में दयाराम (१७७७-१ (५२) का जन्म हुआ। उन्हें बंसी बोल का कवि कहते हैं। 'नहीं है यह बंसी बोल प्रेमानंद की या शामल की अथवा अरवा की कविता में; नहीं है दलपत में, नर्मद में या गोवर्धन राम में (आखिरी तीनों अर्वाचीन काल के मुख्य कवि हैं—शां०)

'गुण विशिष्टता के कारण दयाराम गुर्जर साहित्य में अजोड़ है।'[4]

दयाराम अत्यंत स्वरूपवान थे। छुटपन से ही उनके माँ-बाप इस जहाँ को छोड़ गये थे। 'दयाराम थे सच्चे भक्त, आजन्म कवि, महान वैष्णव अश्राँन और भावुक यात्री,

१. रा० न्हानलाल कवि 'आपणां साक्षरत्नो भा० २' पेज ९९-१००।
२. प्रा० विजयराम वैद्य 'गूजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ८३
३. प्रा० अनंतराय रावल 'कविशामल' पेज ४९
४. प्रिन्सि० रमण वकील 'साहित्य रत्न—३' पेज ११

रसिक पर शौकीन, संगीतज्ञ, स्वमानी, आज़ाद मिज़ाजी जबरदस्त बंडखोर—यही कारण हैं कि वे समकालीनों में सब से विख्यात हैं।

दयाराम के गूजराती काव्यों की संख्या है ८७। कवि ने गूजराती के अलावा व्रज, मराठी, पंजाबी, उर्दू, और संस्कृत में थी काव्य रचनाएं कीं। उनका दीर्घतम काव्य है 'रसिक वल्लभ।' उनके बाक़ी के काव्यों को लघु काव्य, गरबियाँ और पद कहे जाते हैं। प्रेम लक्षणा भक्ति का वह उपासक है। उनके लघु काव्यों में 'शृंगार रूप भक्ति, शृंगार सहित भक्ति, शृंगार विरहित अर्थात् केवल भक्ति, श्रीकृष्ण चरित्र के कुछ प्रसंग, धर्म, नीति, और वैराग्य की बातें आती हैं।'[३] 'रसिक वल्लभ' में छः ऋतुओं का और प्रत्येक ऋतु कृष्ण लीला में कितनी उपयोगी है, और वे भक्ति की विरह दशा पर क्या असर करती हैं उनका वर्णन है।'[४] दयाराम को मध्यकालीन गुजराती साहित्य जंजीर की आखिरी कड़ी माना गया है। फिर भी 'वाङमय के इतिहास में दो युग के बीच कड़ी बनने वाले दयाराम के साहित्य में तो कहीं भी अभिनव प्रवाह की ज़रा-सी प्रतिध्वनि सुनाई नहीं देती है।'[५] दयाराम १९५० में बंबई गये थे।

दयाराम मध्यकालीन कवि में आख़िरी हैं। परन्तु उनके पहले कुछ कवियों को, जैसा कि हम आगे लिख चुके हैं, दयाराम की प्रतिभा कुछ निस्तेज होने के कारण यहाँ दे रहे हैं:

प्रीतमदास (१७७४-१७९३) ने 'सरस गीता' ज्ञान नो कक्को', 'गुरुमहिया' आदि रचनाएं कीं। उनकी एक काव्य पंक्ति आजकल गूजरात में एक कहावत के रूप में विद्यमान है: हरिनो पारग छे शूरानो, नहि कायरनु कामरे (हरि का मारग है शूराका, नहीं कायरका काम रे!)

शिवानंद (१६००-१६४४) ने शिव भक्ति की आरतियाँ ही लिखीं, जो आज भी अर्वाचीन भाषा के रूप में सर्वत्र गाई जाती हैं।

पत्नी की ओर की गहरी भक्ति के कारण रणछोड़ राय प्रभु की मूर्ति डाकोर से द्वारिका लाने वाले कवि नरभेराम (१७६८–१८५२) ने भक्ति रस भरपूर कुछ गुजराती पद्य लिखें।

रत्ना (१७३९) ने हृदयंगम् 'बारह मासा' लिखे। छोटे छोटे ऊर्मिगीत ही वे हैं।

शांकर वेदांती धीरा भगत (१७३५–१८२५) ने कुछ भक्ति रस भरपूर काफियाँ (एक काव्य प्रकार) लिखीं। कहा जाता है कि धीरा पद की रचना करके, और उसे,

---

२. प्रा० वि० क० वैद्य 'गूजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज १०५।

३. गोवर्धनराम 'दयारामनो अक्षरदेह' पेज ५।

४. प्रा० जेगलाल गो० शाह 'रसिक वल्लभ (संपादन)' उपादेधात पेज ३१।

५. प्रा० वि० क० वैद्य 'गूजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ११७।

कागज में लिखके, नदी के प्रवाह में, बाँसुरी में बंद करके छोड़ देता ! 'गुरुधर्म' उनकी विशेष कृति है । 'उनकी भाषा प्रवाही, जुस्सादार, और धर्मवर्धक होती है ।'[१]

निरांत भगत (१७७०–१८४६) ने व्यक्त भक्ति के नहीं, पर अव्यक्त भक्ति के कुछ पद लिखे हैं । निराँत भगत के समकालीन बापु साहेब गायकवाड़ (१७७६–१८८४) के कुछ पद भी मिले हैं, जो भक्तिरसक पद हैं ।

भोजा भगत (१७८५–१८५०) ने समाज सुधार की तमन्ना से काव्य रचना की । 'भोजा भगत के पद अखाकी स्मृति ताज़ी करते हैं ।'[२] यह ज्ञाति से था किसान भोले आदमियों को फँसाने वाले जूठ्डे साधू के विरुद्ध उन्होंने कुछ पद लिखे हैं । 'छोटी भक्ति-माल', 'सेलैया आख्यान' उनकी रचनाएँ हैं ।

वैश्य कवि गिरधर (१७८७–१८५२) ने 'रामायण' 'राजसूययज्ञ' नामक रचनाओं का । 'रामायण' संस्कृत और हिंदी ग्रंथों के पर आधारित है । 'गिरधर शामल-प्रेमानंद की कविता से प्रभावित था और सहजीवी दयाराम का तो यह विनय अनुकरण करन्द वाला था ।'[३] 'कवि की भगवद् भक्ति इतनी उत्कट थी कि उत्तर भारत के उनके सहयात्री रंगीनलाल जी महाराज ने उन्हें श्रीनाथ द्वारा जाने नहीं दिया था, इससे यात्रा के दरमिआन ही श्रीनाथ जी के ध्यान में और भक्ति में उनकी मृत्यु हो गई ।

स्वामी नारायण संप्रदाय के स्थापक और मूल अयोध्या निवासी सहजानंद स्वामी (१७८१–१८३०) ने १८०१ के इर्द-गिर्द सौराष्ट्र (उस समय काठियावाड़) मे आकर उद्दाम बृत्ति वाले काठी (राजपूत) और मजदूर वर्ग में उद्धवी संप्रदाय का प्रचार और प्रसार किया। सहजानंद के शिष्यों में ये चार कवि थे : मुक्तानंद, ब्रह्मानंद, प्रेमानंद, (दूसरे), और निष्कुलानंद ।

उनके उपरांत एक देवानंद भी हैं, जो अर्वाचीन काल के समर्थ उपकवि श्री 'दलदतराम के गुरु थे ।'[१]

मुक्तानंद (१७६१–१८२४) ने 'मुकुंदबावनी', 'उद्धवगीना', तथा 'सतीगीना' नामक रचनाएं लिखीं । तेरह वर्ष की उम्र में उन्हें वैराग्य हो गया था ।

ब्रह्मानंद (१७७२–१८३२) ने काव्य शास्त्र के पिंगलानुसार कोई ६००० से अधिक पद लिखे हैं । उनमें गुजराती के अलावा, हिंदी भी शामिल हैं ।

प्रेमानंद (१७७६–१८४५) ने प्रेमलक्षणा भक्ति भरे काव्य लिखें । वे कुशल गायक भी थे । उन्होंने 'तुलसी विवाह' रस भरपूर कई 'थाल' और कारुण्यभरी रचना 'सहजानंद वियोग' रचित की ।

---

१. प्रा० दि० क० वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ९२
२. प्रि० रमण वकील, 'साहित्य-रत्न-इ' पेज़ १५
३. प्रा० वि० क० वैद्य 'गूजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज़ ९३
४. प्रा० जगजीवन मोदी 'गिरधर चरित्र' पेज़ २७–४५

निष्कुलानंद (१७६६–१८४८) ने कोई बाईस रचनाएँ कीं। उनमें 'भक्ति चिंतामणि', 'धीरजाख्यान' वगैरह प्रधान हैं। उनकी एक पंक्ति कहावत के रूप में प्रचलित है : 'त्याग न हके रे वैराग्य बिना (त्याग न हिके रे वेराग्य बिना)!'

कालिदास (१७२५) ने 'प्रह्लाद और ध्रुवाख्यान' तथा 'ईश्वर विवाह' नामक रचनाएँ कीं। उनके काव्यों में विशद शब्द चित्र हैं।

ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर कवियों के साथ साथ पन्द्रहवी शताब्दी से लेकर अट्ठारहवीं शताब्दी तक निम्न जैन प्रणालि के कवि भी हो गये : लावण्य समय, कुशललाभ, कवि नयनसुंदर, समयसुंदर, नेमि विजय।

लावण्य समय (१४६५) ने 'विमल प्रबंध' की रचना की। वे सोलह साल की उम्र से कविता लिखते थे। 'विमल प्रबंध' में विमलशा की जीवनी है। ऐतिहासिक नज़र से यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण है।

कुशल लाभ (१५६०) ने शामल की भाँति माधवानल का वस्तु लेकर 'माधवकाम कुंडला रास' नामक रचना की। उन्होंने जेसलमेर के राजा की इच्छा से 'मारू-ढोला की चौपाई'[२] नामक रचना की।

नयनसुंदर (१५६०–१६२०) ने 'रूपचंद कुंवर रास' (५५८१) 'नल दमयंती रास' (१६०६) आदि छः रास लिखे। वणिक रूपचंद और राजपुत्री सोहाग की प्रणय कथा 'रूपचंद कुंवर रास' में है। 'कवि वास्तव दर्शन और विनादेलक्षी है।'[३] बारहवीं शताब्दी के कवि यतिमाणिक्य सूरि के संस्कृत 'नलायण ग्रंथ' पर से उन्होंने 'नलदमयंती रास' की रचना की। नयन सुंदर हिंदी, उर्दू, संस्कृत तथा पाकृत भाषाज्ञ था। 'संस्कृत के सुकुमार भाव और भावना तथा शब्दलालित्य को गुजराती में लाने का यश नयन सुंदर को मिलता है।'

समय सुंदर (१५८०–१६४२) ने 'नलदमयंती रास' और और अन्य वीस काव्यों की रचना की। प्रेमानंद की शली से उसने 'रास' लिखें।

नेमिविजय ने 'शीलपती रास (१६६४)' की रचना की। 'शीलपती रास' की कथा शामल की ज़ाहिर 'भद्राभामिनी' को प्रायः मिलती-जुलती है।'[१] उनका मनोभाव आलेखन स-रस है। कवि की भाषा में प्राकृत, अपभ्रंश और मारवाड़ी के कुछ अंश विद्यमान हैं. इससे साहित्यिक नज़र से उनके काव्य मूल्यवान् हैं।

---

१. न्हानालाल कवि 'दलपत चरित्र'

२. 'It is a beautiful love poem of old Gusarata, fresh with local colour. The note of love sounds true and intense in its appeal as in no other poem of the age. ('गुजरात एन्ड इट्ज लिटरेचर' क० मा० मुंशी, पेज १५६)

३. प्रो० वि० क० वैद्य 'गुजराती साहित्यनी रूपरेखा' पेज ६८।

१. प्रो० वि० क० वैद्य 'गुजराती साहित्वनी रूपरेखा' पेज ६८

मीरा के बाद कुछ स्त्री कवि भी हो गये। 'उनमें दिवाली बाई मुख्य हैं। बाकी की कवि हैं: कृष्णाबाई, पुरीबाई, गवरीबाई और राधाबाई। उनकी कविताओं में स्त्री हृदय के कोमल भाव हैं, स्त्री सहज माधुर्य है, पर कविता एकंदर खूब ही सामान्य कोटि की हैं। कोई भी कवि की कविता में विचार-बल नहीं है, और यदि वे स्त्रियाँ न होतीं तो आज वे कभी की विस्मृति के प्रवाह में बह गई होतीं।'[२]

---

२. प्रि० रमण वक़ील 'साहित्य-रत्न-३' पेज १४

श्री चन्द्र कान्त

तमिल भाषा के आदि शैव-सन्त तिरुमूलर और उनकी कृति तिरुमन्त्रम्

तमिल भाषा में उपलब्ध शैव वांङमय में तिरुमन्त्र ही सर्वपुरातन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के रचयिता सन्त तिरुमूलर हैं। कहा जाता है कि सन्त तिरुमूलर कैलाश पर्वत के निवासी थे और श्री केदार, नेपाल, काशी, विन्ध्याचल श्री शैल आदि तीर्थस्थानों और पर्वत प्रदेशों की यात्रा करते हुए वे दक्षिणापथ आये और उन्होंने शैवागमों का सम्यक्-अनुशीलन कर तीन सहस्र पद्यों में तिरुमन्त्र की रचना की। तमिल के सुप्रसिद्ध शैव-महाकाव्य-पेरियपुराणम् की रचयिता महाकवि शेक्किषार ने ६३ शैवसन्तों के चरित वर्णन में तिरुमूलर का भी उल्लेख किया है। सन्त तिरुमूलर के जीवन का वर्णन २८ पद्यों में यहाँ (पेरियपुराणम्) पाया जाता है। शेक्किषार के अनुसार सन्त तिरुमूलर का जीवन-वृत्तान्त यहाँ दिया जाता है—

सात्तनूर नामक ग्राम में यादव परिवार में 'मूलन' नामक एक चरवाह रहता था। वह ब्राह्मणों की गाय चराया करता था। एक दिन चरागाह में ही चरवाह मूलन की मृत्यु हो गई। मूलन के वियोग से व्यथित होकर गायें आँसू बहा रही थीं। उसी समय कैलाश निवासी एक सिद्ध उसी ओर आये और गायों की दयनीय दशा देखकर करुणा प्लावितहृदय से स्वयं दुखी हुए और अन्यधिक शोक में निमग्न हुए। गायों के दुख-निवारणार्थ समागत कैलाशवासी योगी "शरीरान्तर-प्रवेश" नामक यौगिक क्रिया से मृत्यु की गोद में पड़े मूलन के शरीर में प्रविष्ट होकर उठे। मूलन के जीवित होने के चमत्कार पूर्ण दृश्य को देखकर गायें आनन्द मग्न हुईं। पशुस्वभाव के अनुरूप वे गायें इधर-उधर दौड़कर, चरवाह मूलन को चाटकर, अपनी खुशी और सहानुभूति प्रकट करने लगीं। सूर्यास्तवेला में गायें अपने घर की ओर अग्रसर हुईं। चरवाहमूलन के शरीर में प्रविष्ट कैलाशवासी योगी भी गायों के पीछे-पीछे घर तक गये। यथापूर्व गायों के अपने-अपने स्थान पर प्रविष्ट हो जाने पर कैलासवासी योगी भी एक सार्वजनिक मठ में जाकर योगाभ्यास में लीन हो गये। चरवाह मूलन की पत्नी पति के घर न आने पर खिन्न हुई और योगी को ही अपना पति समझकर उनके पास जाकर घर आने के लिये

अनुनय विनय करने लगी । किन्तु योगी ने आने से इनकार किया और पुनः योगाभ्यास में तल्लीन हो गये (पेरियपुराणम् सन्त तिरुमूलर-वृत्तान्त) ।

सन्त तिरुमूलर के सम्बन्ध में यह भी कहा जाता है कि वे तीन सहस्रवर्षपर्यन्त योगसाधना करते रहे और उन्होंने प्रतिवर्ष एक मन्त्र के क्रम से तीन सहस्र मन्त्रों की रचना की । प्रत्येक तिरुमन्त्र भाषा की दृष्टि से अतिसरल होने पर आध्यात्मिक और गूढ़ दार्शनिक भावों से ग्रथित है। द्वादश तिरमुरै ग्रन्थ स्तोत्रग्रन्थ समझे जाते हैं । किन्तु सन्त तिरुमूलर का तिरुमन्त्र भक्ति साहित्य में स्तोत्र ग्रन्थ के रूप में स्थान पाकर वह शास्त्र (दार्शनिक) ग्रन्थ का भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अब तमिल भाषा के शैव वाङमय में तिरुमन्त्र स्तोत्र एवं शास्त्र दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है ।

तमिल के सुप्रसिद्ध जन-कवयित्री भक्तिमती औवयार ने तिरुक्कुरल, नान्मरै (चारवेद) तेवारम् और तिरुवाचगम् के वर्ग में तिरुमन्त्र को सम्मानपूर्ण स्थान दिया है। सैद्धान्तिक दृष्टि से इन सभी ग्रन्थों की एकवाक्यता स्थापित है ।

जिस प्रकार संस्कृत के प्रमुख ग्रन्थ-रामायण, महाभारत एवं मनुस्मृति आदि में प्रक्षिप्त अंश पाया जाता है, उसी प्रकार सन्त तिरुमूलर के ग्रन्थ में भी प्रक्षिप्त अंश विद्यमान है । संप्रति उपलब्ध तिरुमन्त्र में ३००० से भी अधिक मन्त्र पाये जाते हैं । किसी प्रति में ४८ और किसी में ७६ मन्त्र अधिक हैं । तिरुमूलर के सिद्धान्त से मिलने जुलने वाले आशय के प्रतिपादक पद्य मूल-ग्रन्थ में मिला दिये गये हैं । प्रक्षिप्त अंश के निवारणार्थ विद्वानों ने बड़ा ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है । लेकिन इस कार्य में अद्यावधि कोई भी सफल न हो सका और मूल ग्रन्थ से प्रक्षिप्त अंश को पृथक नहीं कर सका ।

तिरुमन्त्र नौ तन्त्रों या विभागों में विभाजित रखा गया है । प्रत्येक तन्त्र का विश्लेषणात्मक परिचय यहां दिया जाता है:—

ग्रन्थ का प्रारम्भ विघ्न-विनायक के स्तवन से प्रारम्भ होता है । इस तथ्य से एक महान् सत्य यह प्रकट होता है कि विनायक-उपासना तमिल प्रदेश में अति प्राचीन है । तमिल भाषा और जाति की गरिमा को बढ़ाने वाले सभी प्रमुख ग्रन्थों में आये हुए ईश्वर नाम और उपासना तथाकथित आर्यभाषावाङमय में उपलब्ध नाम और उपासना के सदृश ही है। मौलिक बातों में विभिन्नता नहीं, अपितु एकता है । किन्तु तमिल भाषा एवं तमिल प्रदेश की उन्नति चाहने वाले एक समूह यथाकथंचित् विभिन्नता उत्पन्न कर, रामायण का पाठ और विनायक की उपासना द्राविड़ेतर या आर्यों का है, अतः वह अनभीष्ट मानकर रामायण का दहन एवं विनायक मूर्त्ति का भंजन आदि दुष्कृत्य करते हैं ।

द्वादश तिरुमुरै, संघसाहित्य एवं वैष्णवभक्ति साहित्य में आसेतु काश्मीर की एकता एवं एकेश्वर भाव की ही व्याख्या है । पद्धति भेद सर्वत्र है किन्तु मौलिक बातों में सर्वत्र एकता ही का प्रतिपादन है । तमिल भाषा और तमिल जाति को जीवित रखने का समस्त श्रेय इन्हीं शैव या वैष्णव सन्तों को है । दक्षिणापथ के सन्त समूह में तिरुमूलर सर्वपुरातन एवं शिखरायमान है । सन्त तिरुमूलर के विनायक स्तवन का आशयस प्रकार है:—

पांचपाणियुक्त गजानन की मैं उपासना करता हूँ। बाल चन्द्रमा के सदृश सुन्दर शिव के पुत्र और ज्ञान पण्डित विनायक भगवान को मैं शिरसा प्रणाम करता हूँ। और अपनी बुद्धि में धारण कर पूजा करता हूँ।[१]

वेद में गणपति उपासना के मन्त्र बहुत पाये जाते हैं। यजुर्वेद का एक मन्त्र यहाँ उदाहरणार्थ दिया जाता है:—

गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे
प्रियाणां त्वा प्रियपति ँ हवामहे
निधीनां त्वा निधिपति ँ हवामहे
वसो मम। आहम जानि गर्भधमात्वम्
जासि गर्भधम् ऋ० य० वे० अ० २३. मं० १९—

गणपतिपूजा समस्त भारतवर्ष में व्यापक रूप से पायी जाती है।[२] तिरुमन्त्र के प्रमाण से विनायक उपासना तमिल प्रदेश में भी बहुत पुरातन है।

सन्त तिरुमूलर शिव और प्रेम को पृथक-पृथक न मान कर एक ही तत्त्व मानते हैं। इसी प्रकार शिव और शक्ति में भेद न मानकर शक्ति को शिव का अनुग्रह (ग्रेस) मानते हैं। तमिल के शैव सिद्धान्त दर्शन में पति, पशु और पाश—इन तत्त्वों की विशद व्याख्या की गई है। ये तीनों तत्त्व सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण के प्रतीक हैं। सन्त तिरुमूलर के अनुसार अक्षर, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन इन छः पदार्थों में 'परम-शिव' व्यापकरूप से विद्यमान है। रवि, सोम, मंगल, बुध, वृहस्पति, शुक्र और शनि आदि अण्डों में अतिवर्त्ती के रूप में तिरुमूलर ने शिव का वर्णन किया है। वे शिव को ही श्रेष्ठतम मानते हैं और उन्हींकी उपासना करने की प्रेरणा बारम्बार करते हैं। समस्त तिरुमन्त्र को आद्योपान्त अध्ययन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्त तिरुमूलर वेदों के परम पक्षपाती थे। उन्होंने वैदिक मार्ग में चलकर मोक्षपाने की प्रेरणा इस प्रकार की है:—

वेदनेरि निल्लार वेडं पूण्डेन् पयन्।
वेदनेरि निर्पोर् वेडमे मेय्वेडम्।
वेद नेरि निल्लार् तम्मै विरल वेन्द्न्।
वेद नेरि चेय्दाल वीडदु वागुम॥ तिरुमंत्रेम्

---

१. ऐन्दु करत्तनै यानै मुगत्तनै
इन्दिन् इलम्पिरै पोलुं एयिट्रनै
नन्दि मगन्रनै ज्ञानक्कोलुन्दिनै
पुन्दियिल वैत्तड़ि पोट्रकिन्रेने

२. विशेष परिचय के लिए डा० सम्पूर्णानन्द का ग्रन्थ 'तिरुमन्दिरम्' देखो।

अर्थ—

वेद प्रतिपादित मार्ग में न चलने वाले व्यर्थ वेष धारण कर मिथ्या आचरण करने से क्या लाभ ? वेदमार्ग में चलने वालों के वेष ही वास्तविक वेष अर्थात् सदाचरण हैं। वेद के मार्ग में ही वास्तविक सफलता एवं मोक्ष प्राप्त होगा।

तिरुमन्त्र के प्रथम तन्त्र में भक्तानुकूल शील की व्याख्या की गई है। धूप, दीप नैवेद्य आदि पूजोपकरण से भगवान की उपासना न कर सके तो स्वशक्ति के अनुरूप भगवान के नाम पर श्रद्धा से एक हरित पत्र का अर्पण करना भी पर्याप्त है। कृष्ण-भगवान् ने भी भक्ति का सरल उपाय बताते हुए यह कहा है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त श्रद्धा से मुझे अर्पण करता है उसे मैं प्रीति पूर्वक खाता हूँ।[1] सन्त तिरुमूलर ने भी भक्ति के अतिसरल एवं सर्वसुलभ उपाय को बताया है। गाय को एक मुट्ठी भर घास देना, भोजन के समय दूसरों को थोड़ासा अन्न देना और प्राणिमात्र के साथ मधुर व्यवहार एवं मधुर भाषण भक्त के लिये अत्यावश्यक है। शरीर अस्थिर और अशाश्वत है। शरीर की अस्थिरता और मरण का चित्रण इस तन्त्र में बहुत ही सुन्दर एवं सरल शब्दों में किया गया है। जन्म और मरण के कारणों पर इस तन्त्र में विचार किया गया है, अतः इस तन्त्र को 'कारणागमसार' के नाम से कहते हैं। शरीर, सम्पत्ति और यौवन की अशाश्वतता, अहिंसा, निरामिष भोजन, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियसंयम, ब्राह्मणों का शील, आप्तों का आचार, राजाओं का कर्तव्य, धर्माचरण की विशेषता, प्रीतिमय जीवन, परोपकार, ज्ञान का संचय और मन का नियंत्रण आदि विषयों की व्याख्या यहाँ विशेष रूप से की गई है। मरण को सहज और सर्वसाधारण कहकर निम्न प्रकार से चित्रित किया गया है:—

मन्त्र का आशयमात्र दिया जाता है—

एक गृहस्थी ने धर्मपत्नी से स्वादुयुक्त षड्रस भोजन बनवाया और उसका उपभोग किया। भोजन से तृप्ति पाकर पत्नी के साथ रसमय क्रीड़ा कर लौकिक सुख का आनन्द भी लिया। इस के पश्चात् ही शरीर के वाम भाग में पीड़ा होने लगी। असह्य वेदना के कारण वह शय्या पर विश्राम करते हुए यमराज के कराल करों से ग्रसित हुआ। इस घटना को देख कर बन्धु-बान्धव एवं पार्श्ववासी जनता एकत्रित होकर रोने लगी। अन्त में उस मृत व्यक्ति को शव कहकर श्मशान भूमि को वे ले गये। वहां शरीर का दाह संस्कार हुआ। मृत व्यक्ति के नाम पर अनेक कृत्य किये गये। एक तरफ़ सामान्य जन मृतव्यक्ति के दुष्कृत्यों की तीव्र आलोचना कर रहे थे कि दूसरी ओर रिश्तेदार पिण्डदान और गौदान में लगे रहे। सन्त तिरुमूलर कहते हैं कि मृतव्यक्ति के नाम पर किये जाने वाले इन क्रिया कलापों से कोई शुभ परिणाम न निकलेगा।

---

१. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्याप्रयच्छति
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः
भ. गी. अ. ६ श्लोक २६.

सर्वशुभ लक्षण संपन्न शोभनांगी पत्नी के घर पर रहने पर भी कुछ कामुक लोग परदारागमन करने को लालायित रहते हैं। कामुक पुरुषों का यह व्यवहार सुमधुर कटहल को छोड़कर खजूर खाने के सदृश है।[1] सन्त तिरुमूलर ने इसी बात को अन्यत्र आम्र और इमली से तुलना की है। शराब पीना, हत्या, चोरी, काम, असत्य भाषण आदि का सन्त तिरुमूलर ने तीव्रता से निषेध किया है। उनका यह भी कहना है कि अज्ञानी लोग प्रेम और शिव को दो अलग[2] तत्त्व मानते हैं। दोनों वस्तुतः एक ही हैं। इसे कम लोग जानते हैं। इस रहस्य को जानने से ही शिवाद्वैतता सिद्ध होती है।

तृतीय तन्त्र म यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-अष्टांग योग के अभ्यास से प्राप्त शुभ परिणामों की व्याख्या है। यहां नन्नेरि तथा पुन्नेरि नामक दो मार्गों की व्याख्या इस तन्त्र में की गई है। शिव योग के साधनभूत अष्टांग योग को नन्नेरि और हठ योग के साधन भूत अष्टांग योग को पुन्नेरि कहते हैं। नन्नेरि ज्ञानमार्ग है। इस मार्ग में जाने के लिये इन्द्रिय संयम अत्यावश्यक है। इन्द्रिय निसर्गतः विषयों की ओर प्रवृत्त होते रहते हैं। इन इन्द्रियों का नेता आत्मा है। मनुष्य के पास मन नामक एक अश्व है। वह अतीव चञ्चल है। उस के नियंत्रण करने से ही आध्यात्मिक सफलता प्राप्त होती है। प्रयत्नशील संयमी ही अश्व को नियन्त्रण करने में समर्थ होता है।

योग चार प्रकार के हैं। मंत्रयोग, हठयोग, लययोग, और राजयोग। मन्त्रों के जप द्वारा उपास्य मूर्त्ति का ध्यान करना मन्त्रयोग है। बाह्य विषयों में प्रवृत्त इन्द्रियों के पीछे गमन करने वाले मन को नियंत्रण करने का उपाय ही हठ योग है। हठयोग के अभ्यास द्वारा इला और पिंगला नाड़ी के मध्यगत सुषुम्ना नाड़ी को उद्घाटित किया जाता है। इस क्रिया से योगी को अपूर्वशक्ति एवं अपार आत्मानन्द उपलब्ध होता है। मन को शुद्ध चैतन्य में लीन कराने को लययोग कहते हैं। शरीर और अन्तः करण के द्वारा अनुभूयमान सकल सुखों को ईश्वरीय समझकर योग का अभ्यास करना राजयोग है। तिरुमन्त्र के अनेक मन्त्रों का आशय सन्त कबीर दास जी के आशय से सादृश्य रखता है। इन दोनों के योगविषयक उक्तियां परस्पर मिलती हैं। कथनशैली दोनों की रूपकात्मक है। सन्त तिरुमूलर ने एक मन्त्र में इस प्रकार कहा है—मूलाधार में एक युवक रहता है। कपाल में पराशक्ति नामक युवति कन्या रहती है। मूलाधार में विद्यमान युवक

---

१. आत्त मनैयाल अगत्तिल इरुक्कवे।
कात्त मनैयालैक् कामुरुं कालैयर।
काय्च्च पलाविन् कनि उण्णमाहामल।
ईच्चं पषत्तुक् किडरुट्रवारे॥

२. अन्बु शिवमुं इरण्डेन्बर अरिविलार।
अन्बे शिवमानदारु अरिगिलार।
अन्बे शिवमान दारु अरिन्दपिन।
अन्बे शिवमाम् अमर्दिरुन्दारे॥

ब्रह्मरंध्र तक जाकर उस युवति से मिल जाय तो वह नव तारुण्य प्राप्त करता है ।[1]

चतुर्थ तन्त्र में हठ योग के साधनों का वर्णन है । इस तन्त्र में अजपा और भैरवी आदि मन्त्रों का वर्णन कर अंबलचक्र, त्रिपुरचक्र, भैरव चक्र, शाम्भवीचक्र, भुवनपतिचक्र और नवाक्षरी सम्बन्धी विवरण विस्तार से दिया गया है ।

पञ्चम तन्त्र में मार्ग चतुष्टय का विवरण दिया गया है। सन्त तिरुमूलर ने (१) शुद्धशैव, (२) अशुद्ध शैव, (३) मार्ग शैव और (४) कडुन्शैव के नाम से शैव के ही चार संप्रदाय दर्शाये हैं। इन चारों प्रकार के संप्रदायों के लिये साधनात्मक चार मार्ग—चर्या, क्रिया, योग और ज्ञान की व्याख्या इस तन्त्र में की गई है । इन चारों मार्गों के अभ्यास के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाले सालोक, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति का वर्णन भी यहां किया गया है । इन चार प्रकार के मुक्ति के अनुसार दासमार्ग, सत्पुत्रमार्ग, सहमार्ग और सन्मार्ग—ये मुक्ति के चार मार्ग माने गये हैं ।

भगवदनुग्रह प्राप्ति करने के लिये साधनभूत चारों मार्गों में—चर्चा, क्रिया, योग और ज्ञान उत्तरोत्तर कठिन एवं श्रेष्ठ माना गया है। इन चारों के पार करने पर ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। भगवान् के सामने दास या किंकर के समान विनम्र होकर भक्ति में लीन होना ही चर्या मार्ग है । यह अत्यन्त सरल मार्ग समझा गया है। चर्या मार्ग को ही दास मार्ग के नाम से भी कथन किया जाता है। दूसरा क्रिया मार्ग है। इस मार्ग में भगवान् और भक्त का पिता पुत्र का सम्बन्ध रहता है । इस पिता पुत्र के सम्बन्ध के कारण ही क्रिया को सत्पुत्र मार्ग भी कहते हैं। तीसरा योग मार्ग या सह मार्ग कहा जाता है । इस मार्ग का साधक भगवान् को अपना मित्र या सखा मानकर उपासना करता है । अन्तिम मार्ग ज्ञान मार्ग या सन्मार्ग है । अग्निधारा पर गमन करने के सदृश ज्ञान मार्ग को अतीव कठिन माना गया है। तमिल भाषा के एक अन्य सन्त परमहंस तायुमानस्वामी ने इन चारों मार्गों का समुदित नाम ही ज्ञान मार्ग कहा है । चर्या आदि को कली, पुष्प, फल और परिपक्वफल के साथ तुलना की गई है। कली आदि अवस्था पार करने पर ही परिपक्वावस्था प्राप्त होती है । साधक भक्त चर्यावस्था में मार्ग दर्शक गुरु से दीक्षा प्राप्त करता है। चर्या से पाप पुण्य का सन्तुलन होता है। क्रिया से मलपरिपाक और योग से[2] सत्तिनिपात और ज्ञान से सद्गुरु दर्शन होता है ।

छठे तन्त्र का मुख्य विषय शिव गुरु दर्शन है । भगवच्चरण प्राप्ति, ज्ञान का स्वरूप, सन्यास, तपस्या, अनुग्रह से उत्पन्न बुद्धि, भक्ति और भक्तों का लक्षण, अपरिपक्व-अवस्था के भक्तों का लक्षण एवं भस्मधारण करने का अभिप्राय आदि की व्याख्या है । इस तन्त्र में सन्त तिरुमूलर ने गुरु की महिमा गाई है। उनको पूरा विश्वास है

---

१. मेलै निलत्तिनाल वेदगप् पेण् पिल्लै
मूलनिलत्तिल एषुगिन्र मूत्तियै
एल एषुप्पि इवलुडन सन्दिक्क्प्
बालनुं आवान् नन्दि आनैये
तिरुमन्दिर मगानाडु मलर पृ० २६

२. सत्तिनिपात = शिवपद प्राप्ति का उपाय ।

कि गुरुजनों के अनुग्रह से ही भगवत्प्राप्ति होती है। सन्त कबीर की वाणी ठीक इसी प्रकार है। वे गुरु कृपा से ही गोविन्द का दर्शन सम्भव मानते हैं। इस प्रकार इन दोनों सन्तों के विचार में समता पाई जाती है। सन्त तिरुमूलर ने तिरुमन्त्रम् के प्रथम तन्त्र में शिव और प्रेम को एक ही तत्त्व कहा है। इस तन्त्र में गुरु और शिव को एक ही बताकर "गुरुर्देवा महेश्वरे" की याद दिलाते हैं। सन्त तिरुमूलर शिव को ही वास्तविक गुरु मानते हैं। अतः वे गुरु और शिव में एकत्व स्थापित करते हैं।

सातवें तन्त्र में अण्डलिंग, पिण्डलिंग, सदाशिवलिंग, आत्मलिंग, ज्ञानलिंग और शिवलिंग नामक छः लिंग तथा स्वाधिष्ठानम् मणिपूरकम्, अनाहतम्, विशुद्धि, आज्ञा और ब्रह्मरंध्र नामक छे आधारों की व्याख्या है। आधारों की व्याख्या पाद टिप्पणी में दी जाती है।

धर्माचरण, शिवोपासना, गुरुरूप शिव की उपासना, महेश्वरपूजा (सन्तों का अन्नदान) सन्त महिमा, अन्नदानशाला, योगमुद्रा, योगियों का निवास मण्डल, योगियों की शरीर त्यागपद्धति, इंगला-पिंगला नाड़ी, प्राण, पुरुष, अणु, जीव, पशु, इन्द्रियसंयम-पद्धति, गुरूपदेश और निषिद्धाचरण की व्याख्या इस तन्त्र में की गई है।

मूलाधार :—

आधारस्तु चतुर्दलोऽरुणरुचिर्वासांतवर्णात्मकः

मूलाधार में चतुर्दल कमल है। चित्त लक्ष्मी और वल्लभ नामक दो शक्तियों के साथ गणपति निवास करते हैं।

६ आधार :—

१. स्वाधिष्ठानम्—स्वाधिष्ठानमनेकवैद्युतनिमं बालान्तषड्चक्रकम्।
षड्दलकमल में सावित्री और गायत्री नामक दो शक्तियों के साथ ब्रह्मा निवास करते हैं।

२. मणिपूरकम्—रक्ताभं मणिपूरकं दशदलं डाद्यैः पकारान्तकम्।
दशदल कमल में भूमि और लक्ष्मी नामक दो शक्तियों के साथ विष्णु निवास करते हैं।

३. अनाहतम्—पत्रै द्वादशभिस्त्वनाहतपूरे हैमं कठर्णान्तकम्।
द्वादश दल कमल हृदय भाग में है। गौरी और अम्बिका नामक दो शक्तियों के साथ रुद्र निवास करते हैं।

४. विशुद्धि—मात्राभिर्दलषोडशस्वरयुतं ज्योतिर्विशुद्धांबुजम्। सोलह दल का कमल है। इसमें उन्मनी और वाक्मनी नामक दो शक्तियों के साथ महेश्वर निवास करते हैं।

५. आज्ञा—हक्षेत्यक्षरयुग्मकमले मुक्ताभमाज्ञांबुजम्। दो दल कमल भ्रूमध्य भाग में है। मनोन्मनी और धर्मशक्ति नामक दो शक्तियों के साथ सदाशिव गुरुरूप में रहते हैं।

६. ब्रह्मरन्ध्र—तस्यादूर्ध्वमधोमुखं विकसितं पद्मं सहस्रद्दम्। सहस्रदल कमल ब्रह्मरन्ध्र में है। इसमें पराशक्ति के साथ परमशिव रहते हैं।

आठवें तन्त्र में शरीर की रचना, शिव में लीन होने के लिये शरीर त्यागने की पद्धति, एकादश अवस्था ज्ञान-दर्शन, शैव सिद्धान्त की व्याख्या, अन्य शैव धर्म और उनका सिद्धान्त, शैव के साथ सम्बन्ध, पति, पशु और पाश की व्याख्या, काम, क्रोध और लोभ नाम त्रिदोष, तत्, त्वम् और असि, तीन मुक्ति, तीन स्वरूप, तीन कारण, तीन शून्य, कार्य कारण उपाधि, परनिन्दा और शिवनिन्दा न करना, अन्तःकमल का वर्णन, सत्य-भाषण, तृष्णा त्याग, भक्ति का संवर्धन, चित्त शुद्धि और मोक्ष प्राप्ति आदि इस तन्त्र के प्रतिपादित विषय हैं।

इस तन्त्र में अवस्थाओं का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। अवस्था कारण और कार्य के नाम से दो हैं। कारणावस्था के केवलावस्था, सकलावस्था और शुद्धावस्था के रूप में तीन भेद किये गये हैं। आत्मा के आणवमल से संपृक्त रहने की अवस्था केवला-वस्था है। तनु, करण, भुवन और भोगों को पाकर जन्म और मरण के चक्र में पड़े रहने की अवस्था सकलावस्था है। जन्म और मरण से रहित शिव के साथ अद्वैतावस्था को प्राप्त आत्मा की अवस्था शुद्धावस्था है। इसी प्रकार कार्य की पाँच अवस्था हैं :—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत। जागृतावस्था में ३५ उपकरण साँसारिक कार्यों में लगे रहते हैं। ३५ उपकरणों का विवरण इस प्रकार है :—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच तन्मात्रा, दस वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और पुरुष।

नवम तन्त्र में गुरु, गुरुमठ, गुरु दर्शन, शिवानन्द नृत्य, चिदम्बर नृत्य, आश्चर्य-नृत्य, ज्ञानोदय, सत्यज्ञान का आनन्द, स्वात्मानुभूति, कर्म, शिव दर्शन, समाधिदशा आदि का विचार किया गया है। शिवोपासना के गानों के साथ नवम तन्त्र समाप्त होता है। तिरुमन्त्र का यही अन्तिम तन्त्र है।

इस अन्तिम तन्त्र में अनेक विषयों के वर्णन किये जाने पर भी पञ्चाक्षर मन्त्र की व्याख्या मुख्य है। वेद में भी पञ्चाक्षर मन्त्र की महिमा मानी गई है। वेदों की संख्या चार होने पर भी अथर्ववेद संकलनात्मक होने से ऋजुवेद, यजुर्वेद और सामवेद ये तीन ही मुख्य हैं। इन तीनों में यजुर्वेद मध्यगत है। यजुर्वेद के मध्य भाग में रुद्राध्याय है। उस रुद्राध्याय के मध्य "नमः शिवाय" मन्त्र है। तिरुज्ञान सम्बन्ध ने इस "नमः शिवाय" मन्त्र की महिमा गाई और "नाथ का नाम नमः शिवाय[1]" ऐसा कहा है। समस्त वेदों के अध्ययन और पाठ से गो फल प्राप्त है वही फल पञ्चाक्षर मन्त्र और गायत्री मन्त्र के जप से प्राप्त है। अतिपुरातन[2] वृक्ष से प्राप्त पाँच फलों के साथ सन्त तिरुमूलर ने पञ्चाक्षर मन्त्र की तुलना की है। सकल निगमागम पारंगत होकर भी यदि कोई पञ्चा-क्षर का रहस्य न जाने तो उसका समस्त पाण्डित्य सार रहित है।

सन्त निरुमूलर ने जिस सुन्दर शैली और पाण्डित्य से इस ग्रन्थ की रचना की है उसे देखकर यह निर्णय करना कठिन है कि यह ग्रन्थ शुद्ध भक्ति काव्य है या दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें भगवद्विषय के स्तवनात्मक पद्य हैं। शैव दर्शन के सिद्धान्त और आदर्शों

---

१. वेदं नान्गिनुं मेय्प्पोरुलावदुं नादन् नामम् नमः शिवायवे। ज्ञानसम्बन्धर तेवारम्

२. पषत्तन ऐदु पषमरैयुल्ले—तिरुमलर

की व्याख्या है । पति, पशु, पाश का स्वरूप एवं पति ज्ञान प्राप्ति का साधन बताये गये हैं और यमनियम आदि अष्टांग योगों के नियम और शिव योग की श्रेष्ठता बताकर उसमें लगने की ओर प्रवृत्त किया गया है ।

तमिल भाषा के शैव धर्म के वाङमय में सन्त निरुमूलर के तिरुमन्त्र ही सर्व पुरातन एवं प्रमुख ग्रन्थ है । शैव सन्तों में तिरुमूलर ही काल की दृष्टि से अग्रदूत माने गये हैं । तिरुमन्त्र के तीन सहस्र पद्यों में आत्मचिन्तन की अनुभूति विपुल मात्रा में विद्यमान है । सन्त तिरुमूलर ने अपने समय के प्रचलित शैव धर्म की शाखा और उपशाखा—पाशुपतम्, महाव्रतम्, कापालम्, वामम्, भरवम्, शैवम्, वैदिक दर्शन—न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त के स्वरूपों का भी परिचय दिया है ।

तिरुमूलर का ग्रन्थ और शैवदर्शन ई. प. चतुर्थ या पञ्चम शताब्दी में विख्यात हुए । गुप्त राजाओं के शासन काल में गोदावरी तट पर मन्त्र कालेश्वर नामक स्थान पर चार शैव मठ थे । वहाँ आगम शैव के अनुयायी रहते थे । तिरुमूलर का समय भी यही (चौथी या पांचवीं सदी) है ।[1] तिरुमन्त्र ही उत्तर कालीन शैव सन्त—अप्पर सुन्दरर, तिरुज्ञानसम्बन्धर, और माणिक्कवाचगर आदि शैव धर्म के आचार्यों के लिये अनुकरणीय एवं आदर्श ग्रन्थ रहा है । इस संक्षिप्त परिचय के साथ तिरुमन्त्र के कुछ मन्त्रों का अनुवाद नीचे दिया जाता है । उत्तरापथ के मनस्वी सन्त कबीर आदि के साथ सन्त तिरुमूलर की तुलना करने में यह अनूदित आशय सहायक होगा ।

लौकिक ज्ञान के सहारे वर्षों भटकने से भी आत्मज्ञान या आत्मदर्शन न होगा । पारमात्मिक ज्ञान के द्वारा स्वल्प समय में ही परमात्मा की अनुभूति होती है । इसी आशग की तुलना उत्कृष्ट और निकृष्ट सोने से की गई है—

१ निकृष्ट सुवर्ण[1] को लेकर, बेचने के लिये अनेक दूकानों पर जाकर भी विक्रय न कर विमुख लौटने वालों के समान मैं हूँ । योग+अभ्यास एवं परमेश्वर भक्ति के द्वारा उत्कृष्ट सुवर्ण के समान शिवज्ञान प्राप्त होने पर मैंने शिवाद्वैत नामक माणिक्क (पद्मराग) प्राप्त कर परम सुख पाया ।

तिरुमन्त्र, कपिलाय सिद्धटीका पृ० १२.

सन्त कबीर ने तिरुमूलर के समान ही जगह-जगह पर इस प्रकार का आशय व्यक्त किया । नीचे की कबीर वाणी से यह स्पष्ट होगा ।

कबीर माया पापिणीं, हरि सूँ करे हराम ।
मुख कडिपाली कुमति की, कहन न देई राम ।।
जे मन नहीं तजैं विकारा, ते क्यों तरिये पारा
जब मन छांडै कुटिलाई, तब आई मिले रामराई
जब लगि भगत सकामना, तब लगी निर्फल सेव

सन्त कबीर दर्शन ३३, ४०, ४१

---

१. शैव समय पृ० ६८, ले० डा० राजमाणिक्कम् । निकृष्ट सुवर्ण=माया । उत्कृष्ट-सुवर्ण=पतिज्ञान ।

२ अपने हृदय में रहने वाले अन्तर्यामी को न जान कर बाह्य-आकाश में खोजने वाले हे अज्ञानियों ! तुम लोग मधु के माधुर्य से अपरिचित हो । मधु के स्वाद का वर्ण लाल है या काला यह कहना सम्भव नहीं है । मधु को इस्तेमाल करने वाले मधु के माधुर्य से परिचित हैं । मधु में विद्यमान माधुर्य के समान तुम में शिव विद्यमान है ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्वरणीषु
चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यते ऽसौ
सत्येनैनं तपसा यो ऽनुपश्यति ।

श्वे० उ० अ० १-१५

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ।
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्

श्वे० उ० अ० १ मं० १६

अविगत, अकल अनूप देख्या, कहता कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई ।
पूजा करूँ न नमाज गुजारूँ, एक निराकार हृदय नमस्कारूँ ।
अजख निरंजन लखै न कोई, निरभै निराकार है साईं ।
ज्यों तिल मां ही तेल है, ज्यों चकमक में आगि ।
तेरा साईं तुझ में जागि सकै तो जागि

कबीर

मोको कहाँ ढूंढे बन्दे, मैं तौ तेरे पास में
न मैं देवल, न मैं मसजिद, न काबै कैलास में
न तो कौन क्रिया-कर्म में, नहीं योग वैराग में
खोजी हो तो तुरतै मिलि हौं, पलभर की तालास में
कहै कबीर सुनो भाई साधो स्वांसों की स्वांस में ।

सन्त कबीरदास के अनुसार भगवत् प्राप्ति का उपाय ये है:—

तजि पाखण्ड, पांच करि निग्रह, खोजि परमपद राई ।

३ आज तक मैं अपने को न जान सका । तनु, करण, भुवन और भोग की अस्थिरता को जानकर आणवमल से निवृत्त होने पर मुझे आत्मज्ञान हुआ । शिव के अनुग्रह से आत्म-ज्ञान होने पर मैं तुझ में ही डूब रहा हूँ ।

४ मानव हृदय ही महेश का महामन्दिर है । मांसल शरीर ही मन्दिर का प्राकार है । मुख ही करुणा वरुणालय भगवान् के मन्दिर का गोपुर है । जीवात्मा ही शिवज्ञानी का शिवलिंग है । पञ्चेन्द्रिय ही मणिमण्डित प्रदीप है ।

काया मध्ये कोटि तीरथ, काया मध्ये कासी ।
काया मध्ये कवलापति, काया मध्ये वैकुण्ठवासी ।।

कबीर

हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेव विदुरमृतास्ते भवन्ति

—श्वे० उपनिषद्

५ यम नियमादि अष्टांगयोग के अभ्यास से पतिज्ञान प्राप्त शिवयोगीजनों का हृदय कभी भयभीत नहीं होता। वे जरा, जन्म, मरण या यम से भी नहीं डरते हैं।—सांसारिक विपत्ति और रात एवं दिन से शिवज्ञानी लोग प्रभावित नहीं होते। क्षुत्पिपासा भी इन्हें पीडा नहीं पहुँचाती।

६ मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, अतःकरण, आणव, माया और कर्म सम्बन्धी मल (मलों का अपर नाम पुर्यष्ठक) आत्मा और परमात्मा—इन दस तत्त्वों को मैं नहीं जानता था। परमशिव ने इन तत्वों को मुझे समझाया। तत्त्वज्ञान हो जाने से पशुकरण शिव-करण के रूप में परिवर्तित होकर कर्पूर और कर्पूर को ज्योति के सदृश अभिन्न होकर शिवलिंग या शिवरूप हो जाते हैं।

७ वेदान्त और सिद्धान्त—इन दोनों दर्शनों के द्वारा ज्ञात शिव का स्वरूप एक है। नादान्त ज्ञान के प्राप्त होने से ही जन्म-मरण का बन्धन समाप्त होगा।

८ परम तत्त्व न स्त्री, न पुरुष और नाहि नपुंसक है।[1] दूध में घृत[2] के समान प्रत्येक नर-नारी के हृदय में ज्योति रूप में तत्त्व सदा विद्यमान है। वह बिना नेत्र के देखता[3] है। और बिना कर्ण के सुनता है। इस परम रहस्य को जानने वाले ही श्रेष्ठ शिवज्ञानी हैं।

९ अकार, उकार और मकार ये आत्मा के तीन भवन हैं। इन तीनों भवनों में इला, पिंगला और सुषुम्ना नामक तीन नाड़ियां हैं। इन भवनों से (शैव सिद्धान्त के अनुसार तत्त्व ३६ हैं) ३६ तत्त्व उत्पन्न होते हैं। त्रिभुवन में विद्यमान परम-ज्योति का दर्शन न किया जाय तो जन्म-मरण के बन्धन में पुनः पुनः आना पड़ेगा।

१० आणव, माया और कर्म सम्बन्धी त्रिमल शिवज्ञानियों को नहीं है। मलाभाव के कारण अज्ञान भी नहीं है। अज्ञानाभाव से मान तथा अभिमानयुक्त कुल भी नहीं है।

उपनिषद—१ नैष स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते।

इसी उपनिषद में अन्यत्र भगवान् स्त्री, पुमान, कुमार और कुमारी कहा गया है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उतवा कुमारी।

२ सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् आत्मविद्यातपोमूलम्······

३ अपाणि पादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः साश्रृणोत्यकर्णः। स वेत्तिवेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम्।

सत्त्व, रजस और तमस त्रिगुण भी नहीं हैं। गुणाभाव से काम-क्रोधादि विषय भी नहीं हैं।

११ परमशिव से बढ़कर अन्य कोई देव नहीं है। शिवोपासना के अतिरिक्त कोई तपश्चर्या नहीं है। परमशिव से इतर त्रिदेवों से (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) होने वाला कोई कार्य नहीं है। अतः मैं उस परम शिव को छोड़कर और किसी को नहीं जानता।

१२ हमारे परमशिव की महिमा को जानने वाले इस संसार में कौन हैं। उनकी इयत्ता जानने वाले भी कोई नहीं। अज्ञात नाम रूप उस परम ज्योति के मौलिक रूप को न जानकर भी मैं उसे मन से ग्रहण करता हूँ।

१३ संगीत कला विशारदों के समान मैं न तो गाकर ही आपको प्रसन्न कर सकता हूँ। अभिनय कलाप्रवीणों के समान मैं नर्त्तन भी नहीं जानता। भक्ति में लीन होने वाले वास्तविक भक्तों के समान मैं भक्ति करना भी नहीं जानता और जिज्ञासु एवं अनुसंधानशील उत्साही जनों के सदृश मैं आपके खोजने का उपाय भी नहीं जानता। अतः आप ही अनुग्रह कर मुझे अपनाइये।[1]

१४ प्रेम और शिव को अज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न मानते हैं। इन दोनों की अभिन्नता बहुत कम लोग जानते हैं। प्रेम और शिव की अभिन्नता की अनुभूति से ही शिवाद्वैतता की उपलब्धि होती है।

१५ जीव और शिव भिन्न नहीं[2] है। जीवात्मा आणव मल के कारण अपने को शिव से भिन्न मानती है। आणव मल के निवारण से जीवात्मा शिवसारूप्य प्राप्त करती है।

१६ आणव मल के कारण अहं और तत् का भेदभाव मुझ में था। आणवमल के निवारण के साथ ही भेदभाव मुझ में से निवृत्त हो गया। अहं की भावना निवृत्त हो जाने से मैं शिवतादात्म्यभाव से ओत-प्रोत हो गया हूँ।

१७ ब्रह्मज्ञानी के घर पांच दोग्ध्री गायें हैं। चरवाह के अभाव में वे गाये इतस्ततः पर्यटन करती रहती हैं। गोपालक के द्वारा नियंत्रित होकर गायों का अहंकार हटे तो ब्रह्मज्ञानी की पांचों गायें खूब दूध देगी अर्थात् इन्द्रियों नियंत्रित कर आत्मा ब्रह्म की ओर अग्रसर होने पर ब्रह्म प्राप्ति सुलभ है।

१८ इस असार संसार में मैंने एक ही सारवान फल देखा है। वह सारवान् मधुरफल "नमः शिवाय" नामक मन्त्रात्मक फल है। चबाने पर वह नीरस प्रतीत होता है। लेकिन खाने पर वह अतीव मधुर प्रतीत होता है।

१९ अण्ड पिण्ड चराचर जगत् को स्वकुक्षि में धारण करने वाला एक परमतत्त्व है और उसका नाम 'परम शिव' है। उस तत्त्व की लीला ही सत्य है। शेष सांसारिक लीलायें

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना-श्रुतेन यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणूते तनूँ स्वाम् क० उ० वल्ली ३. म० २३।

२ ममैवांशो जीवभूतः सनातनः (गीता)।

असत्य है। परमशिव तत्त्व ही समस्त जगत को प्राणशक्ति से अनुप्राणित करती है। उसे ही 'नमः शिवाय' फल कहते हैं। उस फल को खाने वाले ही उसके माधुर्य से सुपरिचित होंगे।

२० सर्वत्र शिव शरीर है। सर्वत्र शिव शक्ति है। सर्वत्र चिदम्बरम् है। सर्वत्र शिव ताण्डव है। सर्वत्र शिवमय होने से शिवानुग्रह भी सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

२१ मैंने इस शरीर को निकृष्ट और दूषित समझा। आणवमल के निवृत्त हो जाने पर इसी शरीर में परम ज्योति का मुझे अनुभव हुआ। मेरे इसी शरीर में उत्तम पुरुष शयन कर रहा है। परम पुरुष के आवासस्थानभूत इस पाँचभौतिक शरीर की मैं सम्यक् देखभाल कर रहा हूँ।

सुश्री यमुना केसकर

व्यावहारिक भाषाविज्ञान और हिन्दी

१—अ० कन्हैयालाल मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के विद्वान् संचालक श्रद्धेय डा० विश्वनाथ प्रसाद ने अपने यहाँ के एम० ए० [भाषाविज्ञान] के पाठ्य-क्रम में (१९५८–६०, पृ० ५) व्यावहारिक अथवा प्रयोगात्मक या यांत्रिक (Experimental या Instrumental) भाषाविज्ञान के लिए भी एक विशेष पत्र निर्धारित किया है और व्यावहारिक भाषाविज्ञान के अन्तर्गत भाषा-शिक्षण, पाठ-शोध, कोष-विज्ञान, वृत्ति-विज्ञान, वाक्-चिकित्सा आदि को स्थान दिया है। सामान्यत: भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में भाषा-विज्ञान का जो व्यवहार होने लगा है, उसकी चर्चा के सिलसिले में इस शब्द का प्रयोग इधर होने लगा है।[1] पर अभी इसकी कोई निश्चित, सर्वमान्य परिभाषा दे पाना संभव नहीं। मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि भाषा-शिक्षण, संवाद-वहन आदि मानव-समाज के भाषाविषयक विविध क्षेत्रों में भाषाविज्ञान की उपयोगिता और व्यवहार की छान-बीन करने वाला शास्त्र व्यावहारिक भाषाविज्ञान है। यहाँ व्यावहारिक और प्रयोगात्मक का अन्तर स्पष्ट कर देना अनिवार्य है। भाषाविज्ञान का संबंध प्रयोगशालाओं में काइमोग्राफ़, साउण्ड स्पेक्टोग्राफ आदि यंत्रों की सहायता से भाषा के भौतिक स्वरूप का अध्ययन करने से है। परन्तु व्यावहारिक भाषाविज्ञान का संबंध यंत्रों और प्रयोगशालाओं से सीमित न होकर व्यावहारिक जीवन में भाषाविज्ञान की उपयोगिता से है।

१—आ० प्रस्तुत प्रबंध में इस बात का विचार किया गया है कि भाषा-शिक्षण, संवाद-वहन, कोष-निर्माण आदि के क्षेत्र में हिन्दी की समस्याओं को व्यावहारिक भाषा-विज्ञान की सहायता से किस प्रकार सुलझाया जा सकता है। विशेष रूप से हमने यहाँ अहिन्दी-भाषियों के हिन्दी-शिक्षण की समस्या को ही अपने विवेचन का विषय निर्धारित किया है।

१—इ० यहाँ व्यावहारिक भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि पिछली दो शताब्दियों के पहले तक भाषाविज्ञान व्यावहारिक उपयोगिता से रहित शास्त्र समझा जाता रहा। किन्तु अमेरिका में जब अँग्रेजी और अन्य विदेशी भाषाओं

1. John B. Carrol : The study of Language: 1955, P. 140.

के शिक्षण की परंपरागत विधि के प्रति लोगों में असंतोष फैलने लगा और द्वितीय महा-युद्ध-काल में विदेशी भाषाओं के जानकार व्यक्तियों की जरूरत राज्य को पड़ने लगी तो भाषाविज्ञान के प्रति लोगों की धारणा भी बदलने लगी।[२] १९४२–४५ में सर्वप्रथम अमरीकी सैनिकों को कतिपय अपरिचित भाषाएँ सिखाने के लिए भाषा-वैज्ञानिकों की सहायता ली गई। सैनिकों की भाषा-शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य था न्यूनतम समय में ईप्सित भाषा को बोलने की क्षमता का संपादन। नवीन विधि से यह उद्देश्य अपेक्षाकृत अल्प अवधि में–६ से ९ महीनों के बीच–सिद्ध होता दिखाई पड़ा।[३] आगे चलकर सामान्यत: भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में नवीन, सफल विधियों का प्रयोग अमरीकी विद्यालयों में भी होने लगा। साथ ही नवीन एवं अधिक उपयोगी कोष-निर्माण, पाठ्य-पुस्तक संकलन, संवाद-वहन आदि भिन्न-भिन्न दिशाओं में भी इसकी संभावनाएँ प्रकट हुई हैं तथा राजनीतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को सुलझाने में भी भाषाविज्ञान का उपयोग होने लगा है।[४] भाषावैज्ञानिकों द्वारा संपादित भाषाओं के वर्णनात्मक विश्लेषण की सहायता से ऐसे यंत्रों के निर्माण के प्रयत्न भी हो रहे हैं, जो सरलतापूर्वक एक से दूसरी भाषा में अनुवाद कर सकें।[५]

२—अ० अमेरिका में भाषा-शिक्षण की दिशा में जो नवीन प्रयोग हुए हैं, उनसे अहिन्दी-भाषियों के लिए हिन्दी-शिक्षा की सरल, वैज्ञानिक व्यवस्था करने में नि:सन्देह सहायता ली जा सकती है।

हिन्दी-शिक्षण की समस्या के प्रमुख दो पहलू होंगे :—

क—अहिन्दी-भाषी बाल-छात्रों के लिए विद्यालयों में हिन्दी-शिक्षा की व्यवस्था;

तथा ख—अहिन्दी-भाषी वयस्क सरकारी कर्मचारियों एवं सार्वजानिक कार्य-कर्त्ताओं के लिए हिन्दी-शिक्षा का प्रबन्ध।

बालक-बालिकाओं के हिन्दी-शिक्षण का कार्यक्रम अपेक्षाकृत दीर्घकालीन भी हो सकता है, किन्तु वयस्क सरकारी कर्मचारियों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के लिए तो ऐसी व्यवस्था आवश्यक है, जिससे वे कम से कम समय में राजभाषा में अधिक से अधिक कार्य-संपादन की क्षमता प्राप्त कर सकें।

२—आ० इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भाषा-शिक्षण की नवीन विधियों की खोज करते हुए हमें दो सिद्धान्तों को सर्वप्रथम मान्यता देनी होगी :—

---

2. Robert A. Hall, jr.: American Linguistics: Archivum Linguisticum, Vol, IV, P. 9.
3. Mary R. Haas: The Application of Linguistics to Language Teaching: Anthropology Today; p. 813.
4. Robert A. Hall, jr : American Linguistics : Archivum Linguisticum, Vol. IV, PP. 9--15.
5. Victor H. Yngve : The Translation of Languages by Machine : Information Theory, PP. 195—205.

१—लिखित कृत्रिम भाषा की अपेक्षा हमें बोलचाल की जीवित भाषा को अधिक महत्त्व देना होगा, अर्थात् उसे पठन-पाठन की विषय-वस्तु मानना होगा;

और २—शिक्षण के हर स्तर पर हमें शिक्षार्थियों की मातृभाषा का महत्त्व स्वीकार करना होगा।

२ अ–१–बोलचाल की भाषा का ज्ञान प्राप्त किए बिना केवल लिखित भाषा सीख कर कोई उसका वास्तविक ज्ञाता नहीं बन सकता। अहिन्दी-भाषा छात्रों को हिन्दी पढ़ाने का अनुभव जिन्होंने प्राप्त किया है, वे सहज ही स्वीकार करेंगे कि ऐसे छात्र हिन्दी लिखने में भी अधिकांशतः वैसी ही गलतियाँ करते हैं, जैसी बोलने में। काश्मीरी में सघोष महाप्राण ध्वनियों का सर्वथा अभाव है। अतः हिन्दी की सघोष महाप्राण ध्वनियों के उच्चारण और लेखन में उन्हें स्वभावतः कठिनाई होती है। 'भला' को 'बला' और 'भगवान' को 'बगवान' लिखना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं। इसी प्रकार तमिल में अघोष और सघोष महाप्राण ध्वनियों का प्रयोग नहीं होता। स्वभावतः तमिलभाषी अपने उच्चारण के आधार पर 'खाना' को 'काना' बना देते हैं। बँगला में 'श' और 'स' का भेद नहीं है, दोनों का उच्चारण दंत्य होता है। हिन्दी की तालव्य और दंत्य ऊष्म ध्वनियों का भेद उनके लिए समस्या है। वैसे ही 'ब' और 'व' का अन्तर सीखने में भी उन्हें कठिनाई होती है और प्रायः 'वह' का 'बह' और 'वही' का 'बही' हो जाना आश्चर्य की बात नहीं होती। अतः केवल वर्ण-विन्यास ही नहीं, शब्द-प्रयोग, वाक्य-गठन आदि की दृष्टि से भी बोलचाल की भाषा को हमें महत्त्व देना होगा। भाषण में पटु होने के पश्चात् लेखन-पद्धति से गहरा परिचय अल्प अवधि में संभव है। वस्तुतः पहले बोलने की क्षमता संपादित कर लेने पर इतर भाषा-भाषी छात्र भी उसी स्तर पर आ जायँगे, जिस स्तर पर स्वयं हिन्दी-भाषी छात्र विद्यारंभ के समय में रहते हैं।[६]

२ अ०–२–नवीन, विदेशी भाषा के शिक्षण में यदि मातृभाषा की सहायता ली जाय, तो परिणाम कहीं अधिक संतोषप्रद सिद्ध होता है। १९३६ ई० से पहले मेक्सिको के विद्यालयों में भारतीय छात्रों के लिए केवल स्पैनिश के माध्यम से शिक्षा का प्रबन्ध था। यही नहीं, विद्यालयों में मातृभाषा में वार्तालाप करते पाए जाने वाले छात्र दंडित भी किए जाते थे। फिर भी स्पैनिश के प्रसार में सरकार को अपेक्षित सफलता नहीं मिली। १९३६ ई० के बाद इस शिक्षा-नीति में परिवर्तन किए गए। मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाया गया और द्विभाषी पाठ्य-पुस्तकें निर्धारित की गईं, जिससे छात्र सहज ही मातृभाषा के माध्यम से स्पैनिश की ओर बढ़ सकें। परिणाम यह हुआ कि शिक्षार्थियों ने पहले की अपेक्षा कई गुनी तेजी से स्पैनिश सीखना शुरू कर दिया।[७] अमेरिका के भारतीय बाशिन्दों को अँग्रेजी सिखाने में भी इसी पद्धति का अवलंबन लिया गया

---

6. Mary R. Haas : The Linguist as a Teacher of Languages : Language, Vol. XIX, P. 208.

7. E. A. Nida : Approaching Reading Through The Native Language : Language Learning : Vol. II, PP. 16-17.

है और परिणाम पर्याप्त संतोषप्रद रहा है।[८] मातृभाषा की तुलना में नई भाषा का ज्ञान प्राप्त करना अधिक सरल और दिलचस्प भी होता है।

३—अ० इस तुलनात्मक पद्धति के अवलंबन के लिए आवश्यक यह है कि हिन्दी तथा उन सभी भाषाओं की—जिनके बोलने वालों को हिन्दी की शिक्षा देनी है—स्वनिकात्मक वर्णमालाएँ प्रस्तुत की जायँ। हर भाषा के बोलने वालों की उच्चारण, शब्द-प्रयोग, वाक्य-गठन आदि संबंधी अपनी समस्याएँ हुआ करती हैं। वस्तुतः विदेशी भाषा-शिक्षा की समस्या एक विशिष्ट भाषा-भाषी को एक विशिष्ट नई भाषा सिखाने की समस्या हुआ करती है।[९] अतः बँगला, तमिल, तेलुगु आदि पृथक्-पृथक् भाषा-भाषियों के लिए पृथक्-पृथक् पाठ्य-सामग्री प्रस्तुत करने की आवश्यकता होगी। जिस भाषा के बोलने वालों को हिन्दी की शिक्षा देनी हो, उनके सामने उनकी मातृभाषा और हिन्दी—दोनों की तुलनात्मक स्वनिकात्मक वर्णमालाएँ प्रस्तुत करनी होंगी। पहले उनके सामने ऐसी ध्वनियाँ रखी जायँ, जो दोनों भाषाओं में समान हों। उदाहरणार्थ, यदि तमिल-भाषियों को हिन्दी की शिक्षा देनी हो, तो पहले क, ग, प, ब आदि समान ध्वनियाँ उनके सामने प्रस्तुत की जायँ। तदनंतर हिन्दी की ऐसी ध्वनियाँ उनके सामने रखी जायँ, जो तमिल में नहीं हों,[१०] अर्थात् ख, घ, फ, भ, आदि। ऐसी ध्वनियों के सीखने में शिक्षार्थियों को पहले दिक्कत जरूर होगी, पर शिक्षक उन्हें ध्वनि-विज्ञान के अध्ययन द्वारा प्राप्त उच्चारण के स्थान और प्रयत्न-सम्बन्धी ज्ञान की सहायता से नवीन ध्वनियों का उच्चारण सहज ही सिखा सकेंगे।

३—आ० ध्वनियों से परिचित कराने के साथ-साथ भाषा में उन ध्वनियों के प्रयोग से भी शिक्षार्थियों को परिचित कराने की आवश्यकता होगी। दो भाषाओं में एक ही समान ध्वनि प्रयुक्त हो सकती है, किन्तु उनके प्रयोगों में अन्तर हो सकता है। अँग्रेजी और स्पैनिश—दोनों भाषाओं में 'म' और 'न' ध्वनियाँ हैं। फिर भी शब्दान्त में 'म' ध्वनि का उच्चारण करने में स्पैनिश-भाषी असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उनकी भाषा में यह ध्वनि शब्दान्त में कभी नहीं आती। वे अँग्रेजी के [Lem] जैसे शब्द का उच्चारण प्रायः [Len] करते हैं।[११] वस्तुतः लोग अपनी भाषा के ध्वन्यात्मक अंतरों से परिचित उनके श्रव्य रूपों के पारस्परिक अंतर के कारण नहीं होते, वरन् भाषा में ध्वनियों के व्यावहारिक स्वरूप के कारण होते हैं।[१२] स्पैनिश-भाषियों के लिए शब्दांत में 'म' और 'न' के अन्तर का महत्त्व नहीं है, क्योंकि उनकी भाषा में शब्दान्त के 'म' और 'न' व्यावहारिक रूप में अर्थ-भेद का द्योतन नहीं करते।

---

8. E. A. Nida : Approaching Reading Through The Native Language: Language Learning: Vol. II, P. 19.
9. Charles C. Fries : The Chicago Investigation : Language Learning, Vol. II, P. 97.
10. Charles Michalski : Saystematizing, The Teaching of English Vowel Phonemes : Language Learning, Vol. II, P. 56-60.
11. Yao Shen : Phonemic Charts Alone Are Not Enough : Language Learning, Vol. V, P. 127.
12. A. Martinet : Phonology As Functional Phonetics : P. 6.

४—भाषाविज्ञान के सिद्धान्तों का प्रयोग कर ऐसी पाठ्य-सामग्री तैयार की जा सकती है, जिसमें निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान रखा गया हो :—

१—वर्णनात्मक भाषाविज्ञान किसी भी भाषा का विश्लेषण कर उसकी सर्वाधिक आवृत्त (recurrent) ध्वनियों को अलग कर सकता है। दैनंदिन व्यवहार की भाषा में जिन ध्वनियों की सर्वाधिक आवृत्ति होती है, निस्संदेह उनकी शिक्षा पहले दी जानी चाहिए। पाठ्य-पुस्तक में पाठों का क्रम ऐसा हो कि प्रारंभिक पाठों में सर्वाधिक आवृत्त ध्वनियों से विद्यार्थी पहले परिचय प्राप्त कर सके।

२—इसी प्रकार सर्वाधिक आवृत्त पदों या शब्दों की सूची बनाई जा सकती है और प्रारंभिक पाठों में शिक्षार्थियों को उनसे प्रगाढ़ परिचय का अवसर दिया जा सकता है।

३—वाक्य-गठन की भी सर्वाधिक प्रचलित पद्धतियों से पहले शिक्षार्थियों का परिचय आवश्यक है। भाषावैज्ञानिक द्वारा इन पद्धतियों का पता वर्णनात्मक विश्लेषण द्वारा लगाया जा सकता है।

इस सामग्री का संकलन कर जो पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जायँगी, उनसे शिक्षर्थी पहले सर्वाधिक प्रचलित ध्वनियों और पदों तथा वाक्य में उनके नियोजन की पद्धतियों से परिचित हो जायँगे। इसके बाद धीरे-धीरे उन्हें वेसी ध्वनियों, पदों और वाक्य-रचना से भी परिचित कराया जा सकता है, जिनका प्रचलन भाषा में सीमित होता है।

५—अ० पद-रचना या व्याकरणिक कोटियों के शिक्षण के लिए संप्रति उपलब्ध सामग्री-अर्थात् हिन्दी व्याकरण-ग्रंथ काफी भ्रामक हैं। बँगला-भाषियों को जिनकी भाषा में लिंगानुसार क्रिया-परिवर्त्तन की आवश्यकता है ही नहीं—हिन्दी क्रियाओं का लिंग-परिवर्तन अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है। खास कर, अचेतन पदार्थों में लिंग-भेद की प्रवृत्ति उन्हें सर्वथा विचित्र जान पड़ती है। व्याकरण के नियम भी अप्राणिवाचक संज्ञाओं के लिंग-निर्धारण में उनकी सहायता नहीं करते। उदाहरणार्थ इस नियम के साथ ही—कि सभी अप्राणिवाचक ईकाराँत संज्ञाएँ स्त्रीलिंग होती हैं—यह अपवाद भी जोड़ दिया जाता है कि घी, दही, मोती, जी, पानी पुल्लिग है। यह सही है कि इस अपवाद के ऐतिहासिक कारण हैं, किन्तु हिन्दीतर भाषियों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वे भाषा सीखने के साथ-साथ शब्दों के व्युत्पति-संबंधी जटिल नियमों को भी याद रखें। भाषा-वैज्ञानिक हिन्दी का वर्णनात्मक विश्लेषण कर समस्त हिन्दी संज्ञाओं को ऐसे दो वर्गों में विभक्त कर सकता है, जिनमें से एक वर्ग स्त्रीलिंग और दूसरा पुल्लिग संज्ञाओं से गठित हो। संज्ञा, क्रिया, विशेषण में लिंग-वचनानुसार जो विकार होते हैं, वे हिन्दीतर-भाषियों को अत्यन्त जटिल प्रतीत होते हैं। कुछ विशेषण अविकारी हैं और कुछ विकारी। विशिष्ट नियमों के अभाव में किस विशेषण का रूप लिंग-वचनानुसार विकृत होगा और किसका नहीं—यह एक पहेली बनी रह जाती है। लिंगानुसार संज्ञाओं और विकारी या अविकारी के रूप में विशेषणों का वर्गीकरण कर लेने के पश्चात् विकारी विशेषण सरलतापूर्वक

पुल्लिग या स्त्रीलिंग संज्ञाओं का अनुसरण करते बताए जा सकेंगे। वार्तालाप के जरिए व्याकरण के इन नियमों की शिक्षा अधिक सफल रूप में दी जा सकती है।[१३]

५—आ० वाक्य-गठन और वाक्यों में पद-क्रम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उदाहरणार्थ, हिन्दी में विधेयात्मक "मैं जाऊँगा" को निषेधसूचक बनाने के लिए उद्देश्य और विधेय के बीच 'नहीं' जोड़ देने की अपेक्षा है—मैं नहीं जाऊँगा। बँगला में इस पदक्रम का प्रचलन नहीं है। वहाँ इस क्रम में थोड़ा अन्तर है। वहाँ "आमि जाबो" का निषेधात्मक रूप होगा—"आमि जाबो ना" काश्मीरी में भी निषेधात्मक वाक्य का रूप बँगला की ही भाँति होता है। 'बे गच्छे ने।"[१४] विचारों की अभिव्यक्ति की भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ भी भिन्न-भिन्न वाक्य-रचनाओं का कारण बनती हैं। उदाहरणार्थ अँग्रेजी के तीन वाक्यों को लें और हिन्दी में उनके समानांतर वाक्यों से उनकी तुलना करें :

अँग्रेजी	हिन्दी
1. I am happy,	मैं खुश हूँ।
2. I am well	मैं अच्छा हूँ।
3. I want.	मैं चाहता हूँ।

इनमें से प्रथम और द्वितीय वाक्य पूर्णतः समानांतर हैं। किन्तु तृतीय के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती है। "मैं चाहता हूँ" का शब्दशः अँग्रेजी अनुवाद होगा (I am desirous)[१५] वाक्य-गठन के ऐसे अंतरों को मातृभाषा की तुलना द्वारा स्पष्ट किए बिना हम नवीन भाषा की प्रकृति से शिक्षार्थी को परिचित नहीं करा सकते। हिन्दी क्रियाओं की काल-रचना में–गा प्रत्यय भविष्य का सूचक माना गया है। लेकिन "मैं कल कलकत्ते जा रहा हूँ" में स्पष्टतः "रहा हूँ" भविष्य का संकेतक है। हिन्दी-क्रियाओं का वर्णन करते समय न केवल लिंग, वचन और कालों की, बल्कि 'ने' चिह्न के कारण हिन्दी क्रियाओं के दो वर्ग हो जायँगे—एक ऐसी क्रियाओं का जो 'ने' चिह्न के साथ नहीं आतीं और दूसरा उनका जो 'ने' चिह्न के साथ आती हैं। दोनों में होने वाले लिंग-वचनानुसार परिवर्तन भी भिन्न कोटि के होंगे। व्याकरण की शिक्षा में भाषान्तरण व्याकरण (Transfer grammar) की भी सहायता ली जा सकती है। भाषान्तरण व्याकरण दो भाषाओं के गठन का अर्थात् मातृभाषा और जिस भाषा को सीखना हो, उसका वैसा तुलनात्मक अध्ययन है, जिसमें नई सीखी जाने वाली भाषा के गठन की विशेषताओं का दूसरी भाषा के गठन के प्रकाश में वर्णन किया जाता है। यह तुलनात्मक अध्ययन भाषा-

---

१३. वार्तालाप के जरिए व्याकरण-शिक्षा की विधि के लिए द्रष्टव्य Heinrich Hoenigswald कृत spoken Hindustani, जो अमरीकी सैनिकों को हिंदुस्तानी की शिक्षा देने के लिए लिखा गया था।

14. ध्वन्यात्मक लिपि में [bè getsè né]

15. Heinrich Hoenigswald : Spoken Hindustani : Book I, P. 43.

16. Oscar Luis Chavarria—Aguilar : Transfer Grammar : Lectures in Linguistics : Deccan College Hand book series: 5, p. 105.

शिक्षा की दृष्टि से किया जाता है ।[16] मातृभाषा के साथ तुलना कर भाषान्तरण व्याकरण ईप्सित भाषा की नई प्रवृत्तियों को स्पष्ट करता है, और साथ ही मातृभाषा की वैसी प्रवृत्तियों को, नई भाषा के प्रसंग में, भूलने का भी संकेत करता है, जो नई भाषा के लिए अनावश्यक है ।[17]

६—स्वनिकात्मक वर्णमाला और नवीन विधि से संकलित पाठ्य-सामग्री के जरिए भाषा के संपूर्ण गठन से परिचय प्राप्त कर लेने के बाद परंपरागत लिपि सीखने में शिक्षार्थियों को विशेष कठिनाई नहीं होगी। स्वनिकात्मक वर्णमाला में पढ़ने की दक्षता प्राप्त हो जाने पर शिक्षार्थियों को स्वनिकात्मक वर्ण और परंपरागत लिपि-चिह्न का तुलनात्मक परिचय कराना होगा। जब शिक्षार्थी परंपरागत लिपि में पढ़ने की दक्षता प्राप्त कर लें तो फिर उन्हें लिपि-चिन्ह और उच्चरित ध्वनियों का पारस्परिक संपर्क ग्रहण करते देर नहीं लगेगी।

७—केवल अहिन्दी-भाषी ही नहीं, हिन्दी-भाषी शिक्षार्थियों की दृष्टि से भी भाषा-शिक्षा की नवीन विधियों का अनुसरण अपेक्षित है। वयस्कों के बीच साक्षरता-प्रसार के अधिक उन्नत और प्रभावशाली उपायों की खोज भी व्यावहारिक भाषाविज्ञान की सहायता से की जा सकती है।

८—शिक्षा एवं अन्य प्रयोजनों की दृष्टि से हिन्दी के एक नवीन बृहत् शब्द-कोष के निर्माण की भी आवश्यकता कम नहीं है। आदर्श शब्द-कोष से शब्दों के संबंध में पाँच प्रकार की सूचनाएँ अपेक्षित होती हैं—शब्द का स्वनिकात्मक गठन (हर स्वनिक या सार्थक ध्वनि को पृथक् वर्ण द्वारा लिपिबद्ध किया जाय); उसकी पद-रचना, प्रत्यय आदि के संयोग से उसमें उत्पन्न होने वाले विकारों की सूचना; वाक्य में उस शब्द के प्रयोग से संबंधित सूचनाएँ, तथा उसका अर्थ।[18] वस्तुतः किसी भी शब्द का अर्थ नियत नहीं होता। वाक्य में उसकी अवस्थिति उसे विशिष्ट अर्थ प्रदान करती है। अतः केवल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ बताने वाले कोषों की अपेक्षा उपर्युक्त ढँग के वैज्ञानिक कोषों की हमें अधिक आवश्यकता है।

९—इस संक्षिप्त प्रबन्ध में हिन्दी-शिक्षण या कोष-निर्माण के क्षेत्र में व्यावहारिक भाषाविज्ञान के उपयोग की कोई निश्चित, सुसंबद्ध योजना प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की गई है। केवल संभावनाओं की ओर संबद्ध क्षेत्रों का ध्यान आकर्षित करने का प्रयास किया गया है। इन दिशाओं में व्यावहारिक भाषाविज्ञान की संभावनाओं की खोज हो और हिन्दी के प्रचार-प्रसार में उनसे सहायता मिले, इसी की अपेक्षा है।

17. Oscar Luis Chavarria—Aguilar: Transfer Grammar: Lectures in Linguistics: Deccan College Hard book series: 5, p. 105.
18. Archibald A. Hill : The Use of Dictionaries in Language Teaching: Language Learning, Vol. I, no. 4, p. 10.

श्री हरिमोहन लाल श्रीवास्तव

जोगीदास का 'दलपतिराव-रायसा'

[हिन्दी साहित्य में 'रासो' ग्रंथों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा है। वीरगाथा काल में जिस नवीनता ने जन्म पाया, उसे रीतिकाल में विशेष पोषण मिला। एक ओर जहाँ शृंगार की सरिता अबाध गति से बह निकली, वहाँ दूसरी ओर रासो-ग्रंथों के रूप में वीरत्व की बाँकी छटा भी देखने को मिलती है। कवि-स्वातंत्र्य के नाम पर अथवा आश्रयदाताओं के यशोगान के कारण इन ग्रंथों में ऐतिहासिक विवरण की पूर्णता भले ही न हो, तथापि जहाँ विशेष कुछ जानने के साधन ही नहीं हैं, वहाँ ये ग्रंथ इतिहास पर कुछ तो प्रकाश डालते ही हैं। अतएव हम इनके महत्व के लिये ऋणी हैं।

बुन्देलखंड के रजवाड़ों में इतिहास की बहुत-कुछ अमूल्य सामग्री भरी पड़ी है, यद्यपि पर्याप्त मात्रा में विनष्ट भी हो गई है। दतिया के श्री हरिमोहन लाल श्रीवास्तव, एम० ए०, एल० टी० के पास मुग़ल अथवा अंग्रेज़ों के समय के कुछ महत्वपूर्ण रायसे सुलभ हैं, जिनमें से कुछ तो वे प्रकाशित कर चुके हैं। दलपतिराय का रायसा शोध के विद्यार्थियों के लाभार्थ इस 'पत्रिका' में जा रहा है। यदि संभव हुआ, तो हम आगे उनकी खोज की कुछ और भी सामग्री पर प्रकाश डालना चाहेंगे। सं०]

दलपतिराव (सन् १६८३ से १७०७) दतिया—राजवंश में तीसरे शासक थे। मुग़ल घराने में तीसरे शासक अकबर की भांति दलपतिराव ने अपने राज्य को दृढ़ता प्रदान की। उन्होंने दतिया नगर को कुछ नये ढंग से बसा कर 'दलीपनगर' नाम दिया। अपने राशि नाम पर 'प्रतापगढ़' के नाम से नगर में एक सुदृढ़ दुर्ग का निर्माण भी दलपतिराव के समय में हुआ।

दलपतिराव एक बड़े योद्धा थे, जिन्होंने अपने पिता शुभकरण की मृत्यु के बाद बुन्देली सेना का नेतृत्व किया। सुदूर दक्षिण में बीजापुर (१६८६), गोलकुण्डा (१६८७), अदोनी (१६८८), और जिन्जी (१६९४) के मोर्चों पर लड़ कर उन्होंने दतिया के लिये प्रशंसनीय वैभव कमाया। दलपतिराव को प्रारंभ से ही औरंगजेब का अच्छा विश्वास प्राप्त था। सन् १६८२ में जब औरंगाबाद में रहते हुए खाँजहाँ ने शंभाजी के एक दूत के यों ही निकल जाने का आरोप दलपतिराव पर लगाया, और जब आरोप से

रुष्ट होकर समस्त बुँदेली सेना भड़क उठी थी, सम्राट औरंगज़ेब ख़ाँजहाँ की शिकायत पर तनिक विश्वास न कर सके।

सम्राट की एक बेगम हुसैनमीर को आगरा ले जाने का भार जब दलपतिराव को सौंपा गया, तो मार्ग में नदी पार करते हुए उनकी रानी का हाथी भड़क उठा। पर्दे की रक्षा के विचार से दलपतिराव हाथी का वध करने के लिये प्रस्तुत हुए, तभी बेगम ने अपनी चौंड़ेल (बन्द पालकी) रानी के लिये भेज दी। चौंड़ेल का यह सम्मान दतिया की रानियों का एक विशिष्ट सम्मान है, जो बुन्देलखंड के अन्य राज्यों को नहीं मिला।

दक्षिण में रामसीज के घेरे में जख्म पाने वाले दलपतिराव को बार-बार मनसब-वृद्धि का अवसर प्राप्त हुआ। गाज़ीउद्दीन खाँ के साथ अहमदनगर से बीजापुर रसद ले जाते हुए जब उन पर मराठों ने आक्रमण किया, तो दोनों सेनानायकों ने असाधारण वीरता दिखाते हुए प्राय: ४०० शत्रुओं को नष्ट कर दिया। अपनी इस वीरता के लिये दलपतिराव 'राव' की उपाधि और अलम (ध्वजा) के सम्मान से विभूषित हुए। १६८८ में दलपतिराव अदोनी के क़िलेदार नियुक्त हुए, परन्तु १६९२ में राजकुमार बेदारबख्त को सहयोग देने के कारण सम्राट उनसे कुछ रुष्ट हो गये। किन्तु शीघ्र ही उन्होंने सम्राट को प्रसन्न कर लिया। फ़ारस के राजदूत को औरंगाबाद लाने का भार जब उन्हें सौंपा गया, तो मार्ग में मराठों ने आक्रमण कर दिया, और दलपति राव ने मराठा सरदार लाखोजी सिंधिया को क़ैद कर लिया। १६९४ में जिन्जी की लड़ाई के बाद सम्राट ने दतिया नरेश को एक जोड़ विशाल फाटक प्रदान किया, जो क़िले में फूलबाग के द्वार पर अब भी सुरक्षित है।

सन् १६९८ में दलपतिराव के सुपुत्र रामचन्द्र को नमूनगढ़ का सूबेदार नियुक्त किया गया, किन्तु रामचन्द्र ने चुपचाप उस स्थान को छोड़कर पिता की अनुपस्थिति में दतिया को हथिया लेने का प्रयास किया। किन्तु औरंगजेब के अधिकारियों की सतर्कता से रामचन्द्र का यह प्रयास विफल हुआ। सन् १७०० में दलपतिराव ने जुल्फिकार खाँ की सेना के अग्र भाग का नेतृत्व दाऊद खाँ पन्नी के स्थान पर सँभाला। परनाला के युद्ध में उन्होंने रण-कौशल का सुन्दर परिचय दिया, जिसके पुरस्कार-स्वरूप सर एच० ईलियट के अनुसार उन्हें ३०००) का मनसब प्राप्त हुआ। उन्होंने वाकिनखेरा के युद्ध में भी भाग लिया। शाहआलम बहादुरशाह और आज़मशाह के बीच उत्तराधिकार के युद्ध में दतिया-नरेश ने आज़मशाह का साथ दिया, और १९ जुलाई, सन् १७०७ को जाजऊ की लड़ाई में उन्हें एक घातक घाव लगा, जिसके कुछ ही समय पीछे उनका देहान्त हो गया। कोटा के राजा रामसिंह भी इस लड़ाई में उनके साथ थे। दलपतिराव की समाधि जाजऊ के एक बगीचे में स्थित है।

दलपतिराव के समय में दतिया की जनता की समृद्धि राज्य की शान्ति से ही समझी जा सकती है। शासन की विशेष बातों पर ध्यान देने का वह समय न था। दीर्घ काल तक नरेश के बाहर रहने पर भी प्रजा का सुखी और संतुष्ट रहना

शासन की सुचारु व्यवस्था का ही परिचायक है। युग की माँग निजी वीरता की थी, जिसमें अकेले दलपतिराव ने ही योग नहीं दिया—दतिया के कितने ही लाड़ले दो-दो हाथ दिखाने के लिये सदैव कमर कसे रहते थे।

प्रसिद्ध है :—

"दतिया दलपतिराव की, जीति सकै न कोय।
जो जाकौं जीतन चहै, अधफर* फजियत होय॥"

ऐसे बाँके वीर दलपतिराय के विषय में कवि जोगीदास का यह रायसा मुगल-कालीन हिन्दी की छटा दिखाने में भली प्रकार समर्थ है। काफ़ी दिनों तक शोध-कार्य करते हुए हमें कम से कम सात छोटे-बड़े 'रासो' नाम वाले ग्रंथ प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक महारानी लक्ष्मीबाई के सम-सामयिक कवि कल्यानसिंह कुड़रा कृत 'झाँसी कौ रायसौ' हमने "वीरांगना लक्ष्मीबाई—रासो और कहानी" के नाम से पुस्तक रूप में सम्पादित किया है।

"दलपतिराव-रायसा" अब तक अन्धकार में रहा है। शोध के विद्यार्थियों के लाभार्थ हम इस कृति को ज्यों का त्यों—भाषा में बिना कुछ हेर-फेर किये—प्रकाशित कर रहे हैं। भाषा थोड़ी क्लिष्ट है—कहीं कुछ त्रुटियाँ भी दिखाई देती हैं, जो संभवतः लिपिकार के प्रमाद से हैं। फिर भी इस कृति का ऐतिहासिक महत्व सन्देह से परे है। साहित्य के विद्यार्थी बुन्देलखंडी भाषा की इस सामंतवादी रचना का परिचय पा सकें, तो आगे कभी इसके विषय में विस्तृत चर्चा भी संभव होगी।

---

* अधबीच में

दलपतिराय रायसा

श्री गणेशाय नमः ।

अथ श्री महाराजाधिराज श्री राउराजा सुभकरन श्री दलपतराय जू देव
कौ रायसौ लिख्यते ।

दोहा

प्रथम सुमिर गुन नाथ, मन पुजवत सब सुषसिध्ध ।
बिघन हरन मंगल करन, रिध्ध वृध्ध नवनिध्ध ।।१।।

कवित्त

गज कौ वदन जाकै एक है रदन ताकै सोभा को सदन सोई सुष कौ निकंद हैं ।
गवरी कौ नंद गुन इंदु अरविंद धरैं सुष कौं सुकद सदा वन्दौ जगवंद हैं ।।
रोर हर लम्बोदर सोहत कुठार जाकैं सिध्ध रिध्ध बुध्ध दाता मन मकरंद हैं ।
बिघन विनाइक कविन सुखदाइक सुसेयवे हैं लाइक सुजाकै जुतवंद हैं ।।

दोहा

नाती श्री विरसिंघ को, रन रूरौ सुभ कर्न ।
भागनगर कुरषेत कर, जिन रष्षी निज धर्न ।।३।।
तिन सुत दोऊ लरे, अर्जुन औ दलपत्त ।
स्वाम धर्म किरबान कौ, राषि लियौ जिन सत्त ।।४।।

छंद

लगौ सीस कासी सुरं धार जाकैं ।
लगौ स्वामि-धर्म सदा अंग ताकैं ।।
लगौ दान किरवान कौ भार तासौं ।
भगौ जंग कौ रंग अनभंग तासौं ।।
दिपै दीन दोऊ नभै आप एसैं ।
धरे रूप सोहै मनौ रुद्र जैसैं ।।
मनौ मार थी माह भीमं विराजै ।
लसै कर्न कैसी जिरै अंग साजैं ।।
लसै हस्त दस्तान मस्तान रूपं ।

सियापै लषै सूर सामंत भूपं ॥
दिपै सीस टोपं लियें धोय हथ्थं ।
मनौ भारथं माह द्रोनं समथ्थं ॥
तबै कोप कैं राज वाजं विराजं ।
बजै नद्द नौवद्द ज्यों मेघ गाजं ॥

छप्पय

सूरवीर सज चड़त जदिन मनन नरत स्यार नर ।
जदिन हीस हेवर गयंद गज्जत हजोर तर ॥
जदिन वज्जनी सान धरन असमान अकंपय ।
जदिन गलित रव जोर तुही पल पल पर ढंपय ॥
जोगिदं जुगन 'जोगीदास' कहत हडमरु वंसुरुष ।
तदिन सुताह सूवास कल तक तराऊ दल त्त मुष ॥६॥

दोहा

सबै संग सामंथ लै चड़ौ दलपत्त राय ।
कुरी सिपाहीदीन दोऊ सजै सबै सुष पाय ॥७॥
लरौ सुदष्षिन देस मैं प्रथम दूध के दंत ।
पंचानन सुत हनत ज्यों महाकरी मदवन्त ॥८॥
चड़े सबै उमराउ रन रहत सदा जे संग ।
सबै बिरादर सूर ते जंग रंग अनभंग ॥१०॥

छंद भुजंगी

चड़ौ जंग कौ साज जा मंदि सानं ।
भयौ सिग्गरी सैन मैं अग्गवानं ॥
लियै आपनै सैन सामंथ सूरं ।
चड़ै जाय लोहं लषै गुन्न नूरं ॥
सदा भूम्म मा अंधरै भुज्ज भारं ।
अनी अंगवै अग्गवै दलं भारं ॥
जित्तर सदा सोभ जै पार वारं ।
करै साह सौं जे सदा षर्गवारं ॥
चड़ौ जग्गदेवं बली वल्ल मंडं ।
सुदूलाह रामं मके वंस मंडं ॥

कहौ षग्ग के वार काके समानं ।
महीपर्रमानंद के वंस जानं ।।
चड़ौ अग्गमं भौसुमानं पमारं ।
दिपै दलं मांझ परै सीस भारं ।।
चड़ौ फौज साजंमुअप्पत भानं ।
गनौ जाह कौ द्रज द्रोनं समानं ।।
बड़े थार सारं चडे सर्व गौरं ।
बड़े धान दानं सुठौरं सुठौरं ।।
चड़ौ श्री भुअप्पत कौसी उदोतं ।
सदा जुध्ध कौ सुअग्गं मन्न होतं ।।
चड़ौ वाज पै कोप सुलतान सिंगं ।
झरै सार झारं सुरा षन्न रिंघं ।।
चड़ौ है समा सिंघ सूरं विदारं ।
विराजं तहै जाह की भुज्ज मारं ।।
चड़ौ है सबै सैन सै अग्गवानं ।
चड़ौ सक्कतावत साहं कलयानं ।।
चड़ौ वाज राजं वली प्रथी राजं ।
दिपै दल नदागिन्न कौ सिरं ताजं ।।
चड़ौ रूप चंपत्तरायं अमोरं ।
वली प्रथीराजंम्म कौ वंध जोरं ।।
चड़ौ वाज पै साज सैदं कवीरं ।
बड़ी जुध्ध मांझ परी जासु भीरं ।।
चड़ौ वाज पै साज के हज्जरंड़ं ।
षिजैषग्ग षेतं कही जस्सवत्तं ।।
चड़ौ देषि सैदां उदं भीर वाजं ।
सवै संग सिरदार धीरं विराजं ।।
चड़ै इत्तनै सिग्गरे उम्मरायं ।
करै गुन्य के तिन्न के सर्व भायं ।।११।।

दोहा

संग रहत सामंथ जे, ते सब और कहंत ।
कुरी बहुत दलपत्ति कैं, ते सब सुकवि गुनंत ।।१२।।

छंद भुंजगी

चड़े जे सबै संग सामंथ सैनं ।
कुरी ते सिपाही कही सर्व ऐनं ।।
चड़े जे सुदेला वली वल्ल मंडं ।
चड़े हैं धंधेरं पमारं प्रचंडं ।।
चड़े पैज़वार जे पैजन्य पूरं ।
चड़े जज्ज पेले बड़े रन्य रूरं ।।
चड़े ग्रुहियावत्त ये विरं वैबैतं ।
लहारी पलोहं चड़े कर रषेतं ।।
चड़े सर्वदां गीदि पैदलं माहं ।
करैं दुरजनं के सदा सैन दाहं ।।
चड़े हैं सुगरवत्त जे सर्व गौरं ।
चड़े सैन धाइक् कथा इवक औरं ।।
चड़ै पिप्परैया धरै भुज्ज भारं ।
चड़े है प्रचंडं वड़े पाउ हारं ।।
चड़े हैं श्रदारं जे साहन्य सूरं ।
चड़े सर्व षांगरं षग्गनन्रं ।।
चड़े है बड़े बहु गुज्जंर जोरं ।
चड़े हैं कनौजिया ऋतं श्रमोरं ।।
चड़े कछ्छवाहे षिये है कृपानं ।
चड़े हैं चहौवान ज्यों जेठ भानं ।।
चड़े हैं भदौरिया भारे सुभट्टं ।
चड़े सर्व सैंगरं सूरं ठट्ठं ।।
चड़े जे सुलंषी सबै है निसंषी ।
चड़े सर्व वैसं हनू सं सुहंकी ।।
चड़े जे कटारिया कोपं प्रचंडं ।
चड़े षरं वाइिच्च वैरी विहंडं ।।
चड़े पैज षैचं पवै यासु जुध्धं ।
चड़े जे सिचाने भये जुध्ध सुध्धं ।।
चड़े सर्सिवारं वली जे श्रदारं ।
जुरे जंग रंगं चड़े चित्तवारं ।।

चड़े है सिकरवार जे वीर धीरं ।
चड़े सर्व गोतम्प भंजंन्य भीरं ।।
चड़े वागड़ी वीर सर्व वनैतं ।
चड़े नाहरं सर्व जे कर रषेतं ।।
चड़े है सु सुकिसुतिलं तेग सुघं ।
चड़े है लहैले जुरै जोर जुध्धं ।।
चड़े नंदवानी बड़े रज्जपूतं ।
चड़े है जिरैया जे सारं सपूतं ।।
चड़े है उनायै अनी अग्गवानं ।
चड़े हैं चंदेलं चमू मै निदानं ।।
चड़े हैं ठड़ैया ठरै नाहि टेकं ।
चड़े हैं सर्व साहिल्ल सूरं अनेकं ।।
चड़े चौदहा जे चमू मै प्रचंडं ।
चड़े चाहरैंटे बडे जे अदंडं ।।
चड़े हैं वनौदिया धीरं समानं ।
चड़े हैं वनाफर्र षग्गं अमानं ।।
चड़े है सुगुरूलौत बडे गरुत्तं ।
चड़े हैं मुराडीय तेगन्न तत्तं ।।
चड़े हैं डुडैया डरै नाहिं लौहं ।
चड़े घरं धारं पमारं सुसोहं ।।
चड़े जाहं रोरं जुरै रन्न रारं ।
चड़े सेन देषंत पैजं सुपारं ।।
चड़े सर्वद आभती जे सुमाई ।
कहौ सो तिनं के सवै गुन्न गाई ।।
चड़े सर्व विप्रं जु द्रौनं समानं ।
चड़े सूरमा सार धारं पमारं ।।
करे जान जिन्है सुदयंत मारं ।
सवै नंदबंसी जिसारं अपारं ।।
चड़े सर्व लोधा सुलोहं लराकं ।
बड़े अंमनैकं जे आगै अराकं ।।
चड़े सर्व काइस्थ जर पारधानं ।
लरै अग्गवानं सुबुध्धं निधानं ।।

चड़े पासवानं हते जे सुपासं ।
चड़े सर्व नाऊ अगाऊ षवासं ।।
चड़े जे जितैया सबै जुध्ध जाटं ।
करैं जे सुओषद्द घाटं सुवाटं ।।
चड़ैं सैन गाजं त गूर्जजोरं ।
सुजाने सबै जुध्ध के जै खमोरं ।।
चड़े संग षिजमित्तया जे षंगारं ।
चड़े षानजादं लरे जे अगारं ।।
सबै आपने संग सामंत लीनं ।
कुरी जे सिपाही हते दोऊ दीनं ।।
चड़े साज कैं सर्व सैयद्द सेषं ।
मुग्गलं पठानं चड़े जे अनेकं ।।१४।।

दोहा

चड़े बहु रह फसीसस कल दष्यिन अरु मरहट्ठ ।
इते सूर सज सकल मिल जुरे समर कौ ठठ्ठ ।।१४।।
इते सुभट दलपत्त संग चड़े कोप कर चाउ ।
संग सबै सूबा निकट कियौ जुध्ध कौ दाउ ।।१५।।

छंद

मिले सामुहै साह सु सूरं ।
दिपै दुहू सूवासु जूरं ।।
उतै साहपाहार सुमानं ।
इतै सूर दलपत्त मानं ।।
छुटे दष्यिनी सार अपारं ।
लगी दुरकी हौन सुमारं ।।
छुटै सामुहै तेग सुतोपै ।
छुटे रहकुला जे डिग रोपै ।।
सुतुरनाल घुरनाल छूटैं ।
वान कवान बंदूषन फूटैं ।।
आँच स धुंघ अँधेरी छाई ।
चहूं ओर जनु घटा सुहाई ।।
तहां निसान करनाल सुवाजै ।
भई सोभ मानौ घन गाजै ।।

बरस तीर ज्यौं बुंद अमंकै ।
बिज्जु कोप त्यों घोप चमंकै ॥
भई सोभ लषने जन डांडे ।
मेघ घूर घुर वानर छांड़े ॥
तहां सूर दलपत्त धसायौ ।
कोप करी गन पै हरि धायौ ॥
पौन पूत यौं पौन प्रमानं ।
धायौ महा हांक हनूमानं ॥
धाय जाय कै जंग सजोरी ।
मार सारकी दांत सुफोरी ॥
सबै सूर सोहैं मिल सेलं ।
वीर बुंदेल भये इक मेलं ॥
तहां तेग कौ भार सुदीनौ ।
घरी चार मुसान सुकीनौ ॥
गिरे अस्व असवार समारं ।
वहै सार तिहि वार अपारं ॥
जरै उर भौ मार सु ऐसौ ।
भिरौ लंक मैं राऊन जैसौ ॥
भिरै भीम पारथ मै जैसैं ।
सूर दलपत्त लरियसु ऐसैं ॥
इकै देषियत फरकत रुंडं ।
इकै देषियत ढरकत मुंडं ॥
इकै दिष्ययै लगे सुघावं ।
इकै दिष्यियै हथ्यन पावं ॥
सेल घाव मभंकत सुभारी ।
ज्यौ नागर बागर सिर डारी ॥
इकै तेग देषै सुघरौ तम ।
मनौ सूर सुत हार करौ नम ॥
बहै श्रौन धारा धर रंगं ।
भई गोलकुंडा सफजंगं ॥
तहां जुग्गिनी भरैं रक्तं ।
फिरैं भूत प्रेतं मद मत्तं ॥

कियै माँस हारं सु अहारं ।
सूर सीस बीनै तिहि वारं ।।
विहँस बुंदेल सहस इक मारे ।
लगे सार भागे अर्भारे ।।
भिरे भ्येर भा रथ्थ सुवित्यौ ।
तहां सूर दलपत्त सुजित्यौ ।।
डरीं सुतरनालैं अरु तोपैं ।
डरे वान घुरनाल सुधोपैं ।।
डरे छत्र वानै बहु भारी ।
इम दष्यिन की फौज सुमारी ।।
डरे उस्ट घाइल अरु घोरे ।
डरे हजारन गने न थोरे ।।
तहां पवंग परै लसु पाये ।
परे छत्र अत्रंन्न गनाये ।।
सबै लूट के सैन सकेलौ ।
जीत सूर दलपत्त अकेलौ ।।
कड़ै सार दलपत कर लागे ।
बीस हज़ार दष्यिनी भागे ।।
सैन सूर तहं परे सुषेतं ।
साठ सूर स्वंमित पन हेतं ।।
भये सूर घाइल सत येकं ।
लगे स्वांम काजं धर टेकं ।।
हते दिलो सभार सब दूरं ।
जितौ श्री दलपत सुपूरं ।।
हते सूर सूबा सब आछें ।
जंग जुरैं पुन गये सुपाछें ।।
सैन मांझ कर ऊंचौ बोलं ।
लरौ पिता के संग हरौलं ।।१६।।

दोहा

जब हरौल दलपत्त सौं भयो जुध्ध बहु जोर ।
लगौ पीठ दल्लेल तौ भयौ दाहिनी ओर ।।१७।।

छंद भुजंगी

गयौ दाहिनौ दूर दल्लेल जोरी ।
वहल्लोल वां हौंर ही जाय सोही ।।
रही एक ठौरंत्त खांआप् संगं ।
रह्यौ पीठ पाछैं जुरौ सोन जंगं ।।
हतौ उत्त कौ सं सुपन्नी पठानं ।
सु बीजापुरी वाहु लोलं अमानं ।।
हतौ उत्त कौ सक्क जा दल्ल रायं ।
भयौ इत्त सामिल्ल को ऊन आयं ।।
बुंदेलान जी तौ अकेलैं सुजंगं ।
दिली सूर दोऊ हते तान संगं ।।
हतौ तां पदमेस सूरं नरेसं ।
कियौ भारथं पारथं के सुभेसं ।।
कियो है महा मार भारी नरेपं ।
लरौ श्री दलपत के सो समीपं ।।
रतं नोत छुत्ता अपै राज साजं ।
हतौ श्री किसंनेत जेतं समाजं ।।
भयौ सामिलं आय जुग्गी दिमानं ।
लरौ सिग्गरे सैन मैं अग्गवानं ।।
लियैं संग पूरौ षवै पारवारं ।
करौ सर्वे तैं आगही षर्ग वारं ।।
हतौ श्री हरी सिंघ सिंघं समानं ।
वली चंद्रभानं मकेक सुजानं ।।
लरो मल्ल साहीय सूवं भमाहं ।
करेजा सु दुरजन्न केसैंन दाहं ।।
भयो सामिलं आप सिंघं सरूपं ।
करौ भारथं पारथं के सरूपं ।।
सिरै हैं सिरदार माभं सपूतं ।
दिमानं वली मित्र साठिल्ल पूतं ।।
भयौ वार ही तैं सदा ही वृदैतं ।
विराजं वनैतन्न मांभं वनैतं ।।

दियै मनुष्य आगै नगारे निसानं ।
कियौ आह पहलैं तहां घम्मसानं ।।
करी पैल ही पैल ही दिन्न जंगं ।
लये मार लूटं परैलं पबंगं ।।
सराहंत बालापनं तै सुदूपं ।
इसौ मित्र साहिव्व कौ सिंग पूतं ।।
हतौ जासु सिंवं बली सुल्लतानं ।
भयौ तासु षेतं घनौ घम्मसानं ।।
जनी जुग्ग साहिब्व कौ सो प्रचंडं ।
विराजै बुंदेलं बली वल्ल वंडं ।।
हतौ जासु दुर्ज्जन सिंघ कुमारं ।
लरौ है प्रचंडं सबै पारवारं ।।
झुकें जासु वैरिन्न पै राज आई ।
तहा इत्तनै तै पहुच्चे सुजाई ।।
चलौ तित्त कौ तां दल्लपत अमोरं ।
दलेलं सु सूबा हतौ जाहि ओरं ।।
दिलौ सैन देष्क्षंतत् सर्व काई ।
भई वासरं एक मै न्याय दोई ।।
ठिले दाहिनी ओर के जे सुमारं ।
हतो जासु सुभ साह वीरं अपारं ।।
दलं दष्षिनी तां परे आय दौरं ।
तहां आय दलपत्त कीनी सुगौरं ।।
कड़े सिग्गरे हथ्थ्यारं अपारं ।
ठिले भार मानो जि सारं पहारं ।।
करी है जहां तीर पुन कंम्प मारं ।
रुके है न कैहूं झुके है अदारं ।।
भयौ जंग मांझं सुमारं अपारं ।
बही श्रोन धारं सुनारं पनारं ।।
करंकंत टोपंन्न सारं अनेगं ।
तरंकुत्त जारं वष्षरं सुतेगं ।।
करक्कत्त हाड़न्य सैं षर्ग धारं ।
लरंतं सुघोरंन्न मै अस्सवारं ।।

फरंकंत घाइल्ल जे बौत चायं ।
सरक्कत हाथिन्न सौं जे सुपायं ॥
करंक्कत्त रुंडन्न पै रुंडमुंडं ।
डरंक्कत्त मुंडन्न पै जे सुमुंडं ॥
लरंक्कत्त षेतन्न मै धाय घोरं ।
वरंक्कत्त सारं इतै चार ओरं ॥
हरंक्कत्त षेतं मनं आय ईसं ।
परंष्षत सूरंन्न के तासु सीसं ॥
भरष्यत श्रोनं पसीनं सुदेहं ।
गरंभ्रत्त मानौ असाढ़ं सुमेहं ॥
घरंतन्न घोरन्न सों जे त्रिवारं ।
करंदंत की नौम नौ श्रीन हारं ॥
घरंक्कत स्पारं सुनै घम्मसानं ।
हरंष्षत षेत सुभूतं मसानं ॥
भरंष्षत्त घोरन्न केतंन्न तोरं ।
छिरंक्कत्त श्रोनं पसीनं निचोरं ॥
परंम्भम मानंत है मांस हारं ।
भरं तन्न सुजुग्गिन श्रोनं अपारं ॥
मरं मंत्र तैगन्न सूरं निदानं ।
भरं मंत स्यारंन्न के जो सुप्रांना ॥
सरस्संत जैसे सरोजंन्न नूरं ।
दरस्संत यौ सुष्य मै मुख्य सूरं ॥
कराहंत घाइल्ल घोरिन्न पूरं ।
सराहंत सूरन्न कौ तास सूरं ॥
भरछ्छत्त भारथ्थ के सौ प्रमानं ।
परतिछ्छ पारथ्थ भीमं समानं ॥
करंज्जत कोपं सुनौ वद्द निसानं ।
गरंज्जत मानौ सबै आसमानं ॥
करंतं सुकालीह जुग्गिन्न गानं ।
निरंतंत ईसंब बीसं समानं ॥
जरद्दं सुस्यारंन्न के मुष्य नूरं ।
मरद्दं सूपानिप्प सों भेस पूरं ॥

लरंतं सु ऐसी अनी दोई ओरं ।
वरन्नंतं भाय्सवे जस्स जारं ।।
सतंन्नज्जवा जू हती जोर मानं ।
भयौ पंचमं की सहं पाय भातं ।।
गयौ है जहा भारथं सौ सुबीतो ।
भई है जहां वीर बुंदेल जीतो ।।१९।।

सोरठा

भई लांगनै दोय, एक दिना में देषियौ ।
यह जानै सब कोय, जीतौ श्री दलपत्त तँह ।।२०।।
जे सूबा सिरदार, इतै कुंवर नरसिंग तौ ।
धरै इंद्र कौ भार, जीत बुंदेलन की भई ।।२१।।
जीतौ अनी अभोर, तहां कुँवर नरसिंघ कौ ।
दस हजार की ओर, तहां और ठाड़े हते ।।२२।।

दोहा

जीत दलपत्त की भई, तब दलेल सुष पाय ।
श्री सुभ साह दिमान कौ मिलौ सुडेरा आय ।।२३।।
जीत भई सुभ साह की जस पायौ मलषेर ।
दौर उमड़ औरें दिना डेरा लूटे फेर ।।२४।।
तब सुभ साह दिमान संग धायौ दलपत्त राय ।
देषत दोऊ दीन तहां बढ़ौ मनहिं उतसाह ।।२५।।

कवित्त

पंचम प्रचंड पायौ सहस पचास ही पै, गोली वान तीर महावीर के समाज पै ।
तात के सुआ गैल रौगात कौन कीनौ, सौच बात कौं बडाई कीरताई के समाज पै ।।
जोगी दास सुकवि बडाई यौ कहानी कहै, भागे भागन गरी घरी न चित्त लाज पै ।
पाछैं करौ सूबा सैंन आगैं रहौ आछै साछै दीन दोऊ मन राषौं चांम काज पै ।।२६।।
आपुन हरौल भौ चंदौल अर्वुन्न की नौ बीच सुभ उर हरन रंग रस च्वै रहौ ।
बांधै सिर नेत वीरताई के निकेत गोलकुंडा के सुषेत भान ग्रीषम कौ वैद रहौ ।।
जोगीदास सुकवि जिहान जस जाकौ जपै साह की सुलाज काजै तेग तन त्वै रहौ ।
वाही किरवान हनै सत्रन के प्रान देव देषै आसमान रन रुद्र रूप ह्वै रहौ ।।२७।।

छप्पय

डेरा आय दलेल सकल भुज भार सुदिन्नव ।
दष्षिन सूबा मांझ सदा सिरदार सुक्न्निव ।
सूबा ऊपर बोलत वैसुम साह सुकीनौ ।
तब डेरा डगमगे सवै दष्षिन भग दीनौ ।।
तंह बडे सबै मन तवै और रहे ठाड़े तहां ।
दल्लेल देष डेरान मै दौर करी यह भांत कहां ।।२८।।
लूटे डेरा जाय ऊंट घोरे सु आगरं ।
सिरदारन की ओज तहाँ पाई सु अपारं ।।
भई लराई आय तहां रन मस्त सुपन्नी ।
घरी चार घमसान कटी दुहुं ओर सुअन्नी ।।
सब पाय सुजस मिन एक भेक रत सकल भायै सुमन ।
नहिं छुई लूट सुभ साह सुय श्री दलपत्त अनेग घन ।।२९।।
साज बहुर दष्षिनी आन मेले सु अनेगं ।
सहस पचासक सत्र सुघ्व गह क्रुद्ध सुतेगं ।।
नाज मंहगौ भयौ करै मघवा घन घोरं ।
जुरे दष्षिनी आय चौगनै जुघ्घ सुजोरं ।।
तहं बड़ि दहसत दल्लेल कौं सुनै सहस पच्चास अर ।
तहं आइ न पहुंचे कुमक कह जे अमीर उमराउ नर ।।३०।।
मरे उंट अरु वाज मिलै आनौ न घास तंह ।
पानी के आगै नहीं सपावै उसास तंह ।।
कौनहुं भांत सलाह करन कौं रहौ रूच नाहि ।
कीनौ तवै दलेलषा सकल वरग मैं कूच तंह ।।
अट्ट कोस करे डेरा तवै नदी पार पैले भषव ।
फरमायत्रे भदारन तवे आय उहां निस भर रतेव ।।३१।।

दोहा

जाय गड़ी झारौ सवै कह दलेल यह बात ।
सुभट कसल सैनाह सज हम आवत हैं प्रात ।।३२।।
तवै दलेलषा प्रात ही गये कुसलता पार ।
देष दष्षिनी साज दल आये तहाँ अपार ।।३३।।

छंद पद्धरी

तहाँ दौर दूसरे कूच माँह ।
तहं मिले सामुहै आहराह ।।
इक यो देष दल्लेल षेत ।
सूबा सुदार लष वैर हेत ।।
लष दीन दुहू सज्जे अपार ।
दिल्लीस काज धर भुजन भार ।।
तहं फौजबंध कीनौ सुनाह ।
कर कूच चले सब राह मांह ।।
इक ओर लूट दष्षिनन सैन ।
भाषंत नहीं सूबा सुबैन ।।
लूटी सु सैन निरसंक हंक ।
भागे सुस्यार जिय मै सुसंक ।।
जुर रहे दलै दाहिनी ओर ।
दै दुग्ग परे तहां वाम ओर ।।
सब वानदो दीनै अपार ।
लूटी सुसाह की फौज मार ।।
हुय चक्रतर हौ सूबा अपार ।
विरगीन कोय पावै न पार ।।
दल्लेल कही पठवै सुकाहि ।
यह बात सुनत सुभ साह घाह ।।
अगवन्न तासु दलपत्त राय ।
लीनै सुघेर वरगीन जाय ।।
गजराज दियै मुहरा समथ्थ ।
किरवान लियै तहं प्रबल हथ्थ ।।३४।।

दोहा

दीय दष्षिन दलगार कै लिय वहलोल बचाय ।
पारथ सौ जीतौ समर पारथ्थ दलपत राय ।।३५।।
रहे तहां बहलोल कौ गेर दष्षिनी मार ।
बीस सहस दल ठेल कै तहं अगयौ भुज भार ।।३६।।

सूबा सबइ कवौरह्यौ एक ओर सुभ साह।
लीनी सैन बचाय बिच पंचम दलपत राय ।।३७।।
तब आयौ उहि ठौर तब दिय दष्षिनीय भगाय।
बीस सहस असवार कौं अगयौ दलपत राय ।।३८।।
गेर रहे वहलोल कौ जुर दष्षिनिय समाज।
आड़ौ भौ सब सैन कौ सूरन कौ सिरताज ।।३९।।

छंद नाग सरूपनी

दिनं सुन्या उय्यौ भई।
निसा सुजाम ह्वैं गई ।।
तहां सुछत्तपत्तियं।
करी सुषर्ग षत्तियं ।।
बचाय दीन दोइियं।
भगाय सत्र सोइियं ।।
मचाय मार्‌यौनंह।
साहसं भुयौ मनं ।।
मचाय मुंड कालकं।
नचाय संभु कालकं ।।
घहाय है वरं वरं।
न पाय षिद्ध ले घरं ।।
अपार मार यौं करी।
सुसत्रु श्रौन सौं भरी ।।
रुपौ सुअंगदं वरं।
लई सराषितं वरं ।।४०।।

तहां सुसैन आयकै।
सुडेरनं कराय कै ।।
चहूं सुओर धाय कैं।
जुरै सुसत्रु आय कै ।।
तहां सु घेर डार कै।
रसद्द एक मार कैं ।।
तहां दिसं सुतेरियं।
रहे सु सत्र घेरियं ।।४१।।

कवित्त

तेरह दिना नौ भयौ नाज तीन रुपै सेर, पानी घास मिलै नाहीं कीनौ दष्षिनीन घेर।
करत विचार तहां भये है मुकम तीन डेरन पै सत्र सैन रही चहूँ ओर फेर॥
जोगी दास सूबा सबै कहत सुयही भांत कीजिये सलाह याह करियै न या मैं भेर।
बीजापुर दीजै और विनय सुकीजै यह भांत सब जीजैं होय तव राह कौउ वैर॥४१॥
कही सुभ साह अब कैसे होत ऐसी बात वेग करौ कूच हमै रोकै कौन आयकै।
पठये सुपाच तहां परी है सलाह नहीं भये है तियार सूर दुंदुभी बजाय कै
आसपास सूबा सबै मांझ सूबादार कीनौ जोगी दास ताकौ जस कहत सुगाय कै
आप भौ तदौल तहां पंचम प्रचंड वीर दलपत राय भौ हरौल सुष पाय कै
भाग नगरी के बीजापुरी सिरदार सबै चार चमू कीनी चहूं ओर बंघ बांधकैं।
माझैं सब सूबा दियौ सूबादार इकै समेत तहां दलपत्त दलभार भुज बांध कै।
करौ तंह कूच सैंन आई देष दष्षिनी की गैर अरि रहे चहूं ओर मग साध कै।
पंचम प्रचंड सुभ साह जू को नंदवीर करौ तहां डंका बंका सिंधवत नांघ कैं॥४४॥

दोहा

रहे गेर मुठमेर अरि चमू चौगिनैं ठाठ।
मार मार यह कहत सब रोक रहे तहं बाट॥४५॥

छप्पय

कहत दष्षिनिय सकल लेउ घर बांध सैन सब।
आज प्रलय कर देउ लूट कर लेउ अरन अब॥
की घरहू अब सब अत्र सत्र छांडहु सूर सब।
होउ नार के भेष जाउ फिर वेग अप्प घर॥
इम दाब रहे सूबहि सकल अकल विकल तंह सैन मंह।
नहिं चलत चातुरी एक हू फौजदार तकत तंह॥४६॥

दोहा

श्री सुभ साह दिमान सौं कहौ दल्लपत राउ।
दष्षिन दल के तौ सु हम मार करैं जग नांउ॥४७॥

छंद पध्धरी

दलपत्तरा चल जौम जोर आयौ सुसत्र की सैंन फोर।
चहूं ओर मार मची अपार सुभ करन नंद सिर विरद भार॥

पंचम प्रचंड बुंदेल वीर तंह सत्र सै परवाह तीर ।
कारी सुपीत सुगल सत ढालतिहि संग सूर विकराल जाल ।।४८।।
जहं घरह क्षत्र धारी सुछत्र, तहं घलत सकल इक बार अस्त्र ।
इक लियै पटे कीनै अपट्ट, जिहि हनत होत सोइ काल चट्ट ।।
इक चले घोप धारी सुघोप, यैकें मुलियै घालै सुतोप ।
एकैं सुसैफ लैकर सहूल, सुसांग घालैं सुफूल ।।
एकै सुनंज छेदे करेज, मानौ सुवेस आये वरेज ।
एकै सुहाथ लीन्है गुरज्ज, जिहि देष सत्रु भागै सुलज्ज ।।
एकै लियै हाथैं किरवान, घालै सुतान कानन प्रसान ।
जिहि लगत अंग कट गिरत सोय, हय नर गयंद कइ पार होय ।।४६।।

सोरठा

लरत बुंदेला वीर, दष्षिन दल मै सो भजै ।
ज्यौं पच्छिन की भीर, बाज झपट्टौ करत हैं ।।५०।।

छंद मोती दाम

एकै कर लीन्हें सुवा की कमान ।
करै नहीं घालत संक अमान ।।
रहै फुटयैं सुसंजोय दुसाल ।
परौ मरहटन कौ दहचाल ।।
चलावत यादे तुपक्कत जोर ।
करै नहि संक बड़े जो अमोर ।।
मची दल दोउन मार अपार ।
चलै चहं वाजन सैं धुरनाल ।।
चलै तंह नालन की तहमाल ।
इक तहवान चलावत आन ।।
हंसे तहं भूतरु प्रेत मसान ।
ठिलौ तहं भार परी अत भीर ।।
गिरै तहं मीरन पै सु अमीर ।
मची करनालन की अस घोर ।।
बजै तहां बंम सुपषर जोर ।
अनंकतअिउ अबै जै तुतकार ।।
रहौ सुर पूर सु सोभ अपार ।।५१।।

दोहा

भागनगर के सूर सब, बीजापरी सु आय ।
सीदी सेष पठान बहु, जुरे दष्ष्नी जाय ।।५२।।
तिहि दल सैं सुभ साह सुत सोहत अति परवान ।
मनौं भीम भारथ्थ मैं पारथ के उनमान ।।५३।।
दोय कोस सूबह तहां ल्याये दलपतराय ।
तब लग दष्षिन दलन सौं, लरत रहे सुभ साहि ।।५४।।
उत चंदौल सुभ साह सौं मची मार अपार ।
तब लग सरत ढिग पहुंच श्री दलपत्त उदार ।।५५।।
पहर चार घमसान भौ लरत दल्लपत राय ।
दोय कोस सरताह ती तहां षर्ग बल आय ।।५५।।
कठिन दिवस बीतौ सबन तहां लरौ अगवान ।
श्री सुभ साह दिमान कौ श्री दलपत्त अमान ।।५७।।
नदी तीर डेरा करे, बाडौ हियै हुलास ।
जुरे दष्ष्नी दस गुनै, घेर रहे चहुं पास ।।५८।।
श्री दलपत्त हरौल सौ, वरषत सार अपार ।
उत सुभकरन चदौल सौं, विहंस बडी अतरार ।।६०।।

छंद भुजंगी

जबै दष्षिनी कूच कौ सोर पायौ ।
तबै सौ गुनौ सो दलं जोर आयो ।।
तहाँ जोर करनाल धौंसा धमंकै ।
जहां साग सैपैं सुधोपै चमंकै ।।
जहां तुत्तकारं पुकारं सुलागी ।
सुनै संभु की सैनं सो वेग जागी ।।
जहां तोपची आन तोपैं चलावैं ।
तहां जुग्गिनी जुध्घ के गीत गावैं ।।
तहां आन वरग्गीन रोकी गली है ।
जहां वान कंमान तेगं चली है ।।
गरज्जै दलं के हलै आसमानं ।
गरद्दं उठै सो छिपै तासु भानं ।।६१।।

दोहा

चपौ सैन सूबा सबै को उन उकसत मांह ।
ससि सूरज दौनौ छिपे, राहु केतु की छांह ।।६२।।
राम राम सबही रटैं, बडौ हियै अत सोच ।
देष दष्षिनी अधिक दल, कहा साह दल पोच ।।६३।।

छंद भुजंगी

चहूं ओर जुर सत्रु की सैन आई ।
ठिकानैं पठानं तहां जूझ आई ।।
हरौलं चलौ सत्रु की सैन ठेलं ।
चंदौलं चमू सत्रु रोकौ अकेलं ।।
दिनं तास बीतौ अरै सार भारी ।
विरदैत्य बुंदेल पैठो हंकारी ।।
भयौ जुध्ध रामं सुरावन्न कैसौ ।
लरै दष्ष्नी सौं दलपत्त एसौ ।।
लरै बाप पूतं सपत्तं सुऐसे ।
महा भारथं मैं लरै द्रोन जैसैं ।।
हनूमान संमान जै हाथ वाहै ।
पवंगं समेतं पट्टकत धराहै ।।
सबै स्वाम हेतं न षेतं टरंतं ।
यही भांत बुंदेल दीरं लरंतं ।।
तहां सजंग पवंग परे हैं ।
भये घाइलं बीस श्रोनं भरे हैं ।।६४।।

दोहा

सिगरौ दिन लरतन भयौ, भये दष्षिनी भार ।
लयै सैंन सूबन सहित, आये सलतापार ।।६५।।
तबही सब सुचते भये, कीनौ तहां मिलान ।
बैरीन कौ बल थक रह्यौ, फिरी साह की आन ।।६६।।
आय पार डेरा करे, भई सुचित सब सैन ।
सहदानै वाजेतहां सूबन हिय अति चैन ।।६७।।
रात दिवस साजे रहे, छोर तनहि हथियार ।
चहूं ओर घेरे रहैं, वरगी सैन अपार ।।६८।।

तब परी आय दल दुअन भीर ।
ते लयै षर्ग बल आउ धीर ।।
भये एक मेक सब वीर आय ।
अर की सुसैन पार्गन षिलाय ।।
तरबार तीर वरछीन मार ।
पंचम हरोल कर समर सार ।।
तंह कटै सूर बहुतें षवंग ।
तंह जीत पाय दलपत्त जंग ।।
बह श्रोन धार धरनी अपार ।
पावै न काहि ताकौ सुपार ।।
इहि भांत सबै सूबा सुल्याय ।
इकि कोस कूँच सो मौं बचाय ।।
इहि भांत सबै दिन चले सोय ।
दल रुकै तबै गई रैन होय ।।
तब सबै आन डेरा सुकीन ।
जँह सूर हते दोऊ सुदीन ।।
इहि भांत भये दिन चलत सात ।
तंह मेलत ही अे गेर जात ।।७३।।
उतरे न जीन छोरैं न अत्र ।
निसि दिवस संग छोरैं न अत्र ।।
अर मेल चहूं दिसि प्रबल जोर ।
तंह कूच होत किय जुध्ध घोर ।।७४।।
कियौ कूच तंह भी ही उठी सैन कर सोर ।
इत हरौल चंदौल उत भयो जुध्ध दुहु ओर ।।७५।।

छंदनराच

चलै जुते जुतोपसं ।
वईकवान घोपयं ।।
लिये सुहाथ पट्टयं ।
करै सुयौ अपट्टयं ।।
घरै सुपायं रोपयं ।
चहूं सुकोद कोपयं ।।

इकैं चलै कटारियां ।
टरैं नहीं सुटारियां ।।
इकै सुलै गुरज्जयं ।
इसेसु सूर सज्जयं ।।७६।।
जिवंकयौ वरग्गियं ।
लषै सुभीर भग्गियं ।।
ठिलै सुभीर भारयौ ।
करै सुसार मारयौ ।।
सुभाय कै बुदेलयं ।
करैं जु षग्ग षलयं ।।
लषै सुयौ दलेलयं ।
सबं सुदं उठेलयं ।।
इसे सुपील पेलयं ।
चमू सु जुध्ध भेलयं ।।
मनौ सुभीम चेलयं ।
करी सुजोर मारयो ।।
भरै सुषेत सारयो ।
घरै सुसीस भारयौ ।।
दिलीस कौ अभारयो ।
कटै जु सूर घोरयं ।।
किये सु तेग तोरयं ।
कटारियौ कटारियं ।
षुलै सु सूर तारियं ।।७७।।
महा सु रुंड मुंडयं ।
डरे सु भुंड भंडयं ।।
बहै सुश्रोन धारयं ।
सुदेषियें अपारयं ।।
तहां सु जुध्ध वित्तयं ।
भई चंदौल जित्तयं ।।
लरे सु बाप पूतयं ।
महासु औ सपूतयं ।।७८।।

बहै　　सुजंवरयं ।
सबै सु सत्र गच्छये ।।
भये सुसैन सच्छये ।
लरै सुसूर अच्छये ।।
महा सुमार मंचियं ।
बुंदेल यौ विरच्चियं ।।
जहां सुई सनंच्चियं ।
भये सुजुध्ध संच्चियं ।।
किल्लकियं सकालियं ।
कियं सुमुंड मालियं ।।
फिरैं सुभूत प्रेतयं ।
सुसैन मैं समैतयं ।।
भये दुअन्न दूरयं ।
रहे सुजीत सूरयं ।।
सबै जु सूर सथ्थयं ।
करे जे षूब हथ्थयं ।।
नबाब सैन सथ्थयं ।
सराहना करत्तयं ।।
दिना सु आठ वित्तयं ।
यही सुभात जित्तयं ।।
दियौ जु सैन डेरयं ।
परे जु सत्र घेरयं ।।७९।।

सोरठा

सूबै बाड़ौ सोच, बड़ौ बुंदेले वीर रस ।
भयौ पचासै कोस पां कोस कलवरग गड़ ।।८०।।

दोहा

नहीं आसरौ जियन कौ मरन भयौ यह काल ।
सबै सैन लष सत्रु की देषे अति विकराल ।।८१।।

अरिल्ल

तहं चड़ पठान सू जूवादार सब ।
रातदिवस चल तोप जु तुपकै बांन अब ।।

दुयन होत ही भोर सम हुत सैन सौं ।
दबौ घूँघ मैं भान मनौ भई रैन सौ ।।८२।।
करत जुध्ध चंदौल चुंग कौं चंपकौं ।
अरन सैन पै धाय झलान सु अंपकै ।।
आसिष देत कवीस ईस कौ जंप कै ।
जीतौ दलपत राय स्यार गये कंप कै ।।८३।।
बाजे तबल निसान बड़ौ मुष नूर सौ ।
पंचम श्री सुभ कर्न लयै सँग सूर सौ ।।
ठीहै देत पवंग करिंद सुगाजहीं ।
संग सपूत सुपूत तहाँ सुविराजहिं ।।८३।।

छंद

जुरे जंग आई, सुभट्टं लराई ।
फिरेजे उमंगं, चडौ जंग रंगं ।।
उड़ै घूर घुंघ, तहा भानं मुदं ।
तहां सत्र झुंडं, डरे है वितुंडं ।।
तहां देवि आई, सु देषै लराई ।
पिले हैं पठानं, मनौ भीम जानं ।।
मिले सूर सूरं, वड़ौ मुष्य नूरं ।
मची मार मारं, बड़ी सो अपारं ।।
दिमानं चंदौलं, करी सैन गोलं ।
इतौ बंध बाँध, तहां जुध्ध नाधै ।।
दलपत्त सूरं, करौ जुध्ध पूरं ।
तहां ह्वै हरौलं, करी आय रौलं ।।
मची षग्ग धाई, परै नाग नाई ।
लगै अंग जाई, सुपारं कठाई ।।
वष्षत्तर पौसं, डरे रुंड कोसं ।
लरै कोप वाडं, गिरै आड आडं ।।
बहै श्रोन अंगं, परे जोय वंगं ।
यही भांत नित्यं, नवं रोज वित्तं ।।
कियौ जा सुडेरं, तहां सत्रु गेरं ।
कहै टेर टेरं, सुनै सैन हेरं ।।८५।।

छंद

तहां सुजाम आठयं, जुरंत सत्र ठाठयं ।
पड़ंत जस्स भाटयं, ह्यिंत स्यार फाट्यं ।।
तहाँ सुदेत छापयं, जहां सुअर्ध रातयं ।
तहां सुहोत प्रातयं, लरै सुराह जातयं ।।८६।।

दोहा

चहूं ओर आवै चले वरगी सैन हजार ।
रोके तहं सुभ साह सुत दलपति कइयौ वार ।।८७।।
नलेषेर कौ जुध्ध तहं जीतौ प्रवल प्रचंड ।
हुय हरौल सुभ साह सुय भुज दंडन बलवंड ।।८८।।

छप्पय

कियब कूच दल्लेल सैन सज होत प्रात जब ।
सूरन मुष बड़ नूर स्यार भुष सूष जात तब ।।
हय हरौल इक साथ ठिलौ पट्ठान मरद्दं ।
भयौ सोम परवान भांन छिप रहव गरद्दं ।।
पक्षपरन सज्जलष्षन तुरिय चलत सैंन हल्लिय घरन ।
दष्षिनिय सूब तहँ आयकें रोक राह लग्यौ लरन ।।८९।।

दोहा

लरौ राज कों सारतह पंचम नरसिंगदेव ।
छवै धर्म राषौं तहाँ करी स्वाँम की सेव । ९०।।
जहां षानजाहान तौ दागी जुध्ध अमोर ।
करौ राज काजं लरौ वरगिन सों अति घोर ।।९१।।
सब कुटंब संगह लिय बहुत जुध्ध अगवान ।
इंद्र नृपत के काज लर बागी षान जहान ।।९२।।
सबै मुसद्दी संग सजे बगसी अरु दीमान ।
करै राज कौ काज सब लरत रहै अगवान ।।९३।।
हतौ वीर वहलोल जंह षड़ौ सु वांही ओर ।
तहाँ सुवीजापुर मै लड़ी लराई जोर ।।९४।।
हतौ संहनी ओर पै जंह पन्नी रन मस्त ।
ठिली ठान पठान की फौज देत जंह गस्त ।।९५।।

हतौ सैन सूबाहनै जंह चंदौल सुभ साह ।
तहाँ सैन वरगीन की आई हय झझकाह ।।९६।।
चहूं ओर लागो झरन सार भार तिहि बार ।
बडौ बुंदेलनहि वीर रस दिये दुयन दल गार ।।९७।।
तहं दलेल दल मध्ध तौ अरु गेरतषा संग ।
उठी बाज वागें पहिल जाकी जुरत न जंग ।।९८।।
चले सत्रु चहूं ओर जुर सूबह घेर अपार ।
कै बीजापुर छंडियै कै अगवौ अब रार ।।९९।।
कितौ सैन सूबा सबै जुध्ध जुरन कौ आय ।
पकर लेय छिन एक मैं हम सौं भगन न पाय ।।१०१।।
गनै सूर सज्जार तहाँ सोहत तीस हजार ।
भाग नगर के सूर तहँ साठ हजार जुझार ।।१००।।
कहै बीर बहलोल कौ हम ढिग देउ पठाय ।
संग लियै सूबा सु तुम हम पर जान न पाय ।।१०२।।

छंदाअर्धनराच

जबै सुसैन सूबयं, लयो सूसैन षूबयं ।
चले सुक्यों हरोलयं, बडी सुजोर रोलयं ।।
बडौ सु जुध्ध कीनयं, निरंष्ष दोय दीनयं ।
घरी तहां सुचारयं, वरंष्ष सार धारयं ।।१०३।।

दोहा

जिते बीर बीजापुरी, हतौ बली बहलोल ।
आय बचावें ईत तें अपन दष्षिनी गोल ।।१०४।।
वीर धीर बहलोल ने अगई अर दल भीर ।
चहुँ ओर चंगे चलै तोप बबान बहु तीर ।।१०५।।
तंह चंदौल ठाढौ हतौ श्री सुभ करन दिमान ।
लिये सिंग से सूर संग पूत दुवौ बलवान ।।१०६।।

छप्पय

तहां बीस हज्जार सूर ठाड़े छत्र धारी ।
एक सहस चतुरंग लिये सुभ साह अन्यारी ।।
मचिय मार अपार आय नचै त्रपुरारी ।
गिरहि लुथ्थ पर लुथ्थ पर्व मानै पलहारी ।।

जिमि लरत पथ्थ भारथ्थ महिसंग दलपत्त सुपुत्र तंह ।
कर मार सार असदार इतह दिय भगाय अर सैन जंह ।।१०७।।
तबहि दाहिनी ओर जोर अर आय झपट्टे ।
परिय सार की धार तहां बहु सूर सुकट्टे ।।
तिहूं ओर बध कोर तहां अरि पैठ न पावैं ।
तबहि दौर रनमस्त षान पन्ननीय दबावैं ।।
कह मार मार गहि लेहु अरि इमि कह धायो सूर सब ।
तंह ठाम जुध्ध पट्ठान नै एक लिये अरवीर तब ।।१०८।।

दोहा

सबै सैन सूबा लषै षड़े दीन जंह दोय ।
कुंमक काजै सुभट सब आयस कै नहिं कोय ।।१०९।।
चलन न पावै राहतह रोक रहे अरि गैर ।
तबै सूर दलपति तंह, बोलौ सब तन हेर ।।११०।।

कवित्त

पंचम प्रचंड हुय हरौल सुभ साह तहां ।
धायौ दल दष्षिन के अरिन समाज पै ।।
कीनौ है हरौल दलपत्त सबे सैन दै के ।
अर्जुन देव राषौ वाम भुज लाज पै ।।
जोगीदास सुकवि परी है तंह भीर भारी ।
काट अरि कटक लरौ हरू उहि काज पै ।।
लीनौ है उबेर रन मस्त षां पन्नी कौ ।
जहाँ कोप किरवान लै विराजौ तहं बाज पै ।।१११।।

छंद कंजा

कोपंता श्री दलपत्तं, घोपंता तंह सुहत्तं ।
वाहंता जोर समथ्थं, चाहंता और न सथ्थं ।।
सोहंता है जिम पथ्थं, माचंता ज्यों भारथ्थं ।
कूटंता और अरिंदं, लूटतां वाज करिंदं ।।
नाचंता षेत महेसं, देषंता अद्भुत भेसं ।
भागंतां दष्षिन सैनं, आवंता मुष्य न बैनं ।।
वाजंता तबल निसानं, थाकतां देव विमानं ।
जीतंता जुध्ध बुंदेलं, सूबंता भौतंह मेलं ।।

देषंता दषिन सूरं, बाडंता सो मुष नूरं।
आवंता दच्छिन सोरं, देषंता षाली कोरं॥
धावंता सो कर जोरं, मारंता सो कर चोरं।
धावंता देष हरौलं, पारंता सो अल जौलं॥
जूझंता सैन अपारं, बाडंता श्रोनित धारं।
भाजंता सो अरि जालं, पेलंता अद्भुत ष्यालं।
देषंता दोहि सुदीनं, भारंता अद्भुत कीनं॥११२॥

दोहा

डेरा कीनौ सैंन सब भंजन दुयन के भार।
घेर रहे अर धिमस कैं वरगी सैन अपार॥११३॥

छंद पध्धरं

कर कूच जबै पार हौ देव।
सूबा सुसबै कर बीच लेव॥
ढिल्ले सुवान बहु तोप जोर।
तिहि संग सूर साजै अमोर॥
सोभा अपार वरनी न जाय।
अत छत्र छत्र धारी दिखाय॥
दिल्ली सभार सोहै अपार।
ठाड़ौ दलेल तिहि के मझार॥११४॥

दोहा

उतै सैन वरगीन की सोहत प्रबल प्रचंड।
करत घट्टयौ घट्ट मै समर वीर बलबंड॥११५॥

छंद

घलंत वान तोपयं, चलंत सांग घोपयं।
मंचत मार भारयं, ठिलंत ज्यौं पहारयं॥
मुरंक्कता दलेलयं, दिषंत षग्ग षेलयं।
मुरक्क षग्ग षानयं, बुलाय तां दिमानयं॥
दिली सभार दीनयं, सरत्त जासु तीनयं।
लियैं सु सैन संगयं, चली तहां अभंगयं॥

लरै सुतां दलप्पत्तं, हरौल हुय सपत्ततं ।
मची सुधीर धारयं, अरंत सार सारयं ।।
करी सुषर्ग घाययं, अरिंद सोह षययं ।
दलेल देष आययं, जहां बुंदेल राययं ।।
फिरे सुसत्रु सैंनयं, लरैं दिवस्स रैंनयं ।
चंदौल रार मंडकै, दुअन्न सौं प्रचंड कैं ।।
विरच्चयौ बुंदेलयं, भयौ सुघेल मेलयं ।
तहा सुसत्रु भाजयं, बुंदेल सूर गाजयं ।।११६..

दोहा

मले षेर के षेत कौ जीतौ तहं सुभ साह ।
सहदाने बाजै तहां सुनै सराहत साह ।।११७।।

छप्पय

जंह बहलोल दलेल और रनमस्त सुपन्नी ।
जंह पठान इकलास देव नरसिंघ सुअन्नी ।।
राजा जादौ राय राजसिंघ अनूपं ।
जहां गौर गज सिंघ कुलं बीठल हर रूपं ।।
जंह वीरमघौ सीसौदीया देव करन पंचम सबल ।
तामें रन राय हते षीची रन रूरे ।।
सैयद सेष पठान और मुगलं अत सूरे ।
दिल्ली दल दुयदीन बहादुर षां सूबा जंह ।।
कीनै हतौ हरौल आप गैरत षां कौ तहं ।
इंद्र सिंघ रन राउ तौ अरि सिंघ कौ भार धर ।।
जंह पदम सिंघ कर नेस कौ अंगद सौ चतुरंग वर ।।११९।।
पंचम सिंघ सरूप कुँवर सुलतान सुसिंघं ।
जुग्गिय सुय जालिम असीस राष नर जरिंघं ।।
कूरम काविल सिंघ सिंघ माघकौ सूरौ ।
सूर सिंघ अमनैक गोपनाथह कौ रूरौ ।।
इंद्र सिंघ कूरम्म तंह नाती श्री जगनाथ कौ ।
स्याम सिंघ गिरमेर कौ रान वंस गुन नाथ कौ ।।१२०।।
गौर सिरैं सिरमौर राजसिंगं मलपूतं ।
रामचंद तिहि वंघ स्वाम काजी रजपूतं ।।

वली आतमाराम और रतनौत सुचौषे ।
पूरे छत्रिय धर्म सदा जिन मैं नहि घोषे ।।
तंह छत्रपती छत्रसाल वर किसुन किसुन अवतार धर ।
तंह जैत सिंघ जितवार है जुव्वन कौं जानौ सुघर ।।१२१।।

छंद रोला

मारु मौकम सिंघ हतौ मेरत उजयारौ ।
सोहत सिंघ कलयान साह कौ सूर अन्यारौ ।।
प्रथी सिंघ पाहार हरी देवं तंह आगें ।
झाला राउत मल्लह तौ स्वांमितपन पागै ।।
इद्र भान अमनैक और उमराव अलेषं ।
मुगल पठानन गनै कौन सज्जे बहु भेषं ।।
जंह दिलीस अवरंगसाह के सूर सकल वर ।
तिहि ऊपर दलपत्त राउ सुभ साह नाउ कर ।।
सब सूबान निवाह ल्यान सकलवरग बीच तंह ।
दिन निधि आई फेर साह की आन करी जंह ।।१२२।।

दोहा

भगे दष्षिनी सैन लै मान हारि तिहि वार ।
सहदानै वज साह दल जंह दलपत्त जुझार ।।१२३।।
कहत सकल सूबा सवै धन दलपत्त सुभ साह ।
तुम बिन कौन निवाहतौ दष्षिन दल अवगाह ।।१२४।।
साह सैन आनंद भौ, जस पायौ दलपत्त ।
सबै सूर सूबा तहां पूजत जिनके हत्त ।।१२५।।
तंहं सूबा दिल्लेस कौ अरज लिषी तिहि बार ।
भगी सैन वरगीन की छूटी गढ़ीं अपार ।।१२६।।
चर चरित्र लै साह ढिग पहुँचे आतुर आय ।
सुनत अर्ज दिल्लेस कै बड़ौ हिये उतसाह ।।१२७।।
साह दियौ फरमान लिष पहुँचे धावन आय ।
सूबह कर कागद दयौ, सुनत षबर सुष पाय ।।१२८।।

छंद

सबै सैन सूबा चलौ लै अजूबा । तहां राष थानौ कियौ है पयानौ ।
दलं तासु चालै सबै भूम हालैं । उठीं घूंघ धूरं रहौ भान पूरं ।
भयौ चंद रूपं कहै कौ अनूपं । दलपत्त रायं बड़ौ दून चायं ।।१२९।।

दोहा

दल कूचन दल रिंग चलौ पर षट कोस मिलान ।
सबै सूर सूबा सकल दिल्ली मेलै आन ॥१३०॥

छप्य

तब दिल्ली स सुध पाय भयौ आनंद अधिक हिय ।
मुजरा कौ तब सूर सकल तब साहि बोल लिय ॥
कर सलाम तिहि वार सकल सामंत सूर वर ।
तब सुभ साह बुलाय लिये दिल्लीस निकट कर ॥
तंह देष डील सुष पाय कें दीन षिलत षासी सु तंह ।
दीनी सु तहाँ दलपत्त कौं मणिन माल कलगी सुजंह ॥१३१॥

दोहा

विदा भये सुभ सात तहं लियै साह कर आन ।
संग सैंन लै आपनीं दतिया पहुंचे आन ॥१३२॥
आगे हो नरनाह कौं लीनै राज कुंवार ।
ग्रह ग्रह बजत बधावनै तोरन कलश सुद्वार ॥१३३॥

सोरठा

ज्यौं ग्रीषम मध्यान यौं सुभसाह विराजहीं ।
सुभट किरन परवान सौं चहु ओर सु छाजहीं ॥१३४॥
नित प्रति देत सुदान, विप्रन कौं बहु भांत कर ।
श्री सुभ करन दिमान, करत भयौ राजत तहां ॥१३५॥
आषेटक षेलंत श्री दलपत्त सुभ साह सुय ।
सो सब सुकवि कहंत उदित भयौ दसहू दिसन ॥१३६॥

दोहा

कछुक दिवस बीतैं अवर पंचम श्री सुभ साह ।
सत्रुन मार अपार तह आपुन सुर पुर जाह ॥१३७॥
पूरब घर पश्चिम उत्तर दष्षिन दिस मंझयाय ।
निज दल बल भुज बलन सौं जीते अरि समुदाय ॥१४०॥

छप्पय

बिलक षलक षलभलय भांन का विलकल मल्लय ।
पूरब तल सर करिय देस दछ्छिन कह सल्लय ॥

कोकन कोकन जिमि जगंत चैनन चेवल कह ।
वल्लयनिय कंप वय वड़य वेदन वेदर कह ।।
साजंत सूर सुभ करन कर करवर कालहु तै कहर ।
उज्जरहि भजहि वीजापुरी संकह सब सेवा सहर ।।१४१।।

दोहा

जिहि दतिया थापी सुघर दल वल दुयन ढहाय ।
धरौ छत्र अवरंग सिर करौ दिलीस जिताय ।।१४२।।
सो आपुन सुर पुर गयौ दै दलपति सिरभार ।
साह सेव कीजौ सदा सत्रुन कुल संघार ।।१४३।।

इति श्री सुभकरन रायसौ ।
अथ दलपत राय रायसौ ।।

तंह दल दलपत राउ सज लियौ बेर छार टोर ।
करौ पमारन कौ कटा, प्रवल वीर रन रोर ।।१४३।।
तंह फिर दतिया आय कै कीनौ क्रम सुच कर्म ।
दीनौ दान बुलाय दुज वेद विदित जत धर्म ।।१४४।।
षवर साह अवरंग सुन गयौ सुर परलोक ।
पंचम श्री सुभ साह कौ मान हिये मैं सोक ।।१४५।।
तब दिलीस दलपत्त कौं दीनी षिलत पठाय ।
हय गज कलगी माल अरु तेग महा सुष पाय ।।१४६।।

सोरठा

भेजौ तहाँ फरमान महि पै मान बड़ाय कैं ।
मनसबदार सुजान भेजौ मनसब संग तंह ।।१४७।।
दीनी अगवन जाय पठई वस्त दिलीस सो ।
तहां सु दलपत्त राय लई सुमाथै मान कै ।।१४८।।

दोहा

सुभ साइत तैयार हुय चल दिलीस पथ राउ ।
मिलौ जु अवरंग साह कौ दूनौ बड़ चित चाउ ।।१४९।।
सुनी सुदष्षिन देस मैं भयौ अधिक उतपात ।
साह तबे दलपत्त सौं समझायौ विष्यात ।।१४९।।
तबै सु अवरंग साह सज दष्षिन कौं कर कोप ।
सजे राउ राना तहां सूबा भीरन चोंप ।।१५०।।

छंद भुजंगी

सजौ है रुहिल्लाइषानं अमानं ।
पनी वीर दाऊद षानं सुजानं ।।
सजौ जुलफिकारं नबावं प्रचंडं ।
सजौ वीर बगसी सुजुध्धं उमंडं ।।
सजौ है उजीरं दिलीस सुकाजं ।
सजौ है सु कासिम्मषां सिरंताजं ।।
सजे और सूबा अनेकं अमानं ।
सजे राउ दलपत्त भानं समानं ।।१५१।।

दोहा

दरकूचन दल रिंग चलौ पहुँचे दषिन जाय ।
जीत लिये सब दषि्षयन भुज बल अरिन ढहाय ।।१५२।।

सोरठा

तहां साह अवरंग बैठो दष्षिन देस पर ।
जीत अरिन कर जंग बंदोबस्त कीनौ सुतंह ।।१५३।।

दोहा

जुलफिकार कौ देस तब दीनौ अवरंग साह ।
करौ रुहिल्ला षान कौं बगसी तबै सराह ।।१५४।।
आदौनी दीनी तबै श्री दलपत्त ह वेस ।
सीतापुर दीनौ अवर कर सूबांन मैं पेस ।।१५५।।
इहि विधि सौं सब बांध बंध नव दिलीस अवरंग ।
जासु हियैं बाड़ी रहै निसि दिन जंग उमंग ।।१५६।।
तंह सु दल्लपत राउ रह देत सदां नित दान ।
कवि कोविद जाचकन के राषत बहु विधि मान ।।१५७।।
तिन कवि जोगीदास सुत पंचम दलपत राय ।
घर बैठै अति हेत सह इहि विधि विदा पठाय ।।१५८।।
हाथी रन सो भावडौ एक सहस हय वेस ।
सिरो पाउ जर वख्तर हुय पठये रीझ नरेस ।।१५९।।
दष्षिन गे वृजराज कवि मुजरा कर सुष पाय ।
कर पहुंची अर धुकधुकी अपनै कर पहिराय ।।१६०।।

षैरी तौ चरि हुय बियैं पादारष लिषवाय ।
अपनै मुष दलपत धनी षैरी भाट धराय ।।१६१।।
इक षैरी भये मै दई राय सुभ कर सिंघ ।
जुध्ध जीत इक और दीप दलपत रारन रंग ।।१६१।।
तुम भा डैरी गाउ दुय घरही बैठे षाउ ।
हमैं छाउं औरें नृपत मांगन कहूँ न जांउ ।।१६२।।
पठै देस करकै विदा बहुत चित्त सुष पाय ।
करे भाटतै भूप से बहु भांतन पहिराय ।।१६२।।

सोरठा

जे साहन के सत्रु अत्र छोर पाइन परह ।
सदां हाथ जयपत्र राउ दलपत रन लरह ।।१६३।।

कवित्त

विप्रन कौं विध सौं बनाय कैं सुवैद रीत पुंन्न पन प्रीत राजनीति के विचार के ।
भाटन कौं जस के प्रगास कहि जोगीदास करत कवित्त नित्त दान हथियार के ।।
छत्रिन कौं छत्र धर धर्म देष सार धार और सेवादार गुन वारिन उदार के ।
पंचम श्री दलपत राउ दान दिलीप से कैयकन हाथी दये कैयक हजार के ।।१६६।।

सीता सी सीता लसत राम राम अवतार ।
राम सिंघ तिनकैं प्रथम प्रगटौ राजकुंवार ।।
पंचम दलपतराउ पै दष्षिन दूत पठाय ।
नाती कौ उतसाह सुन छाती नृपति सिहाय ।।१६७।।

सोरठा

तबै दल्लपत राउ हियैं महा सुष पाइ कै ।
दान अनेक दिवाय विप्रन को बहु वेद विधि ।।१६८।।

दोहा

जे ठाकुर निज सैंन मै ते विध सौं पहिराय ।
सूबा पति जु तन्त्रपत सह पंचम निवत जिमाय ।।१७०।।

छप्पय

पंचम दलपत राउ देस कह् दूत पठाये ।
दष्षिन दिसि तै जलिद सहर दतिया महि आये ।।
देषत पाचन हाथ कुंअर साहिब बुलबाये ।
रामचंद्र नरनाह सुनत संग सूर सजाये ।।

सुभ साङ्गिसहन तैयार हुय चंद कुंवर चलमात पह।
तिलकं दिवाय पाङ्गिन परिग प्रथमं किय पयान तंह ।।१७१।।
दर कूचन दल चलैउ होय दुंदभि धुकार वर।
षट कोसहि डेरा परंत नित नैम सूर नर ।।
इहि प्रकार हुसयार देस दक्षिन संपत्ते।
चर चरित्र लैष-वर जाय नृपास सुसत्ते ।।
सुष पाय राउ दलपत्त नै दल पठाय आगै लये।
सुत रामचंद्र जब पास गये देषत अति आनंद भये ।।१७२।।

दोहा

रामचन्द्र जब तात सौं कीनी आन प्रनाम।
सुत उठाय उर लाय नृप बाड़ौ सुष अभिराम ।।१७३।।

सोरठा

आदौनी तज ठांउ दिल्लीसुर सौं अरज कर।
गुलवरगा की राउ लई राहदारी तबै ।।१७४।।
घेरौ वरगिन आय सीतापुर नृप कौ अमल।
पहुँचे दलपत राय तिहि उतराले कौ जलद ।।१७५।।

छंद

दल दक्षिनियं। उत आयवियं ।।
बलवीर सुता। जुर लोह दता ।।
घरसीस वनै। नहिं हार मनै ।।
दुहूं ओर भरौं। अति सार झरौ ।।
दलपत्त नयै। रन मांझ दियै ।।१७६।।

दोहा

तहां श्री दलपत्त राय को आयि दब वै जंग।
करै षर्ग षेला तहां घन बुंदेल बजरंग ।।१७७।।

छप्प

तंह सुदल्लपत राउ मारसंतह विचल्यायउ।
गवर गिरीस जगाइ वेगनंदी सु सजायउ ।।
भयउ मार तिहि बार तहां चल देषन आयेउ।
इस षवीस मसान सीस बीनत मन भायउ ।।

जुग्गिन रक्त भरपत्त तंह कालिय किलकारिय करहि ।
पंचम प्रचंड बुंदेल सहतह अपार सारह झरह ।।१७८।।

दोहा

संता के संग जे हते तै अब कहत वषान ।
भगे समर मैं सबै तज पेसवान की बान ।।१७९।।
रानौ कानौ और बहु घनै रान सिर जास ।
नीमा चीमा षुरपडा पंडित मौजी तास ।।१८०।।
इतै दष्षिनन मैं हले सबै बड़े सिरदार ।
भगे संग संते लियै परत सार की धार ।।१८१।।

सोरठा

संत हिरन बिचलाय दुंदिभि दीह बजाय कैं ।
गूडरतहात नाह सीतापुरह मिलायकै ।।१८२।।
फेर आन सुलतान तहां निसान घुमायकै ।
तंह दलपत्त अमान गुलवरगा कौं आयकै ।।।१८३।।

दोहा

करनाटक को कनत हा पट्टन अरु गुजरात ।
वै डर सरतापा डरी तिहि पुरन रुंदत जात ।।१८४।।
जदिन साह अवरंग चड़ चिंजीगड़ घेरंत ।
तदिन नृपत सुत संग लै होय हरौल लरंत ।।१८५।।
जदिन जाय अवरंग साह चिंजीगड़ घेरेउ ।
दुयव दपट दलपत्त राउ मुष रुष नहिं फिरेऊ ।।
भयउ मार अस रार लगिय आतस की अग्गिय ।
भरह पत्त जुग्गिन जमात काली अनुरग्गिय ।।
लुथ्थन सुवुथ्थ धरनीय पटिग पल चारन पल चरचरिउ ।
तंह रामचंद्र किरवान गहि तदिन तात अंगह लरिउ ।।

कवित्त

सजै जिहि सैन चैन जात है गनीमन कौ कैसे कर पंचम सौ पेज कै अरत है ।
वंकट मवासे उदवासे जिहि जीत करे बसत सुवासे रासे दंड जे भरत हैं ।।
सूर सुभ साह सुयवानैत प्रबल हुय पारथ समान भिर भारथ करत हैं ।
कहै जोगीदास राउ दलपत्त जू के त्रास साहन के सत्रु अत्र छोर के धरत हैं ।।१८७।।

दोहा

कछुक दिवस विचराय कै रामचन्द्र महाराज ।
जुदौ भयौ दलपत्त सै कर उमैउ दल साज ।।१८८।।
फतै सुकर दष्षिन दिसा तबै सु अवरंग साह ।
तहां राष दलपत्त ढिग कीनौ मन उतसाह ।।१८९।।

सोरठा

आजमसाह समेत रहे सुदष्षिन मांह ।
बंदोबस्त के हेत रही साथ चतुरंग सब ।।१९०।।

दोहा

प्रतिपद फागुन असित मै देह तजी अवरंग ।
सत्रा सै त्रेसठ गनौ संवत कौ गुन अंगी १७६३ अवरंग मरनः ।।

सोरठा

कछु दिन पाछै साह गयौ सुपरलोकै तहां ।
आलम दिल्ली मांह बैठन चाहै तषत पै ।।१९१।।

दोहा

जान साह आजम तबै भिस्त गयौ अवरंग ।
मन विचार कीनौ करौं आलम सों सफ जंग ।।१९२।।

छप्पय

आजमसाह बुलाय रामसिंघह दलपत्तह ।
कहेउ सकल समझाय करेउ निज मंत्र सुतत्तहि ।।
करन चहत हम जुध्ध जाय आगरै ठांउ वर ।
हूजे राउ हरौल काज दिल्लीस लाज धर ।।
साषा िलाष जुझ्झार तुम यह मंत्रह चित्त घरौ ।
भिर माह साह आदंम्म कौं स्वांम काज आपुन करौ ।।१९३।।
सुनत यहै दलपत्त राउ तब ही करजोरेउ ।
दान कृवान प्रवान जंग कह मुष नहिं मोरेउ ।।
करहु मार असरार सत्रु की सैन विडारहु ।
श्रोनित की कर कीच सीस ईसह उर डारहु ।।
बुंदेलखंड बुंदेल स्वांम काज चित्त धरहुं ।
इन भुजन षेल आलंम्य दल पारथ सम भारथ करहुं ।।१९४।।

दोहा

ये षवरैं दलपत्त कीं सुनी साह आजम्म ।
सज्ज चमू चहूं ओर तैं सजौ आप कर वंम्म ॥१९५॥

छंद भुजंगी

सजराय ठौरं बली जोर जंगं ।
सजे हैं भदौरिया भारे उमंगं ॥
सजे है सुराना उदैपुर वारं ।
सजे राय गै जोधपुर के हकारं ॥
सजे कछ्छवाहे महाजोर जंगं ।
बसै किले आगरे जुध्धं अभंगं ॥१९६॥
सजे है मलैया सबै सूर भारं ।
सजे कछ्छ भुजं सुजुध्धं अपारं ॥
सजे है उज्जैन सूबा अपारं ।
करै साह के काज मारं अपारं ॥
सजे दष्षिनी जे वगैरं सूबा ।
लयै संग सैनं अनेकं अजूबा ॥
सजौ राउ दलपत्त सुभ साह नंदं ।
दतिया धनी वीर कुल कौ सुचंदं ॥
सजे तालु संगं कूरी जे अगाऊ ।
कहौ भाष संछेप पारं न पाऊ ॥१९७॥
सजै हैं बुंदेला बली सार धारं ।
छतानन्द जैसी विजाई जुझारं ॥
सजौ साषिनी वार भारथ पमारं ।
सदा तेग सी सम्मुजा के सुभारं ॥
जै वैस देवीयसिंघं सुजोरं ।
लियैं पारवारं सुसंगं अमोरं ॥
सजौ भाट चंपत्तरायं सुसूरं ।
परै तासु भीरं बड़ै मुष्य नूरं ॥
सजै वीर किसुनाति लंता अनूपं ।
सजौ मल्ल सोहं सुलोधा अनूपं ॥
सजौ पाह कचाह के बीरबंका ।
सदा सत्रु जाकी सुमानै सुसंका ॥

सजै हैं अहीरं सुमौहन्न धीरं ।
रहै दान किरवान मै सूरवीरं ।।
सजौहै सु चौकीनवीसं पहारं ।
सजै पिप्परैया धरैं कुलं भारं ।।१९८।।

दोहा

नाहर से नाहर सजे सजे संग जैवार ।
सजैं राऊ दलपत्त संग औरै सूर अपार ।।१९९।।
दान कृवान प्रवान सौ रहत सदा जे वीर ।
स्वांम धर्म के कारनै अर्पे रहत सरीर ।।२००।।
राम साह के वंस के जगदेउ सजे सुसंग ।
दोइ सहस लै सूर सब केकैं अैउ उमंगं ।।२०१।।
सजे संग औरौ बहुर उद्दित प्रबल पमोर ।
स्वांम काज धरसीस पै साषन साष जुझार ।।२०२।।
सजे धंधेरै वीर बहु उदित प्रबल प्रचंड ।
पड़ै सुजस तिनकौ सुकवि करत रहै अरषंड ।।२०३।।
पांच सहस असवार सज और सबै सामंत ।
राउ दल्लपत सजत ही जोगीदास कहंत ।।२०४।।
सजे और आगैं कहैं संग हते रजपूत ।
स्वांम धर्म की रिघ कौ सदा रहत मजबूत ।।२०५।।
सजौ सुआजम साह लैं सूबा मीर पठान ।
चडौ सुआलम साह पै चलौ करन घमसान ।।२०६।।
एक एक जौ बरनौं तौ ग्रंथ अपार ।
ताते कहै निबेर कै हते जितै सिरदार ।।२०७।।
विहंस साह आजम तबै राउ करे अगवान ।
सूरन मैं तुम सूर हौ, जानत सकल जिहान ।।२०८।।

छंद अर्धनराच

सजंत सैन ही जबै, डगंत सेस ही तबै ।
उडंत धुंध धूरयं, रहौ अकास पूरयं ।।
लसैं सु सूरचंद सौ दिवस्सरैंन मंद सौ ।
चलंत कोसचारही, परंत मेल भारही ।।
बजंत नौवदं जहां, भजंत कायरं तहां ।
चलंत सैन सूरयं, बडंत मुष्य नूरयं ।।

करंत ठीह बाजयं, गजंत हांग राजयं ।
करंत कूच दूतियं, चलंत सूर सत्तियं ।।२१०।।
सुनंत सैन ग्राइयं, तहां वजीर धाइयं ।
हतौ सुग्रालमं जहां, हकीकतं कही तहां ।।
बुलाय ग्रौर भोरयं, हते सनै वजीरयं ।
कहौ कहा सुकिज्जियै, सलाह एक दिज्जिये ।।२११।।

दोहा

तबै सुग्रालम साहनै कागद लिप पठवाय ।
कही वजीरन समभ्क कै चित हिंत सौं ठहराय ।।२१२।।

छप्पय

दियव सुलिष पठवाय, साह ग्रालम कह ।
बडय नहीं उतपात मुलक बांटौ सुग्रघेतह ।।
धर कुरान कौं बीच चित्त मैं ग्रान ग्रानहु ।
जूभ्कैं सकल सिपाहि बात मम कहिय सुमानहु ।।
धन धाम सकल साहन सहित लेहु सबै ग्राघो सुकर ।
नहिं धरौ चित्त ग्रौरै कछू, करहु राजा यह मंत्रवर ।।२१३।।

सोरठा

कागद लैकर दूत पहूँचे ग्राजम साह नौ ।
कहौ साह कौ सूत जो हवाल कागद लिषौ ।।२१४।।

छंद पध्धरी

दूतं पठायं । ग्राजंमसायं ।।
दलपत्तराउ । तिनकौ बुलाउ ।।
येकंत होय । कह षबर सोय ।।
ग्रालम्म साय । लिषियौ पठाय ।।
सव बांट लेउ । ग्राधौ करेउ ।।२१५।।

दोहा

कही साह ग्राज्जम्म नै राउ बात सुन एक ।
तुम हरौल साषान तै राषौ हमरी टेक ।।२१६।।

छंद

तब कही दलपत्त राउ ।
मम बंस कौ जु भाउ ।।

हम करहु जोई बान ।
पूरी करै भगवान ।।
तुम चलहु सब दल साज ।
लै दैउ तुम कहु राज ।।
बैठार दिल्ली धाम ।
कर हौ जु तवहिं सलाम ।।२१७।।

दोहा

लिषौ जु आलम साह कौ दै दूतन के हात ।
जंग बिना नहिं होयगी तुम सौ एकौ बात ।।२१८।।

कवित्त

आजम कहौ है साह आलम सौं ऐंउ घर दिल्ली कौ तषत हम लैहैं फेर आनकै ।
प्रथम सुतै सूर साहिब किरान भये पातसाह जहाँ कीनौ समसेरन सौं ठानकै ।।
अकबर साह जहंगीर भये पातसाह साहजहां कीनौ समसेरन सौं ठानकै ।
अवरंगनाही कौ बड़ेगौ नाउ कौन भात सुकविन कैहै काउ कवित्त बखानै कै ।।२१९।।

दोहा

आलम साह सुनी षवर तिषी मनै नहि आन ।
वाजषान कौं भेज कै बुलवाये पट्ठान ।।२२०।।

पट्ठानन के कोंम बरनन

दोहा

काविल सूँ सूवा चहौ लीनै सैन अपार ।
सैयद सेष पठान संग लै कै सूर जुझार ।।२२१।।
चडै संग गिलजी जहां गुज्जर वंगस जोर ।
मोरी सुंग्यारनी चतुर गष्षर सैन बहोर ।।२२२।।

छंदात्रभंगी

बषत्यार विटन्नी वावर अन्नी वल्ली वन्नी अगवन्नी ।
काशी किरवन्नो कागड पन्नी पव्वी मत्ती सड वल्ली ।।
कोषर कद भारे षग्ग षिलारे षट्ठकराले सो हुंदे ।
उडमुड पतवारे सूर अन्यारे सुरष समारे लोहुदे ।।
वरतोग तगाही एर उर दाही तो याहो फरु मंदे ।
नागर चित्त चाही सरत सिपाही सज्ज सनाही झलकंदे ।।२२४।।

सोरठा

सजे षलील प्रचंड, षनजादे अरु षेसगी ।
दावे जई उमंड, मंदोर्जतफजइ ॥२२५॥
दिले जाक दिल या कहै अफरद्दी वजरंग ।
मत्त मतन्नी पीलसे सजे नियाजी संग ॥२२६॥
सुनी षवर आलम्मनै आई काविल सैन ।
वडौ साह उतसाह अति भयौ हिये में चैन ॥२२७॥
सुनी षवर आजम तवै भयौ अपुन हुसयार ।
बुलवायौ दलपत कौ दीनौ सकल अभार ॥२२८॥
सहदानै बजवाय कै सजी सैन तिहि काल ।
चड़ौ आय गजराज पै समर सूर अरसाल ॥२२९॥
पांच सहस संग सैन लै चलौ राउ दलपत्त ।
जूझ जुरैन मुरै कहू रहत हाथ जयपत्त ॥२३०॥

छंद

गज चड़ो दल्लपति राउ। मन मै बड़ौ अति चाउ ॥
पंचम बडौनी वार। दोउ वंघ भये तियार ॥
जैसिंह तंह बलवान। विज सिंह हुय अगवान ॥
कारी सुपीरी ढाल। गज पैल सै सुविसाल ॥
तिहि संग बंधवदोय। इक सहस भट लै सोय ॥
सत्रसाल सुत दुय वंध। अर कौ सदां दुष द्वंघ ॥
संग चलौ भारथ साय। साषन घनी सो आय ॥
संग सूर लै सत एक। कुलकी धरै तहं टेक ॥
संग चलौ देविय वैस। लिव षार वार सवैस ॥
चल भाट चंपत राउ। रन कौ बडायै चाउ ॥
किसुनातिलंमु अनूप। लष रुद्र कै सौ रूप ॥
मलसाह लोधा जोर। सज चलौ दलपत ओर ॥
चौकी नवीस पहार। सज सैन मै सु अगार ॥
सज्जेनकी बहकार। बोले सु सूर तियार ॥
संग और सूर अनेक। संग चले करकर ठेक ॥
नहिं कर कहौ विस्तार। बाडै जुग्रंथ अपार ॥
कहि सकत को कविराय। जिहि चंद सौ वर पाय ॥

बुंदेल वंस अमान । कछु पहिल कहे वषान ॥
ते चले दलपत संग । सज जंग कौं जु उमंग ॥

दोहा

चली सैन जब साह की फिर को करत सम्हार ।
चले राउ आगै तबै लयैं साह दिल भार ॥२३२॥
कर मुकाम दै बीच मैं नरवर मेले आन ।
एक लाष संग सैन लै आजम करे मिलान ॥२३३॥
कही राउ दलपत सौं चलौ सुवाही वाट ।
काल सैन मे लै सबै चामिलही के घाट ॥२३४॥
बद्दल स गरजत लगे बज धौंसा गजवाज ।
मघवा सौ राजै तहां श्री दलपत महराज ॥२३५॥
उतरे चामिल सैन लै राजा राउ अमीर ।
भई षवर आलम्मं लौं पहुंचाई तंह भीर ॥२३६॥
दरकूचन दोऊ चले परे परे जाजऊ आन ।
राजा राऊ अमीर सब जुरे ठान पट्ठान ॥२३७॥
इत हरौल आजम्म कैं दलपतरा मरदान ।
उत हरौल आलम्मं कै वाजषान पट्ठान ॥२३८॥
सदा साह आजम्म कैं जुघ्घ करन कौ चाउ ।
बुलवायौ दलपत्त कौ हिय मै बडौ उमाहु ॥२३९॥
तबै राउ दलपत्त नै हुकुम सु आजम लीन ।
तंह डेरन मैं आयकै बुलवाये परवीन ॥२४०॥
फौजदार सुष देव कौं हुकुम दियौ तब राउ ।
सजौ सैन मै षवर कर बडै जुध्ध कौ चाउ ॥२४१॥

छप्पय

बुंदेला विरदैत वीर पंमारय घेरे ।
किसुनातिल अरु वैस और सब सूरन टेरे ॥
होय वेग तैयार तबै सुच कर्म धर्म कर ।
महाराज दिय हुकुम लियव सब अप्प सीस घर ॥
गज वाजषास तैयार हुय बजत नद्द नौवद्द जंह ।
विरसंग वंस सुभ साह सय लसत राउ दलपत्त तंह ॥२४२॥

दोहा

सुतर सतरनालैसही हथना लैं अरतौय ।
वषतरिया सज्जे बहुर धर धर कलगी टोप ।।२४३।।
वनई आलम साह की अनी कुआरी जान ।
वनरा आपुन तब बनौ दलपतरा मरदान ।।२४४।।

कवित्त

रचौ रन व्याह मचौ मारू राग मंगल ज्यौं रचौ रुद्र रह सब धायै सुभगत की ।
माम सिर मौर घर पत्त सिर पनरथ्थ कंघ्ध सोहै षर्ग कंकन विराजैं सोभ अतकी ।।
वर छे सुषंम्म ढाल मंडिप अनूप छाप अनी वर आलम की वीर रूप रत की ।
स्वाम काम तन कौ तमौर करौ तेगन कौ धन्य धन्य हिम्मित रजीले दलपत्त की ।।
।।२४५।।

छंदमोतीदाम

सजौ नृप राउ ।
दलपत तौव ठौयन हिंदुन कौ सिरमौर ।।
सजी संग सूरन की जुवरात ।
बजै वर वंम्म घटा घहरात ।।
लसै गज स्याम सुपीत निसान ।
भयौ सब तैं दल मैं अगवान ।।
सजे सब रानह राउ अमीर ।
सजी सब आजम की तंह भीर ।।२४६।।

दोहा

लसै गजन में अग्गरौ एरापत उनमान ।
तहां किसुन गज पै बड़ौ बुँदेला मरदान ।।२४७।।
नरपत नृपपति छत्रपत भुय अरु दांन ऋवान ।
दलपत दलपत सौं लगी आजम करत वषान ।।२४८।।
उत तैं आलम साह चड़ लै सूबा उमराउ ।
चलौ समर कौं सुघ्घहुय हियै बड़ायैं चाउ ।।२४९।।

छंद भुजंगी

सजैं भीर ईरान तूरान वारे ।
क़दलवास कैलास कमीर भारे ।।

वदकसान आसाम येरुमतामी ।
षुरासान कंधार के षाननामी ॥
सजै उजबक्कं आर वंसोवलोचं ।
तिन्हैं जंग के बीच आवैन सौचं ॥
मुउैनीसजै सैव्द साहै अमानं ।
सदा वंदगी साह फाजिल कुरानं ॥
सजे सेष चिस्ती फरुकी जुसूरे ।
अवासी सिदी कील लोहं सुरूरे ॥२५०॥

दोहा

चलौ साह आलम तबै सबै षौम लै संग ।
जूझ जुरैं न मुरै कहू जंग रंग अनभंग ॥२५१॥
उतै पठानन मै भयौ वाजषान अगवान ।
इतै दलपत राउ भौ आगै ही मरदान ॥२५२॥
चले सुमास अषाड़ मै सुमित तीज तारीक ।
एेतवार कौं जुध्ध कौं सूरन कौं दिन नीक ॥२५३॥

कवित्त

उतै साह आलं उमड़ दल आयौ चड़ इतै साह आजम के सूर भये आगरैं ।
हौन लाग मार तोप तुलक की चारै ओर श्रोनित की सलता मिली है चल सागरैं ॥
एकैं परे भूमै एकैं घाइल सुधूमै एकैं सीसन बिहूमैं सीस फूटै मनौं गागरैं ।
रामींसग का अघरा मै गिरौ घाइल हुये राउ पील पेल कैं अगारौ भयौ आगरैं ॥२५४॥
भागे राय ठौर ठौर छोड़ कैं सुलंषी सबै भागे अष्षिनीन सैन लैकै पार सागरैं ।
भागे सीसौबिया कपूत और भोग बोत देषत समर कोरु गहतन बाग रै ॥
देषसाह आजम कपूत भगे चारौ ओर जोगी दास सुकवि सपूत लाज पागरै ।
सत्रुन पै सोक हय सपूत सुभ साह नंद राउ पील पेल कै अगारी भयौ आगरै॥२५५॥

दोहा

तहां राउ दलपत्त कौ वैस वली बलवंड ।
तब उठाय हय कौ तमक धायौ प्रबल प्रचंड ॥

छंद

लई करकैं किरवान प्रचंडं ।
हनै अर देविय सिंग उमंडं ॥

परौ अरके दलषै कर रीस ।
करै जुकरै जुदै धरतै तंह सीस ।।
हनै सु अनेक पठानन ठान ।
करौ तंह वैस बदौ घमसान ।।
परौ तव घाइन सुषेत ।
लरौ तंह पंचम के जंह हेत ।।२५७।।

कवित्त

हरषत सूर अत जंक्तसुनूर मारू बाजत सिंधूर सुर देव उमहत है ।
बडै सिंघ देवीचबस द जय जय जंपै नारदय सारद करवीनह गहत है ।।
पूरै सिंघनाद गिध्ध मंडलत वाल ते रंभा गन भान जक थकित रहत है ।
नगन छुकित मन मगन सिवा संभु जूजवह गगन वैसलगन कहत है ।।२५८।।

दोहा

जब देवी रन मै गिरो कटौ राउ के काम ।
तब फिर धायौ कुध्ध कर वैस सु गंगाराम ।।२५६।।

छंद

गयौ गोल मै पैठ कै वैंस सूरं ।
लरै भीम सौ जुघ्घ कौ सुगरूरं ।।
लरौ सुभ साहके वीर वंका ।
सहस एक सौ सार कीनाहि बंका ।।
लषै राउ दलपत्त जाकी सुबरनी ।
पढै जस्स जग मै सदा भाट करनी ।।
भलौ राउ के नौन कौ धर्म राषौ ।
घनो घन्न छत्री कियौ वैस साषौ ।।२६०।।

कवित्त

करन के काज वैस बहुतक भीर भँजी कीनौ बोल ऊपर किमी न करी गोल में ।
बाजी षग्ग ताली काली फिरत षुसाली हाली लाली लष काली कंत फिरत कलोल में ।।
हालै मेघडंबर अडम्बर अरावै छूटै बानैत विहारी कौ डगौ न डगाडोल में ।
मुहरा के मारे हाथी हाथिन के मारे साथी आगरै उमड़ लरौ गंगाराम गोल में ।।२६१।।

दोहा

देषौ गंगाराम कौ पराकर्म मजबूत ।
तब सुभु अप्पत साह जू धायौ तबहिं सपूत ।।

छप्पय

विरचवीर वानैत वैस भर एस रूप रन ।
दस हजार उत इतइ इक्क रुप रहे उत्र सुधमन ।।
वरषत गोला वान तोप घोपै कटार भर ।
पराक्र ता सुजोगी दास कह सुर नर मुन मुषमंड़ियेउ ।।२६३।।

दोहा

तब धायौ लोधा प्रबल फौजदार अगवान ।
लरौ समर मै सुध्ध हुय जानत सकल जहान ।।२६४।।

कवित्त

ठायें ठौर ठाइन अठाइन अठाइन सौं ठानै ठैन जाके संग सोहत है ठाकुर ठिकानै को ।
भारौ सिरदार हर भारौऊ दलेल दार अगवनदार अनी स्वांमित सयानै कौ ।।
धीर राज घोरी राज धरा कौ घरन हारौ पाय कें मरद मै विरद वीर बानै कौ ।
लाला सुषदेउ लोह लागन लराक फौजदार नरदानौ सुभ साह मरदानै कौ ।।२६५।।
सोई वंस उदित उदार ए उदार वीर बांकौ नौकदार सुषदेव के घरानै कौ ।
धायौ कर कोप गही घोप अरि ढाहवे कौ मारे है पठान पानी राषौ वीरवानै कौ ।।
करत सिपास रजपूती लष दौनो साह घंन्न मल साह सांचौ सूर षानदानै कौ ।
लरौ स्वाम काज पै सपूत साह आलम सौ जोगीदास सुजस वषाने मरदानै कौ ।।२६६।।

दोहा

घाइल हुय रन मैं गिरौ लोधा जोधा वीर ।
धायौ किसुनातिल तवे षर्ग राय बलधीर ।।२६७।।

कवित्त

वंस मयाराम कैं सपूत पूत देवासुय राउ दलपत्त आगै भारथ सौ करौहै ।
तहाँ दीन दोऊन मैं हांक कैं सुमारे अर भीम के समान मरदान जोर अरौ है ।।
कहै जोगीदास आस पूरी करी ईसह की मानुज समेत षर्ग राय धाय लरौ है ।
पंचम के नौन की निभाई साष साषन तै पारथ मैं भीम की नाई षेत परौ है ।।२६।।

दोहा

लरौ तबै पंचम प्रबल बुंदेलौ विरदैत ।
विजै सींघ जैसींघ दोउ बडे सूर उर जैत ।।२६९।।

बड़ौनी वारिन कौ

कवित्त

पंचम श्री प्रथी राज कौ नंद छुता लरौ श्री सुभ साह के मेला ।
तैसहीं राउ दलपत्त के संग मार पठान करे घर मेला ।।
आगरे षेत करौ घमसान लरौ बिजै सिंघ कटौ सुअकेला ।
आलम की जंह क्वांरी अनी सुवरी तंह पंचम वीर बुंदेला ।।२७०।।

दोहा

कटौ भतीजौ राऊ कौं विजै सिंघ मरदान ।
भारथ साह भयौ तहां जुध्ध काज अगवान ।।२७१।।

छंद

चड़ौ हय पै तंह भारथ साह ।
वड़ौ मन मैं अति वीर उछाह ।।
लड़ौ तहं लाषन मैं कर दौर ।
बड़ौ सुपमारन मै सिरमौर ।।
हनै अरकैयक मार अमीर ।
पठानन की विचलायसु भीर ।।
कटौ रन आपुन जाय अगार ।
सदा अर सैनन कौ जितवार ।।
कहै कवि जोगिय दास वषान ।
गयो सुलोक सुवैठ विमान ।।२७२।।

कवित्त

पंचम श्री दलपत के संग करी सब तै दल मै अधिकाई ।
हांक कै वैरी हनै समसेरन सूरन मै करें सूर बडाई ।।
साषन साषन लड़ाक बड़ौ जुग दास कहै कवि कीरत गाई ।
मारत में कटौ पारथ साह दई पुरषान कौं ओप सवाई ।।२७४।।

दोहा

कटौ साकिनी वार तब स्वाम धर्म कर चाउ ।
भाडैरी तब कुध्ध कर धायो चंपत राउ ।।२७५।।

छंद

तबै भाट चंपत्र धायो अमौरं ।
करो जंग जाकैं पठानं सुओरं ।।

करौ भाट जगनक्कने जुघ्घ जैसौ ।
झरौ सार सो झार भारी सुऐसौ ॥
लषै दीन दोऊ सराहंत भाटं ।
कटौ राउ दलपत आगे निराटं ॥२७६॥

दोहा

तबै भाट सुर पुर गयौ जानौ सकल जहान ।
तव पहार सगवन्नहुय चलौ करन घमसान ॥२७७॥

छंद

चौकी नवीस । ताकी नरीस ।
देषो पठान । आगे सुआन ॥
लेकैं जुसेल । भयो एक मेल ।
षायो जुघाय । देषौ जुऐउ ॥
तब फीलवान । कीनौ वषान ॥२७८॥

कवित्त

दैषौ महाराज राउ आलम की सैन मांह कीनौ घमसान मरदान सार झारिया ।
घाली समसेर कैयौ वैर घाली सांग लुथ्थन पै लुथ्थ डरौ भू पर अपारिया ॥
नीकौ तंह पंचम कें नौन को निबाहों पन कहै जोगी दास कुल उदित उदारिया ।
घाइन षा षल दलन नषाय परौ षेत में पहार वीर काइथ कटारिया ॥२७९॥

दोहा

हर बल आजम साह कैं पंचम दलपत राय ।
उतै जु आजम साह कैं वाजषान उभराय ॥२८०॥
तबै दल्लपत राउ नौ गज कीनौ अगजान ।
बड़ौ नूर सुष सूर सौ लही तबै सुकमान ॥२८१॥

छंद भुजंगं प्रयातु

तबै राउ दलपत नै पील पेलौ ।
चलौ राज अगराज सौ सुअकेलौ ॥
घलै तोप तुपकैं चलें वान नेजे ।
लगैं अरन के जाय फूटे करेजे ॥
करौ राउ तरकस्स सो चार घालौ ।
लयै बैल ठाडौ सिहा वैकपालौ ॥

परी लुथ्थ पे लुथ्थ धरनी न सूझै ।
किते है मजानन पंचानन कौं बूझै ।।
भरे जुग्गिनी श्रोंन षप्पर सिहाई ।
करी राज दलपत ऐसी लराई ।।
हंसै देषि नारद सारद गावै ।
लयें बीन कर आप ठाडौ बजावै ।।
हनौ वाजषां नफीरं पठानं ।
दलपत्तरायं करौ घंम्मसानं ।।
तबैं साह आलम्म कैं वाड़ संका ।
करौ साष साषन तैं वीरवंका ।।२८३।।

कवित्त

उतै साह आलम असंक सैन साज चड़ौ इतै साह आजम उचायौ आयौ वागरें ।
पंडवननेत षेत बांधौ राय दलपत कै वर क्वान वार्नहिम्भित अचागरे ।।
सुभ साह नंद सूर पिलौ मेघडंवर पै मारों वाज षानजाय साज के बराबरे ।
हिंदुन की पत साहजादिन की पैज राष कारी पीरी ढालन चड़ाई ओप आगरे ।।२८४।

कवित्त किरवान

जंह दिल्लीदल दोऊ कुदध जुदध कौत्र सुदध भये आगरे कौ कीनौ कुरषेत के समान।
जंह कटत भसुंड तुंड विकट वितुंड लेत मुँडन की माल देत संभु जू कों आन ।।
जंह तरकस चारौ ओर कर कस वाधै जोर करै घमसान राऊ भीम के समान ।
तंह पंचम प्रचंड महराज सुभ साहनंद आजम की बान लसै रावरी भुजान ।।२८५।।
जंह उत पठान इत बुंदेले अमान रचौ महा घमसान राउ भीम के समान ।
जहां छूटे तीर बान चलैं तापैं तेगवान फूटैं भीर यौ पठान गिरे पात के प्रवान ।।
जहां आजम हेत साह आलम सौ कीनौ षेत बांध सिर नेत वीर मोहौ समुहान ।
तंह पंचम प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की वान लसैं रावरी भुजान ।।२८६।।
जहां दोऊ दीन देषत तमासौ षेतआगरेकौ झगरौ मचायौ दलपत मरदान जेह करन ते।
छूटे तीर परन स्यौ फूटे वीर धर तन वीर कड जात अरि प्रान ।।
जहां नाती भगवान कौ अमानरन दूला वनौ सुजस वषान जाकौ करत जिहान ।
तहां पंचन प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की वान लसैं रावरी भुजान ।।२८७।।
जंह उत असुरान घमसान कौ अमान षड़े इत मन बडे कासो सुर ले कमान ।
जहां छूटैं सांग नेजे अर छेद कैं करे जे सूर लोटत डरेजे कड जात तंह प्रान ।।
जहां काइरं कंपानै भगे छोड वान मन धीरज न आनैं देष भूले अवसान ।
तहां पंचम प्रचंड महाराज सुभ साह नंद आजम की लसैं रावरी भुजान ।।२८८।।

जहां आलम अनी वनी सुन के कुवारी ठनी बनौ रन दूला दलपत मरदान ।
जहां बांध सिरमौर सजेसुभट वरात तोंर आयो चल राउ आगरे के मयदान ।।
जहां से खनषंम्म छायौ मंडप तुरत वेस आयौ सुत देषन महेस तिहि थान ।
तहां पंचम प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की बान लसै रावरी भुजान ।।२८९।।
जहां धौसन बजावैं वाडी मारू राग नावैं देव देषन सुआवे छावे गगन विमान ।
जहां गौरी हर षावैं भूत प्रेतहुउ भावैं देष जुग्गिन सिहावैं करैं नारद वषान ।।
जहां चिल्ल गिद्ध ग्यात काग अंत मंडडात आये आलम की सैंन जान घनौ पकवान।।
तहां पंचम प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की वान लसे रावरी भुजान ।।२९०।।
जहां देत है असीस देष नारद मुनीर गंगवर गिरीस कौ भान असमान ।
जहां नाती भगवान कौ प्रतापा राउ दलपत आलम के मारे मीर मुगल पठान ।।
जहां भागे छत्र धारी छिति मंडल मैं अत्र छोर माचौ जुद्ध जोर कव करत वषान ।
तहाँ पंचम प्रचंड महाराज सुभ साह नंद आजम की बान लगी रावरी भुजान ।।२९१।।
जहां तोपन की छूटन बंदूकन की लाई लाग बान चले हुलक हवाई के समान ।
जहां ऊभौर नदलौदलपत्त महजि वीर आलम की अनी बनी हू के निज थान ।।
जहां भैरौं भूत नेगी मसहार सबैं भागी नेग अरन के रुंड मुंड देत हैं सुआन ।
तहां प्रबल प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की बान लगी रावरी भुजान ।।२९२।।
जहां साषौ करौ प्रवल बुंदेला अलबेला वीर नाचे रुद्ररहस वधायो मन जान ।
जहां गाउ जोर जुग्गिनी जमात सौं सिहात सवै सुकवि सुजोगी दास करत वषान ।।
जहां श्रोनित सुरंग लगौ रंग है सुअंग अंग सूरन लै षैलौ फाग रन मरलान ।
तहां फगुआ दे पंचम प्रचंड सुभ साहनंद आजम की बान राषी रावरी भुजान ।।२९३।।
जहां श्रोनित की धार वही सिमिट अपार भयौ धरन मंझार सर सागर समान ।
जहां लुथ्थन की पैरकार मच्छ गज मुंडन के मुंडन कछ्छ लगे तहां उतरान ।।
जहां पुरयन पातट दिषात ठालै चारौ ओर कमल से कर लसै सूरन के आन ।
तहां प्रबल प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम की वान राषी रावरी भुजान ।।२९४।।
जहां भान वंस भूषत नरिंद राउ दलपत हुकुम दियौ है पील पील पीलवान ।
जहां झारे चारत्रक सविदारे उर सत्रुन के एक एक वान सौं दुदो तहां पठान ।।
जहां दोउ दीन माझसान राषी कहै जोगी दास लागौ आन गोला एक रावरीभुजान ।
तहां प्रवल प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम के आगे कटौ रन मरबान ।।२९५।।
जहां गिरत भुजा के भिटौ समर कौ स्वागं सबै साहदल भागौ चहूं ओर अकुलान ।
जहां नीकौ स्वामं धरम निहारौ राउ दलपत्त आजम अमोर लागो करन वषान ।।
जहां बैठकैं विमान गयौ भेद लोक भान लगी पंचम की जोत जाय जोत में समान ।
तहां प्रबल प्रचंड महाराज सुभ साहनंद आजम के आगैं कटौ रन मरदान ।।२९६।।

जहां चडकै विमान लोक छोड देवतान मन आनंद बडान लगे फूल बरसान ।
जहां आयौ मघवान लैन हुय कै अगवान संग किन्निरी सुजच्छ करैं अच्छरी सुगान ।।
जहां इन्द्र के सुथान लसैं कलसु विमान ताह छोड कैं सुराउ गयौ श्रीपत के थान ।
तहां प्रबल प्रचंड सुभ साहनंद चारौं ओर नाऊ करी करों घमसान ।।२९७।।

दोहा

दान कृपान प्रवान वरजस कीरत कर चाउ ।
आगै आजम साहके कटौ दलपत राउ ।।२९८।।
वान झार अरभार कैं करौ दसौ दिस नाउ ।
आगैं आजम साह के कटौ दल्लपत राउ ।।२९९।।
हिंदवान हदराष कै करै अरन सिर घाउ ।
आगै आजम साह कै कटौ दलपत राउ ।।३००।।
दिल्ली दल देषन घनै तिन ऊपर कर नाउ ।
आगै आजम साह के कटौ दलपतराउ ।।३०१।।

छप्य

कटत राउ दलपत्त सैन अरके तंह गाजे ।
आजम उर अति सोच वज्ज आलं के वाजे ।।
तहां सुधीर धर वीर जुध्घ अत करत सूरवर ।
तीर बान बरसैं अगार तहूं और सार झर ।।
इहि भांत समर बुंदेल कर पील पेल रिघु ठेल रन ।
तह भेद मान मंडल गएऊ आप रहन दूलह सुयन ।।३०२।।

दोहा

इते मांझ आजम उरह लागी तोप तराक ।
सुरछित हुय गज पर गिरौ भागे स्यार सराक ।।३०३।।

छप्पय

इहि भांत सबै जुध्घ भयौ ।
जिम भारय पारथ कौं रठ्यौ ।।
जिहि घाइल देष दिली पतयं ।
तिहि आलम आय घरौह तियं ।।
निज सूरन देष दल्लपत कौं ।
मुरकाय लियौ गज के गथ कौं ।।

जह उति मथान विचार सबै ।
चल जाजमऊ मध्य सु आय सबै ।।
जंह चंदन वेस चितार चियं ।
घृत रारहि के रस सौ संचियं ।।
जमनौदिक सौं अनवाय तहां ।
घर राष हुतासन मध्घ तहां ।।
कर रौदन सूर क्रिया करकै ।
मुष सुष गये दुष सौं भरकै ।।३०४।।

दोहा

कटैं राउ के संग जे और सबै सामंत ।
उत्तम चिता बनाय कै दीनैं दाह तुरंत ।।३०५।।
तब चल सैना नृपत की पहुंची निजपुर आय ।
राउ कटौ सुन षेत मैं सकल प्रजा विलषाय ।।३०६।।
तहां सुजोगीदास कवि करत राउ गुन गान ।
धन्य धन्य सुभ साह सुत धन दलपत्त अमान ।।३०७।।

कवित्त

औरंग समानै साहजादे चढ़ विरझानै विरले षटानै जुध्ध होत वंघु भेला कौ ।
तहां राउ दलपत्त आजम हरौल हुय कै भारथ सौ ठयौ सन मुष सारझेला कौ ।।
कोप कैं कमान गह कर ज्यौ वान वाजबान से जुआन मारे पीलन सौ पेला कौ ।
पूरब पच्छिम अरु उत्तर दच्छिन बनो बूझवौ सुजस जग जूझबौ बुँदेला कौ ।।३०८।।

छप्पय

मुक्तमाल जरकस विसाल सुषपाल जवाहर ।
हमू-रहेम हथियार नगद गज गाउ सुजाहर ।।
षट दरस परसन प्रवाह पंचम सुदान घन ।
निस वासर प्रत पहर घरिय चवसट सुवहरगन ।।
जगजपु जसु जोगीदास कहत दलपत राउ सुभाउइन ।
संकत सुमेर मन मौज सुन कंपत रहहि कुवे दिन ।।३०९।।

दोहा

संवत सत्रा सै बहु तिहि पर चौसठ साल ।(१७६४)
असित तीज आषाढ़ की दीतवार सुभ काल ।।३१०।।

जाजमऊ कुरषेत कर तिहि दिन कट नृपनाथ ।
तादिन 'जोगीदास' नै कियौ सुजस कौ गाथ ।।३११।।

दोहा

कुल पुंजद महराज के साषन साष सुजान ।
भांडैरी यह वंस कैं सुत व्रज राज वषान ।।३१२।।
इक सुत श्री महराज संग लरौ जाजऊ षेत ।
चंपत रायक वंस कौ उज्जल कीय सिरनेत ।।३१३।।

इति श्री जोगीदास भाडेरी विरंचतायां श्री महाराजाधिराज श्री राउ राजा श्री दलपत राय जू देव कौ राय संपूर्न ।।सुभं भूयात्।।

खण्ड ५

प्रगमन

और

प्रकीर्णक

श्री सुनीति कुमार चाटुर्ज्या

सभापति

विधान परिषद पश्चिम वंग
कलकत्ता

श्री कन्हैयालाल मुंशी के श्रद्धालु मित्रों तथा अनुरागियों के साथ आगरा विश्वविद्यालय के माध्यम से उनके प्रति अपनी व्यक्तिगत आदर भावना, गुणानुरंजन तथा स्नेहांजलि अर्पित करते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। वे जब इस विश्वविद्यालय के कुलपति तथा उत्तर प्रदेश के राज्यपाल के प्रतिष्ठित पदों पर आसीन थे तब उनसे इस विश्वविद्यालय को जो मार्गदर्शन और प्रेरणाएँ मिलीं, उनके लिए वह उनका अत्यधिक ऋणी है। मुझे ठीक-ठीक स्मरण नहीं कि मुंशी जी से मेरी पहली भेंट कब हुई और कब उनसे परिचय हुआ। परन्तु पिछले बारह वर्षों से और उससे भी अधिक समय से, विशेषतः स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, मुझे उनसे अत्यन्त निकट और घनिष्ठ सम्पर्क का भी सुयोग प्राप्त हुआ। मैं नहीं जानता कि मुंशी जी के व्यक्तित्व में उनके किस रूप की प्रशंसा सबसे अधिक की जाय—उनके स्रष्टा, प्रेरक और व्यवस्थापक रूप की जो प्रथम श्रेणी की अनेक जनोपयोगी संस्थाओं का वास्तविक सूत्रधार है, अथवा उस विद्वन् और प्रतिभाशाली विधिवेत्ता की जो विधि-व्यवसाय का एक तेजमान आभूषण है, उस रचनात्मक विचारोन्नायक और साहित्य के उस सृजनात्मक कलाकार की जो अर्वाचीन भारत के पांच-छः मूर्द्धन्य प्रतिनिधि व्यक्तियों में से है, अथवा उस दूरदर्शी और सहृदय प्रशासक की जिसने अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर उस महान राज्य की सेवा की जिसकी भारत भर में सर्वाधिक जनसंख्या है और जिसके इतिहास और संस्कृति का महत्त्व सर्वोत्कृष्ट है। एक विद्वान् और अनुसंधायक के रूप में, भारतीय जनता और उसके इतिहास तथा संस्कृति के लेखक एवं कलात्मक व्याख्याकार के रूप में, शिक्षा-व्यवस्था पर दूरंगामी प्रभाव डालने वाले मौलिक विचारों से सम्पन्न शिक्षा-नायक के रूप में, दूरदर्शी और साहसी प्रशासक तथा कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में, निर्भय आलोचक और जनप्रिय नेता के रूप में, श्री मुंशी का स्थान देश में अद्वितीय है। भारत के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए उनकी एक महत्तम देन है—भारतीय विद्याभवन, जो उनसे प्रेरणा और निर्देशन पाकर, भारतीयों में पुनः आनुपातिकता की चेतना लाने वाली और एक बार फिर उन्हें उनके सांस्कृतिक आधारों पर प्रतिष्ठित करने वाली प्रमुख शक्ति बन गया है। इसके लिए भवन ने भारत की प्राचीन थाती के मूल्यांकन और गुणान्वेषण का मार्ग चुना है। इस थाती में संस्कृत भाषा भी सम्मिलित है और वह सब कुछ भी जिसका वह पोषण करती है। मुंशी जी अर्वाचीन भारत की एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाषा गुजराती के सर्वश्रेष्ठ जीवित लेखक हैं। उनकी रचनाओं की विविधता और मात्रा हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर का स्मरण दिलाती है। मेरे विचार से

संस्कृति इन्हीं तीन बातों पर आधारित होनी चाहिए—बौद्धिकता, सार्वभौमिकता और कल्पनाशीलता। सभी बातों के प्रति हमारा एक बौद्धिक दृष्टिकोण होना चाहिए, सार्वभौमिकता और समग्र मानवजाति के साथ एकीकृत होने की आकांक्षा का पुट होना चाहिए और इसके अतिरिक्त कल्पनाशीलता की दिव्य शक्ति होनी चाहिए, जिससे हम अपने आपको दूसरों के स्थान में रखकर सोच सकें। साथ ही, संस्कृति का अर्थ निश्चित रूप से विचार की क्रियान्विति है, जैसा कि एक प्रतिष्ठित एंग्लो-अमेरिकन विचारक ने कहा है :—विचार की क्रियान्विति जो मनुष्यों और पदार्थों के प्रति एक मानवतावादी दृष्टिकोण से संयुक्त हो। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी संस्कृति को "माधुर्य एवं प्रकाश" कहा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि संस्कृति आत्मा की समृद्धि का परिणाम है। संस्कृति के ये सभी लक्षण हमें श्री कन्हैयालाल मुंशी में प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। उनका जीवन और कृतित्व, स्वस्थ रूप में अपनी मानसिक शक्तियों पर सम्पूर्ण अधिकार सहित हमारे बीच उनकी उपस्थिति तथा राष्ट्र के कार्यों में उनका सराहनीय-उल्लेखनीय सक्रिय योगदान—निश्चय ही हम लोगों के लिए एक निधि है। जैसा कि हमारे पूर्वज सभी महापुरुषों के लिये कामना करते थे, हम लोग भी अक्षय स्वास्थ्य और मानसिक तथा शारीरिक शक्तियों के साथ सौ वर्षों तक उनके पूर्णायुष्य की शुभाकांक्षा कर सकते हैं।

मूल

I feel very happy to join the friends and admirers of Sri Kanaiyalal Munshi in offering my personal tribute of esteem, appreciation and affection, through the University of Agra, which owes so much to Sri Munshi's guidance and initiative during the time that he held the exalted offices of Rajyapal of Uttar Pradesh and chancellor of the University. I do not remember exactly when I came to meet Sri Munshi and form his acquaintance. But for the last 12 years and more, particularly after our Independence, I have had the privilege of coming into very close and even intimate touch with him, and I do not know whom to admire most in the personality of Sri Munshi—whether it is the originator, inspirer and organiser who is the veritable sūtradhāra in a number of Institutions of public importance of the first rank, or the scholar and forensic genius, who is a brilliant ornament of the legal profession; the constructive thought-leader and creative artist in literature who is one of the five or six top-ranking representative writers of present-day India, or the Administrator with vision and sympathy who gave his very best to the state in India with the bigggest population and the most significant record of history and culture. As a scholar and researcher, a writer and artistic interpreter of India's people and its history and culture, as an educationist with original ideas which are bound to be of far-reaching

effect in the educational set-up, as an administrator and Statesman with both insight and courage, as a fearless critic and a persuasive leader, Sri Munshi's position is unique in the country. One of his greatest contributions to the cultural rehabilitation of India has been the Bharatiya Vidya Bhavan, which under his inspiration and guidance has been one of the most important forces to bring back a proper sense of Proportion among Indians and to establish them once again on the bases of their culture, through an appreciation of the past heritage of India including the Sanskrit language and all that it stands for. He is the most conspicuous living writer of one of the most important languages of modern India, namely Gujarati; and the variety as well as the extent of his contri butions to Gujarati make one think of Rabindranath Tagore. Culture, according to my lights, must be based on these three things—intellectualism, universalism and imagination. There must always be an intellectual approach to things, there must be a note of universalism and desire for integration with the entire human race; and there, in addition, must be the divine gift of imagination, to put oneself in other peoples' place. In addition, Culture certainly means thought in action, as a distinguished Anglo-American thought leader has said—thought in action which is combined with a humanitarian approach to men and things. Matthew Arnold also described Culture as "Sweetness and light." Rabindranath Tagore said that Culture was the result of an exuberance of the Spirit. All these traits of Culture we find in a conspicuous degree in Sri Kanaiyalal Munshi. His life and work, and his presence with us in health and in the fullest possession of his faculties and his remarkably active participation in the nation's affairs which have a permanent and significant value, are certainly an asset for us. We can wish him fullness of years up to a hundred, as the ancients desired for all great men, with unimpaired health and mental and physical powers.

श्री बालकृष्ण विश्वनाथ केसकर

सूचना एवं प्रसार-मंत्री

भारत सरकार

आप श्री मुन्शी के प्रीत्यर्थ अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं, यह बड़े हर्ष का विषय है। श्री मुंशी ने देश की विविध प्रकार से सेवा की है। वे उच्च कोटि के वकील, लोकप्रिय और अति उत्तम साहित्यकार तथा सांस्कृतिक विद्वान हैं। उनके कार्य की छाप देश पर काफी पड़ी है। अब भी वे सांस्कृतिक काम में व्यस्त रहते हैं। लेकिन मैं समझता हूँ कि साहित्य के क्षेत्र में उनकी सेवा सब से उत्तम और मूल्यवान रही है। मैं आशा करता हूँ कि वे आगे चलकर भी संस्कृति और साहित्य की उसी प्रकार से सेवा करते रहेंगे।

कुमार गंगानन्द सिंह

शिक्षा-मंत्री
बिहार

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने साहित्य की अभिवृद्धि के लिए जो सेवा की है, वह उनकी अमर कीर्ति रहेगी। भगवान् उन्हें चिरायु करें जिससे भारतीय साहित्य को उनकी अमूल्य सेवा चिरकाल तक प्राप्त होती रहे। उनके सत्कार में प्रकाशित होने वाले 'मुन्शी अभिनंदन अंक' के लिये मैं के० एम० इन्स्टीट्यूट ऑफ हिन्दी स्टडिज़ ऐन्ड लिंगुइस्टिक्स, आगरा का अभिनंदन करता हूँ।

मुंशी जी की विदेश यात्रा

[फोर्ड फाउन्डेशन के द्वारा आमंत्रित होकर मुंशी जी ने श्रीमती मुंशी के साथ चार मास के विश्व-भ्रमण के लिए २० अप्रैल को प्रस्थान किया। इस यात्रा में वे जहाँ-जहाँ गये, वहाँ-वहाँ वे भारतीय संस्कृति के अपूर्व संदेशवाहक सिद्ध हुए। उनकी इस यात्रा से संसार के सुदूर भागों में भारतीय आदर्श अभिनव प्रभाव के साथ अभिव्यक्त हुए हैं। उनकी यात्रा के कुछ संस्मरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। इस यात्रा पर चलते समय उन्होंने स्वयं लिखा था—

"फोर्ड फाउन्डेशन" द्वारा आमंत्रित होने पर मैं "ममी" के साथ २० अप्रैल को चार मास के विश्व-भ्रमण के लिए बंबई से निकला।

स्नेहवश मेरे मित्रों ने ऐसी आशा व्यक्त की कि मैं भारतीय संस्कृति का भ्रमण शील राजदूत सिद्ध हूँगा। जीवन भर जन-सेवा या जन—सम्पर्क में मेरे रहने के कारण कुछ मित्रों ने तो विश्वासपूर्वक कहा है कि मेरी इस यात्रा से विश्व भारत के आदर्शों को अच्छी तरह समझ सकेगा।

व्यक्तिगत रूप से मुझे उस लड़के की—सी अनुभूति हो रही है, जो बिना छुट्टी के पाठशाला से भाग खड़ा होता है। यह मैं स्वीकार करता हूँ, उन लड़कों में और मुझमें एक साम्य तो है, वह है नये चेहरे—नये स्थान देखने की, नवीन ज्ञान अर्जित करने की और नवीन अनुभव करने की अतृप्त अभिलाषा। इस यात्रा में मुझे जो भी ज्ञान तथा अनुभव प्राप्त होंगे, उनका भागीदार कभी-न-कभी आपको भी बनाने की चेष्टा करूँगा। उनके साथ मेरे व्यक्तिगत प्रसंग भी होंगे, जिससे उन्हें मानव-रुचि का दृष्टिकोण प्राप्त होगा।]

—संपादक

हांगकांग में—

२१ अप्रैल को प्रातःकाल हमलोग हांगकांग पहुँचे, जो ब्रिटिश—शक्ति के दुर्गरक्षक समुद्र से निकले हुए जिब्राल्टर की भाँति है; किन्तु नहीं, इसकी उपमा बर्लिन से अधिक ठीक रहेगी, जो साम्यवाद को सुनने के लिए पश्चिम के श्रवण-स्तंभ की भाँति है। यह स्थान हांगकांग सदर से और सीमा की मुख्य भूमि नोनलून से पृथक है, बीच में लगभग एक मील का समुद्र है, जिसे आपको अपनी मोटर—नाव पर पार करना होगा। यह अन्तर्राष्ट्रीय कोटि का बाजार है, जहाँ आपको सभी देशों के जहाज और लोग देखने को मिलेंगे। इसकी अन्तर्राष्ट्रीयता इस बात से और बढ़ जाती है कि साम्यवादी चीन इससे कुछ ही मीलों की दूरी पर है। जब हम फूलों से ढके हुए इसके घरों

से या मोड़दार सड़कों से, जो नैनीताल की तरह एक के ऊपर एक बनी हैं, नीचे झाँकते हैं तो हमें आकाश को छूने वाले अमरीकी ढँग के तथा विक्टोरिया ढँग के मध्यकालीन भवन दिखाई देते हैं। यही नहीं, वहाँ से हम सिनेमा घर और रात्रि-प्रमोदगृह, चीनी शहर की टूटी-फूटी झोंपड़ियाँ और शरणार्थियों के लिए सरकार द्वारा बनाए गए विशाल निवास स्थान, बन्दरगाह जहाँ बड़े-बड़े मस्तूल वाले जहाज ठहरते हैं। कूड़ा-कर्कट और सभी देशों की माल ढोने वाली नावें, सभी कुछ देख सकते हैं।

रात में तो हांगकांग बिल्कुल परी-लोग जैसा हो जाता है। नवीन आविष्कृत वायुतत्त्व 'निआन' (Neon) से लाल-हरी लपटें निकलती रहती हैं, ऊंची इमारतों की बाह्य रेखा की पार्श्वभूमि में हजारों स्थल प्रकाशित रहते हैं। बंदरगाह के तीन ओर नीली-हरी और सफेद ऐसी आभा रहती है, मानों उसने रत्नों का हार पहिन रखा है, तैरते हुए बेड़ों पर और ऊँची छत वाली चीनी नावों पर जलते हुए दीप गंगा में बहते हुए दीपों का स्मरण कराते हैं। ये सब मिलकर बंदरगाह को एक जादू का प्रकाशमान लोक-सा बना देते हैं।

हम लोगों पर, जिनका सुदूर पूर्व में जाने का यह पहला अवसर था, हांगकांग की सड़कों ने विचित्र मोहिनी डाली। दूकानों की असंख्य पंक्तियाँ हर सड़क पर थीं और उनमें विदेशी माल भरा हुआ था। विचित्र चीनी ढँग के ऊँचे-ऊँचे बड़े साइनबोर्ड थे, जो सफ़ेद दीवाल पर लाल स्याही से लिखे हुए थे और जो अपनी ओर घूरते हुए से लगते थे। चीनी महिलायें छोटा पैजामा और एक ही में जुड़ी हुई ब्लाउज तथा स्कर्ट अथवा यूरोप के ढंग की स्कर्ट पहने ऊपर-नीचे घूम रही थीं; उनके न तो परंपरागत चोटियाँ थीं और न पैर ही छोटे थे। सबसे मार्के की बात यह थी कि लगभग हर मकान के कोने में लड़कों के झुंड खेल रहे थे। खेल क्या रहे थे, पूरी ताकत से लड़ रहे थे, धक्का-मुक्की कर रहे थे या एक-दूसरे पर लुढ़क रहे थे अथवा मल्ल-युद्ध कर रहे थे।

ग्राहकों के लिए हांगकांग एक स्वर्ग है। वहाँ चुंगी नहीं लगती, आय कर भी बहुत थोड़ा है। मजदूरी सस्ती है, व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता और नियंत्रण की चेष्टा नहीं की जाती। चौबीस घंटों में आप को बढ़िया से बढ़िया सूट (कोट-पतलून) सिलकर मिल जायगा और मूल्य बंबई के मूल्य से ४०% होगा। एक स्विस घड़ी स्विटजरलैंड के मूल्य के ६०% और बंबई के मूल्य के ३०% में यहाँ मिलती है। हम सोचने लगे कि कहीं हमारे पास असीमित विदेशी मुद्राएं होतीं। कई सौ की संख्या में भारतीय यहाँ बहुत बड़ा व्यापार करते हैं, साथ ही वहाँ वाले भी तरसते हैं कि काश हम भी भारत में अपना रुपया लगा सकते या वहाँ कोई उद्योग खोल सकते।

× × × ×

जापान में

जापान ने अमेरिकी जीवन-पद्धति स्वीकार तो की, परन्तु केवल ऊपरी तौर पर। मारूनोची में, जो व्यवसाय का मुख्य केन्द्र है, सीमेंट और स्टील की गगनचुंबी इमारतें खड़ी हैं। सूट और स्कर्ट पहने स्त्री-पुरुष सड़कों पर चलते-फिरते नजर आते हैं।

अमेरिकी नाचघर तथा नाइटक्लब लोगों से भरे रहते हैं। विश्व के घटना चक्र में जनता की बहुत रुचि है; केवल एक समाचार-पत्र अस्सी लाख के लगभग बिकता है। लेकिन, जैसा मैंने पहले कहा, यह ऊपरी धरातल पर ही है। मुझे लगा कि इन सबके भीतर जीवन अपने पुराने ढंग पर ही बह रहा है। घरों में लोग सूट और स्कर्ट उतार कर किमोनो पहन लेते हैं। नाइटक्लबों के कारण गीशा-शालाओं का आकर्षण घटा नहीं है और न सिनेमा के कारण काबुकी थियेटर ही मंद पड़े हैं। जापानी संस्कृति के प्रतीक के नाते, उनका सम्राट आज भी उसी भाँति पूज्य है। उसकी जन्म-तिथि पर, जो हमारे वहाँ रहते समय ही पड़ी, राजमहल पर जनता की अपार भीड़ लग गई तथा जो लोग वहाँ नहीं पहुँच सके, उन्होंने घर पर ही इसे मनाया।

अमेरिकी शासन के बावजूद अपनी जीवन-पद्धति के प्रति जापानियों का गर्व घटा नहीं है। वे विदेशी जीवन-पद्धति को अब भी तुच्छ मानते हैं। यह अच्छी बात है, क्योंकि समूहों की सहायता का यही मानदंड है। जो राष्ट्र अपनी जीवन-पद्धति के प्रति हीन भाव रखता है, उसका नाश निश्चित है।

×　　　　×　　　　×

जापानी लोग साधारणतया अपने अतिथियों का सत्कार होटलों में करते हैं। परन्तु हम उनके घर देखने के इच्छुक थे, इसलिए एक मित्र ने हमें अपने घर निमंत्रित किया। एक संध्या को वह हमें कामाकुरा ले गया, जो टोकियो का एक उपनगर है और उससे ३० मील दूर है। वैसे टोकियो से कामाकुरा तक बस्ती लगातार चली गयी है। यह स्थल समुद्र-तट पर है और बहुत मनोरम है, खाड़ी व पहाड़ियों से घिरा हुआ है। तट से मिली हुई सड़क है, जिस पर बत्तियों की कतार जगमगाती है। तट का एक भाग स्नान के लिए सुरक्षित है, उसे "जापानी मियामी" कहते हैं।

वहाँ हम कामाकुरा का दाई बुत्सु नामक प्रसिद्ध बौद्ध मंदिर देखने गये, जिसमें ४० फ़ीट ऊँची बुद्ध की बैठी हुई मूर्ति है। सन् १२५२ में इसका निर्माण हुआ था। इसे संसार का एक महान् आश्चर्य मानते हैं। मंदिर तो जल गया है परन्तु काँसे की यह खोखली मूर्ति आँधी, पानी तथा धूप में अपनी मुस्कान लिए और नीले आसमान का छत्र लगाये खड़ी है। हम होस का कानन मन्दिर भी देखने गये, जिसे भूल से 'दया की देवी' मान लिया गया है। परन्तु है यह अवलोकितेश्वर की मूर्ति, जो लकड़ी की बनी है और जिस पर सोने का पानी चढ़ा है।

समीप ही हमारे मित्र का, बाँस की चहारदीवारी से घिरा, घर था। खिलौने की तरह हल्के, लकड़ी के बने इस घर के चारों ओर लगभग छः फ़ीट चौड़ी फुलवारी थी। खिड़कियाँ कागज की थीं, दरवाजे खोलने-बंद करने में शोर नहीं होता था। जब हमने प्रवेश किया, तब हमारे मित्र, उनकी पत्नी तथा उनकी कन्या ने दो बार बड़ी नम्रता से झुककर हमारा स्वागत किया। स्वागत का यह ढंग कितना मनोहर था!

जिस कमरे में हमने प्रवेश किया, वह छोटा था, साफ और चटाई से आच्छादित था। बीच में भोजन के लिए एक नीची मेज़ थी, दीवारों पर रंगीन चित्र लगे थे तथा एक

ओर फूलों का गुलदस्ता रखा था, जिसे विशेष रूप से हमारे मित्र की पत्नी ने सजाया था। फूल सजाने की इस कला को 'इकाबाना' कहते हैं तथा इसमें ऋतु, दिशा, स्थान के साथ अतिथि की रुचि का भी ध्यान रखा जाता है। यह कला जाने बिना कोई भी जापानी लड़की पति नहीं प्राप्त कर सकती।

फिर हम बरामदे में आये। नीचे चेरी वृक्षों से मंडित सुन्दर उद्यान था, जिसमें एक छोटे से तालाब के किनारे रंग-बिरंगे फूल खिले थे।

हम अपने आतिथेय, उसके पुत्र तथा दामाद के साथ भोजन करने बैठे। उनकी पत्नी तथा पुत्री परोस रही थीं। यह कार्य वे प्रायः जमीन पर बैठे-बैठे और बहुत झुक कर करती थीं, हमारे आतिथेय भारत हो आये थे, इसलिए उनकी पुत्री ने हमारे लिए विशेष रूप से हलवा बनाया था। हमने चापस्टिक से भी खाने की चेष्टा की, परन्तु अंगुलियों ने साथ देने से इन्कार कर दिया।

भोजन के पश्चात् हमें घर दिखाया गया। घर छोटा, परन्तु स्वच्छ और सुन्दर था। उसमें चाय का कमरा भी था तथा एक कमरे में पूर्वजों के अनेक स्मारक थे। इनके बिना कोई भी जापानी घर पूर्ण नहीं माना जाता।

× × × × ×

होनोलूलू में—

पान अमेरिकन कंपनी का विमान टोकियो से हमें लेकर पूर्व की ओर उड़ा। वह समय की चोरी करता-सा चलता था, क्योंकि थोड़ी-थोड़ी देर में हमें अपनी घड़ियों में समय बढ़ाना पड़ता था। छः घंटों की उड़ान घड़ी के हिसाब से नौ घंटे में पूरी हुई। रात में हम पूरी तरह सो भी नहीं सके, पाँच घंटे बाद ही सूर्योदय हो गया खाने का समय भी उसी हिसाब से घटा। हमें लगा कि हम हर समय खाते ही रहे। हमारे यात्री-साथियों ने तो उसके साथ प्रत्येक बार पूरा-पूरा न्याय भी किया।

प्रशान्त महासागर के मध्य वेक नामक द्वीप पर विमान तेल-पानी के लिए रुका। फिर लगातार आठ घंटे की उड़ान। फिर हमने "तिथि देशान्तार रेखा" पार की और एक घंटा कम ही में होनोलूलू आ पहुँचे। टोकियो से हम १ मई को ५ बजे सायं चले थे; १७ घंटे उड़ने के बाद भी हम १ मई को ४ बजे सायं ही होनोलूलू पहुँच गये। गरुड़ की भांति हम पूरे समय तक सूर्य के सामने ही उड़ते रहे।

हमारे आतिथेय श्री तथा श्रीमती बाटूमल ने हवाई अड्डे पर "लेइयों" से हमारा स्वागत किया। रंग-बिरंगे फूलों को "लेइ" कहते हैं तथा हवाई द्वीपों में १ मई "लेइ दिवस" के रूप में मनाया जाता है। इस दिन सभी व्यक्ति तरह-तरह की मालाएँ पहनकर घूमते फिरते हैं।

यहाँ निसर्ग स्फटिक की भाँति स्वच्छ है। सुनहरे समुद्र-तटों पर शंख-सीपी बिछे हुए हैं। प्रशान्त के नील पारावार को पर्वत-श्रृंखलाएँ घेरे हैं, जल सरोवर की

भाँति स्वच्छ है। क्षितिज पर देवदार वृक्षों के वन हैं। इस स्वर्ग में जिसे ईडेन का उद्यान कह सकते हैं—होनोलुलू स्थित है।

अनानास होनोलूलू का फलराज है, जैसे भारत में आम। जब हम नारियल-वृक्षों से सज्जित सड़क से गुजरे, तब हमें एक बड़ा-सा अनानास, जो विज्ञापन के लिए होने के कारण बनावटी था, आसमान में लटकता दिखाई दिया।

× × ×

रात्रि-भोजन के पश्चात् हम "लेइ दिवस" समारोह का विशेष "हुला" नृत्य देखने गये। कई वर्ष पूर्व हमने बंबई में "हवाई राजकुमारी" नामक नाटक देखा था। हुला नृत्य देखकर उस नाटक के नृत्यों का स्मरण हो आया। हुला नृत्य भारत के मणिपुरी नृत्य से मिकता है, यद्यपि यह उतना कलात्मक नहीं होता।

यहाँ की भाषा में "अलोहा" शब्द का अर्थ मित्रता और भ्रातृत्व है, जो पालीनेशिया का प्रभाव है। जब अमेरिकी लोग यहाँ आये तब भोले हवाई-जनों ने "अलोहा" कहकर उनका स्वागत किया तथा उन्हें अपनी लेईयों और अन्य उपहारों से लाद दिया। अब उनके राजा नष्ट हो गये हैं, उनका रक्त मिश्रित हो गया है तथा उनकी आमोदप्रियता भूतकाल की वस्तु बनकर रह गई है। अब वे अमेरिकी नागरिक हैं, होटलों में वेटरी करते हैं, उनकी स्त्रियाँ अमेरिकनों का मनोरंजन करती हैं तथा उनके नृत्य समय बिताने के साधन-मात्र रह गये हैं।

हवाई राजकुमारियों का युग अब लद गया है, लहरों की ताल पर उठने वाला उनका संगीत थम चुका है तथा उनके मनमोहक नृत्य समाप्त हो चुके हैं। सभ्यता आ गई है, प्रसन्नता चली गई है। ये सब ग्रहण करके क्या अब हम अधिक संस्कृत हो गये हैं?

× × ×

अमरीका में

आज मुंशी जी न तो केन्द्रीय मंत्री हैं और न किसी राज्य के राज्य पाल फिर भी देश की समस्याओं के प्रति वे कितने जागरूक तथा चिन्तनशील हैं, यह उनके अमरीका के इस संस्मरण से स्पष्ट है—"मैं क्लिफ़र्ड टेलर्स से भी मिला। सन् १९५१ में ये अमेरिकी दूतावास के कृषि परामर्शदाता थे तथा इन्होंने गेहूँ-ऋण के संबंध में अमेरिकी सेनेट के समक्ष साक्ष्य प्रस्तुत किया था। ये कृषि-विशेषज्ञ हैं तथा अब किसी विश्वविद्यालय में कृषि अर्थशास्त्र के प्राध्यापक हैं। अमेरिका तथा भारत के कृषि-संबंधी भविष्य के विषय में उनकी वार्ता अत्यन्त बोधप्रद थी। हमने अमेरिका की कृषि-समृद्धि के विषय में भी चर्चा की। मैंने उनके सामने खतरों का भी वर्णन किया जो सन् १९५१ से मेरे मस्तिष्क में चक्कर काट रहे हैं। भारत खाद्य के विषय में आत्मनिर्भर कैसे हो, उसकी बढ़ती जनसंख्या धीमे चलने वाली योजनाएँ तथा अधिक अन्नोत्पादन की समस्याएँ कैसे हल की जायें? साथ ही क्या कोई भी भूमि, वहाँ चाहे जितनी खेती होती हो, इतनी बड़ी जनसंख्या तथा पशुओं का भार सहन कर सकती है?"

× × ×

"वाशिंगटन में हमने जो भी देखा, उससे हमें यही लगा कि अमेरिकी लोग संपूर्ण विश्व की दृष्टि से ही सब समस्याओं पर विचार करते हैं। कांग्रेस लाइब्रेरी इसका बाह्य प्रतीक है। विश्व के इस बहुत बड़े पुस्तकालय में—भले ही इसे सबसे बड़ा पुस्तकालय न कहा जा सके—ऐसी यांत्रिक व्यवस्थाएँ की गयी हैं कि आप कोई पुस्तक थोड़ी देर में ही प्राप्त कर सकते हैं। इसके प्राच्य-विभाग को देखकर एशिया की इतनी पूर्ण कल्पना होती है, जितनी अन्य किसी भी एक स्थल पर नहीं होती। डा० मरार के दर्शन में हम चकित होकर भारतीय भाषाओं की पुस्तकों की अलमारियों की कतारें देखते रहे। फिर हम गुजाराती विभाग में आये। यहाँ दर्जनों दैनिक पत्रों की फाइलें हैं, जिनमें मैंने "जन्म भूमि" की भी व्यवस्थित फाइलें देखीं। यहाँ सभी प्रमुख गुजराती लेखकों की रचनाएं हैं। एक भाग में मेरी भी सब रचनाएँ-नवीनतम 'तपस्विनी' को छोड़कर—संग्रहीत हैं।

× × ×

४ जून को फोर्ड फाउण्डेशन के सभापति डा० हील्ड और उनकी पत्नी ने संध्या को हमारे स्वागत के लिए एक समारोह किया। × × × डा० हील्ड द्वारा दिये गये स्वागत समरोह में मैं गोपाल मेनन से मिला, जो भारत के राजदूत हैं। मैंने उन्हें १९५० में देखा था। इन ८ वर्षों में उनमें थोड़ा-सा ही परिवर्तन हुआ है। वे सदा की भाँति ही प्रसन्न थे और जब तक हम रहे, उन्होंने हमारी हर सुविधा का ध्यान रखा।

उसी समरोह में जे० जे० दम्पति भी थे। सदा की भाँति ही जे० जे० सिंह, अनुपम शक्ति वाले, अपने मत और पक्ष में दृढ़ तथा मनुष्य और वस्तुओं के विषय में निश्चित धारणावाले थे। श्रीमती जे० जे० वैसी ही मधुर थीं, जैसी की १९५० में हमने उन्हें पहले-पहल अविवाहित रूप में देखा था। अब उन्होंने पुराने ब्रह्मचारी को अच्छी तरह वश में कर लिया है, जिससे जे० जे० सिंह गार्हस्थ्य जीवन से बंध गये हैं और उन्होंने भारत लौटना तथा यहीं बस जाना भी स्वीकार कर लिया है। उन्हें अपने छोटे बच्चों पर बड़ा गर्व है और उनके विषय में कुछ इस प्रकार बातें कीं कि मुझे कवि कालिदास की पंक्ति याद आगई "धन्यास्तदङ्गरजसा मलिनी भवन्ति" अर्थात् वे धन्य हैं, जिनके अंग बच्चों के अंगों में लगी धूल से मैले होते हैं।"

५ जून को प्रातःकाल हम लोग वायुयान द्वारा मैकीनैक द्वीप के लिए चले × × × हमारे स्वागत के लिए वहाँ एली दम्पति थे। चाय पीने के बाद हम लोग इंजन से चलने वाली नौका पर बैठे, जो मिशिगन झील पर तैरती हुई द्वीप की ओर चली। × × ×

जब नौका तट पर पहुँची, तब हम लोगों ने संसार के अति सुन्दर स्थानों में से एक में चरण रखे, जो स्वच्छ जल वाली झील, पुष्टकारी पवन तथा मनोरम द्वीप से युक्त है। वहाँ हम लोग 'सेंडर पाइंट" में ठहराये गये।

उस समय 'सेंडर पांइट' में, जो मैकीनैक का अत्यन्त सुन्दर और सुव्यवस्थित एम० आर० ए० गृह है, विभिन्न देशों, जातियों तथा धर्मों के लगभग २०५० व्यक्ति ठहरे हुए थे।

अत्यन्त मैत्रीपूर्ण भावना से हम लोग सबसे मिले। जब सभी आपसे मुस्कराते हुए मिलें और जब आपकी सारी आवश्यकताएँ शीघ्र ही पूरी कर दी जायँ, तब आप ऐसी जगह अपने को परदेसी कैसे समझ सकते हैं? घर का सारा काम बिल्कुल ठीक-ठीक चलता था। बूट पालिश से लेकर भोजन बनाने और परोसने तक की सारी सेवाएँ गृह-निवासियों ने बारी-बारी से कीं। वहाँ एक काम और भी बड़ा सुन्दर होता था, जिसे ईसाई अपराध-स्वीकृति तथा हिन्दू संत पश्चात्ताप कहते हैं—भगवान् के सामने एक प्रकार का दीनतापूर्ण आत्म-निवेदन।

जब हम रसोई घर में पहुँचे, तब वहाँ एक जनरल, एक प्रमुख अभिनेत्री, एक संसद-सदस्य, यूरोप के बहुत बड़े व्यवसाय केन्द्र के प्रमुख की पत्नी तथा और भी बहुत से लोग दिखाई दिये। कोई सैंडविच तैयार कर रहा था, कोई प्याले धो रहा था और कोई प्याज काट रहा था। जब युवक तिवारी आया और पालिश के लिए मेरे जूते उठा ले गया, तब मुझे बहुत अधिक लज्जा आई। गाँधीजी का पौत्र राजमोहन भी, जो एम० आर० ए० का जाज्वल्यमान नवोदित तारा है, वहाँ था। उसने पूर्ण श्रद्धा के साथ उक्त आंदोलन को अपना तन-मन समर्पित कर दिया है। उसके इस गुण से मुझे गांधीजी का स्मरण हो आया।

हम उन गोष्ठियों में भी सम्मिलित हुए, जो प्रतिदिन चार घंटे तक चला करती थीं। उनमें संसार के विभिन्न भागों से आये हुए लोग अपने-अपने अनुभव बताते थे कि किस प्रकार उनमें परिर्वन हुआ था या कैसे उनके दूसरों में परिर्वन हुआ या कैसे उनके दूसरों में परिवर्तन आया। इन लोगों ने सर्व साधारण के सामने अपने पापों को स्वीकार करने की एक रस्म-सी बना ली है। इस प्रकार सदा सत्य के पथ पर रहने की ये चेष्टा करते हैं। और जब हमने उनकी पाप स्वीकृति सुनी, तो हमें अपने दोष भी स्मरण आये, विशेषकर अहंकार, जो हमारे हृदय की अतल गहराई में छिपा है।

जिनके साथ हम बहुत घुलमिल गये थे, उन्होंने एकांत-वार्ता के समय हमें बताया कि अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करके तथा उसके लिए क्षमा माँगकर किस प्रकार उन्होंने पति, पत्नी, माता, पिता के साथ अपना संबंध—परिवर्तन कर लिया। हम मैरियल स्मिथ से भी मिले, जो कभी ब्राडवे की बड़ी प्रसिद्ध गायिका थी। उसने आंदोलन में भाग लेने के लिए अपना काम छोड़ दिया। हमने उस असाधारण कंठवाली गायिका का गाना सुना। हम श्रीमती आस्टिन के मित्र बन गये। वे एक अँग्रेज़ अभिनेत्री हैं, जिन्होंने आंदोलन के लिए अपने अत्यन्त ख्यातिपूर्ण व्यवसाय का त्याग कर दिया और प्रसन्नतापूर्वक पति के साथ एम० आर० ए० की सेवा करने लगीं।

× × × ×

शनिवार १४ जून को हे—दम्पति हमें अपने देहात के मकान में ले गये।

× × × ×

अमेरिका में घर का सारा काम पति-पत्नी मिलकर करते हैं। कुछ अधिक साधन-सम्पन्न परिवारों को छोड़कर बाकी सब के लिए भारत की भाँति नौकरानी की बात वहाँ

सोची भी नहीं जा सकती। साधारणतः कोई नौकरानी वहाँ ४ घंटे से अधिक काम नहीं करती, जिसके लिए उसे ५ डालर प्रतिदिन के हिसाब से देने पड़ते हैं। उसे दोपहर का भोजन भी देना होगा; तिस पर मुसीबत यह कि भोजन वह नहीं बनायेगी, घर की मालकिन को बनाना होगा और साथ ही भोजन उसकी पसंद का होना चाहिये। कभी-कभी अपने साथ वह अपने मित्र को ले आयेगी; सो यदि आप उसकी सद्भावना बनाये रखना चाहते हैं, तो उसके मित्र को भी जिमाना होगा।

× × × ×

संसार के किसी देश की स्त्रियाँ इतनी स्वतन्त्र नहीं हैं, जितनी अमेरिका की। प्रायः पत्नी पति से अधिक नहीं, तो उसके समान ही शिक्षित होती है। सौन्दर्य, शक्ति तथा स्फूर्ति के प्रति उसकी बड़ी ममता होती है। वह एक या एक से अधिक महिला—संघ की सदस्या होती है, जहाँ "हम औरतें" की भावना बड़ी बलवती होती है। उसे अपनी स्थिति और गौरव का पूरा ध्यान रहता है।

× × × ×

अमेरिका में पति-पत्नी के सम्बन्ध प्रायः इतने प्रकार के होते हैं—प्रथम, बुद्धिमान पति और प्रेमभाव-पूर्ण ऐसी पत्नी, जो पति को आदर की दृष्टि से देखती है; द्वितीय, एक दूसरे से पूर्ण सन्तुष्ट साथी के रूप में पति–पत्नी, जिन्होंने यह अच्छी तरह से स्पष्ट कर लिया है कि हम न तो एक दूसरे पर हावी होंगे और न आघात करेंगे; तृतीय, चुप-चाप आक्रमण करने वाला पति और ऐसी पत्नी, जो आक्रमणात्मक कार्रवाई किये बिना उस पति पर शासन करती है, जिसे पहले उसने प्यार किया था; चतुर्थ, आत्मरक्षा में सबल पति और प्रतिपूर्ण ऐसी पत्नी जो सुहागरात की मधुरता को अभी भुला नहीं सकी। संसार के सभी सुवयवस्थित समाजों में पति-पत्नी संबंध की यही चिरंतन श्रेणियाँ हैं।

(भारती से साभार)

'नक्षत्र-द्रष्टा'

['नक्षत्र-द्रष्टा' हंगेरी भाषा के उपन्यास 'द स्टार गेज़र' (The Star Gazer) की संक्षिप्ति है। इस उपन्यास के लेखक हैं ज़ॉल्ट वॉन हर्षन्यई (Zsolt Van Harsanyi)। प्रस्तुत संक्षिप्ति पॉल टेवर कृत अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर है।

संभवतः दो वर्ष पहले की बात है, आगरा विश्वविद्यालय के तत्काली न चांसलर तथा उत्तर प्रदेश के गवर्नर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने यह उपन्यास मुझे दिया और इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। वे स्वयं इस उपन्यास से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। वे चाहते थे कि इसका पूरा अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो, यदि अनुवाद शीघ्र प्रकाशित नहीं हो सके तो इसकी संक्षिप्ति ही प्रस्तुत की जाय। अतः उनके इस प्रिय उपन्यास की यह संक्षिप्ति यहाँ दी जा रही है। यह संक्षिप्ति हिन्दी विद्यापीठ के एक रिसर्च असिस्टेन्ट श्री उमापतिराय चंदेल द्वारा प्रस्तुत की गयी है।—सत्येन्द्र]

आर्नो नदी के किनारे एक युवक जिसकी आयु तेईस वर्ष से अधिक न थी, आत्महत्या करने के विचार से खड़ा था। वह काफी दिनों से आत्मघात करने का मनसूबा करता आ रहा था। जीवन में कोई रस उसके लिए रह नहीं गया था, फिर भी न जाने क्यों वह चाहते हुए भी आत्महत्या नहीं कर पा रहा था और आज भी वह न कर सका।

. उस युवक का नाम था गैलिलिओ गैलिली। उसका पिता इटली के फ्लोरेन्स नगर में कपड़े की एक छोटी-सी दूकान करता था, परन्तु उसकी आय से परिवार का व्यय बड़ी कठिनाई से चल पाता था। गैलिलिओ का पिता एक अच्छा संगीतज्ञ था परन्तु उसे कभी ऐसा निश्चिन्त जीवन नहीं मिला कि वह अपनी प्रतिभा को निखार पाता। उसकी इच्छा थी कि उसका बड़ा बेटा गैलिलिओ डाक्टर बनकर खूब धन कमावे और परिवार को आर्थिक दलदल से बाहर निकाले। इसीलिए उसने गैलिलिओ को पीसा विश्वविद्यालय में अध्ययन करने को भेज रखा था।

परन्तु गैलिलिओ था कि उसे डाक्टरी पढ़ने से सख्त नफरत थी। वह कभी चिकित्सा शास्त्र की कक्षाओं में न जाता, उसे मानव शरीर की रचना से परिचित होने की कोई उत्सुकता न थी। इन्हीं दिनों फ्लोरेन्स के राजकुमार के शिक्षक ओस्टलियो रिसी से उसका सम्पर्क हुआ। रिसी ने गैलिलिओ की कुशाग्र बुद्धि से प्रसन्न होकर उसे यूक्लिड की भूमिति पर लिखी पुस्तक पढ़ने को दी। यूक्लिड ने मानो गैलिलिओ पर जादू कर दिया। वह सपने में भी भूमिति की आकृतियों को देखने लगा और बीजगणित की उपयोगिता तथा विचित्रता ने तो जैसे उसे मंत्रमुग्ध ही कर दिया।

फिर उस पर भौतिक शास्त्र का नशा सवार हुआ और वह अरस्तू का भक्त बन गया। उसने अरस्तू की भौतिक शास्त्र सम्बन्धी आठों पुस्तकों का गम्भीर अध्ययन कर डाला। अरस्तू के ऊंचाई और गति के सिद्धान्त ने उसे विशेषतः आकर्षित किया। उसे तब ईश्वर में विश्वास नहीं था परन्तु वह अरस्तू के प्रति ईश्वर जैसी भक्ति रखता था।

उन्हीं दिनों उसकी रुचि गगन मण्डल के नक्षत्रों की ओर हुई। उसके पिता ने कितना समझाया कि वह घर की गिरती हुई आर्थिक दशा को संभालने के लिए अपने को योग्य बनावे, मन लगाकर डाक्टरी पढ़े, ऐसा न करने पर विश्वविद्यालय की पढ़ाई का व्यय वहन करने में अपनी असमर्थता भी उसके पिता ने प्रकट की परन्तु गैलिलिओ ने स्पष्ट ही कह दिया, 'मरना पसन्द करूँगा पर डाक्टर बनना नहीं।'

पाडुआ विश्वविद्यालय में मैलैटी नामक एक व्यक्ति गणित का प्राध्यापक था। वह अरस्तू के कुछ सिद्धान्तों से सहमत न था। एक दिन उसके लिखाये कुछ नोट गैलिलिओ के हाथ लग गये। पहली बार उसे अरस्तू के प्रति अपनी अंधश्रद्धा की जड़ हिलती दिखायी दी। मैलेटी का कहना था—"अरस्तू मानता है कि गिरते हुए पदार्थों का वेग उनके वजन के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है—अर्थात् रांगे का एक टुकड़ा लकड़ी के एक टुकड़े की अपेक्षा शीघ्र पृथ्वी पर आ गिरेगा। परन्तु यह बात सत्य नहीं है। गिरते हुए रांगे के भारी टुकड़े का वेग समान होता है।" गैलिलिओ ने एक ही आकार के लोहे और लकड़ी के दो टुकड़े लेकर इस प्रयोग को स्वयं करके देखना चाहा, परन्तु उनके गिरने में ठीक कितना समय लगता था, इसको मापने का उस समय उसके पास कोई साधन न था।

तभी एक और घटना घट गयी। एक दिन वह पाडुआ में ही, गिरिजाघर की ओर निरुद्देश्य भाव से घूम रहा था। वह टहलते-टहलते उसके अहाते में चला गया। उसने देखा, कुछ मजदूर गतवर्ष मृत आर्कविशप का एक स्मारक बना रहे थे। उस स्मारक के गुम्बद में एक बड़ा लैम्प लगा था जो जंजीर के सहारे लटका हुआ धीरे-धीरे हिल रहा था। गैलिलिओ के जिज्ञासु मस्तिष्क में प्रश्न उठा—यह लैम्प झूला-सा क्यों झूल रहा है? अरस्तू के अनुसार तो उसके झूलने का कारण यह था कि वह अपने मूल स्थान से हटा दिया गया था। परन्तु गैलिलिओ को इससे सन्तोष न हुआ, उसने इसको उस रूप में देखा कि लैम्प भी एक वजन है जो जंजीर के सहारे लटका हुआ है, वह गिरने के लिए व्याकुल है, वह जंजीर को तोड़कर नीचे गिर पड़ना चाहता है, परन्तु उसमें इतनी शक्ति नहीं है। जंजीर इतनी मजबूत और हठीली है कि वह लैम्प की इच्छा पूरी नहीं होने देती।

इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि किसी पेण्डुलम का झूलना उसके गिरने की स्वतन्त्रता और उसको गिरने से रोक रखने वाली शक्ति के सम्बन्ध का सूचक है। यदि कोई इस रोक रखने वाली—नियंत्रक शक्ति को हटा ले—जंजीर को काट दे, तो केवल गिरने की स्वतन्त्रता शेष रह जायगी और लैम्प पक्के फर्श पर गिरकर चूर-चूर हो जायगा। परन्तु यदि यह सच है तो स्वतन्त्रतापूर्वक गिरने वाली दो भारी और हल्की वस्तुओं के पतन-काल का सम्बन्ध भी इसी पेण्डुलम सिद्धान्त से निश्चित किया जा सकता है। उस दशा में केवल पेण्डुलम की नियंत्रक शक्ति को ऋण कर देना होगा। गैलिलिओ इस प्रयोग को करके देखने के लिए बेचैन हो उठा। उसने अपने मकान के अहाते में खड़े एक पेड़ पर पहले एक लकड़ी का तख्ता बाँधा। उस तख्ते से उसने एक ही लम्बाई के दो पेण्डुलम (लम्बी रस्सियाँ) बाँध दिये और उनके सिरे पर एक में पत्थर की एक गेंद बाँध दी और दूसरे में लकड़ी की समाकार गेंद। फिर उन गेंदों को दोनों हाथों से

पकड़ कर वह पीछे की ओर जितनी दूर तक जा सकता था, गया, और उन्हें छोड़ दिया। दोनों पेण्डुलम साथ ही भूमि के निकटतम आते थे और साथ ही ऊँचाई तक जाते थे। क्रमशः उनका झूलना धीमा पड़ने लगा और लगभग एक ही साथ उनका झूलना बन्द हुआ। गणितज्ञ मैलैटी का कथन प्रमाणित हो गया।

परन्तु अरस्तू के प्रति अपने दृढ़ विश्वास को इस प्रकार टूटता देखकर गैलिलिओ को इतना धक्का लगा कि उसका रो पड़ने को जी हो गया। वह समझ गया कि अरस्तू ने जो कुछ लिखा है, वह ब्रह्म लेख नहीं है। अरस्तू भी गलत हो सकता है।

गैलिलिओ यों तो खूब पढ़ता था, खूब बहस करता था, खूब प्रयोग करता था परन्तु चिकित्सा-शास्त्र की अपनी कक्षाओं में वह कभी न जाता था। फलतः उसके प्राध्यापक उससे रुष्ट रहते थे, विश्वविद्यालय में उसका बुरा नाम पड़ गया था। यह सब देख-सुनकर उसके पिता ने भी उसको खर्च भेजना बन्द कर दिया। अब गैलिलिओ को कटुयथार्थ का सामना करना पड़ा। उसे अंततः पीसा विश्वविद्यालय से विदा होना पड़ा।

वह घर लौट आया। घर में गैलिलिओ के माता-पिता के अतिरिक्त उसका एक छोटा भाई माईकेलैग्नोलो, उसकी तीन छोटी बहिनें—वर्जीनिया, लीना और लिविया थीं। कमाऊपूत न होने के कारण गैलिलिओ के आगमन का स्वागत किसी ने न किया। उसने अपने पिता की दूकान में जाना और बिक्री में उन्हें सहयोग देना आरम्भ किया। परन्तु इस कार्य से वह शीघ्र ही ऊब उठा। घर में सबसे बड़ी विपत्ति तो उसकी अपनी माँ थी। विन्सेजो (गैलिलिओ के पिता) से वह बराबर झगड़ती रही, जब उसका क्रोध भड़कता तो वह आसमान सिर पर उठा लेती, अड़ोस-पड़ोस की शान्ति खतरे में पड़ जाती, उसका क्रोध, पागलपन और हिस्टीरिया की सीमा तक पहुँच जाता। परन्तु उसके स्वभाव का यह विरोधाभास था कि जब क्रोध उतर जाता तब वह प्रेम का प्रदर्शन भी अति की सीमा तक पहुँचा देती थी। जिस लड़की के पीछे वह थोड़ी देर पहले खुला चाकू लेकर दौड़ पड़ी थी, क्रोध का दौरा समाप्त होने पर उसी का वह बड़े भयंकर रूप से आलिंगन करती थी, जिस नौकरानी को पाँच मिनट पहले उसने चीनी मिट्टी के बर्तन तोड़ने के कारण पीटा था, थोड़ी देर के बाद टूटे बर्तन के टुकड़ों को बीनने में उसकी सहायता करती हुई वह देखी जाती थी। बेकार गैलिलिओ पर भी उसकी माँ की कृपा हुई। दो दिन तक तो उसने विश्वविद्यालय से लौटे अपने ज्येष्ठ पुत्र पर प्यार की वर्षा की, परन्तु तीसरे दिन ही उससे झगड़ पड़ी। वस्तुतः उसका उग्र स्वभाव उसके चरित्र का अंग बन गया था और अब सबने उसमें किसी परिवर्तन की आशा छोड़ दी थी; परन्तु उसका सहवास सबके लिए एक मुसीबत से कम न था।

ऐसी परिस्थिति में गैलिलिओ को घर में साँस लेना दूभर होने लगा। गृह-कलह से दूर रहने के लिए वह कभी-कभी भोजन करने के लिए घर जाने से बचने लगा। माँ वाग्बाणों की वर्षा करती थी, तो निराश पिता उससे बोलता तक न था। गैलिलिओ को इस मानसिक संताप से छुटकारा शराब की बोतल में दीखा। वह शराब पीने लगा।

पर शराब के लिए भी तो पैसा चाहिए। जिन परिचितों से वह कुछ भी उधार माँग सकता था, उनसे लेकर वह शराब पीने लगा, कभी-कभी दूकान का पैसा भी वह चुरा लेता था। उसका शरीर दुबला होने लगा और मानसिक निराशा बढ़ती गयी। ऐसी ही मन:स्थिति में एक दिन आत्मघात करने के लिए वह आर्नो नदी के किनारे जा खड़ा हुआ था। वहाँ खड़े-खड़े जब वह अपने शरीर के पानी में डूबने की कल्पना कर रहा था तब अकस्मात् उसके मस्तिष्क में एक सूझ आयी—"इस तरह की तराजू बनायी जा सकती है जो दो धातुओं के मिश्रण से बनी किसी वस्तु की धातुओं का आनुपातिक भार उनको क्षति पहुँचाये बिना माप सके। मान लीजिए, आपने सोने और तांबे के मिश्रण से एक घनाकार वस्तु तैयार की है, इस वस्तु को पहले सामान्य तराजू पर तौला जा सकता है और फिर पानी में डुबा कर। इसके पश्चात् आप उसी वजन की एक अन्य घनाकार वस्तु लीजिए जो विशुद्ध ताँबे की बनी हो, इसको भी तराजू पर और पानी के भीतर मापिये। इस प्रकार दोनों धातुओं का आनुपातिक तौल निकल आएगा।" इस सूझ के मन में आते ही गैलिलिओ का वैज्ञानिक मस्तिष्क आत्मघात की बात को भूल गया, उसे धुन लगी कि कैसे ऐसा तराजू बनाया जाय। उसके पास तो यंत्र बनाने योग्य द्रव्य था ही कहाँ, परन्तु राजकुमार के शिक्षक ओस्टिलिओ रिसी ने उसकी सहायता की और वह एक सुन्दर भार-मापक यंत्र बनाने में सफल हो गया। सारे फ्लोरेन्स में इस यंत्र की धूम मच गयी। प्रतिष्ठित लोग आ-आकर रिसी के भवन में रखे उस यंत्र को देखने लगे। एक दिन फ्लोरेन्स के ड्यूक की पत्नी बियानका और उसका भाई विटोरिओ कैप्पेलो, जिसका राज दरबार में बड़ा प्रभाव था, उस यंत्र को देखने के लिए आए। बियानका यद्यपि उस समय चवालीस वर्ष की थी तथापि उसकी सुन्दरता फ्लोरेन्स में कहावत-सी बन गयी थी। गैलिलिओ और बियानका की आयु में कोई समानता न थी, फिर भी उस भेंट में गैलिलिओ को जीवन में पहली बार प्रेम का अनुभव हुआ और वह प्रेम था बियानका—उसके देश की राजरानी के प्रति। थान बौने का आकाश छूने का प्रयत्न! परन्तु गैलिलिओ ने अपने इस भाव को किसी पर प्रकट न होने दिया, वह पुन: उसे देख भी न पाया। फिर तो एक दिन उसने यह भी सुना कि ड्यूक और डचेज—बियानका की साथ-साथ रहस्यमय परिस्थिति में मृत्यु हो गयी। फ्लोरेन्स का शासन मृत ड्यूक के छोटे भाई ड्यूक फरनैण्डो के हाथ में आ गया। पुराने शासन के साथ-साथ गैलिलिओ के सहायक-समर्थक ओस्टिलिओ रिसी का सितारा भी अस्त हो गया।

परन्तु धीरे-धीरे गैलिलिओ की प्रसिद्धि बढ़ने लगी और कई प्रभावशाली राजनीतिज्ञों तथा धार्मिक मठाधीशों (आर्कबिशपों) से उसका परिचय हो गया। इन परिचितों ने गैलिलिओ को आगे बढ़ाने में और उसकी आड़े अवसरों पर बड़ी सहायता की।

गैलिलिओ पीसा विश्वविद्यालय में गणित के प्राध्यापक का पद प्राप्त करने के लिए सचेष्ट था। अन्तत: उसे वह पद मिल गया। तब वह पच्चीस वर्ष का था। ६० स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिवर्ष उसका वेतन निश्चित हुआ। घर वालों को उसकी इस पहली नौकरी

के संवाद से अधिक प्रसन्नता न हुई, क्योंकि उनके विचार में वह इतने कम वेतन से घर की कुछ अधिक सहायता न कर सकता था।

पीसा विश्वविद्यालय में गैलिलिओ प्राध्यापक तो हो गया परन्तु वहाँ उसका पाला उन प्राध्यापकों से पड़ा जो उसके विद्यार्थी जीवन में उससे असन्तुष्ट रहते थे। अरस्तू-विरोधी उसके विचारों के कारण वहाँ शोरगुल मचा। यहाँ तक कि एक दिन रेक्टर को उसे बुलाकर चेतावनी देनी पड़ी। सभा-समितियों में उसके साथी प्राध्यापक उसके साथ बैठना नहीं पसन्द करते थे। गैलिलिओ अपने विद्यार्थियों में भी लोकप्रिय न था। केवल पाँच-छः विद्यार्थी ऐसे थे जो उससे वास्तव में कुछ सीखना चाहते थे और वे बहुधा उसके साथ टहलने जाया करते थे। प्राध्यापकों में केवल दर्शनशास्त्र के वृद्ध प्राध्यापक जैकोपो मेजोनी से उसकी मित्रता थी।

अरस्तू के इस सिद्धान्त—कि भारी वस्तुएँ हल्की वस्तुओं की अपेक्षा गिरने में कम समय लेती हैं—को गलत सिद्ध करने के लिए गैलिलिओ ने अपने कुछ प्रिय विद्यार्थियों की सहायता से पीसा में व्यावहारिक प्रदर्शन करने का विचार किया, ताकि अपने विरोधियों को वह निरुत्तर कर सके। वह सिद्ध करना चाहता था कि एक ही ऊंचाई से गिरायी गयी भिन्न तोल की वस्तुएँ भूमि पर ठीक एक ही क्षण गिरती हैं और इस प्रकार हर आकार एवं भार की वस्तुओं के अनवरुद्ध पतन का वेग एक-सा होता है। इस प्रयोग का स्वरूप यह था—एक से आकार और भार की वस्तुएँ एक मीनार के गवाक्षों से एक ही साथ गिरायी गयीं और उनके नीचे गिरने का समय घड़ी से नोट किया गया। इससे दो बातें सिद्ध करने की चेष्टा की गयी—पहली, कोई भी दो वस्तुएँ एक ही ऊँचाई से गिरने पर पृथ्वी पर साथ-साथ पहुँचती हैं, दूसरी—विभिन्न ऊंचाइयों से गिराने पर उसमें लगने वाले समय की माप। इन प्रयोगों से यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया कि गिरने वाले पदार्थों का वेग सम-रूप से बढ़ता है। छः विभिन्न ऊँचाई के गवाक्षों से ये वस्तुएँ एक-एक कर गिरायी गयीं।

यह सब ठीक-ठीक हुआ परन्तु जितने विद्यार्थी इस प्रयोग को देखने के लिए एकत्र हुए थे, उनकी समझ में कुछ न आया। विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों ने इस प्रदर्शन में आने की कोई आवश्यकता न समझी थी। केवल दर्शन-शास्त्र का प्राध्यापक मैजोनी एक अपवाद था। वह उपस्थित रहा और उसने मुक्तकण्ठ से इस प्रयोग की प्रशंसा भी की।

इन्हीं दिनों की बात है कि गैलिलिओ के पिता का देहान्त हो गया। वह शव-संस्कार में भाग लेने के लिए छुट्टी लेकर घर गया। पिता के मरने के बाद पूरे परिवार के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व गैलिलिओ पर आ गया। माइकेलैंग्लोनो अभी सोलह वर्ष का था, वरजीनिया का विवाह हो चुका था, मंझली बहन अन्ना सत्रह वर्ष की हो चुकी थी और सबसे छोटी बहन लिविया भी तेरह वर्ष की थी। पिता काफी ऋण छोड़ गया था, उसे भी किसी प्रकार चुकाना था। घर का बहुत-सा फर्नीचर तथा दूकान बेचकर उसने साहूकारों से पीछा छुड़ाया। परन्तु उसके बहनोई—वरनीजिया के पति लैण्डुसी ने उसे काफी समय तक परेशान किया। वरजीनिया के विवाह के समय उसको

जितना दहेज देने की बात निश्चित हुई थी, गैलिलिग्रो का पिता उसका एक अंश ही दे पाया था, शेष दहेज की रकम गैलिलिग्रो को वर्षों तक किश्तों में चुकानी पड़ी।

अपने परिवार की व्यवस्था करके गैलिलिग्रो पीसा विश्वविद्यालय में पुन: लौट गया। परन्तु वहाँ का वातावरण उसके अनुकूल न हो सका। उसने अपने समर्थकों के द्वारा पाडुआ विश्वविद्यालय के गणित प्राध्यापक के रिक्त पद के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया और सफलता के लक्षण भी दिखायी देने लगे। पीसा विश्वविद्यालय में उसका कार्य काल समाप्त हो रहा था, उसको नया कराने की उसने चेष्टा भो नहीं की। एक दिन चुपचाप उसने पीसा से विदाई ले ली। अपने एक धनवान शुभचिन्तक पेसारो निवासी डेलमाण्टे और उनके पाडुआ निवासी पिनेली की सहायता से एक दिन उसको पाडुआ विश्वविद्यालय के गणित प्राध्यापक का पद प्राप्त हो गया। इसके पूर्व प्रसिद्ध गणितज्ञ मोलेटी इस पद को मृत्यु-पर्यन्त सुशोभित कर चुका था और उसकी मृत्यु के कई वर्ष बाद तक उस पद के योग्य व्यक्ति को न पाकर उसे रिक्त रखना ही ठीक समझा गया था अब उस पद पर गैलिलिग्रो की नियुक्ति वास्तव में उसका एक बड़ा सम्मान था। गैलिलिग्रो के लिए जो वेतन निर्धारित हुआ, वह पीसा विश्वविद्यालय में मिलने वाले वेतन से डेढ़ गुना था।

गैलिलिग्रो की आयु इस समय लगभग अट्ठाईस वर्ष की थी।

नियुक्ति से पूर्व ही पाडुआ में गैलिलिग्रो के शुभचिन्तक पिनेली न, जो वहाँ का एक सम्पन्न, प्रभावशाली व्यक्ति था और जिसके पास एक विशाल निजी पुस्तकालय था, गैलिलिग्रो गैलिली को पाडुआ के वातावरण के विषय में बतला दिया था। पाडुआ विश्वविद्यालय जिसे 'बो' भी कहते थे और जो वेनिस नगर से चौदह मील दूर था, एक बात में पीसा विश्वविद्यालय से भिन्न था। वह बात यह थी कि पाडुआ में प्राध्यापकों को पूरा विचार-स्वातन्त्र्य प्राप्त था। जिस सिद्धान्त में विश्वास करते हों, उसे निर्भीकता पूर्वक छात्रों को पढ़ाने के लिए वे स्वतन्त्र थे। पीसा में यह बात न थी। वहाँ अरस्तू-विरोधी अपने विचारों के कारण गैलिलिग्रो को लोगों का असहयोग और उपेक्षा मोल लेनी पड़ी थी, परन्तु यहाँ—'बो' में बात ही दूसरी थी। जो लोग उसके विचारों से सहमत नहीं भी थे, वे भी आदर और धैर्य से उसके तर्क को सुनते थे और फिर अपना तर्क उपस्थित करते थे। आवेश में आने की किसी को आवश्यकता ही न थी। गत तीन सौ वर्षों से 'बो' अपने इस विचार स्वातन्त्र्य की रक्षा करता आ रहा था। उसने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में धर्म का हस्तक्षेप कभी सहन नहीं किया था। यह स्थिति तो थी 'बो' की आन्तरिक, परन्तु पाडुआ में जेसुइट कैथोलिक ईसाइयों ने पोप के समर्थन से अपना एक प्रतिद्वन्द्वी विद्यालय 'बो' के समीप ही खोल रखा था। कई वर्षों से 'बो' और जेसुइट विद्यालय के बीच वैमनस्य चल रहा था। दोनों के विद्यार्थियों में संघर्ष होते रहते थे, परन्तु अब जेसुइट विद्यालय केवल ग्रीक और लेटिन व्याकरण पढ़ाने तक ही अपने को सीमित किए हुए था।

पाडुआ विश्वविद्यालय में गैलिलिग्रो ज्योतिष और यूक्लिड की भूमिति का व्याख्याता नियुक्त हुआ था। पहले ही व्याख्यान में उसने विद्यार्थियों को इतना मंत्र-

मुग्ध कर दिया कि उसके व्याख्यानों में उनकी उपस्थिति अधिकाधिक बढ़ती ही गयी। कथाओं के बड़े से बड़े कमरे अपर्याप्त होने लगे और फिर एक बड़े हाल में उसके व्याख्यानों का प्रबन्ध अधिकारियों को करना पड़ा।

फ्लोरेन्स और वेनिस क्योंकि दो अलग राज्य थे, इसलिए फ्लोरेन्स के नियमानुसार पाडुआ विश्वविद्यालय की प्राध्यापकी स्वीकार करने पर गैलिलिओ को एक अप्रिय कार्य करना पड़ा। उसे अपनी राष्ट्रीयता परिवर्तित करानी पड़ी। गैलिलिओ के लिए यह एक बड़ा बलिदान था, क्योंकि वह फ्लोरेन्स और वहाँ की एक-एक वस्तु को बहुत प्यार करता था। वह उसकी जन्मभूमि थी।

गैलिलिओ पाडुआ में अपना कार्य सुचारु रूप से करने लगा। अपने रहने के लिए एक छोटा-सा दो कमरों वाला मकान भी उसने ले रखा था। उसका छोटा भाई माइकेलेग्नोलो इन दिनों उसी के पास रहता था। उसकी उग्र स्वभाव वाली माँ अपनी बेटी के साथ रहती थी। लेना (अन्ना) गैलिलिओ प्रतिमाह उसके लिए व्यय भेज दिया करता था। माइकेलेग्नोलो को अपने पिता की तरह संगीत का शौक था। वह कुछ वाद्य अच्छी तरह बजा लेता था। अभी तक वह बेकार था परन्तु अब उसने पूर्वी यूरोप के देशों में जाकर अपने भाग्य को आजमाने का निश्चय किया। गैलिलिओ की आर्थिक स्थिति अच्छी न थी। परन्तु छोटे भाई को मार्ग-व्यय देकर उसके साहसिक प्रवास का प्रबन्ध उसे करना पड़ा। परन्तु कुछ महीने बाद एक दिन थका-माँदा, भूखा-प्यासा माइकेलेग्नोलो फिर उसके गले आ पड़ा।

गैलिलिओ पर सारे परिवार के भरण-पोषण और अपने बड़े बहनोई को दहेज की किश्तें चुकाने का भार था। परन्तु उसको किसी से कोई शिकायत न थी। उसे अर्थ-कष्ट अवश्य था परन्तु वह उसको अपने आत्मिक उल्लास पर हावी नहीं होने देता था। जीवन स्वयं उसके लिए एक आनन्द की वस्तु था। उसका हृदय शिशु का हृदय था।

एक बार ग्रीष्मावकाश में गैलिलिओ अपने कुछ मित्रों जार्जी इत्यादि के साथ पैदल भ्रमण करने के लिए निकला। परन्तु मार्ग में उसे जुकाम हो गया और उसने ज्वर का रूप ले लिया। ज्वराक्रान्त होकर वह पाडुआ लौटा। रोग-शैया पर लेटे-लेटे उसने एक ऐसी पुस्तक पढ़ी, जिसे पढ़ने की इच्छा उसे बहुत दिनों से थी और जिसने उसके विचारों में बड़ी क्रान्ति ला दी तथा अरस्तू के सिद्धान्तों के मिथ्यात्व के प्रति उसका विश्वास अधिक दृढ़ कर दिया। वह पुस्तक थी प्रसिद्ध जर्मन गणितज्ञ कापरनिकस की पुस्तक, "डे रिवोलूशनिबस ऑरबियम कोएलेशियम" (De Revolutionibus Orbium Coelestium) इस पुस्तक में कापरनिकस ने अपना यह दृढ़ सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि पृथ्वी विश्व का केन्द्र नहीं है, बल्कि सूर्य है। पृथ्वी तो मात्र एक ग्रह है जैसे कि बुध, मंगल, शनि आदि ग्रह हैं। पाइथागोरस ने भी प्राचीन काल में कहा था कि पृथ्वी घूम रही है, न कि सूर्य। परन्तु उसका कथन भुला दिया गया था। कापरनिकस ने बलपूर्वक उसी विश्वास को फिर से दुहराया था। अरस्तू तो मानता था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसकी परिक्रमा कर रहा है। जनसाधारण को यही अधिक बोधगम्य जान पड़ता था

और ईसाई-संसार ने इसी को अपने विश्वासों का आधार बना रखा था, इसमें किसी परिवर्तन की कल्पना करना, उसकी दृष्टि में मानो ईश्वर की शक्ति और उसके अस्तित्व से इनकार करना था। कापरनिकस का सिद्धान्त अरस्तू के सिद्धान्त से टकराता था। परन्तु कापरनिकस धार्मिक विश्वास में प्रोटेस्टेण्ट नहीं, केथोलिक था।

ज्वरावस्था में भी गैलिलिओ उस पूरी पुस्तक को पढ़ गया। उसे कापरनिकस के सिद्धान्त के औचित्य में कोई सन्देह नहीं था, परन्तु कठिनाई तो यह थी कि दूसरों को इसे कैसे समझाया जाय। बिना प्रमाण दिये लोग यह कैसे विश्वास करेंगे कि उनकी पृथ्वी दिन-रात अशान्त-सी घूम रही है और सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रही है।

गैलिलिओ के वैज्ञानिक मस्तिष्क के लिए यह चुनौती थी। उसने निश्चय कर लिया कि कापरनिकस के सिद्धान्त के लिए वह प्रमाण उपस्थित करेगा।

गैलिलिओ को अपने एक शिष्य से यह पता चला कि जर्मनी में एक युवक केपलर नामक है जो कापरनिकस के सिद्धान्त का दृढ़ता से समर्थन कर रहा है। उससे सम्पर्क स्थापित करने का भी उसने निश्चय किया। परन्तु इसमें केपलर ने ही पहले कदम बढ़ाया। उसने अपनी लिखी पुस्तक "विश्व-वर्णन की भूमिका" गैलिलिओ के पास सम्मत्यर्थ भेजी। गैलिलिओ ने उसे पढ़कर जाना कि केपलर के पास भी कापरनिकस के सिद्धान्त के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

इन्हीं दिनों की बात है कि गैलिलिओ वेनिस गया हुआ था। वहाँ वह अपने एक मित्र सेग्रेडो के घर जाकर उससे बातचीत कर रहा था कि पड़ोस के मकान की छत पर उसे एक युवती की झलक मिली। वह स्तब्ध-सा रह गया। उसे उस युवती को देखकर ऐसा लगा, मानो बियानका कब्र से उठकर चली आई हो—बिलकुल वैसा ही रूप, वैसे ही केश। सेग्रेडो ने अगले दिन उस युवती से गैलिलिओ की भेंट करा दी। गैलिलिओ चौंतीस वर्ष का हो चुका था; परन्तु मृत बियानका के अतिरिक्त उसने अपने हृदय में किसी अन्य स्त्री को स्थान न दिया था। इस युवती की ओर उसके आकर्षित होने का कारण भी यही था कि उसका रूप बियानका से बहुत कुछ मिलता-जुलता था। उस युवती का नाम मेरिन था और उसके परिवार में उसके सनकी वृद्ध पिता के अतिरिक्त कोई न था। मेरिना और गैलिलिओ का प्रणय गहरा होता गया, वह अब प्रायः वेनिस आने लगा। एक दिन उसे पता चला कि मेरिना के वृद्ध पिता का देहान्त हो गया। उसने मेरिना के सामने प्रस्ताव रखा कि वह उसके साथ पाडुआ चले और उसकी प्रेयसी बनकर रहे। उसने मेरिना से विधिवत् विवाह नहीं किया। उसकी कोई आवश्यकता उसे अनुभव न हुई, मेरिना ने भी जोर न दिया। जब मेरिना पाडुआ गयी, उसका प्रसव-काल निकट था। गैलिलिओ ने लोकापवाद से बचने के लिए मेरिना के लिए एक अलग मकान अपने घर से कुछ दूर किराये पर ले लिया। वह उस मकान में अँधेरा होने पर रात में ही जाता था। यथा समय प्रसव हुआ। शिशु लड़की थी।

पाडुआ विश्वविद्यालय में अध्यापन करते गैलिलिओ को ६ वर्ष हो गये थे। उसका पहला ठेका समाप्त होने पर व्यवस्था समिति ने उसको अगले ६ वर्षों के लिए फिर नियुक्त

कर लिया। और पहले की एक सौ अस्सी स्वर्ण मुद्राओं के स्थान पर अब प्रति वर्ष तीन सौ बीस मुद्राएँ वेतन के रूप में देना स्वीकार कर लिया।

इस बीच एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि गैलिलिओ ने एक मापदण्ड यंत्र का आविष्कार किया और उसको अपने घर एक मिस्त्री रखकर बनवाने लगा। यह मापदंड यूरोप के प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा खरीदा जाने लगा और गैलिलिओ की आर्थिक आय बढ़ गयी।

उसने दूसरा काम यह किया कि यूरोप के विभिन्न राज्यों के राजकुमारों को किलेबन्दी और मोरचाबन्दी का शिक्षण देना प्रारम्भ किया। इनको ठहराने के लिए उसने एक विशाल भवन भाड़े पर लिया और उन्हीं के साथ-साथ वह भी रहने लगा। उन्हीं के साथ वह भी खाता-पीता रहता। मैरिना के पास वह यदा-कदा मन बहलाव के लिए चला जाता। परन्तु जब भी वह जाता, वह कुछ बुनती हुई मिलती। यदि गैलिलिओ स्वयं चलाकर बात न करता तो वह प्रायः चुप ही रहती। ऐसा लगता था कि उसके पास बात करने को कुछ है ही नहीं। इस बीच गैलिलिओ एक और लड़की का भी पिता बन चुका था। उसने बड़ी लड़की का नाम सेलेस्टी और छोटी लड़की का ऐंजेला रखा था। मैरिना एक विचित्र स्त्री थी। उसे संसार की किसी बात में रुचि न थी। बच्चों का लालन-पालन तो वह ठीक ढंग से कर लेती थी परन्तु ऐसा लगता था कि संसार की किसी वस्तु से उसे मोह या ममता नहीं है, उसकी कोई अपनी आकांक्षा या विचार भी है, यह जान नहीं पड़ता था। ऐसी भावना-शून्य नारी के प्रति गैलिलिओ के हृदय में प्रेम की ज्योति कब तक जलती रह सकती थी। धीरे-धीरे उसे लगा कि मैरिना को वह प्यार नहीं करता था।

गैलिलिओ की जो तीन बहनें थीं, उनमें वर्जीनिया का विवाह तो उसके पिता के जीवनकाल में ही लैण्डुसी नामक व्यक्ति से हो गया था, जिसके दहेज की रकम वह अभी तक चुका नहीं पाया था। दूसरी बहन लीना का विवाह उसके अपने चुनाव के अनुसार एक युवक से हो गया, जिसे कोई दहेज नहीं देना पड़ा। तीसरी और अंतिम बहन लिविया का विवाह फ्लोरेन्स के एक रईस गैलेटी से होना निश्चित हुआ, जिसने दहेज में एक मोटी रकम चाही। गैलिलिओ ने इस भार को भी स्वीकार किया। उसकी माँ अपनी बड़ी बेटी के साथ रह ही रही थी, छोटे भाई माइकेनेग्नोलो को लिथुआयी के एक रईस के यहां नौकरी मिल गयी, इसलिए वह भी चला गया। इस प्रकार पारिवारिक दृष्टि से गैलिलिओ ने कुछ विश्राम की साँस ली।

गैलिलिओ कापरनिकस के इस सिद्धान्त के लिए कि पृथ्वी गतिशील है, अभी तक कोई प्रमाण नहीं जुटा पाया था। तभी एक नयी वस्तु ने उसका ध्यान आकर्षित कर लिया। एक दिन वह अपने अध्ययन-कक्ष में बैठा था कि उसके एक प्रिय शिष्य काउण्ट कैस्टेली ने सूचित किया कि कुछ व्यक्तियों ने आकाश में एक नया तारा देखा है। गैलिलिओ ने उस दिन सन्ध्या समय ध्यान से आकाश का अवलोकन किया। मंगल और वृहस्पति तारों को जोड़ने वाली रेखा के कुछ ही आगे एक तारा चमक रहा था, जो पहले वहाँ नहीं देखा गया था। गैलिलिओ प्रसन्नता के मारे नाच उठा। उसने कैस्टेली से

कहा—"अरस्तू का पहला ही सिद्धान्त है कि इस नये तारे के उदय ने उसकी इस बात को गलत सिद्ध कर दिया है और अब उसकी हर बात में परिवर्तन हो सकता है।"

उस वर्ष जब नवम्बर में विश्वविद्यालय का नया सत्र आरम्भ हुआ तब गैलिलिओ ने नये तारे के विषय में ही तीन व्याख्यान दिये। उन व्याख्यानों में इतने अधिक श्रोता आये, जितने पहले कभी नहीं आये थे। गैलिलिओ ने बतलाया, "यह नवीन तारा वास्तव में एक तारा ही है, वह इतनी दूर है कि मनुष्य उसकी दूरी की कल्पना तक नहीं कर सकता, इसका स्थान गृह-मण्डल से परे सुदूरतम आकाश में है। यह रहस्यमय तारा उसी रहस्यात्मकता से विलुप्त हो जायगा जिस रहस्यात्मकता से वह प्रकट हुआ है। परन्तु इसकी प्रगति की दिशा पृथ्वी की धुरी के समकक्ष है, इसीसे हमको लगता है कि यह स्थिर खड़ा है, परन्तु साथ ही हम इसकी चमक को छीजता हुआ देखते हैं। एक दिन यह पूर्णतया लुप्त हो जायगा।" गैलिलिओ ने इस तथ्य के आधार पर बलपूर्वक यह कहा, "मैं अरस्तू की इस मान्यता का प्रतिवाद करता हूँ कि गगन-मण्डल अपरिवर्तन-शील है। ज्योतिष के विषय में कोई बात शाश्वत सत्य नहीं है।"

गैलिलिओ ने फ्लोरेन्स—अपने जन्म प्रदेश के ड्यूक के कुलगत नाम पर इस तारे का नाम "मैडिसी स्टार" रखा।

एक बार अपनी पैदल यात्रा के सिलसिले में गैलिलिओ जब ज्वराक्रान्त हुआ था और उसके गले में कुछ कष्ट हो गया था, तब दवा-दारू से उसका कष्ट कम तो हो गया परन्तु उसे गठिया रोग का शिकार बनना पड़ा। यह रोग वर्ष-दो वर्ष बाद उभर आता था, उसके घुटने बुरी तरह सूज आते थे और उसे असह्य पीड़ा होती थी, शैयागत तो उसे हो ही जाना पड़ता था। इस रोग ने उसे समय-समय पर बहुत शारीरिक पीड़ा दी।

गैलिलिओ यों तो वेनिस राज्यान्तर्गत पाडुआ विश्वविद्यालय में विचार-स्वातन्त्र्य का पूर्ण लाभ उठाते हुए, सुख-शान्ति का जीवन बिता रहा था, उसके यंत्रों से उसे अच्छी आय हो रही थी, ट्यूशन से अच्छा धन आ जाता था, विश्वविद्यालय ने भी उसका वेतन काफी बढ़ा दिया था (प्रति वर्ष पाँच सौ बीस स्वर्णमुद्राएँ और), इतना कि किसी अन्य प्राध्यापक का वेतन उतना न था, तो भी उसका मन सदा फ्लोरेन्स में जाकर रहने को करता रहता था। तभी फ्लोरेन्स के राज दरबार से उसके पास सन्देश आया कि ड्यूक अपने राजकुमार को गणित पढ़ाने के लिए गैलिलिओ को ग्रीष्मावकाश में ६ सप्ताह के लिए फ्लोरेन्स बुलाना चाहता है। अन्धा क्या चाहे दो आँखें! गैलिलिओ तो किसी तरह फ्लोरेन्स की वायु में साँस लेना ही चाहता था। उस गर्मी को गैलिलिओ ने फ्लोरेन्स में बिताया और युवराज ड्यूक कोसिमो से उसके अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो गये। ग्रीष्मावकाश के बाद वह फिर पाडुआ लौट आया, परन्तु फ्लोरेन्स में स्थायी रूप से पहुँचने के लिए प्रयत्न उसने जारी रखे।

इन्हीं दिनों मैरिना के एक पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम गैलिलिओ ने अपने दादा के नाम पर विन्सेजो एण्ड्रिआ रखा। प्यार में उसे 'नेन्सिओ' भी कहते थे। अब वह दो लड़कियों और एक लड़के का पिता था।

घटनाएँ तेजी से बदल रही थीं। फ्लोरेन्स का बड़ा ड्यूक बीमार पड़ा और मर गया। गैलिलिओ का शिष्य युवराज कौसिमो उसके स्थान पर 'ग्राण्ड ड्यूक' बनाया गया। इधर गैलिलिओ के घरेलू जीवन में भी एक क्रांति हुई। गैलिलिओ का प्रेम मैरिना के प्रति क्रमशः ठंडा पड़ते-पड़ते बुझ-सा गया था, वह मैरिना और उससे उत्पन्न अपने बच्चे के पालन-पोषण का तो सारा व्यय सहन करता था, पर उसने मैरिना के पास आना-जाना कम से कम कर दिया था। उसका सारा समय उसके विद्यार्थियों और वैज्ञानिक अनुसंधानों में लग रहा था। उसके सामने एक समस्या थी कि यदि वह फ्लोरेन्स जाता है तो मैरिना का क्या होगा—मैरिना उसकी प्रेयसी थी, विवाहिता पत्नी नहीं, दूसरे सम्भव है मैरिना फ्लोरेन्स न जाना चाहे। इस समस्या का समाधान मैरिना की ओर से ही उपस्थित किया गया। एक दिन मैरिना ने जो बहुत कम बोलती थी, स्वयं चलाकर उससे कहा कि उसे एक प्रेमी मिल गया है जो उसके विवाह करने को तैयार है। मैरिना ने कहा कि वह बच्चों को भी छोड़ जा सकती है, परन्तु एक कठिनाई उसने यह बतायी कि उसके होने वाले पति का वेतन इतना कम था कि वह उतने से उसका उत्तरदायित्व नहीं संभाल सकता था। इसका सुलझाव इस रूप में हो सकता था कि गैलिलिओ अपनी प्रेयसी को दूसरे प्रेमी से विवाह करने के लिए एक अच्छी रकम दहेज में दे, ताकि वह अपना कोई स्वतन्त्र व्यवसाय आरम्भ कर सके। गैलिलिओ बहुत उदार था और वह किसी प्रकार इस समस्या को सुलझाना चाहता था। इसलिए उसने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

• एक दिन वह भी आया जिस दिन गैलिलिओ ने दूरबीन (टैलिस्कोप) का आविष्कार कर लिया। इसने इसकी प्रसिद्धि में चार चाँद लगा दिये। लोगों के लिए यह एक तमाशा बन गया। दूरस्थ वस्तुएँ भी इस यंत्र से ऐसी दीखती थीं कि मानो वे सामने ही हों।

एक रात उसने वृहस्पति नक्षत्र (ज्यूपिटर) को अपने इस नये यंत्र से देखा। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने वृहस्पति के पास ही अत्यन्त लघुकाय और तीक्ष्ण प्रकाश वाले तीन तारकों को देखा। अरस्तू ने तो कहीं इन तारों की अवस्थिति का उल्लेख ही नहीं किया था। अगले दिन उसने देखा कि केवल दो ही तारे दिखायी दे रहे हैं और उन दोनों में भी एक छोटा और दूसरा बड़ा लग रहा है जब कि पिछले दिन दोनों एक समान लग रहे थे। उसे इसका कारण यह जान पड़ा कि ये तीन चन्द्रमा हैं, जो वृहस्पति के चारों ओर परिक्रमा कर रहे हैं। वृहस्पति भी पृथ्वी की भाँति ही एक ग्रह है। अरस्तू के मतानुसार पृथ्वी विश्व का केन्द्र है। पर इन तारकों ने यह अप्रमाणित कर दिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि कापरनिकस की मान्यता के अनुसार वह भी अन्य ग्रहों की तरह एक ग्रह ही है।

गैलिलिओ तीसरे तारे के पुनः दिखायी देने की प्रतीक्षा में ही था कि अगले दिन उसने दूरबीन से एक चौथा तारा देखा। यह तारा वृहस्पति के पूर्व में था, जब कि पहले वाले तीनों तारे पश्चिम में। इसका यह अर्थ था कि वृहस्पति नक्षत्र के पास चार नये नक्षत्रों का पता चला जिनके विषय में अरस्तू और उसके अनुयायी कुछ

नहीं जानते थे। गैलिलिओ ने चार नये नक्षत्रों का पता लगा लिया था। उसने एक पुस्तक इस पर लिखी जिसका नाम उसने रखा—"तारकों का सन्देश" (दि हेरल्ड ऑव स्टार्स)।

फ्लोरेन्स में स्थायी रूप से जाने के लिए गैलिलिओ जो प्रयत्न कर रहा था, उसका परिणाम अंततः दिखायी दिया। उसे फ्लोरेन्स के राजदरबार का गणितज्ञ नियुक्त किया गया और उसका वेतन भी निश्चित हो गया जो फ्लोरेन्स के सिक्के में एक हजार स्वर्ण मुद्राएँ प्रतिवर्ष था। 'बो' के वेतन से यह बहुत अधिक था। मैरिना पाडुआ में ही रह गयी, उसके साथ उसका लड़का जो अभी छोटा था, रह गया। दोनों लड़कियाँ अपने पिता के साथ चली आयीं।

गैलिलिओ फ्लोरेन्स आ गया। राज दरबार में उसके लिए कुछ अधिक कार्य न था। यदा-कदा उसे राज दरबार में जाना होता था और विशेष अवसरों पर उपस्थित होना पड़ता था। यहाँ भी उसने नक्षत्रों को देखना बन्द नहीं किया। एक रात दूरबीन से उसने 'वीनस' का एक अंश काला पड़ते देखा। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा—'वीनस' सूर्य से अपना प्रकाश ग्रहण करता है, जबकि अन्य ग्रह अपने ही स्रोत से प्रकाशित रहते हैं। यह स्पष्ट है कि 'वीनस' सूर्य के चारों ओर घूमता है, न कि पृथ्वी के चारों ओर। इस प्रकार 'वीनस' सूर्य के चन्द्रमाओं में से एक है और वही यह पृथ्वी भी है। गैलिलिओ को कापरनिकस के सिद्धान्त का प्रमाण मिल गया।

इधर तो वह कापरनिकस के सिद्धान्त के लिए प्रमाण ढूँढ़ने में व्यस्त था, उधर फ्लोरेन्स का आर्कविशप (मठाधीश) उसके विरुद्ध विष वपन कर रहा था। अरस्तू के सिद्धान्त रूढ़िवादी ईसाइयों के लिए धर्म के पर्याय बन गये थे और उनमें किसी प्रकार के परिवर्तन की वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। जो कोई उससे भिन्न विचार रखता हो, वह उसकी दृष्टि में अधर्मी था और उसे पोप से दण्डित होना ही चाहिए, ऐसा उनका विचार था। यही कारण था कि कापरनिकस के कैथोलिक होते हुए भी, उसके सिद्धान्त को सनातन ईसाई धर्म से प्रतिकूल मानकर पादरियों तथा मठाधीशों ने उसका विरोध करना आरम्भ किया था। गैलिलिओ भी, क्योंकि कापरनिकस के सिद्धान्त को ही आगे बढ़ा रहा था, इसलिए पादरियों और सनातनी, रूढ़िवादी ईसाइयों का उससे रुष्ट हो जाना स्वाभाविक था। एक व्यक्ति ने उसकी पुस्तक "तारों का सन्देश" के विरोध में एक पुस्तक लिखी। फ़्लोरेन्स के प्रधानमंत्री विन्टा ने जो गैलिलिओ का आदर और स्नेह करता था, उसे परामर्श दिया कि वह एक बार रोम जाकर वहाँ के कुछ प्रमुख धर्माधिकारियों का समर्थन अपनी उक्त पुस्तक के लिए प्राप्त करे। ऐसा हो जाने पर सारा स्थानीय विरोध स्वतः दब जायेगा। विन्टा की सलाह मानकर गैलिलिओ रोम गया। वह समय उसकी प्रसिद्धि के मध्याह्न का था। रोम में उसके आने का समाचार पहले से ही फैल गया था। गैलिलिओ अपने साथ एक दूरदर्शी यंत्र (दूरबीन) भी ले गया था। पोप के प्रधान मंत्री वेलारमीन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त हुई, जिसने उसकी पुस्तक के तथ्यों की जाँच दूरबीन की सहायता से की। समिति ने उसके लिखे पर

अपनी मुहर लगा दी, केवल कुछ मामूली आपत्ति उसने यत्र-तत्र की। पोप ने भी गैलिलिओ को दर्शन दिया और उसे अपनी सहायता का वचन दिया।

उसकी रोम-यात्रा बहुत सफल रही। पर, विरोधियों ने अपने आक्रमण बन्द नहीं किये। गैलिलिओ ने उनका मुँहतोड़ उत्तर देने के लिए अपने प्रिय शिष्य कैस्टेली, जो अब पीसा में गणित का प्राध्यापक हो गया था, की सहायता से एक पुस्तक चुटीली भाषा में लिखी है, जो कैस्टेली के नाम से प्रकाशित हुई।

दरबारी गणितज्ञ के नाते उसके पास कोई विशेष कार्य न रहता था। उधर विरोधियों की संख्या बढ़ती जा रही थी। जो लोग उसके समर्थक थे भी, वे खुलकर पादरियों के आड़े नहीं आ सकते थे। गैलिलिओ ने अपने बीस वर्षों के वैज्ञानिक जीवन के अनुभवों का निचोड़ एक पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया और वह पुस्तक छपकर आ भी गयी। धर्माध्यक्ष (कार्डिनल) बारबेरिनी ने तो उसकी इस पुस्तक को पढ़कर प्रशंसा में उस पर एक कविता तक लिख डाली।

गैलिलिओ का पुत्र विन्सेजो एक व्यक्ति के साथ अपनी माता के पास से फ्लोरेन्स आ गया था। मैरिना ने उसको भेजने में कोई आपत्ति नहीं प्रकट की थी। विन्सेजो छः वर्ष का था। गैलिलिओ की बड़ी लड़की सेलेस्टी की आयु इस समय तेरह वर्ष की और छोटी लड़की ऐंजेलो की बारह वर्ष की थी। विन्सेजो तो अपनी दादी के पास अपने फूफा लैण्डुसी के घर रहने लगा और दोनों लड़कियों ने "नन" (भिक्षुणी) बनना स्वीकार किया। वे एक कान्वेण्ट में भरती हो गयीं, फ्लोरेन्स में, जो नगर के बाह्य भाग में कुछ दूरी पर था। बड़ी लड़की सेलेस्टी तो वास्तव में एक देवी थी, परन्तु एन्जेलो में अपनी दादी के लक्षण दिखायी देते थे। सेलेस्टी ने जहाँ सब को मोहित कर लिया, वहाँ एन्जेलो के झगड़ालू स्वभाव ने किसी का प्रेम उसको प्राप्त न होने दिया। सेलेस्टी के शान्त स्वभाव, शुभ चरित्र और धर्म परायणता ने कान्वेण्ट में सबको उसका प्रशंसक बना दिया था। गैलिलिओ जब कभी थोड़ी देर के लिए उससे भेंट कर पाता, उसको उससे बातचीत करके बड़ी शान्ति प्राप्त होती थी।

गैलिलिओ के विरुद्ध जेसुइट पादरियों का आक्रमण उग्रतर होता जा रहा था। नौबत यहाँ तक पहुँच गयी थी कि "इन्क्विजिशन" (रोम के पोप द्वारा नियुक्त जाँच कमेटी) की ओर से गैलिलिओ की गुप्त जाँच आरम्भ हो गयी थी और उसके विरुद्ध प्रमाण एकत्र किये जाने लगे थे। उनका प्रधान आशय था कि कापरनिकस के सिद्धान्त का अपनी पुस्तकों, अपने व्याख्यानों, अपने पत्रों में समर्थन करके गैलिलिओ बाइबिल के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहा है। फ़्लोरेन्स का शासक कासिमो, जो कभी गैलिलिओ का शिष्य रह चुका था, इस विरोध से परेशान था। उसने उसे राय दी कि वह पुनः रोम जाकर अपने मित्रों से मिले और वातावरण को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करे। अस्तु, गैलिलिओ दुबारा रोम गया।

परन्तु इस बार इसे पहली बार की तरह अनुकूल वातावरण नहीं मिला। सब के रुख बदले हुए दिखायी देते थे। पोप के प्रधान मंत्री बेलारमिन ने उससे स्पष्ट बतला दिया कि पृथ्वी को सूर्य की तुलना में एक नगण्य-सा ग्रह मानने, पृथ्वी की अपेक्षा सूर्य को

विश्व का केन्द्र मानने और पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा करने के सिद्धान्त से सामान्य जनता के परम्परागत विचारों को धक्का लगता है और धर्म की रूढ़ियों के प्रति वह अविश्वासी हो उठती है। इसलिए ऐसे सिद्धान्तों का सार्वजनिक रूप से प्रचार एवं प्रतिपादन नहीं होने दिया जा सकता। हाँ, यदि कापरनिकस की तरह गैलिलिओ भी अपने समस्त सिद्धान्त को अटल सत्य न कह कर परिकल्पना ही मानकर चले और उसी रूप में उसका प्रचार करे, तब चर्च को कोई आपत्ति न होगी। पोप दरबार के कुछ विशेषज्ञों की एक समिति को दो प्रश्नों पर अपना मत देने के लिए कहा गया—प्रथम क्या सूर्य को विश्व का केन्द्र माना जा सकता है? दूसरे, क्या यह माननीय है कि पृथ्वी केवल एक छोटा-सा ग्रह है जो नित्य अपनी धुरी पर चक्कर काटता रहता है?

विशेषज्ञ समिति ने इन दो प्रश्नों पर जो मत दिया वह इस प्रकार था—पहली बात भ्रमोत्पादक है, अब तक प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल है, अतः त्याज्य है। दूसरी बात भी आक्षेप रहित नहीं हो सकती और उसको भी भ्रमात्मक ही कहा जा सकता है।

गैलिलिओ पर यह स्पष्ट हो गया कि "चर्च" का समर्थन उसे नहीं मिल सका। वह पोप से भी मिला। पोप ने यों तो उसे अपने संरक्षण का आश्वासन दिया परन्तु यह भी संकेत कर दिया कि विशेषज्ञ समिति और कार्डिनल बेलारमिन के विचारों से वह भी सहमत है।

गैलिलियो की यह दूसरी रोम-यात्रा सफल हुई, यह नहीं कहा जा सकता। एक लाभ उसे हुआ कि रोम के धर्माधिकारियों के रुख का उसे पता चल गया। दूसरी बात उसे यह ज्ञात हुई कि यदि वह किसी प्रकार अपनी बातों को परिकल्पना के रूप में रख सके, तो पोप को कोई आपत्ति न होगी।

वह फ्लोरेन्स लौट आया। यहाँ आकर गठिया ने उसके शरीर के जोड़ों को बुरी तरह जकड़ लिया। कई महीनों तक उसे शैया की शरण लेनी पड़ी। इन्हीं दिनों पता चला कि उसकी पूर्व पत्नी मैरिना का देहावसान हो गया। ग्राण्ड ड्यूक कोसिमो का भी कुछ दिनों की बीमारी के बाद देहान्त हो गया। उसकी मृत्यु से गैलिलिओ का एक बड़ा संरक्षक और समर्थक खो गया। उसके स्थान पर उसका अल्पवयस्क पुत्र ड्यूक बना और उसकी मां तथा दादी उसकी संरक्षिका बनीं।

गैलिलिओ को उसके विरोधी पुस्तकें लिख-लिखकर उत्तेजित कर रहे थे। अन्त में उसने "दि गोल्डेन स्केल" (सुनहली तराजू) नामक पुस्तक लिख डाली। परन्तु उसको रोम के धर्माधिकारियों से सेन्सर कराना आवश्यक था। सेन्सर ने चार महीने तो लगाये, परन्तु उसकी पुस्तक स्वीकार कर ली गयी और उसके ज्ञान की प्रशंसा भी की गयी। तभी एक और घटना घटी जिससे गैलिलिओ को बड़ी आशा बंधी कि अब सम्भवतः उसका सिद्धान्त पोप के द्वारा स्वीकार कर लिया जाय। वह घटना थी पुराने पोप ग्रेगरी की मृत्यु और उसके स्थान पर बार बेरिनी का पोप चुना जाना। बार बेरिनी वही व्यक्ति था जिसने एक बार 'तारों का सन्देश' नामक उसकी पुस्तक को पढ़कर प्रशंसा में एक कविता लिखी थी। गैलिलिओ को सारा नक्शा अपने पक्ष में बदलता दिखायी दिया।

नये पोप ने, जो पोप अर्बन के नाम से गद्दी पर बैठा था, उसकी नयी पुस्तक "दि गोल्डेन स्केल" को रुचिपूर्वक पढ़ा और उसे रोम बुलाया। गैलिलिओ अपनी पुरानी गठिया वाली बीमारी से उठा ही था, कि उसे रोम की यात्रा करनी पड़ी। वह फ्लोरेन्स के राजदूतावास में ठहरा, जिसके राजदूत निकोलिनी और उसकी पत्नी केटेरिना ने उसकी बड़ी आवभगत की। गैलिलिओ की आयु इस समय साठ वर्ष की हो चली थी।

वह पोप अर्बन से मिला। गैलिलिओ ने उससे कई बार भेंट की, परन्तु उसे समझते देर न लगी कि जिस बार बेरिनी ने उस पर कविता लिखी थी और जो इस समय पोप अर्बन के रूप में है, दोनों अलग व्यक्तित्व हैं। पोप बनते ही उसको उस धर्म-संस्था की पुरानी परम्पराओं तथा मान्यताओं को मानना आवश्यक था। गैलिलिओ को उसने इतना सम्मान दिया, जितना किसी व्यक्ति को पोप से न मिला होगा। उससे उसने घण्टों एकान्त में बातें कीं परन्तु गैलिलिओ उसको कापरनिकस के सिद्धान्त को मानने के लिए सहमत न कर सका। यह सब होते हुए भी, उसकी यह तीसरी रोम-यात्रा काफी सफल रही।

गैलिलिओ की वृद्धावस्था उसकी शारीरिक शक्ति को क्षीण कर रही थी। उसे लगा कि उसने अपने जीवन का सबसे बड़ा काम अभी नहीं किया है। वह एक बड़ी पुस्तक लिखना चाहता था, जिसमें उसके सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो और उसके विरोधियों के तर्कों का समुचित उत्तर हो। परन्तु वह किस प्रकार उसको लिखे कि उसके विचार उसके न माने जाकर परिकल्पना (हाइपाथैसिस) की श्रेणी में आ जायें। गैलिलिओ को यही ठीक लगा कि वह कथोपकथन की प्रणाली में अपनी पुस्तक लिखे। उसमें दो पात्र तो उसने कापरनिकस और अपने सिद्धान्त के समर्थक रखे और तीसरे पात्र "सिम्प्लिसिओ" (बुद्धू) को उसने रूढ़िवादी कैथोलिकों का प्रतीक बनाया। सिम्प्लिसिओ के मुख से उसने वे सब तर्क रखवाये जो मूर्ख लोग उसके विरुद्ध उपस्थित किया करते थे और अपने शेष दो पात्रों के मुख से उन तर्कों की धज्जियाँ उसने उड़ायीं। इस पुस्तक का नाम उसने रखा विश्व विद्या (कास्मोलाजी) के दो प्रमुख सिद्धान्तों—पौलेमी और कापरनिकस के सिद्धान्तों पर वार्तालाप" यह पुस्तक छपकर आठ सौ पृष्ठों में आयी।

गैलिलिओ की यह पुस्तक सेन्सर के पास गयी थी। उसने यही ठीक समझा कि एक बार फिर वह रोम जाकर लोगों के सामने स्पष्टीकरण कर आवे। उसने चौथी बार रोम की यात्रा की। पोप अर्बन से भी वह मिला। परन्तु ऐसा लगा कि उस पुस्तक को सेन्सर ने पास कर दिया। पुस्तक विदेशों में भी गयी और उसके अनुवाद हुए।

गैलिलिओ रोम से लौट आया; परन्तु उसके विरोधियों ने उसका पीछा किया। रूढ़िपंथी कैथोलिकों ने इसमें भी उसके विरुद्ध प्रमाण ढूँढ़ निकाले। उन्होंने आरोप लगाया कि इस पुस्तक में कौशलपूर्वक कापरनिकस के सिद्धान्त को श्रेष्ठ ठहराकर प्रचारित करने की चेष्टा की गयी है। किसी ने पोप अर्बन के कान में यह बात तक डाल दी कि इसमें जो 'सिम्प्लिसिओ' पात्र है, वह उसी का प्रतीक है। गैलिलिओ के दुर्भाग्य से सिम्प्लिसिओ

के मुख से एक शंका ऐसी प्रस्तुत की गयी थी, जिसे पोप अर्बन ने स्वयं गैलिलिओ की तीसरी रोम यात्रा के समय, बातचीत के दौरान, उसके सामने रखी थी। यद्यपि यह हुआ अनजाने ही था, गैलिलिओ को इसका पता चलने पर पछतावा हुआ, तथापि पोप अर्बन के मन में तो यह काँटा धँस ही गया था कि गैलिलिओ ने, जिसे उसने अपना कृपापात्र बनाया था, एक बुद्धू पात्र के रूप में, उसकी खिल्ली उड़ाने का प्रयास किया। पोप का रुख कड़ा पड़ गया। उसने यह प्रकट तो किसी पर नहीं किया परन्तु अपने अपमान का बदला लेने की भावना उसमें बल पकड़ गयी। यहीं से गैलिलिओ के दुर्भाग्य का श्रीगणेश हुआ।

गैलिलिओ को रोम में उपस्थित होवे की आज्ञा हुई। उसका मामला जाँच कमेटी (इन्क्विजिशन) को सौंप दिया गया था। जिस समय यह आज्ञा उसे मिली, वह गठिया से बुरी तरह पीड़ित था। उसे जाने में एक माह की देर हो गयी। उसने चेष्टा की कि रोम जाने की आज्ञा टल जाय, पर व्यर्थ। पोप की आज्ञा आयी कि एक डाक्टर उसके साथ रोम तक यात्रा कर सकता है। और यदि इस पर भी वह न आवे तो आज्ञा थी कि हथकड़ी-बेड़ी डालकर उसे रोम भेजा जाय।

गैलिलिओ उस अस्वस्थ दशा में ही किसी प्रकार रोम पहुँचा। फ्लोरेन्स के दूतावास में वह ठहरा। निकोलिनी (राजदूत) दम्पत्ति ने उसका हार्दिक स्वागत किया। उसकी इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में इन दोनों पति-पत्नी को उससे हार्दिक सहानुभूति थी। गैलिलिओ जानता था कि इन्क्विजिशन के सामने अभियोगी होने का क्या अर्थ होता है। उसे लगा कि उसके जीवन का अब अन्त आ गया, उसे जीवित ही जला डाला जायगा। मृत्यु की कल्पना ने उसे भयभीत कर दिया। वह जीवन को बहुत प्यार करता था—वह जीना चाहता था, कुत्ते की मौत मरना नहीं। वृद्धावस्था के कारण उसके दुर्बल तन और मन इस धक्के को सहन कर पाने में अपने को असमर्थ पा रहे थे।

जाँच कमैटी (इन्क्विजिशन) का अध्ययन पादरी फिरेन्जुओला बड़ा सख्त आदमी था। उसने बड़ी रुखाई और अशिष्टता से गैलिलिओ से बातचीत की। गैलिलिओ को पहले तो फ्लोरेन्स के राजदूतावास में ही नजरबन्द रखा गया, बाद में जब उसके मुकदमे की सुनवाई आरम्भ हुई, तब उसे पोप के महल में तीन कमरों के एक सूट में नजरबन्द कर दिया गया। वहाँ उसे भोजनादि का सब आराम था। उसका भोजन राजदूतावास से ही जाता था, परन्तु गैलिलिओ इतना डर गया था कि उसे खाना-पीना कुछ न सुहाता था। उसकी जब दूसरी पेशी हुई तब उसने सरासर झूठ कहा और अपने अब तक के प्रतिपादित सिद्धान्तों को गलत बताया। यह उसने केवल इसलिए किया कि उसे मृत्यु-दण्ड न मिले। जीवन के इस मोह ने उसको इस सीमा तक झुका दिया कि जिन सिद्धान्तों के लिए वह अब तक दूसरों से संघर्ष करता रहा, उन्हीं को उसने अपने विरोधियों के सामने असत्य कह दिया—यहाँ तक कह दिया कि उसने कभी उन पर विश्वास नहीं किया। बस उसके मुँह से एक ही प्रार्थना निकलती थी—"दया······मुझे जलाओ मत······मत जलाओ······मैं घुटने टेककर तुमसे······"

गैलिलिओ ने यह कह तो दिया, परन्तु उसे मर्मान्तक व्यथा हुई। वह जानता था कि वह असत्य बोलकर अपनी ही नहीं, पूरे वैज्ञानिक जगत की कितनी हानि कर रहा है। एक विचार उसे व्यथित कर रहा था कि सभी लोग केवल एक बार मरते हैं, परन्तु वह दो बार मरेगा। वैज्ञानिक के रूप में तो वह पहले ही मर चुका।

'इन्क्विजिशन' ने गैलिलिओ को अनिश्चित काल तक बन्दी-गृह में रहने का दण्ड दिया और तीन वर्ष तक प्रति सप्ताह सात धार्मिक स्तोत्रों का जप तपस्या के रूप में करने की आज्ञा दी। गैलिलिओ को बड़ा कष्ट पहुँचा। इतना नीचे झुकने पर भी यह सजा।

बाद में पोप अर्बन ने दया का प्रदर्शन करने के लिए उसका दण्ड नरम कर दिया। उसे आज्ञा हुई कि वह साधारण बन्दीगृह में न रखा जायगा, अपितु राजदूतावास ही उसका बन्दीगृह होगा। राजदूत निकोलिनी और उसकी पत्नी कैटेरिना ने ७० वर्षीय इस दुर्भाग्यग्रस्त वृद्ध को सहानुभूति और सान्त्वना से ढाढ़स बँधाने में कोई कसर न उठा रखी। निकोलिनी के प्रयत्न से गैलिलिओ को सिएना नामक स्थान में, जहाँका मठाधीश उसका भक्त था, जाने की आज्ञा मिल गई। अन्त में वह दिन भी आया जब पोप ने कृपा करके उसे फ्लोरेन्स के अपने मकान में नजरबन्द रहने की आज्ञा भी दे दी। गैलिलिओ को इससे सुख पहुँचा क्योंकि वह अपनी पुत्री सेलेस्टी से मिलने के लिए बहुत आतुर था।

फ्लोरेन्स लौटकर गैलिलिओ अपनी बड़ी बेटी से मिला तो सही, परन्तु उसने देखा कि उसकी तीन वर्ष की अनुपस्थिति और इस बीच उस पर जो कुछ गुजरा, उसका उसकी इस धर्मपरायण बेटी के स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा है। वह हड्डियों का ढाँचा-मात्र रह गयी थी।

एक दिन सेलेस्टी भी अपने वृद्ध पिता को इस दुःखपूर्ण स्थिति में अकेला छोड़कर और उसके दुःख तथा निराशा को और अधिक बढ़ाकर इस संसार से चल बसी! गैलिलिओ की माँ का देहान्त पहले ही हो चुका था। उसका छोटा भाई भी विदेश में अज्ञात स्थिति में था।

यद्यपि गैलिलिओ का हृदय भग्न हो चुका था और उसकी शारीरिक शक्ति दिन पर दिन क्षीण होती जा रही थी तथापि उसने निश्चय किया कि वह एक पुस्तक लिखेगा जिसमें उसके समस्त वैज्ञानिक ज्ञान का समावेश होगा। उसने उस पुस्तक पर कार्य आरम्भ कर दिया। इस पुस्तक पर उसने ज्योतिष या ग्रहों के विषय में न लिखकर भौतिक शास्त्र-सम्बन्धी अपनी खोजों और स्थापनाओं का वर्णन किया। पुस्तक तैयार हो गयी, तो उसे छपाने में कठिनाई हुई, क्योंकि उस व्यक्ति की पुस्तक छापने को कौन तैयार होता जिस पर स्वयं पोप की कुटिल दृष्टि हो। फिर भी एक प्रकाशक ने पुस्तक छाप ही दी।

किन्तु गैलिलिओ की नेत्र-ज्योति जो दिन पर दिन कम होती जा रही थी, एक दिन बिलकुल ही साथ छोड़ गयी। वह पूर्णतः अन्धा हो गया। संसार उसके लिए

अँधेरा हो गया। जब पुस्तक छपकर आई तो, वह उसके पृष्ठों को हाथ से उलट तो सकता था, पर देख नहीं।

गैलिलिओ की लालसा थी कि वह मरे तो स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में। उसने इस विषय में जितनी सिफारिशें करवायीं, स्वयं जितने पत्र लिखे, पोप पर उनका प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ा। उसकी सुविधाएँ और कम कर दी गयीं। अपने पुत्र की ओर से भी उसका चित्त दुःखी रहता था, क्योंकि वह बड़ा स्वार्थी था। उसे अपने पिता के धन से प्रेम था, पिता से नहीं।

और फिर वह बीमार पड़ा। अठहत्तर वर्ष का वह हो चुका था। निर्बल शरीर को पाकर सब तरह से रोगों ने एक साथ उस पर आक्रमण कर दिया—हाथ पैर सूज गए, गुर्दों ने काम करना बन्द कर दिया, हृदय-रोग भी उभर आया। लोगों में उसके बचने की आशा जाती रही। छः सप्ताह तक वह रोग-शैया पर पड़ा रहा। अंतकाल निकट जानकर एक दिन जब पादरी को उससे आत्मस्वीकृति (कन्फेशन) कराने के लिए बुलाया गया तब गैलिलिओ ने कहा कि मैं आठ वर्षों तक पाप करता रहा हूँ, क्योंकि आठ वर्ष पहले जाँच कमेटी के सामने बाइबिल को छूकर मैंने सौगन्ध खाकर जो बात कही थी, उस पर मैंने एक क्षण को भी विश्वास नहीं किया। अस्तु, उसके मरने के समय पोप ने भी अपना आशीर्वाद उसके लिए भेजा।

एक दिन प्रातः चार बजे अपने कुछ शिष्यों, पुत्र और पुत्र-वधू तथा कुछ पादरियों की उपस्थिति में मध्ययुग के इस महान् वैज्ञानिक के प्राण-पखेरू उसके शरीर-पिंजर को छोड़कर चले गये।

अपने ही घर में, पोप की आज्ञा से, उसका शरीर बन्दी तो अंत तक बना रहा, पर उसके प्राणों को स्वतन्त्र होने से पोप का कोई प्रतिबन्ध रोक न सका। गैलिलिओ की आत्मा परमात्मा से मिलकर तदाकार हो गयी।

१० कुलपति का स्वागत

११ उद्घाटन प्रार्थना

विद्यापीठ के भवनोद्घाटन का विवरण

शुक्रवार, वैशाख २७, शक सम्वत १८७९, ता० १७ मई, १९५७ ई० को सायंकाल ५।।। बजे हमारे माननीय कुलपति श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी द्वारा विद्यापीठ के नवनिर्मित भवन के उद्‌घाटन का आयोजन बड़ी उमंग और उत्साह के साथ सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर भवन को सुन्दर ढंग से सजाया गया था। अब तक के प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों को पहले कमरे में सजाकर रखा गया था। दूसरी ओर ध्वनि-विज्ञान प्रयोगशाला के यंत्र सजाकर रखे गए थे। मुख्य द्वार के ठीक सामने दोनों ओर लम्बी-पतली बेन्चों पर विद्यापीठ के प्रकाशन (भारतीय साहित्य, ग्रंथ वीथिका आदि) रखे गए थे। विद्यापीठ-भवन के द्वार के सामने एक लाल, चमकीला फ़ीता बँधा हुआ था। बाहर की प्रतोली में कुलपति की प्रतीक्षा में उप-कुलपति, विद्यापीठ के संचालक, कर्म-सचिव, कार्य समिति के प्रमुख सदस्य तथा नगर के कुछ सम्भ्रान्त महानुभाव उपस्थित थे। प्रतोली की बगल में ही दो पंक्तियों में कुर्सियाँ सजाकर रखी गई थीं, जिनपर आमंत्रित महिलाएँ विराजमान थीं। कुलपति महोदय के पधारते ही उप-कुलपति महोदय तथा संचालक जी ने कुलपति महोदय का स्वागत किया। प्रतोली में कुलपति महोदय से विद्यापीठ के प्राध्यापक तथा प्रमुख व्यक्ति विधिवत् मिले। तदनन्तर श्री रमेशचन्द्र दुबे ने—

"या कुन्देन्दु तुषारहार धवला…………"

सरस्वती की इस स्तुति के द्वारा मंगलाचरण किया। तत्पश्चात् संचालक महोदय ने कुलपति महोदय का अभिनन्दन करते हुए निम्नलिखित शब्दों में उनसे भवन के उद्‌घाटन का अनुरोध किया—

अभिनन्दन !

"आदरणीय बन्धुओ !

आज अभी आपके सामने जो यह भवन खड़ा है, उसका शिलान्यास कोई साढ़े तीन वर्ष पहले १४ दिसम्बर, १९५३ ई० को हमारे पूज्य कुलपति मुन्शीजी ने श्रद्धेय पं० गोविन्द-बल्लभ पन्त से कराया था। यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण और साथ ही साथ बड़े मज़े की बात है कि हमारे देश के गृह-मंत्री ने इस गृह की नींव डाली थी और आज उस गृह के स्वामी हमारे कुलपति महोदय स्वयं उसका उद्‌धाटन करने को पधारे हैं। इस भवन के अन्तर्गत अध्ययन-अध्यापन और अनुसन्धान के अपूव साधन, भाषाविज्ञान की समृद्ध प्रयोगशाला,

लोक-वार्त्ता तथा हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रहालय एवं अपने देश की प्राचीन तथा अर्वाचीन भाषाओं का उपादेय ग्रन्थागार प्रतिष्ठित है ।

आप सबको, यह विदित है कि इस भवन के रूप में वस्तुतः मुन्शीजी की ही एक विराट् भावना साकार खड़ी है । इसी विचार से आगरा विश्वविद्यालय ने इस हिन्दी विद्यापीठ का नामकरण ही कर दिया है, "कन्हैयालाल मुन्शी इन्स्टीट्यूट आफ हिन्दी स्टडीज़ ।" भक्तों की शब्दावली का प्रयोग किया जाय तो कहा जा सकता है कि जिस विभु की यह देन है, उसी को यह समर्पित है । आदरणीय मुन्शीजी के प्रति हमारा यह विनम्र निवेदन है:—

"विश्वविद्यालयेनेदं विद्यापीठं विनिर्मितम् ।
त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।।
साकाराभावना येयं भवदीया भारतीसमा ।
एकनीडीकृते लोके ज्ञानालोकन्तनोतु सा ।।"

इस भवन के रूप में भगवती भारती के समान आपकी जो मंगलमयी भावना मूर्तिमती खड़ी है, वह हमारे सारे देश में—जो विभिन्न भाषाओं और साहित्यों के सम्मिलित अध्ययन और संगम के द्वारा यहाँ सबके लिए एक नीड़ के रूप में परिणत हो गया है, ऐसे हमारे सारे देश में आपके इस विद्याभवन की वह भावना ज्ञान की अभिनव ज्योति का विकास करती रहे और समस्त प्रान्तीय भाषाओं के सहयोग से हिन्दी के राष्ट्र-भाषा रूप को सबल और समृद्ध करती रहे ।

इन शब्दों के साथ में आगरा विश्वविद्यालय, हिन्दी विद्यापीठ तथा आप सब समागत महानुभावों की ओर से अपने पूज्य कुलपति मुन्शीजी से इस भवन के उद्घाटन करने की सादर प्रार्थना करता हूँ ।"

संचालक महोदय के द्वारा उद्घाटन अनुरोध के पश्चात् विश्वविद्यालय के अभियन्ता तथा भवन-निर्माता-अनुबन्धक के प्रतिनिधि की दी हुई एक कर्त्तरी से कुलपति जी ने द्वार पर आबद्ध फ़ीते को काटकर उद्घाटन-विधि सम्पन्न की । तदुपरान्त उन्होंने संचालक जी, कर्म-सचिव आदि के साथ भवन में प्रवेश किया और हस्तलिखित ग्रंथों की प्रदर्शिनी का निरीक्षण किया । वहीं पर रखी हुई पुस्तकों में से कुछ सुलिखित हस्तलेखों की उन्होंने सराहना की और यह जिज्ञासा की कि यहाँ प्राचीनतम हस्तलेख कौन-सा है । उन्हें बताया गया कि हमारे संग्रह में इस समय सब से प्राचीन ग्रन्थ "कबीर ग्रन्थावली" का एक गुटका है । उसी प्रसंग में उन्होंने गीता की एक प्राचीन मुद्रित टीका की प्रति भी देखी । उसका अवलोकन करते हुए उन्होंने संचालकजी से कहा कि आप अपने किसी विद्यार्थी को भगवद्गीता की विभिन्न टीकाओं की भाषा पर तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए लगाइए। ब्रह्मनिष्ठ पंडित पीताम्बर गुरु ने अपनी जिस भाषा में वेदान्त ग्रन्थों की टीका लिखी है, उसमें हिन्दी और गुजराती दोनों के मिश्रित रूप अवश्य ही अध्ययन की वस्तु हैं । तदुपरान्त कुलपति महोदय विश्वविद्यालय के उस प्रांगण में पधारे जहाँ विश्वविद्यालय की ओर से उनके सार्वजनिक सम्मान और प्रीतिभोज का आयोजन था ।

१२ भवनोद्घाटन

१३ प्रगति-परिचय

इस अवसर पर हमारे उप-कुलपति श्री कालका प्रसाद भटनागर ने मुन्शीजी का अभिनन्दन करते हुए कहा:—

"श्रीमान् कुलपति महोदय, देवियो और सज्जनो !

आज "कन्हैयालाल मुन्शी हिन्दी विद्यापीठ" के उद्घाटन समारोह के अवसर पर आपके प्रति हार्दिक अभिनन्दन प्रकट करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ। आगरा विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी समिति ने आपके नाम को विद्यापीठ के साथ सम्बद्ध करने का निश्चय किया है और हम इसके लिए आपके आभारी हैं कि आपने इस प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति प्रदान की है। आप आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति ही नहीं रहे हैं, अपितु एक मित्र, एक विचारक और एक पथ-प्रदर्शक भी रहे हैं, जिनसे सदैव हमने परामर्श और सहायता की अपेक्षा की है। मैं आशा करता हूँ कि विद्यापीठ के अध्यापकों और छात्रों की पीढ़ी उत्तरोत्तर आपके श्रेष्ठ उदाहरण से प्रेरणा ग्रहण करेगी और यह देश उनके श्रम से अत्यन्त लाभान्वित होगा।

इस प्रखर ग्रीष्म-काल में यहाँ पधारने का कष्ट उठाकर तथा इस विद्यापीठ को आशीर्वाद प्रदान करने में अपना बहुमूल्य समय देकर आपने हमारे ऊपर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए मैं पुनः आपको धन्यवाद देता हूँ। इस विद्यापीठ के मूल स्रोत वास्तव में आप ही हैं। इसकी निर्माण-योजना तथा भावी विकास और उन्नति आपके ही सत् परामर्श पर निर्भर है। हमारी हार्दिक आकाँक्षा है कि आप जहाँ-कहीं भी रहें, अपनी सहानुभूति और सहायता इस विद्यापीठ और आगरा विश्वविद्यालय को सदैव प्रदान करते रहें।"

इसके बाद संचालक महोदय ने विद्यापीठ की प्रगति का विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा :—

प्रगति-विवरण

"हमारे आदरणीय कुलपति महोदय ! अपने कार्याकुल और मूल्यवान समय का इतना अंश देकर आपने हमारे ऊपर असाधारण अनुग्रह किया है। हमारे विद्यापीठ का उद्घाटन तो आपने सम्पन्न किया ही है, साथ ही आपके प्रति हमारे हृदय में जो आदर और अनुराग है, उसके उमड़ते हुए प्रवाह के परीवाह का अवसर भी दिया है।

जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, राष्ट्रभाषा हिन्दी और उसके साहित्य के सम्बन्ध में आप की जो व्यापक समन्वय-भावना है, भारतीय भाषाओं और विश्व-साहित्य के बीच उसका जो एक सर्वाङ्ग, संहत और समुन्नत रूप-निर्माण किया जा सकता है, उसी आदर्श को कार्यान्वित करने के लिए आपकी प्रेरणा से आगरा विश्वविद्यालय ने इस विद्यापीठ की स्थापना की है। हमें इस बात का हर्ष है कि आपके संरक्षण में हम अब तक अपने इस लक्ष्य की ओर उत्साह के साथ बढ़ते गये हैं। अध्ययन-अध्यापन, अनुसन्धान तथा प्रकाशन—इन सभी क्षेत्रों में हम प्रगति-पथ पर अग्रसर हैं। हमारा यह हिन्दी विद्यापीठ अपने ढँग की पहली शिक्षण एवं अनुसन्धान संस्था है, जो भारतीय भाषाओं, भाषाविज्ञान और तुलनात्मक साहित्य में डी० लिट०, पी-एच० डी०, एम० लिट०,

बी० लिट० और डिप० लिट० की उपाधियों के लिए शोध और पठन-पाठन की व्यवस्था करती है। एम० लिट० के लिए आधुनिक भाषाविज्ञान में नियमित अध्यापन और प्रयोगशाला की सुविधाएँ दी जाती हैं, और बी० लिट० में हिन्दी भाषा तथा साहित्य के गहन अध्ययन और साथ ही गुजराती, मराठी, उड़िया, तमिल, कन्नड़, तेलुगु, अँग्रेजी और फ्रेंच आदि भारतीय और विदेशी भाषाओं के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। अन्य स्वीकृत भाषाओं के विभागों की स्थापना भी शीघ्र ही होने की आशा है। विद्यापीठ में अध्यापन के लिए देश के सभी भागों से विद्वान आमंत्रित किए गए हैं। यह विद्यापीठ भाषा-विज्ञान-विषयक अध्ययन के लिए इस प्रकार का एक ही केन्द्र है, जहाँ हिन्दीतर-भाषाभाषी विद्यार्थियों को हिन्दी के अध्ययन की और हिन्दी-भाषी विद्यार्थियों को अन्य भाषाओं के अध्ययन की विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं।

अनुसन्धान के लिए हमारे विशिष्ट क्षेत्र हैं :—

१. भाषा विज्ञान;
२. तुलनात्मक साहित्य ;
३. पाठ-शोध;
४. लोकवार्त्ता-साहित्य ।

इनमें से भाषाविज्ञान के क्षेत्र में जहाँ पी-एच० डी० के लिए ब्रज-भाषा की मथुरा की बोलियों का तथा अँग्रेजी से आगत शब्दों का अनुसंधान कराया जा रहा है, वहाँ एक महत्त्वपूर्ण निश्चय यह किया गया है कि एम० लिट० के दो विद्यार्थी आगरे की खड़ी बोली तथा अन्य भाषाओं का सर्वेक्षण, आधुनिक वैज्ञानिक साधनों के साथ करें। इस सम्बन्ध में हमें यह सूचना देते हर्ष हो रहा है कि अभी हाल में भारत सरकार के शिक्षा-विभाग की ओर से यह इच्छा प्रकट की गई है कि दिल्ली और मेरठ के भाषा-सर्वेक्षण के लिए उनकी ओर से जो विद्यार्थी शिक्षित किए जायेंगे उनके शिक्षण का प्रबंध हमारे विद्यापीठ में ही हो।

हमारे यहाँ हस्तलिखित ग्रन्थों के अनुसन्धान का कार्य भी विद्यापीठ के द्वारा सम्पन्न किया जा रहा है। अभी हाल में हमने वृन्दावन की यात्रा में डेरागाजीखाँ के बल्लभीय सम्प्रदाय के अनेक प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त किए हैं, जो अब तक अप्राप्य थे और जो साहित्यिक तथा साँस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनके शोध के लिए हमने दो विद्यार्थियों को नियुक्त किया है और आशा है कि निकट भविष्य में हम उनका प्रकाशन कर सकेंगे।

इतने अल्प काल में ही हमारे विद्यापीठ के मुख पत्र "भारतीय साहित्य" ने देश-विदेश के विद्वानों से पर्याप्त प्रोत्साहन नऔर प्रशंसा पाई है तथा देश की शोध-पत्रिकाओं में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। हमारी ग्रन्थ-वीथिका "बिब्लियोथिका इंडिका" के समान हिन्दी में अपने ढंग का एकमात्र प्रकाशन है। इसमें अब तक दस महत्त्वपूर्ण दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थ और लोकवार्त्ता साहित्य प्रकाशित किए जा चुके हैं।

हमारे इन सभी प्रयत्नों में हमारे उप-कुलपति श्रद्धेय श्री कालकाप्रसाद भटनागर बराबर अधिकाधिक बल भरते रहे हैं। इसके अतिरिक्त इस सारे आलोक के केन्द्र में

विराजमान अपने कुलपति के रूप में आपसे मार्ग-प्रदर्शन की ज्योति का जो सुदृढ़ स्तम्भ हमें बराबर प्राप्त होता रहा है, उसके लिए आपको बार-बार प्रणमन है। हमारे देश और हमारे इस युग के आप अग्रगण्य साहित्यकार, कलाकार तथा विचारक हैं। आपका सम्पर्क और नेतृत्व-लाभ करके हम धन्य हुए हैं।

फसल के उग आने पर सबसे अधिक प्रसन्नता उस किसान को ही होती है, जिसने उसका बीज वपन किया हो। पौधों में जब नये-नये फूल खिलते हैं, तब सबसे अधिक प्रफुल्लता उस माली को ही होती है, जिसने उन्हें रोपा हो। आदरणीय मुन्शीजी, इसी प्रकार हमें विश्वास है कि हमारे विद्यापीठ के विकास से सबसे अधिक प्रसन्नता का अनुभव आपको ही होगा। आपके उल्लास की उन किरणों को, आपकी सत् प्रेरणाओं की स्फूर्तियों को आज हम इस विदा की वेला में उसी प्रकार पकड़ रखना चाहते हैं, जैसे खिले हुए फूल अपने सुवास और विकास में अपने से बिछुड़ते हुए माली के प्रयासों और सद्भावनाओं को बाँध रखना चाहते हैं। पुलकित भाव से मानों उन्हीं फूलों के मूक हार्दिक उद्गारों का अनुसरण करते हुए हम विद्यापीठ की ओर से आपसे निवेदन करना चाहते हैं:—

"सींचन की सुधि लीजो, मुरझि न जाय।"

आप जहाँ-कहीं भी रहें, सदा सपरिवार स्वस्थ, सुखी और प्रसन्न रहें तथा आपके आशीर्वाद और संरक्षण, स्नेह और सद्भाव, निर्देश और प्रोत्साहन हमें बराबर प्राप्त होते रहें! बस यही प्रार्थना है।"

कुलपति का उद्घाटन भाषण:—

"उपकुलपति महोदय, डाइरेक्टर महोदय, कमिश्नर महोदय, भाइयो और बहिनो!

आप सब लोगों से मुझे आज मिलते हुए बड़ा आनन्द हो रहा है। आनन्द के साथ थोड़ा-सा खेद भी होता है, क्योंकि पाँच वर्ष से आगरा यूनिवर्सिटी और उसके संचालकों के साथ मेरा स्नेह-पूर्ण सम्बन्ध रहा है। यह सोचकर मुझे खेद होता है कि पहले जैसे मैं यहाँ आया करता था, वैसे बहुधा आना-जाना अब मुश्किल हो जायगा। मैं गवर्नर की हैसियत से आऊँ या दूसरी रीति से आऊँ, इसमें मुझे कोई फेर नहीं; क्योंकि मैं इस पद पर हूँ—इसलिए न मेरी प्रतिष्ठा बढ़ी है और न मैं ही गवर्नर के पद की शोभा बढ़ा रहा हूँ। ऐसी बात मैं कभी सोच भी नहीं सकता हूँ। जहाँ भी जाता हूँ, वहाँ मुझे यह हमेशा याद करना मुश्किल हो जाता है कि मैं गवर्नर की हैसियत से आया हूँ। हाँ, कभी-कभी चारों ओर पुलिस देखता हूँ, तो मुझे स्मरण करना पड़ता है कि मैं एक सुरक्षित कैदी हूँ। पुलिस का कर्तव्य हो जाता है कि मेरा रक्षण करे। लेकिन किससे रक्षण करते हैं, यह तो पाँच वर्ष में मुझे अभी तक पता नहीं चला—फिर भी यह उनका धर्म है और वह करते हैं। लेकिन मैं जहाँ भी गया, उत्तर-प्रदेश में, वहाँ अत्यन्त स्नेह से लोगों ने मेरा सत्कार किया। जब मैं पाँच वर्ष पहले यहाँ आया, तो मुझे पता नहीं था कि मैं यहाँ कब तक रहूँगा क्योंकि मेरा स्वभाव जैसा है, उसके अनुसार गर्वनर जैसी एक पदवी पर लम्बे काल तक रहने की कभी आशा मैंने नहीं रखी थी। लेकिन यहाँ के लोगों ने इतने स्नेह

से और इतने सत्कार-पूर्वक मुझे अवकाश दिया कि जैसे मैं अपने प्रदेश में या अपने स्थान पर जिस प्रकार रहा, उसी प्रकार यहाँ भी रहा।

वाइस चांसलरों ने, मिनिस्टरों ने, प्रोफेसरों ने, यहाँ के सब लोगों ने, मुझमें जो कुछ विश्वास और स्नेह दिखाया, उसे जब मैं याद करता हूँ, तो मुझे जरूर ऐसा लगता है कि ऐसी भूमि से चला जाना एक प्रकार का दुःख ही है। लेकिन यह तो होता ही है। बीस रोज के बाद मैं चला जाऊँगा। मेरे पीछे श्री गिरि आएँगे। वह भी, मुझे आशा है, इसी प्रकार जो सब काम शुरू हुए हैं, उनको पूरा करेंगे।

अब मेरा दोष कहो, जो कुछ कहो, यह है कि मैं आभूषण-रूप रह नहीं सकता। वहाँ भी "पार्लियामेन्टरी पोजीशन" में मुझे रहना बड़ा मुश्किल हो जाता है। जहाँ भी जो कर्तव्य आपके सामने आए, उसमें मैं निमज्जन करके एक प्रकार से डूब जाता हूँ— यानी उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ और नहीं तो फिर मुझसे काम नहीं होता। मेरे सामने जो बात है, उसके साथ तादात्म्य सिद्ध न कर सकूँ, तब तक मुझे चैन नहीं आता। ऐसा करने में मुझे यह भी मालूम है कि किन भाइयों को मैंने बहुत दुःख दिया है। जब शुरूआत में मैंने विश्वविद्यालयों में रस लेना शुरू किया तो हमारे कई भाई— इस यूनिवर्सिटी में नहीं, दूसरी यूनिवर्सिटियों में—चिल्लाने लगे कि चाँसलर को तो राजभवन में बैठे रहना चाहिए और कनवोकेशन में डिग्री देना चाहिए। उसके सिवाय कुछ काम करना उसके लिए हराम होना चाहिए; जैसे मैंने तो यूनिवर्सिटी ऐक्ट पढ़ा ही नहीं। दो-चार ऐक्ट बनाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। प्रत्येक संस्था में उसके संचालक की एक जिम्मेदारी होती है, वह देखे कि संस्थाएँ किस रीति से चलती हैं। आते ही यहाँ मैंने देखा कि उप-कुलपतियों की जितनी प्रतिष्ठा होनी चाहिए, उतनी यहाँ नहीं होती और मैंने पहले उसे ही ठीक करने का प्रयत्न किया। एक स्थान पर एक मीटिंग में मुझसे "यूनिवर्सिटी ऑटोनॉमी" की चर्चा चलाई गई। मुझे भी यह कहना पड़ा कि आपकी सब बात मैंने सुन ली। मेरा भी "यूनिवर्सिटी ऑटोनॉमी" में पूरा-पूरा विश्वास है और मैंने उनको "ऑटोनॉमी" का अर्थ समझाया।

इस विद्यापीठ के विषय में मैं क्या कहूँ ! यह तो अपने किस्म का एक ही है, जैसा कि संचालक महोदय ने अभी-अभी बड़ी नम्रता के साथ कहा कि यह सम्पूर्ण भारत में अपने में एक ही है। हिन्दी-विद्यापीठ की इमारत का उद्‌घाटन-समारोह आज मैंने किया। एक दूसरी बात भी है, जिसे संचालक महोदय ने नहीं बताया, पर जिसे मैं खुलकर कह सकता हूँ। अठारह महीनों में इस संस्था ने, जिसके जन्म देने का श्रेय मुझे दिया जाता है, मेरी आशाएँ पूरी कर दीं। आगरा विश्वविद्यालय को इसका अभिमान होना चाहिए। डा० विश्वनाथ प्रसाद और डा० सत्येन्द्र की देखरेख में इसने अनोखा अन्वेषण-कार्य किया है और उड़िया, गुजराती, मराठी, तमिल आदि के अध्यापकों के सहयोग से एक ऐसे वातावरण का निर्माण कर दिया है जिसके अन्तर्गत् ही हिन्दी का विकास राष्ट्रभाषा के रूप में हो सकता है।

राष्ट्रों के उत्थान अथवा राष्ट्रीय विकास के साथ इतिहास में किसी-न-किसी भाषा का सम्पर्क रहा है। जहाँ तक मैं देख सकता हूँ, हिन्दी की महानता और संस्कृत का आधु-

है। हिन्दी भाषी राज्यों में कुछ विश्वविद्यालयों ने सहसा हिन्दी का माध्यम ग्रहण कर लिया है। और दूसरी ओर अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में कुछ विश्वविद्यालय अँग्रेजी की जगह अपनी क्षेत्रीय भाषा का माध्यय बनाने के प्रयत्न में हैं।

इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेज़ी अभी तक बौद्धिक स्तर के लोगों के पारस्परिक सम्पर्क और उच्चतर ज्ञान के लिए सारे भारत का माध्यम है। जिन विश्वविद्यालयों में जहाँ माध्यम के रूप में अँग्रेज़ी का परित्याग कर दिया गया है वहाँ विद्यार्थी अंग्रेज़ी पाठ्य-पुस्तकें और अंग्रेजी व्याख्यान समझने में कठिनाई का अनुभव करते हैं जिस अंग्रेज़ी की जानकारी वह प्राप्त करता है वह भारतीय भाषा की कुंजियों—मार्ग दर्शिकाओं के आधार पर होती है—जो मूल को पूर्णत: हज़म भी नहीं कर पाती और अंग्रेज़ी में भी उसका सारांश प्रकाशित होता है तो कभी ठीक तौर से समझा नहीं जा सका। इसका परिणाम यह होता है कि विश्वविद्यालयों में प्राप्त अंग्रेज़ी के ज्ञान के स्तर में विकृति आ जाती है और हिन्दी में जो कुशलता प्राप्त की जाती है, वह बहुत सीमित ढंग की होती है—वह साहित्यिक एवं अलंकार-युक्त अधिक होती है, पर निर्दिष्ट और लचीली ढंग की नहीं।

हमें अप्रिय तथ्य का मुकाबला करना चाहिए। यदि भावना की लहर में बहकर हम बहक गये तो हम न केवल शक्तिशाली, विद्वत्ता एवं निपुणता का प्रभाव स्थापित करने वाली अंग्रेज़ी जैसी भाषा के व्यवहार से वंचित हो जायँगे अपितु बल्कि इससे किसी को मदद नहीं मिलेगी—न उससे हिन्दी के कार्य की ही सिद्धि होगी।

जब तक हिन्दी कुछ हद तक शिक्षितों की अभिवृद्धि का अधिक शक्तिशाली माध्यम नहीं बन जाती—कम-से-कम एक पीढ़ी तक वह अखिल भारतीय शक्तिशाली माध्यम बनने में अंग्रेज़ी का स्थान नहीं प्राप्त कर सकती।

यदि अंग्रेजी की जगह हिन्दी को जल्द देदी जाती है तो हिन्दी और अहिन्दी भाषी राज्यों के बीच एक गहरी खाई बन जायगी। देश में एक नया भाषावाद उठ खड़ा होगा; स्वयं हिन्दी के विकास में बाधा पड़ेगी और राष्ट्र-भाषा के रूप में उसकी अन्तिम स्वीकृति में विलम्ब हो जायगा। हिन्दी ही की भलाई के लिये देश में नये भाषावाद के उठ खड़े होने की सम्भावना के विरुद्ध हमें सुरक्षा कर लेनी चाहिए।

जैसा कि संविधान में कहा गया है जब तक हिन्दी मुख्य रूप से संस्कृत के श्रोत का सहारा न लेगी तब तक वह राष्ट्र-भाषा नहीं बन सकती। इसलिए हिन्दी का अध्ययन संस्कृत के अध्ययन के साथ शृंखलित कर दिया जाना चाहिए। इससे खासकर अहिन्दी भाषी हिन्दी में सरलता के साथ कुशलता प्राप्त कर लेंगे, इससे उत्तर भारत के हिन्दी विद्यार्थी भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग आसानी के साथ और यथार्थ रूप में कर सकेंगे। हिन्दी को शक्तिशाली बनाने के लिए उसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग करना होगा। परन्तु उनका प्रयोग समझदारी के साथ तभी हो सकता है जब संस्कृत भाषा की कोई पृष्ठ-भूमि—पूर्व जानकारी हो।

यदि हिन्दी को किसी दिन अंग्रेजी का स्थान लेना है तो देश के प्रत्येक राज्य की उच्च शिक्षा में अंग्रेजी और हिन्दी को माध्यम बनाना होगा। इससे क्षेत्रीयता की जगह राष्ट्रीयता को स्थान मिलेगा। सभी विश्वविद्यालयों के स्नातकों के लिए राष्ट्र-व्यापी कार्य-क्षेत्र होगा। शासन व्यवस्था की दृष्टि अक्षेत्रीय रहेगी और विद्वानों एवं अध्यापकों का सम्पर्क और विनिमय पूर्ववत् होता रहेगा।

किन्तु हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने का ध्येय पाठ्य-पुस्तकों का अनुवाद द्वितीय श्रेणी के साहित्यिकों से करा देने मात्र से पूरा नहीं होता। हिन्दी की वास्तविक शक्ति और सम्पन्नता प्राप्त करने के पहले साहित्यिकों, विचारकों और अध्यापकों को उच्च अभिव्यक्ति का ज्ञान स्वयं प्राप्त कर उसमें सोचना और विचार व्यक्त करना चाहिए।

इस दिशा में हमें लम्बी यात्रा करनी होगी। अगले कुछ वर्षों तक देश के सर्वश्रेष्ठ लोगों को आधुनिक विचार भाषा और अभिव्यक्ति से सम्पर्क प्राप्त करने के लिए शक्ति-शाली और सम्पन्न अंग्रेजी भाषा के श्रोत को अपनाना होगा।

ऐसी अवस्था में हमें हिन्दी का प्रयोग करने में जैसे भी हो और जहाँ तक हमारा ध्येय पूरा हो आगे बढ़ना होगा—जिन श्रोतों से समुचित शब्दों को जज़्ब किया जा सके किया जाय, शब्दों का प्रयोग आधुनिक उपयोग के लिए उनकी नई अभिव्यंजनाएँ विकसित की जायँ, उन्हें नये सूक्ष्म भावों में प्रयुक्त किया जाय और इसके लिए अँग्रेजी से उसका सतत् सम्पर्क कायम रखा जाय, संस्कृत से प्रेरणा प्राप्त की जाय जिससे हिन्दी की प्रतिभा को हानि न पहुँचे और साधारण बोलचाल की भाषा के शब्दों से रहित न रह उसकी ताजगी से वह वंचित न बन जाय।

जिस राष्ट्र-भाषा भारती की कल्पना मैं करता हूँ वह हिन्दी का एक व्यापकतर आधार पर स्थित संस्करण होना चाहिए। ऐसी भाषा के वस्त्र में ताना तो हिन्दी से लिया जाय। और बाना क्षेत्रीय भाषाओं से; उसका मेल संस्कृत के द्वारा कायम रहेगा और उसका आधुनिक लचीलापन अँग्रेजी से। यदि हम भारत के जीवन और संस्कृति को नया रूप देना और शक्तिशाली बनाना चाहते हैं तो इस तरह का वस्त्र बुनना हमारे लिये आवश्यक होगा।

मुझे विश्वास है कि आगरे की हिन्दी विद्यापीठ इस ढंग का अनुकरण करेगी। तब वह देश की एक ऐसी महान् संस्था बन जायगी जो हिन्दी के राष्ट्रभाषा में विकसित होने में वास्तविक रूप में सहायक होगी।

पर, मेरे इस विद्यापीठ के सम्बन्ध में आज तो आप लोगों ने मुझे पशोपेश में डाल दिया है। तीन या चार वर्ष पूर्व उप-कुलपति श्री महाजन ने यह प्रस्ताव रखा था कि मेरा नाम विद्यापीठ के साथ जोड़ दिया जाय। आज भी मैं इसका इच्छुक नहीं, क्योंकि मैं भी अन्य व्यक्तियों की तरह यह मानता हूँ कि विद्यापीठ के साथ मेरा नाम जुड़ना घमंड का प्रदर्शन करना है। एक और भी ख़तरा है कि अगर यहाँ कार्य ठीक नहीं होता है तो मेरा नाम बदनामी से झुक जावेगा। लेकिन जब यह प्रस्ताव फिर से कुछ, माह

पूर्व मेरे सम्मुख आया, तो मैं "नहीं" न कर सका, जबकि कार्यकारिणी परिषद इसका निश्चय पहले ही कर चुकी थी। ठीक है, मैं इसको बहुत अच्छा नहीं समझता और अब तक जितनी संस्थाओं की मैंने स्थापना की है, किसी के साथ भी मेरा नाम संलग्न नहीं है। यदि अपवाद है तो यह विद्यापीठ। सम्भवत: मैंने सोचा कि पाँच वर्ष यहाँ रहने के के पश्चात् मेरे पीछे से—मेरे बाद मेरा अनुसरण करते हुए मेरी ही तरह शायद कोई व्यक्ति इस विश्वविद्यालय में अधिक रुचि प्रकट करे और भविष्य में आने वाले कुलपति अपने नाम के लिए ही कुछ अधिक विद्यापीठों की इस आगरा विश्वविद्यालय में स्थापना कर सकें। कुछ काल पश्चात् आप मेरे पूरे नाम कन्हैयालाल मुन्शी को के० एम० मुन्शी के रूप में छोटा कर देंगे, जैसे एच० जी० बटलर इन्स्टीट्यूट है। फिर यह पता लगाना कि यह एच० जी० कौन था—कठिन हो जायगा। निज़ाम ने अपनी रेडियो-वार्त्ता में कहा कि "मुन्शी साहब, के० एम० साहब—मेरे दोस्त मुन्शी साहब" तब कुछ लोग यह आश्चर्य करना प्रारम्भ कर देंगे कि आख़िर यह के० एम० कौन है और अन्तत: यह नाम केवल शाब्दिक आभूषण के रूप में रह जावेगा। केवल यही लोभ था कि यह भावना मेरे बाद आने वाले भावी कुलपतियों को प्रोत्साहित करे कि वे वैसी ही रुचि लें, जैसी कि मैंने ली है। मैं समझता हूँ कि मेरे उत्तराधिकारी इस विश्वविद्यालय में और भी विद्यापीठों की स्थापना कर सकेंगे और आप सभी इस कार्य में उनकी सहायता करेंगे। आप सभी मित्रों को धन्यवाद।"

अन्त में सभागत महानुभावों की शुभाकांक्षाओं तथा करतल ध्वनि के साथ समारोह समाप्त हुआ।

—राजेन्द्र कुशवाहा
प्रकाशन-मंत्री